

बह्वृचचरणं [ऋग्वेद विद्यालय]
आचार्य और उनका आश्रम
राजघाट से प्राप्त गुप्तकालीन मिट्टी की मुहर

भारत कला-भवन के सौजन्य से

रेखाचित्र
श्री जगन्नाथ अहिवासी

काशी का इतिहास

हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर सीरीज़

•

काशी का इतिहास

वैदिक काल से अर्वाचीन युग तक का
राजनैतिक-सांस्कृतिक सर्वेक्षण

•

लेखक

डा० मोतीचन्द्र

डायरेक्टर, प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूज़ियम, बम्बई

•

प्रकाशक

हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड,

हीराबाग — बम्बई—४

संस्करण	प्रथम, सितम्बर, १९६२
मूल्य	बाईस रुपए
प्रकाशक	यशोधर मोदी मैनेजिंग डायरेक्टर, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड, हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई—४
मुद्रक	लक्ष्मीदास, व्यवस्थापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय, वाराणसी—५

वाराणसी पूर्व दिशा की शाश्वत नगरी है, न केवल भारत के लिये, किन्तु पूर्वी एशिया के लिये भी।

—जवाहरलाल नेहरू

श्रद्धेय राय कृष्णदास को,

तस्मै श्री गुरवे नमः

—मोतीचंद्र



रायकृष्ण दास

दो शब्द

आज से करीब पन्द्रह वर्ष पहले काशी का इतिहास लिखने की मुझे प्रेरणा हुई। अनेक कार्यों में व्यग्र रहते हुए भी अपनी नगरी के भूतकालीन चित्र देखने का लोभ मैं संवरण न कर सका। सामग्री की तलाश में तो ऐसा मालूम पड़ता था कि नगरी के इतिहास की सामग्री विपुल होगी, पर जैसे-जैसे काम आगे बढ़ता गया, वैसे-वैसे पता चलने लगा कि नगरी का इतिहास एक ऐसे रूढ़िगत ढांचे में ढल गया था जिसमें तीर्थ से संबंधित धार्मिक कृत्यों और पठन-पाठन का ही मुख्य स्थान था, इतिहास तो नगर के लिए गौण था; पर छानबीन करने से यह भी पता चला कि वाराणसी का तीर्थ रूप तो नगरी के अनेक रूपों में एक था। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण वाराणसी का बहुत प्राचीन काल से व्यापारिक महत्त्व था। उसके तीर्थ तथा धार्मिक क्षेत्र बनने के प्रधान कारण निःसन्देह वहाँ के व्यापारी रहे होंगे। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत में धर्म-प्रचार में व्यापारियों का, चाहे वे हिन्दू, बौद्ध अथवा जैन कोई भी हों, बड़ा हाथ था। वाराणसी में तो हाल तक व्यापारियों के बल पर ही धर्म-प्रचार और संस्कृत शिक्षा चल रही थी।

धर्म, शिक्षा और व्यापार से वाराणसी का घना सम्बन्ध होने के कारण नगरी का इतिहास केवल राजनीतिक इतिहास न रहकर एक ऐसी संस्कृति का इतिहास बन गया, जिसमें भारतीयता का पूरा दर्शन होता है। बनारस के सांस्कृतिक इतिहास की सामग्री सीमित होते हुए भी जहाँ तक संभव हो सका है, पुरातत्त्व, साहित्य और पुराने कागजातों, अभिलेखों इत्यादि के आधार पर नगर के बहुरंगी जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। समय के बदलते चलचित्र का स्पष्ट प्रभाव वाराणसी के इतिहास पर भी दीख पड़ता है, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वाराणसी की संस्कृति का जो नक्शा बहुत प्राचीन काल में बना, वह अनेक परिवर्तनों के होते हुए भी मूल में जैसा का तैसा बना रहा। प्राचीनता की परिपोषक इस नगरी के प्रति लोगों का रोष हो सकता है तथा नगर की मध्यकालीन बनावट, गन्दगी और ठगहारियों के प्रति लोगों का आक्रोश ठीक भी है। पर इन सब कमजोरियों के होते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि बनारस उस सभ्यता का सर्वदा परिपोषक रहा है, जिसे हम भारतीय सभ्यता कहते हैं और जिसके बनाने में अनेक मत मतान्तर और विचार धाराओं का सहयोग रहा है। यह नगरी हिन्दू विचार-धारा की तो केन्द्रस्थली थी ही पर इसमें सन्देह नहीं कि बुद्ध के पहले भी यह ज्ञान का प्रधान केन्द्र थी। अशोक के युग से वहाँ बौद्ध धर्म फूला फला। तीर्थंकर पार्श्वनाथ की जन्मस्थली होने के कारण जैन भी नगरी पर अपना अधिकार मानते हैं। इस तरह धर्मों और संस्कृतियों का पवित्र संगम बन जाने पर वाराणसी भारत के कोने-कोने में बसने वालों का पवित्र स्थल बन गयी। अगर एक सीमित स्थल में सारे भारत की झाँकी लेनी हो तो बनारस ही ऐसा शहर मिलेगा। विविध भाषाओं के बोलने वाले, नाना वेष-भूषाओं

से सुसज्जित तथा तरह-तरह के भोजन करने वाले तथा रीति-रिवाज मानने वाले वाराणसी में केवल एक ध्येय यानी तीर्थ यात्रा के उद्देश्य से मालूम नहीं कितने प्राचीन काल से इकट्ठे होते रहे हैं और आज दिन भी इकट्ठे होते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से यात्रियों की यह श्रद्धा अन्धविश्वास और भेड़ियाधसान की श्रेणी में आ जाती है, पर श्रद्धा में तर्क का स्थान सीमित होता है। जो भी हो, यह तो निश्चित है कि बहुरूपी भारतीय सभ्यता में समन्वय की भावना स्थापित करने में काशी का बहुत बड़ा हाथ रहा है और शायद इसीलिए हिन्दुओं का वाराणसी के प्रति इतना आकर्षण है।

राजनीतिक इतिहास के क्षेत्रों में भी काशी की अपनी महत्ता रही है। बुद्ध के पहले काशी का स्वतन्त्र अस्तित्व था, पर बाद में वह कोसल में मिल गयी। अजातशत्रु के समय तो काशी-कोसल मगध के साम्राज्य में आ गया। शुंग से गुप्त युग तक काशी का सम्बन्ध पाटलिपुत्र और कोशांबी से था। मध्य युग में गुर्जर प्रतिहारों, राष्ट्रकूटों और पालों की लड़ाई में काशी और उसके आसपास का प्रदेश सामरिक दृष्टि से महत्व का रहा होगा। पर मध्ययुग में काशी की सबसे मजबूत राजनीतिक स्थिति गाहडवाल युग में थी जब गाहडवालों ने उसे अपनी राजधानी बनाया। इसके फलस्वरूप वाराणसी धार्मिक, राजनीतिक और शिक्षा की दृष्टि से उत्तर भारत की प्रधान नगरी बन गयी। अलबीरूनी के अनुसार ११ वीं सदी में काशी उत्तर भारत की विद्या क्षेत्र थी। मुसलमानों के बढ़ते प्रभाव के कारण कश्मीर और पंजाब के पण्डित यहीं शरण पा रहे थे और अपनी सीमित शक्ति के अनुसार विजेताओं के प्रति घृणा का भाव फैला रहे थे। पर इस्लाम के बढ़ते प्रभाव के सामने काशी के गाहडवाल अधिक दिनों तक ठहर नहीं सके। ११९४ ईस्वी में कुतबुद्दीन ऐबक की फौजों ने वाराणसी को तहस-नहस कर डाला तथा नगरी की प्राचीन परम्परायें छिन्न-भिन्न कर डालीं। उस समय तो ऐसा लगता था कि वाराणसी नेस्तनाबूद हो गयी, पर इस नगरी में कुछ ऐसी शक्ति है कि मुस्लिम आक्रमण और अधिकार के कुछ दिन बाद ही उसने अपने प्राचीन रूप को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया और अनेक कठिनाइयों के रहते हुए भी, जिनमें मन्दिरो का प्रायः ढहा दिया जाना एक था, उसने अपनी प्राचीन धार्मिक परम्पराओं को फिर से चलाया। इसके साथ ही साथ जन-जीवन में पुनः उत्साह की एक लहर दौड़ गयी।

मुगल युग में वाराणसी का जीवन प्रायः अबाध गति से चलता रहा। शाहजहाँ और औरंगजेब की आज्ञा से यहाँ के मन्दिर तोड़े गये पर उपलब्ध विवरणों के आधारपर यह कहा जा सकता है कि अनेक कठिनाइयों के बावजूद नगर का तीर्थ स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहा। १८वीं सदी के मध्य मे बनारस के इतिहास ने एक दूसरा रुख लिया। नगर को कब्ज में करने के लिए अवध के नवाबों, अंग्रेजों और मराठों में होड़-सी लग गयी। पर इन तीनों शक्तियों की तब तक कुछ न चली, जब तक काशी नरेश बलवंतसिंह जीवित थे। बलवंतसिंह के पुत्र चेतसिंह और वारेन हेस्टिंग्ज की कशमकश एक इतिहास प्रसिद्ध घटना है। चेतसिंह का अधिकार समाप्त होते ही शहर पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया।

पर बनारस वाले अंग्रेजों की सत्ता यों ही स्वीकार कर लेनेवाले नहीं थे। समय समय पर अंग्रेजों की बराबर मुखालफत की जाती रही, पर नगर के जीवन का ढाँचा अब बहुत कुछ सुव्यवस्थित हो चुका था। १८वीं सदी के अन्त और १९वीं सदी के मध्य तक जो घटनाएँ बनारस में हुई और इनमें १८५७ का विद्रोह मुख्य था, उनका महत्त्व सार्वदेशिक न होकर स्थानीय ही था। बनारस के प्रशान्त जीवन पर राजनीतिक तरंगें आलोड़ित हो पड़ती थीं पर नगर के महत्त्व पर उनका कभी विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, जिसके फलस्वरूप नगर का धार्मिक और शैक्षणिक जीवन अपने क्रम से चलता रहा।

काशी के इतिहास का पर्दा जब ऊपर उठता है, तब हम वैदिक विश्वासों के साथ साथ नाग और यक्ष पूजाका बोलबाला देखते हैं। उस युग में भी शिवपूजा अवश्य प्रचलित रही होगी पर इसका विस्तार गुप्त युग मे खूब बढ़ा। काशी बौद्ध धर्म का भी एक प्रधान क्षेत्र बना रहा पर पुरातात्त्विक अवशेषों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि वह सारनाथ तक ही सीमित था, वाराणसी क्षेत्र में तो शैवधर्म का बोलबाला था। सातवीं सदी में युवान चूवाङ ने भी यह बात परिलक्षित की। अनेक धर्मों का अड्डा रहते हुए भी वाराणसी शैव धर्म की ही केन्द्र थी और अब भी है। पौराणिक साहित्य भी बनारस के शिवलिंगो की महिमा से भरा पड़ा है। समय की गति के अनुसार जैसे जैसे काशी का इतिहास आगे बढ़ता है वैसे वैसे शिवलिंगों की संख्या भी बढ़ती जाती है तथा चित्र विचित्र वेशवाले योगियों और संन्यासियों की भी। शैवधर्म के साथ ही गंगा की भी महिमा बढ़ी तथा गाहड़वाल युगमें तो काशी के अनेक घाटों का भी सृजन हुआ।

वाराणसी केवल तीर्थ मात्र ही न होकर संस्कृत शिक्षा का एक प्रधान केन्द्र थी। जातकों में यहाँ की शिक्षा-प्रणाली का उल्लेख है। गुप्त युग में नगरी वैदिक शिक्षा की केन्द्र बन गयी तथा गाहड़वाल युग में यहाँ के पण्डित विद्यार्थियों को अपने यहाँ रखकर अनेक विषयों में शिक्षा देते थे। लगता है कि आरम्भिक मुस्लिम युग मे इस शिक्षा-क्रम को धक्का लगा, पर अकबर के युग से आज तक बनारस में संस्कृत की शिक्षा अबाध गति से चल रही है। यहाँ के पण्डितों ने अधिक प्राचीन ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी और आधुनिक दृष्टि से उनका दृष्टिकोण संकुचित भी नहीं कहा जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत भाषा की रक्षा और प्रचार में बनारस के पण्डितों का बड़ा हाथ रहा है। यह उन्हीं का प्रभाव था कि देश के कोने-कोने से विद्यार्थी काशी आकर ज्ञानार्जन करने में अपना गौरव समझते थे।

पर काशी की महत्ता केवल तीर्थ और विद्या पर ही अवलम्बित नहीं थी। अगर काशी में व्यापार न होता तो नगरी केवल एक आश्रय ही बनकर रह जाती और उसमें उस नागरिक संस्कृति का अभाव होता, जिसके लिए बनारस आज भी विख्यात है। बनारस के इस व्यापारिक महत्ता के अनेक साहित्यिक और पुरातात्त्विक प्रमाण मिले है। बौद्ध साहित्य में वाराणसी के व्यापारियों की प्रशंसा की गयी है और उनके व्यापार के प्रधान अंग काशी के बने कपड़ों और चन्दन के अनेक उल्लेख आये हैं। जहाँ तक रेशमी वस्त्रों

के उत्पादन का सम्बन्ध है, बनारस अपनी पुरानी परम्परा को अक्षुण्ण बनाये हुए है। यहाँ के व्यापारियों ने हमेशा देश, समाज और शिक्षा की उन्नति में सहयोग दिया है।

जहाँ तक संभव हो सका है, मैंने काशी के इतिहास और संस्कृति सम्बन्धी बिखरी सामग्री इकट्ठी कर दी है। काशी के सम्बन्ध में और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है, पर इसके लिए ऐतिहासिक सामग्री के चयन की अतीव आवश्यकता है। भारतीयों में ऐतिहासिक भावना की कमी होने से बनारस सम्बन्धी सामग्री परिसीमित है। अभिलेखों इत्यादि से यहाँ के इतिहास पर धुँधला प्रकाश पड़ जाता है, पर उनका विषय ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देना ही मुख्य है। यह उम्मीद की जा सकती थी कि मुगल युग से लेकर १८ वीं सदी के अन्त तक के कागज पत्र बनारस के पुराने खान्दानों में काफी संख्या में मिलेंगे, पर जहाँ तक मैंने पता लगाया, पुराने कागजात या तो दीमक खा गये या रद्दी के भाव बेंच दिये गये। जो बचे, उन्हें गंगा जी में पधरा दिया गया। भाग्यवश ही १८ वीं सदी में मराठों का सम्बन्ध बनारस से बढ़ा जिसके फलस्वरूप पेशवा दफ्तर में संरक्षित पत्र-व्यवहार बनारस के लिए अपूर्व सामग्री उपस्थित करते हैं। ये पत्र केवल रूखी सूखी ऐतिहासिक बातों से ही नहीं भरे हैं, उनमें नगर के जीवन के विचित्र पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। अंग्रेजी और फारसी कागज पत्रों से भी नगर की राजनीतिक परिस्थिति पर प्रकाश पड़ता है और व्यापारियों का अंग्रेजों के साथ व्यवहार भी स्पष्ट होता है। बनारस में ऐतिहासिक और अर्ध-ऐतिहासिक अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। उनमें अपना मजा है, पर इतिहास रचना में मैंने उनका उपयोग समझ बूझकर ही किया है।

मेरी पत्नी श्रीमती शांति देवी ने बड़े ही परिश्रम से पुस्तक की पांडुलिपि तैयार कर दी, पर पुस्तक दो-तीन साल से टाइप होकर पड़ी थी। मुझे इतना समय भी नहीं मिलता था कि उसे उलट पुलटकर प्रेस कापी बना सकूँ। मैं काशी विश्वविद्यालय के कॉलेज आफ इण्डोलॉजी में कला और वास्तुशास्त्र के इतिहास के अध्यापक डा० आनन्द कृष्ण का अत्यन्त ही अनुगृहीत हूँ जिन्होंने बड़े ही परिश्रम के साथ प्रेस कापी तैयार की और मेरे टालमटूल करते हुए भी उसे प्रेस में भज ही दिया। भारत-सरकार के सूचना विभाग के अफसर श्री अशोक जी ने भी टाइप कापी के संशोधन में मेरी काफी मदद की, मैं उनका आभारी हूँ। पुस्तक के प्रकाशक तथा हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई के मालिक मोदी बन्धुओं का भी अनुगृहीत हूँ। श्री लक्ष्मीदास, प्रबन्धक, हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस ने पुस्तक अच्छे ढंग से छापने में काफ़ी तत्परता दिखलायी। अगर सब मित्रों का उत्साह न मिलता, तो मेरे जैसे बहुधंधी के लिए यह संभव न था कि पुस्तक जल्दी से छप सके।

१५ जुलाई, १९६२

—मोतीचन्द्र

भूमिका

'काशी का इतिहास' नामक यह ग्रंथ हिन्दी साहित्य में एक नई चासनी सामने रखता है। इसके लेखक श्री मोतीचन्द्र जी यशस्वी विद्वान् हैं। वे काशी निवासी श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के वंशज हैं। ऐसा सटीक इतिहास लिखकर उन्होंने अपने आपको अपनी नगरी के ऋण से उऋण कर लिया है।

अपने यहाँ के नगरों को कीर्तिशाली बनाना प्राचीन भारतवासी जानते थे। गुप्त युग में उज्जयिनी और पाटलिपुत्र का यश समस्त भूखंड में छा गया था। इस कारण उन्हें 'सार्वभौम' नगर कहा जाता था। उज्जयिनी चतुर्दिक व्यापार की सबसे बड़ी मंडी थी। बाण ने कादम्बरी में लिखा है कि वहाँ के नागरिक अनेक देशों की भाषाएँ और लिपियाँ जानते (सर्वदेश भाषा लिपिज्ञ) थे।

प्राय: बड़े नगर तीर्थ भी होते थे। भूसन्निवेश के आरम्भ में तीर्थ ऐसे स्थान थे जहाँ वर्षाऋतु के अतिरिक्त अन्य समय में नदी को पैदल ही पार किया जा सकता था। ऋग्वेद १०।११४।७ में ऐसे स्थान को 'आप्लान तीर्थ' कहा गया है। 'आप्लान' का अर्थ है लोकव्यापी अर्थात् जनता में सुविदित। यहीं से उन स्थानों की प्रसिद्धि का श्री गणेश होता था और कालान्तर में वे जन सन्निवेश के केन्द्र बन जाते थे। जीवन के विकास के जितने घाट-पहल हैं सबकी किरणें ऐसे केन्द्रों में छिटकने लगती थीं। पुराण लेखकों ने चार प्रकार के तीर्थ कहे हैं—धर्म तीर्थ, अर्थ तीर्थ, काम तीर्थ, मोक्ष तीर्थ। एक प्रकार से यह अपने नगरों का ही वर्गीकरण है। इनमें भी जो विशिष्ट केन्द्र थे उनमें इन चारों पुरुषार्थों की उपलब्धि का संतुलित आयोजन सुलभ रहता था। काशी इसी प्रकार के समन्वय का तीर्थ था।

यों तो हिमवान् से सागर तक गंगा की धारा पन्द्रह सौ मील लम्बी है, पर गंगा ने जैसे छबीला पैंतरा काशी में भरा है वैसा अन्यत्र नहीं है। रामनगर के डीह से टकरा कर धारा काशी की ओर मुड़ आती है और नगवा से बरना तक एक दह बनाती हुई आगे बढ़ जाती है। यहाँ सचमुच गंगा उत्तरवाहिनी हो गई है, मानों शिव की पुरी में आकर उसे भगवान् शिव की कैलास-व्यापी जटाओं का ध्यान आ गया हो और उनसे मिलने की आकुलता ने उसे कुछ समय के लिये उत्तर की ओर खींच लिया हो। गंगा के इस सात्त्विक मन का फल भरपूर मात्रा में काशी को मिला। वही यह काशी ह्रद है जिसमें अगाध जल राशि भरी है, जिसके दर्शन से चित्त प्रफुल्लित हो उठता है, और जिसके वरदान से काशी के घाटों पर गंगा का कल्लोल सदा सुनाई पड़ता है। राजघाट के पुल पर खड़े होकर देखें तो गंगा जी का यह अनुपम सौन्दर्य प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है, मानों गंगा जी ने पिछली बातों का स्मरण करके अपने आपको चन्द्रलेखा के रूप में ढाल लिया हो और उनकी भक्ति से प्रसन्न हुए शिव ने उन्हें त्रिपुंड्र के रूप में पुन: मस्तक पर रख लिया हो।

काशी और गंगा अभिन्न हैं। कबरी और डीहों से भरी हुई काशी की भूमि पहले थी या भू-रचना करनेवाली गंगा की धारा पहले हुई, यह देवयुग का प्रश्न हमारे लिये अतर्क्य है।

पर इतना प्रत्यक्ष है कि गोमती और गंगा के कछारों का मध्यवर्ती प्रदेश जन-सन्निवेश के लिये प्रकृति ने ही रचा था, और उसी में काशि जनपद की स्थापना हुई। उसी जनपद की राजधानी वाराणसी हुई जिसे काशी भी कहते हैं। दूर तक सोचने से इन दोनों नामों की व्युत्पत्ति का कुछ कारण समझ में आता है। वह भूभाग जो अधिक जल के कारण कुश और काश के जंगलों से भरा रहता था काशि कहा गया, जिसका अवशेष अब भी 'कसवार' शब्द में है। वरणा और असी नामों की कल्पना तो बाद की है, मूल में बराणसी ही वरणा थी, जो नाम भीष्मपर्व की नदी सूची में (१०।३०) बचा रह गया है। पाणिनि के 'वरणादिभ्यश्च' सूत्र (४।२।८२) के अनुसार वरणा नाम के वृक्षों के पास का स्थान भी वरणा कहा जाता था (वरणानामदूर भवं नगरं वरणाः)। इस प्रकार का एक सुदृढ़ दुर्ग स्वात घाटी में था जहाँ के निवासियों ने सिकन्दर से घोर युद्ध किया था और जिसे यूनानियों ने 'अओरनस' कहा है। अवश्य ही वह भिन्न नगर था, पर उसके जैसे प्रवृत्ति-निमित्त के कारण ही वरणा वृक्षों से घिरी हुई नदी वरणासी कहलाई। वरणासी का ही रूपान्तर बराणसी मिलता है। अथर्ववेद (४।७।१) में वरणावती नदी का उल्लेख है। उसे लुडविग ने गंगा माना था, पर उसकी ठीक पहचान कठिन है। हाँ, वरणावती और वरणासी इन दोनों नामों के पड़ने का हेतु समान जान पड़ता है।

नामों को बारीकी से कसने में अब कोई रस नहीं है। सत्य यह है कि गंगा तट के इस ध्रुव बिन्दु पर बसने के कारण काशी की जन्म कुंडली में दो ग्रह बहुत उच्च के पड़ गए, एक व्यापार या अर्थ समृद्धि के लिये और दूसरा धर्म के लिये। काशी मध्यवर्ती जनपद था। उसके पिछवाड़े की भूमि में कोसल और वत्स जैसे महाजनपद थे जो कृषि और ग्रामोद्योगों से लहलहा रहे थे, और उसके सामने के आँगन में विदेह और मगध के दो बड़े जनपद थे जहाँ के अन्न-कोठारों की अतुलित राशि काशी की ओर बहती थी। काशी से मार्गों का चौमुखी फटाव साफ दिखाई पड़ता है। उत्तर की ओर श्रावस्ती और दक्षिण की ओर कोसल के प्रदेश भी काशी के साथ सदा हाथ मिलाए रहते थे। काशी में गंगा पर नावों के ठट्ठ जुड़े रहते थे और यहाँ के साहसी महानाविक गंगा के तो राजा थे ही, ताम्र-लिप्ती से आगे बढ़कर पूर्व के महोदधि समुद्र को पार करने की जोखिम को भी कुछ न गिनते थे। जैसा हम संस्कृत और प्राकृत की कहानियों में पढ़ते हैं, काशी के व्यापारिक सूत्र द्वीपान्तरों (वर्तमान हिन्देशिया) के साथ मिले हुए थे। इसका एक पक्का प्रमाण काशी का सप्त सागर मुहल्ला है। यहाँ अभी तक सप्त समुद्रों के कूप और मंदिर हैं जहाँ 'सप्त सागर' महादान और पूजा आदि होती है। गुप्त युग में जब भारत का विदेशी व्यापार बहुत बढ़ा तब प्रत्येक महानगर में इस प्रकार के स्थान बन गए जहाँ समुद्र यात्रा से लौटने वाले व्यापारी उपार्जित धन का सदुपयोग 'सप्त सागर' नामक महादान के रूप में करते थे। अब तक खोज करने पर ऐसे स्थानों के अवशिष्ट प्रमाण हमें मथुरा, प्रयाग, काशी, पाटलिपुत्र और उज्जयिनी में मिले हैं। इस प्रकार के स्थान और दान का उल्लेख मत्स्य पुराण में (अ० २८७) आया है जिसके सांस्कृतिक महत्त्व की व्याख्या हमने अपने 'कटाहद्वीप और सप्त-सागर महादान' लेख में अन्यत्र की है। काशी में जो कोट्यधिपति व्यापारियों का प्रमुख संगठन था उसे निगम कहते थे। वह सराफे जैसा संगठन था जिसके सदस्यों की संख्या

नियत होती थी और जिनका चुनाव सर्व सम्मति से होता है। कालिदास ने भी गुप्तकाल के 'नैगम' महाजनों का उल्लेख किया है। राजघाट से लगभग छः मुहरें 'निगम' संस्था की प्राप्त हुई है। उनपर एक बड़े कोठार (कोष्ठागार) का चिह्न अंकित है जिसे वाराणसी के निगम ने अपनी मुद्रा के लिए चुना था। तीन मुहरों पर भरत, श्रीदत्त और शौर्याढ्य, ये नाम भी है। ज्ञात होता है कि ये निगम के तत्कालीन सभापति थे जिन्हें 'महाश्रेष्ठी' भी कहा जाता था। निगम सभा के शेष सदस्य केवल महाजन या श्रेष्ठी कहे जाते थे। गुप्त कालीन जीवन में महाजनों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण और सम्मानित स्थान था। राजा के समान इन्हें भी हाथी की सवारी करने का अधिकार था।

नाना प्रकार के कुटीर उद्योगों की श्रेणियाँ प्राचीन काल में बन गई थीं। उनमें से दो की मुहरें मिल गई हैं, एक ग्वाले या अहीरों की श्रेणी जिनकी बड़ी जन-संख्या अभी तक काशी जनपद की शोभा है (गवयाक श्रेणि), और दूसरी 'वाराणस्यारण्यक-श्रेणि अर्थात् वाराणसी के चारों ओर बसने वाली जंगली जातियों का संगठन जो शहर के जीवन के लिये उपयोगी बहुत-से धन्धों में लगी हुई थीं। लकड़ी काटना, कोयला फूँकना, टोकरी-पत्तल बनाना आदि कितने ही उद्योग इन्हीं के सहारे आज भी चलते हैं। इनके अतिरिक्त और भी शिल्पियों की श्रेणियाँ काशी में रही होंगी। उनकी मुहरें नहीं मिलीं पर उनकी कारीगरी के असली या लिखित प्रमाण हमारे सामने है, जैसे कुम्भकार श्रेणी जिनके बनाए हुए मिट्टी के भांडों और खिलौनों के भंडार भारत कला भवन में भरे है, मणियों को तराशकर भाँति भाँति की गुरिया बनाने वालों की मणिकार श्रेणी जिनके बनाये हुए कई सहस्र मनके राजघाट की खुदाई के फल स्वरूप हाथ लगे हैं और कलाभवन तथा लखनऊ और प्रयाग के संग्रहालयों में सुरक्षित है। पत्थर की मूर्तियाँ बनाने वाली शिल्पि श्रेणि भी काशी में बहुत सक्रिय थी जिसना प्रमाण सारनाथ के संग्रहालय की नानाविध मूर्तियों और शिल्प की उकेरी के रूप में प्राप्त है। जब तक भारत है तब तक काशी की इस शिल्प कला का स्थान गौरवपूर्ण बना रहेगा। काशी के वस्त्र तो जातकयुग से ही नामी हो गए थे, जिन्हें कासेय्यक या वाराणसेय्यक कहते थे। वे वस्त्र तो नहीं रहे, पर उनकी सजावट में प्रयुक्त होने वाले अलंकरणों का एक छटापूर्ण नमूना सारनाथ में धमेख स्तूप के शिला पट्टों से निर्मित आच्छादन पर अभी तक शोभा की वस्तु है। इसके वल्लरी प्रधान और सर्वतोभद्रादि आकृतियों से पूरे हुए अलंकरण अपरिमित सौन्दर्य के साक्षी हैं। काशी के वस्त्रों की वह पुरातन कला अपने यश से आज भी गमक रही है। काशी की फूल गली भी प्रसिद्ध रही होगी। जातकों में इसका नाम ही 'पुष्पवती' आया है, अर्थात् यह फूलों की नगरी थी, जो अभी तक काशी के रुचिपूर्ण नागरिक जीवन का एक विशेष लक्षण है।

काशी पुरी के जन्मारम्भ से ही धार्मिक विशेषता भी उसके बँटवारे में आ गई थी। यहाँ पहले यक्षों की पूजा-मान्यता थी। काशी में कई यक्षों के पूजा-स्थान अभी तक हैं जिन्हें बीर या चौरा कहते हैं। लहुराबीर और बुल्लाबीर प्रसिद्ध हैं जो भारहुत से मिली हुई चुलकोका और महाकोका यक्षियों के ढंग पर छोटे और बड़े 'बीर' संज्ञक देवता थे (विपुल=विउल=बुल्ला=बड़े)। काशी विश्वविद्यालय में भी बीरों के कई चौरे अभी तक जमते हैं।

मत्स्य पुराण की एक कथा के अनुसार, जिसका विवरण श्री मोतीचन्द्र जी ने दिया है (पृ० ३३) काशी के हरिकेश यक्ष ने शिव की अखंड भक्ति करके काशी में स्थायी रूप से बसने का वरदान प्राप्त किया। तब से उसने शिव पूजा का प्रचार और यक्ष पूजा का बहिष्कार किया। यह कहानी सुन्दर ढंग से यह बताती है कि किस प्रकार यक्ष पूजा की पुरानी तह को शिव पूजा की नई तह ने क्रमशः ढक लिया और उसी के अनुसार काशीपुरी का धार्मिक विकास होने लगा। इसका प्रत्यक्ष फल यह हुआ कि काशी के पांसु-प्राकार या धूलकोट के भीतर अनेक शिव-स्थानों की नींव पड़ी। ये ही वे शिवलिंग हैं जिनकी सूची काशी खंड में एवं लक्ष्मीधर के तीर्थ कल्पतरु ग्रन्थ में पाई जाती है। राजघाट की खुदाई में जो मिट्टी की मुहरें मिली हैं उन्होंने पहली बार काशी के प्राचीन इतिहास की लगभग एक सहस्र वर्ष (२०० ई० पू० से ८०० ई० पू०) की सामग्री का उद्घाटन किया है। यह चमत्कार जैसा ही लगता है कि पुराणों में आए हुए कुछ शिव लिंगों के अस्तित्व का समर्थन पुरातत्त्व की सामग्री से हो रहा है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण अविमुक्तेश्वर का शिवलिंग था जिसे देवदेव स्वामी भी कहते थे। वनपर्व ८४।१८ में तीर्थ यात्रा के प्रसंग में इसका स्पष्ट उल्लेख आया है —

अविमुक्तं समासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह।
दर्शनाद् देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया॥

अर्थात् अविमुक्त नामक स्थान में पहुँच कर भगवान् देवदेव (मुद्रा के अनुसार देव-देव स्वामी) के दर्शन से यात्री अत्यधिक पुण्य लाभ करता है। इसी प्रकार गभस्तीश्वर, श्री सारस्वत, योगेश्वर, पीतकेश्वर स्वामी, भृंगेश्वर, बटुकेश्वर स्वामी, कलसेश्वर, कर्दमक-रुद्र और श्री स्कन्दरुद्र स्वामी इन शिवलिंगों की मुहरें भी मिली हैं। पीतकेश्वर स्वामी की मुद्रा पर ही अविमुक्त का नाम भी अंकित है जिससे सूचित होता है कि पहले की व्यवस्था का प्रबन्ध अविमुक्त मन्दिर के साथ ही था। देवमन्दिरों की यह कथा सत्य थी। इसका समर्थन शुआन चुआङ के यात्रा-वृत्तान्त से भी होता है जिसने काशी में ब्राह्मण-धर्म के बीस देव-मन्दिरों का उल्लेख किया है। ये देवालय धर्म के साथ साथ विद्या के भी केन्द्र स्थान रहे होंगे।

काशी का एक पुराना नाम 'ब्रह्मवर्द्धन' भी मिलता है। इसका अर्थ वही है जिसे आज ज्ञानपुरी कहते हैं। यों तो जातक युग में ही काशी ने यह ख्याति प्राप्त कर ली थी, पर इसका पूरा विकास तो गुप्तकाल में हुआ जब स्वर्ण युग की प्राणवन्त संस्कृति में संस्कृत भाषा और साहित्य का अभूतपूर्व अभ्युत्थान सामने आया। काशिका की रचना उसी का फल था, अर्थात् उसी समय से काशी के विद्वानों में पाणिनीय व्याकरण का पठन-पाठन गहरी जड़ पकड़ गया।

लेकिन काशी जैसे विद्या केन्द्र ने जिस क्षेत्र में सबसे अधिक उन्नति की वह वेदों का अध्ययनाध्यापन था। इस सम्बन्ध की जो मुहरें मिली हैं वे भारतीय शिक्षा के इतिहास में बेजोड़ हैं। उनसे ज्ञात होता है कि यहाँ ऋग्वेद के बह्वृचचरण का बहुत बड़ा विद्यालय था। उस मुद्रा की रचना काशी के कल्पनाशील कलाकारों की प्रतिभा का नमूना है। मुद्रा पर एक आश्रम अंकित है। उसके मध्य में जटाधारी आचार्य खड़े हैं और अपने हाथ के

कमण्डलु-जल से आश्रम के वृक्षों को सींच रहे हैं। दोनों ओर ब्रह्मचारी भावमुद्रामें खड़े हैं। यही काशी का 'ब्रह्मवर्धन' स्वरूप था। ऋग्वेद के समान कृष्णयजुर्वेद के लिये चरक चरण, सामवेद के लिये छन्दोगचरण, चारों वेदों के लिये चतुर्विद्य, और तीन वेदों के लिये त्रिविद्य विद्यालय थे। संभवत: 'श्री सर्वत्रविद्य' नामक विद्यालय वेदांगों और शास्त्रों की शिक्षा के लिये था। काशी का जैसा अनुपम उत्कर्ष गुप्तकाल में हुआ वैसा फिर कभी देखने में नहीं आया। धर्म, ज्ञान, और अर्थ इन तीनों का अपूर्व समन्वय इस युग की काशी में हुआ और नगर के जीवन पर धर्म तीर्थ, मोक्षतीर्थ और अर्थतीर्थ के आदर्शों की छाप सदा के लिये अंकित हो गई जो आजतक काशी के मनस्वी नागरिकों को अनुप्राणित करती है।

काशी ज्ञान की पुरी है और गंगा ब्रह्मद्रवी है, ये काशी के अध्यात्मसूत्र हैं। इन्हीं की नित्य नई-नई व्याख्या काशी के जीवन की सार्थकता है। यदि ज्ञान इस मानव-जीवन के लिये आवश्यक है और यदि उस ज्ञान का अन्तिम प्रयोजन ब्रह्म का साक्षात्कार ही है, तो इन दोनों की उपलब्धि काशी में होनी चाहिए। तभी काशी में निवास करने और गंगा में स्नान करने की चरितार्थता है। काशी और गंगा के स्थूल प्रतीकों को अर्थों की भारी सम्पत्ति से सींचा गया है। वही देवों की काशी है, मनुष्यों की काशी तो प्रकट है ही। जहाँ मनुष्य और देव एक धरातल पर मिल सकें वही तो सच्चा तीर्थ है। शंकराचार्य का दृष्टान्त इसका साक्षी है। स्थूल ज्ञान के द्वारा उन्होंने ब्रह्म की आराधना की, पर उपनिषदों में प्रतिपादित रहस्य तत्त्व का साक्षात् दर्शन उन्हें काशीश्वर के रूप में यहीं प्राप्त हुआ। अन्नमय देह शूद्र भाव है, चैतन्य आत्मा ब्रह्मभाव है—यही शंकराचार्य का काशी में प्राप्त अनुभव था। संसार के इतिहास के किस दूसरे नगर के विषय में यह कहा जा सकता है कि वहाँ भूतों की अपेक्षा आत्मतत्त्व को नगर के जीवनादर्श के साथ इस प्रकार मिला दिया गया हो?

नगर की संस्कृति का अरण्य की संस्कृति के साथ मेल करना यही काशी का विशेष लक्ष्य रहा है। केवल काशी में जैसे तैसे रह जाने से ही यह सिद्ध नहीं होता। यों तो गंगा में मछली-कछुए और मगरमच्छ भी रहते हैं। काशी में बसने का तात्पर्य है यहाँ के अध्यात्म आदर्श में भाग पाना। इसकी युक्ति जो जान सके उसी के लिये काशी चरितार्थ है।

श्री मोतीचन्द्र जी ने प्रस्तुत इतिहास में भी अपने 'सार्थवाह' और 'भारतीय वेश भूषा' की भाँति तिल-तिल सामग्री जोड़कर इतिहास का सुमेरु खड़ा किया है। यह एक नमूना है कि इस बड़े देश के महानगरों का इतिहास किस प्रकार रचा जा सकता है। यह काम अभी बहुत आगे बढ़ाना है। एथेन्स रोम आदि प्राचीन नगरों के कितने ही इतिहास बने हैं, उनके धर्म, कला, जीवन, अर्थ समृद्धि, संस्कृति आदि के विषय में विलक्षण अध्यायों का जैसे अन्त ही नहीं है। कुछ वैसा ही अध्यवसाय भारत की महापुरियों के लिए भी करना होगा। उसी का उत्तम उदाहरण इस रूप में पाकर हमें प्रसन्नता होती है।

काशी विश्वविद्यालय
देवशयनी एकादशी, संवत् २०१९

—वासुदेवशरण

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड

पहला अध्याय

प्राकृतिक रचना और यातायात के साधन

किसी नगर के इतिहास को जानने के पहले उसकी प्राकृतिक बनावट के बारे में जानना अत्यंत आवश्यक है। इतिहास के भौगोलिक आधारों को ठीक-ठीक समझने के बाद हम उस स्थान से संबंधित बहुत-से जटिल प्रश्नों पर अनायास ही प्रकाश डाल सकते हैं, और उसकी बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझा सकते हैं। सुदूर प्राचीन काल में बाराणसी की स्थापना का आधार धार्मिक न था। इतिहास से हमें पता चलता है कि हिन्दू धर्म से बनारस का संबंध बहुत बाद की घटना है, क्योंकि मनुस्मृति आदि ग्रंथों में तो काशी की साधारण-सी चर्चा है। बौद्ध जातकों में वाराणसी की धार्मिक प्रवृत्तियों के बदले काशी की बहुत सी बातों पर प्रकाश डाला गया है। वास्तव में उस प्राचीन युग में काशी का सनातन आर्य-धर्म से तो कोई विशेष संबंध नहीं था। इसमें संदेह नहीं कि काशीवासी धार्मिक कट्टरता के पक्षपाती न थे, दूसरी ओर वे विचार स्वतंत्रता के पक्षपाती थे तथा इस देश की मूल धार्मिक धाराओं का जिनमें शिव और यक्ष-नाग पूजा मुख्य थी काशी में अधिक प्रचार था।

इतिहास की जांच पड़ताल करने पर पता चलता है कि काशी और उसकी राजधानी वाराणसी का महत्व विशेष रूपसे उसका व्यापारिक और भौगोलिक स्थिति के कारण था। जब सरस्वती के किनारे से आर्यों का काफ़िला विदेघ माथव के नेतृत्व में आधुनिक उत्तर प्रदेश के घने जंगलों को चीरता हुआ सदानीरा अथवा गंडकी के किनारे आ पहुँचा और कोसल जनपद की नींव पड़ी, उसी समय संभवतः काश्योंने बनारस में अपना अड्डा जमाया। अगर ध्यान देकर देखा जाय तो उनके यहाँ भूस्थापन का कारण वाराणसी की भौगोलिक स्थिति है। बनारस शहर अर्धचन्द्राकार में गंगा के बायें किनारे पर अवस्थित है (अ० २५°१८′ उत्तर और देशांतर ८३°१′ पू०)। नगर की रचना एक ऊँची कंकरीले करारे पर जो गंगा के उत्तरी किनारे पर तीन मील फैली है, होने से नगर को बाढ़ से कोई खतरा नही रहता। आधुनिक राजघाट का चौरस मैदान जहाँ नदी-नालों के कटाव नहीं मिलते, शहर बसाने के लिए उपयुक्त था। एक तरफ बरना और दूसरी तरफ गंगा नगर की प्राकृतिक खाई का काम देती हैं। उत्तर-पश्चिम की ओर काशी के मार्ग में ऐसा कोई नैसर्गिक साधन जैसे पहाड़ियाँ, झील, दुर्लंघ्य नदी इत्यादि नहीं हैं जिससे नगर के बचाव में सहायता हो पर यह तो निश्चित है कि काशी के आस-पास के घनघोर वन, जिसका उल्लेख जातकों में आया है, काशी के बचाव में काफी सहायक रहे होंगे। आधुनिक मिर्जापुर जिले की विन्ध्याचल की पहाड़ियाँ भी बनारस के बचाव में महत्त्वपूर्ण थीं। इतिहास में अनेक ऐसे प्रकरण हैं जिनसे पता लगता है कि शत्रुओं के धावों से त्रस्त होकर बनारस के शासक विन्ध्याचल की पहाड़ियों में जा छिपते और मौका मिलते ही पुनः शत्रुओं को मार भगाते थे। १८ वीं सदी के मध्य में बलवन्तसिंह ने भी इसी नीति का सहारा लेकर अवध के नवाब शुजाउद्दौला को काफी छकाया था।

पश्चिम की ओर गंगा और यमुना के रास्ते काशी के व्यापारी मथुरा पहुँचते थे तथा पूरब की ओर चम्पा होते हुए ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह तक। वाराणसी उस महाजन पथ पर अवस्थित थी जो तक्षशिला से राजगृह और बाद में पाटलिपुर को जाता था। यहाँ से अन्य सड़कें देश के भिन्न-भिन्न भागों को जाती थीं, जिनसे होकर काशिक चन्दन और वस्त्र के द्वारा काशी की व्यापारिक महत्ता देश में चारों ओर फैलती थी।

यह कहना कठिन है कि जब आरम्भिक युग में यहाँ मनुष्य बसे तो बनारस की प्राकृतिक बनावट का क्या रूप था पर कृत्यकल्पतरु, काशीखंड और १९ वीं सदी में जॉन प्रिंसेप के नक्शे के आधार पर यह कहना सम्भव है कि गंगा बरना संगम से लेकर अस्सी संगम के कुछ उत्तर तक एक कंकरीला करारा है जो गोदौलिया नाले के पास कट जाता है। जमीन की सतह नदी की सतह से नीची पड़ जाने पर पानी अनेक तालों में इकट्ठा हो जाने से अधिक पानी बरना में चला जाता था। गोदौलिया नाले से मिसिर पोखरा, लक्ष्मीकुण्ड था, बेनिया तालाब का पानी गंगा में बह जाता था। मछोदरी रकबे का पानी बरना में गिरता था। मछोदरी के पूरब में कगार के नीचे एक चौरस मैदान पड़ जाता था जिसके उत्तर में नाले बहते थे।

स्थलपुराणों में मत्स्योदरी का काशी की एक नदी के रूप में उल्लेख एक पहेली है। लक्ष्मीधर ने तीर्थ विवेचन खंड में (पृ. ३४, ५८, ६९) इस नदी का तीन बार उल्लेख किया है। एक स्थान पर (पृ. ३४–३५) शुष्क नदी यानी अस्सी को पिंगला नाड़ी वरणा को इला नाड़ी और इन दोनों के बीच मत्स्योदरी को सुषुम्ना नाड़ी माना है। अन्यत्र (पृ. ५८) गंगा और मत्स्योदरी के संगम पर स्नान मोक्षदायक माना गया है। तीसरे स्थान पर (पृ. ६९) इस नदी के तीर पर देवलोक छोड़कर देवताओं के बसने की बात कही गयी है। मित्र मिश्र द्वारा उद्धृत काशीखंड (पृ. २४०) में मत्स्योदरी को बहिरन्तश्चर कहा गया है और वह गंगा के प्रतिकूल धारा (संहार मार्ग) से मिलती थी। इन सब उल्लेखों से पता चलता है कि कम से कम बारहवीं सदी में मत्स्योदरी कोई छोटी-मोटी नदी अथवा नाले के रूप में थी जो गंगा से मिल जाती थी। पर काशीखंड के आधुनिक संस्करण में मत्स्योदरी को भूमि के भीतर बहने वाली नदी माना गया है जिससे यह प्रकट होता है कि १५ वीं सदी में यह नदी लुप्त हो चुकी थी और लोग उसका अस्तित्व भूल चुके थे। सोलहवीं सदी में नारायण भट्ट की व्युत्पत्ति के अनुसार मत्स्याकार काशी के गर्भ में अवस्थित होने से इसका नाम मत्स्योदरी पड़ा।[1]

अब प्रश्न यह उठता है कि काशी की राजधानी वाराणसी का नामकरण कैसे हुआ। बाद की पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार वरणा और असि नाम की नदियों के बीच में बसने के कारण ही इस नगर का नाम वाराणसी पड़ा। कनिंघम[2] भी इस मत की पुष्टि करते हैं। लेकिन एम० जूलियन ने इस मत के बारे में संदेह प्रकट किया था[3]। उन्होंने

[1] तीर्थ विवेचन खंड, पृ० ३४, ५८, ६९

[2] एंशेंट जियोग्राफी, पृ. ४९९, इत्यादि

[3] जूलियन, लाइफ एंड पिलिग्रिमेज आफ युवान च्वांङ १, १३३; २, ३५४

वरणा का प्राचीन नाम ही वरणासि माना था पर इसके लिए उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। विद्वानों ने इस मत की पुष्टि नहीं की, पर इस मत के पक्ष में बहुत-से प्रमाण हैं।

वाराणसी की पौराणिक व्युत्पत्ति को स्वीकार करने में बहुत-सी कठिनाइयां हैं। पहली कठिनाई तो यह है कि अस्सी नदी न होकर बहुत ही साधारण नाला है और इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि प्राचीन काल में इसका रूप नदी का था। प्राचीन वाराणसी की स्थिति भी इस मत का समर्थन नहीं करती। प्रायः विद्वान् सर्वसम्मत हैं कि प्राचीन वाराणसी आधुनिक राजघाट के ऊँचे मैदान पर बसी थी और इसका प्राचीन विस्तार जैसा कि भग्नावशेषों से भी पता चलता है बरना के उस पार भी था, पर अस्सी की तरफ तो बहुत ही कम प्राचीन अवशेष मिले हैं और जो मिले भी हैं, वे परवर्ती अर्थात् मध्यकाल के हैं।

अब हमें विचार करना पड़ेगा कि वाराणसी का उल्लेख साहित्य में कब से आया। काशी शब्द तो जैसा हम आगे देखेंगे सबसे पहले अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा से आया है और इसके बाद शतपथ में। लेकिन यह संभव है कि नगर का नाम जनपद से पुराना हो। अथर्ववेद (४।७।१) में वरणावती नदी का नाम आया है और शायद इससे आधुनिक बरना का ही तात्पर्य हो। अस्सी का तो नाम तक किसी प्राचीन साहित्य में नहीं आया है। बाद के पौराणिक साहित्य में अवश्य असि नदी का नाम वाराणसी की व्युत्पत्ति की सार्थकता दिखलाने को आया है (अग्नि पु० ३५२०)। यहाँ एक विचार करने की बात यह है कि अग्निपुराण में असि नदी को नासी भी कहा गया है। वस्तुतः इसमें एक काल्पनिक व्युत्पत्ति बनाने की प्रक्रिया दीख पड़ती है। वरणासि का पदच्छेद करके नासी नाम की नदी निकाली गयी है, लेकिन इसका असि रूप सम्भवतः और बाद में जाकर स्थिर हुआ। महाभारत ६।१०।३० तो इस बात की पुष्टि कर देता है कि वास्तव में बरना का प्राचीन नाम वराणसी था और इसमें से दो नदियों के नाम निकालने की कल्पना बाद की है। पद्मपुराणान्तर्गत काशी माहात्म्य[1] में भी वरणासि एक नदी है। वाराणसी का विस्तार वर्णन करता हुआ पुराणकार कहता है कि उसके उत्तर और दक्षिण में तो नदियाँ हैं और पूर्व में वरणासि नदी। यहाँ उत्तर दक्षिण की नदियों के नाम तो नहीं दिये गये हैं पर इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ गंगा और गोमती से तात्पर्य है। मत्स्यपुराण से तो यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि असि नदी की कल्पना बाद की है। शिव वाराणसी का वर्णन करते हुए कहते हैं—

वाराणस्या नदी पुण्या सिद्धगन्धर्वसेविता
प्रविष्टा त्रिपथा गंगा तस्मिन् क्षेत्रे मम प्रिये। (१८३।६-७)

सिद्ध-गंधर्वों से सेवित पुण्य नदी वाराणसी जहाँ गंगा से मिलती है, हे प्रिये, वह क्षेत्र मुझे प्रिय है।

वाराणसी क्षेत्र का विस्तार बताते हुए मत्स्य पुराण में एक और जगह कहा गया है—
वरणासी नदी यावत् तावच्छुष्कनदीतुवै भीष्मचंडिकमारभ्यपर्वतेश्वरमंतिके (१८३।६२)

[1] पद्मपुराण ५।५८। शेरिंग, दि सेक्रेड सिटी आफ बनारस, लंडन १८६८, पृ. १९

वरणासी नदी से गंगा नदी तक भीमचंडी से पर्वतेश्वर तक काशी का विस्तार है। उक्त श्लोक की वरणासी आधुनिक बरना है। शुक्ल नदी (सितासिते सरिते यत्र संगते, ऋक्, खिलभाग) गंगा है और भीष्मचण्डी आधुनिक भीमचंडी है जो आधुनिक पंचकोसी के रास्ते पर पड़ती है। पर्वतेश्वर का ठीक-ठीक पता नहीं पर शायद यह मंदिर राजघाट के आस-पास कहीं रहा हो।

उक्त उद्धरणों की जांच पड़ताल से यह पता चलता है कि वास्तव में नगर का नामकरण अस्सी पर बसने से हुआ। अस्सी और बरना के बीच में वाराणसी के बसने की कल्पना उस समय से उदय हुई जब नगर की धार्मिक महिमा बढ़ी और उसके साथ-साथ नगर के दक्षिण में मंदिरों के बनने से नगर के दक्षिण का भाग भी उसकी सीमा में आ गया, साथ ही पञ्चकोशी की मध्यकालीन कल्पना के अनुसार नगर की परिधि और भी विस्तृत कर दी गयी।

लेकिन प्राचीन वाराणसी सदैव बरना पर ही स्थित नहीं थी, गंगा तक उसका प्रसार हुआ था। कम से कम पतंजलि के समय में अर्थात् ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में तो यह गंगा के किनारे-किनारे बसी थी जैसा कि अष्टाध्यायी के सूत्र 'यस्य आयामः' (२।१।१६) पर पतंजलि के भाष्य 'अनुगंगं वाराणसी, अनुशोणं पाटलिपुत्रं' (कीलहार्न, १, ३८०) से विदित है। मौर्य और शुंग युग में राजघाट पर गंगा की ओर वाराणसी के बसने का प्रमाण हमें पुरातत्व के साक्ष्य से भी लग चुका है।

वरणा शब्द एक वृक्ष का भी द्योतक है। प्राचीनकाल में वृक्षों के नाम पर भी नगरों के नाम पड़ते थे जैसे कोशंब से कौशांबी, रोहीत से रोहीतक इत्यादि। यह संभव है कि वाराणसी और वरणावती दोनों का ही नाम इस वृक्ष विशेष को लेकर ही पड़ा हो।

वाराणसी नाम के उक्त विवेचन से यह न समझ लेना चाहिए कि काशी की इस राजधानी का केवल एक ही नाम था। कम से कम बौद्ध साहित्य में तो इसके अनेक नाम मिलते हैं। उदय जातक में इसका नाम सुरुंधन (सुरक्षित), सुतसोम जातक में सुदर्शन (दर्शनीय), सोणदण्ड जातक में ब्रह्मवर्द्धन, खंडहाल जातक में (पुष्पवती), युवंजय जातक में रम्म नगर (सुन्दर नगर) (जा० ४।११९), शंख जातक में मोलिनी (मुकुलिनी) (जा० ४।१५) मिलता है। इसे कासिनगर और कासिपुर के नाम से भी लोग जानते थे (जातक, ५।५४; ६।१६५, धम्मपद अट्ठकथा, १।८७)। अशोक के समय में इसकी राजधानी का नाम पोतलि था (जा० ३।३९)। यह कहना कठिन है कि ये अलग-अलग उपनगरों के नाम हैं अथवा वाराणसी के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं।

यह संभव है कि लोग नगरों की सुन्दरता तथा गुणों से आकर्षित होकर उसे भिन्न-भिन्न आदरार्थक नामों से पुकारते हों। पतंजलि के महाभाष्य से तो यही प्रकट होता है। अष्टाध्यायी के ४।३।७२ सूत्र के भाष्य में (कीलहार्न, २, ३१३) नवे तत्रेति तद् भूयाज्जित्वरीयदुपाचरेत् श्लोक पर पतंजलि ने लिखा है—वणिजो वाराणसीं जित्वरीत्युपाचरन्ति, अर्थात् ई० पू० दूसरी शताब्दी में व्यापारी लोग वाराणसी को जित्वरी नाम से पुकारते थे।

जित्वरी का अर्थ है जयनशीला अर्थात् जहाँ पहुँच कर पूरी जय अर्थात् व्यापार में पूरा लाभ हो। जातकों में वाराणसी का क्षेत्र उसके उपनगर को सम्मिलित कर बारह योजन बताया गया है (जा० ४, ३७७; ५, १६०)। इस कथन की वास्तविकता का तो तभी पता चल सकता है जब प्राचीन वाराणसी और उसके उपनगरों की पूरी तौर से खुदाई हो, पर बारह योजन एक रूढ़िगत अंक-सा विदित होता है।

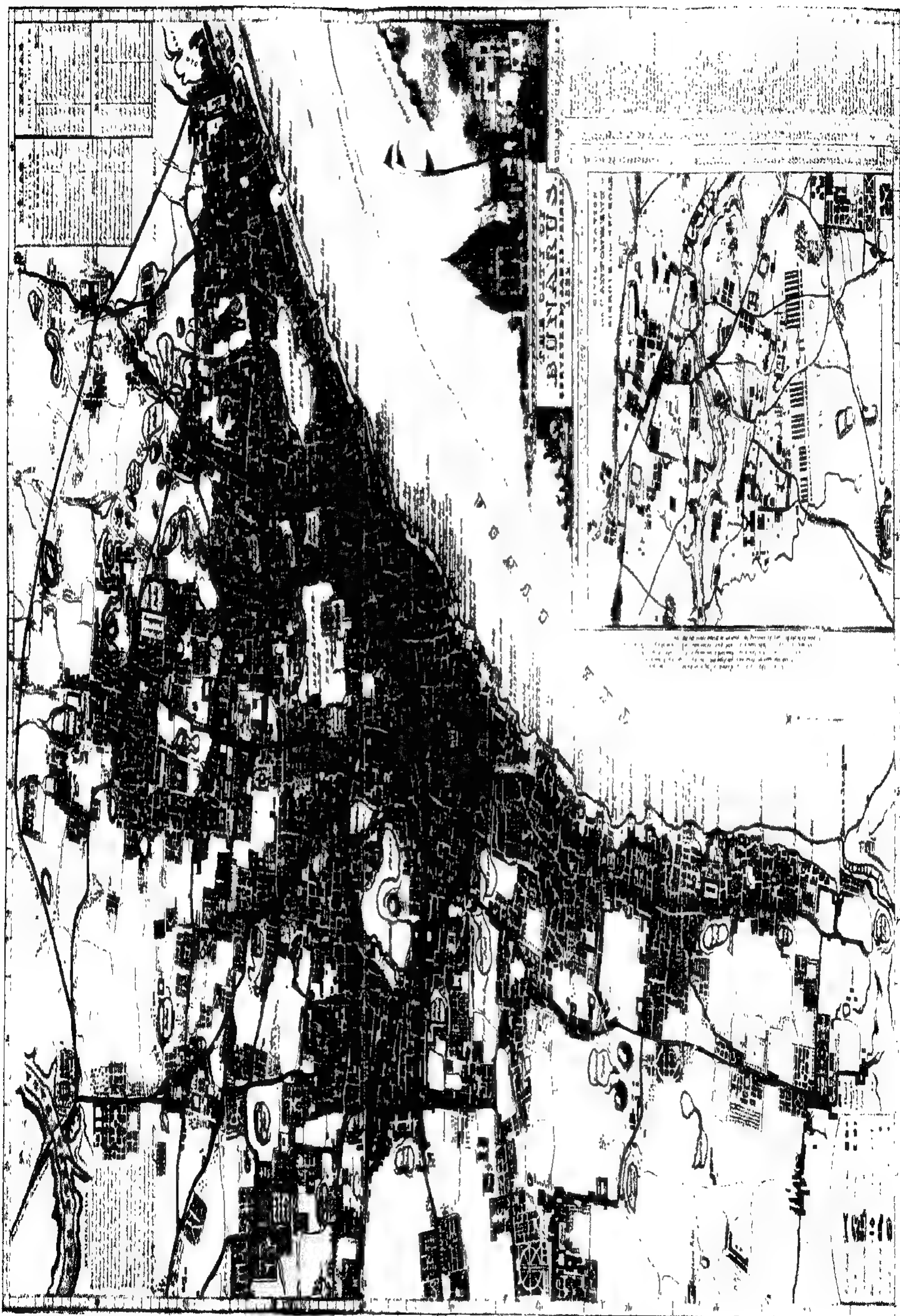
कृत्यकल्पतरु[१] के तीर्थ विवेचन में भी वाराणसी के सम्बन्ध में अनेक उद्धरण मिलते हैं। ब्रह्मपुराण में शिव पार्वती से कहते हैं कि—हे सुरवल्लभे, वरणा और असि इन दोनों नदियों के बीच में ही वाराणसी क्षेत्र है उसके बाहर किसी को नहीं बसना चाहिए। मत्स्य पुराण के अनुसार यह नगर पश्चिम की ओर ढाई योजन तक फैला था और दक्षिण में यह क्षेत्र वरणा से गंगा तक आधा योजन फैला हुआ था। मत्स्य में ही अन्यत्र नगर का विस्तार बतलाते हुए कहा गया है—पूर्व से पश्चिम तक इस क्षेत्र का विस्तार दो योजन है और दक्षिण में आधा योजन, नगर भीष्मचण्डी से लेकर पर्वतेश्वर तक फैला हुआ था। ब्रह्मपुराण के अनुसार इस क्षेत्रका प्रमाण पाँच कोस का था, उसके उत्तर में गंगा तथा पूर्व में सरस्वती नदी थी। उत्तर में गंगा दो योजन तक शहर के साथ-साथ बहती थी। स्कंद पुराण के अनुसार उस क्षेत्र का विस्तार चारों ओर चार कोस था। लिंग पुराण में इस क्षेत्र का विस्तार कुछ और बढ़ाकर कहा गया है। इसके अनुसार कृत्तिवास से आरंभ होकर यह क्षेत्र एक-एक कोस चारों ओर फैला हुआ है। उसके बीच में मध्यमेश्वर नामक भूमि लिंग है। यहाँ से भी एक-एक कोस चारों ओर क्षेत्र का विस्तार है। वही वाराणसी की वास्तविक सीमा है, उसके बाहर विहार न करना चाहिए।

अग्नि पुराण (३५२०) के अनुसार वरणा और अस्सी नदियों के बीच बसी हुई वाराणसी का विस्तार पूर्व में दो योजन और दूसरी जगह आधा योजन है। मत्स्य पुराण की मुद्रित प्रति (१८४।५१) में इसकी लम्बाई चौड़ाई अधिक स्पष्ट रूप से वर्णित है। दक्षिण और उत्तर में इसका विस्तार आधा योजन है, वाराणसी का प्रस्तार गंगा नदी तक है।

ऊपर के उद्धरणों से यह पता चलता है कि प्राचीन वाराणसी का विस्तार काफी दूर तक था। बरना के पश्चिम में राजघाट का किला जहाँ निस्सन्देह प्राचीन वाराणसी बसी थी एक मील लम्बा और ४०० गज चौड़ा है। गंगा नदी इसके दक्षिण-पूर्व मुख की रक्षा करती है, और बरना नदी उत्तर और उत्तर-पूर्व मुखों की रक्षा एक छिछली खाई के रूप में करती है, पश्चिम की ओर एक खाली नाला है जिसमें से होकर किसी समय बरना बहती थी। रक्षा के इन प्राकृतिक साधनों को देखते हुए ही शायद प्राचीन काल में वाराणसी नगरी के लिए यह स्थान चुना गया। सन् १८५७ की बगावत के समय अंग्रेजों ने भी नगर रक्षा के लिए बरना के पीछे ऊँची जमीन पर कच्ची मिट्टी की दीवारें उठाकर किलेबन्दी की थी। पर पुराणों में आयी वाराणसी की सीमा राजघाट की उक्त लम्बाई चौड़ाई से कहीं अधिक है। ऐसा जान पड़ता है कि इन प्रसंगों में केवल नगर की सीमा

---

[१] तीर्थ विवेचन खंड, के. वी. रंगस्वामी अय्यंगर संपादित, बरोदा, १९४२, पृ० ३९-४०।



चित्र न. १९   १८२२ में जेम्स प्रिंसेप द्वारा निर्मित बनारस का नक्शा

ही नहीं वर्णित है, बरन् तीर्थ के कुछ भागों की सीमा भी सम्मिलित कर ली गयी है। यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि बरना के उस पार तक प्राचीन बस्ती के अवशेष काफी दूर तक चले गये हैं। हो सकता है पुराणों द्वारा वर्णित इस सीमा में वे सब भाग भी आ गये हों। अगर यह ठीक है तो पुराणों में वर्णित नगर की लम्बाई चौड़ाई एक तरह से ठीक ही उतरती है।

वाराणसी के चारों ओर शहरपनाह का वर्णन जातकों में आया है (जा० १।१२)। यहाँ नगर के चारों ओर को शहरपनाह का विस्तार १२ योजन और नगर और उसके उपनगरों की शहरपनाह का विस्तार ३०० योजन कहा गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शहरपनाह का यह आयाम अतिशयोक्तिपूर्ण है, अतः इससे हम केवल यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वाराणसी के चारों ओर शहरपनाह थी। युद्ध में इस शहरपनाह का क्या उपयोग होता था इसका सुन्दर वर्णन एक जातक में आया है (जा० २।६४–६५)। एक समय एक बड़ी सेना के साथ, हाथी पर सवार होकर एक राजा ने बनारस पर धावा बोल दिया और नगर के चारों ओर घेरा डालकर उसने एक पत्र द्वारा काशिराज को आत्मसमर्पण करने अथवा लड़ने के लिए ललकारा। बनारस के राजा ने लड़ने की ठानी। वह नगर के रक्षार्थ प्राकार, द्वार, अट्टालक और गोपुरों पर योद्धाओं को नियुक्त करके शत्रुओं का सामना करने लगा। इस पर आक्रमणशील राजा ने अपने हाथी को पाखर पहना दिया और स्वयं जिरह बख्तर पहन कर और हाथ में अंकुश लेकर हाथी को शहर की ओर बढ़ा दिया। नगर-रक्षक सेना को खौलती मिट्टी, गुलेलों से पत्थर (यन्तपासाण) और भांति-भांति के शस्त्रास्त्रों के साथ चलता देख कर हाथी डरा लेकिन पीलवान ने उसे आगे बढ़ाया। एक भारी बल्ली को अपने सूड़ में लपेटकर उसने नगर द्वार (तोरण) पर धक्के मार कर द्वार के ब्योंड़े (पलिघं) को तोड़ दिया और इसतरह वह शहर में घुस गया।

यह उल्लेखनीय है कि बनारस की प्राचीन शहरपनाह के चिह्न अब भी बच गये हैं। शेरिंग ने[१] इस बात की जाँच की और उन्हें बरना संगम से आदमपुर मुहल्ले तक लगातार ऊँचे टीले इस प्राचीन शहरपनाह के भग्नावशेष प्रतीत हुए। बाढ़ के दिनों में बरना का जल शहरपनाह अथवा टीलों की इस शृङ्खला तक पहुँच जाता है। सूखे दिनों में इन टीलों और बरना के बीच में एक खाल पड़ जाती है। प्रिंसेप का मत था कि इस शहरपनाह को मुसलमानों ने शत्रु से नगर की रक्षा करने के लिए बनवाया, पर अपने मत के पक्ष में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। शहरपनाह का दक्षिण पश्चिमी छोर अब गंगा से एक तिहाई मील पर है लेकिन यह मानने का पर्याप्त कारण है कि मुसलमानी आक्रमण के बहुत पहले यह शहरपनाह गंगा से मिली हुई थी। इन सब बातों के साक्ष्य से ऐसा जान पड़ता है कि यह लंबी शहरपनाह प्राचीन काल में दक्षिण ओर से नगर की सीमा निश्चित करती थी और बाद में, जब नगर दक्षिण और दक्षिण पश्चिमकी ओर बढ़ गया और नगरवासियों ने आत्मरक्षार्थ इस साधन को छोड़ दिया तब मुसलमानों

[१] शेरिंग, उल्लिखित, पृ० २९९।

ने इन टीलों का उपयोग आक्रमण के लिए किया[1]। यह शहरपनाह आरंभ में शायद वर्तमान टीलों के सीध में गंगा तक चली गयी थी अथवा दूरी कम करने के लिए यह गंगा तक वर्तमान तेलिया नाला होकर पहुँची हो। ऐसी अवस्था में इसका कुछ भाग बाद में शहर बसाने के लिए तोड़ दिया गया होगा क्योंकि इस बात के काफी प्रमाण हैं कि गंगा के किनारे शहर एक सँकरी पट्टी के रूप में बसा। अगर यह विचार सही है तो इससे यह नतीजा निकलता है कि बनारस शहर की सबसे पुरानी बस्ती बरना से गंगा तक फैली थी तथा इन दोनों नदियों के संगम तक एक लंबा अंतरीप छोड़ती हुई वह राजघाट के पठार को घेरती हुई इस शहरपनाह के अंदर आजाती थी। ऐसा होने पर आधुनिक शहर की तुलना में प्राचीन बनारस काफी छोटा रहा होगा। लेकिन वाराणसी क्षेत्र की सीमा जैसा हमें पुराणकार बतलाते हैं काफी लंबी चौड़ी थी और वह इसलिए कि शहरपनाह के बाहर का भी भाग नगर की सीमा में ले लिया गया था।

बुद्ध-पूर्व महाजनपद युग में वाराणसी काशी जनपद की राजधानी थी। यह कहना कठिन है कि प्राचीन काशी जनपद का विस्तार कहाँ तक था। जातकों में (जा० ३।१८९; ५।४१; ३।३०४, ३९१) काशी का विस्तार तीन-सौ योजन दिया गया है। काशी जनपद के उत्तर में कोसल, पूर्व में मगध, और पश्चिम में वत्स था[2]। डा० आल्टेकर के मतानुसार काशी जनपद का विस्तार उत्तर पश्चिम की ओर दो-सौ पचास मील तक था, क्योंकि इसका पूर्व का पड़ोसी जनपद मगध और उत्तर पश्चिम का पड़ोसी जनपद उत्तर पंचाल था। एक जातक (१५१) के अनुसार काशी और कोसल की सीमाएँ मिली हुई थीं। काशी की दक्षिणी सीमा का पता नहीं है पर वह शायद विन्ध्य शृंखला से घिरी थी। जातकों के आधार पर डा० आल्टेकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि काशी का विस्तार बलिया से कानपुर तक शायद रहा हो[3]। पर श्री राहुल सांकृत्यायन का मत है कि आधुनिक बनारस कमिश्नरी ही प्राचीन काशी जनपद की द्योतक है। संभव है कि आधुनिक गोरखपुर कमिश्नरी का भी कुछ भाग काशी जनपद में शामिल रहा हो।

प्राचीन युग में बनारस का क्या रूप था और काशी जनपद की क्या स्थिति थी इसके सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है पर काशी के इतिहास के लिए आधुनिक बनारस जिले की भौगोलिक स्थिति के बारे में भी कुछ बातों का जानना जरूरी है। प्राचीन साहित्य के आधार पर यदि हम तत्कालीन बनारस की प्राकृतिक स्थिति का अध्ययन यदि कर सकते तो वह बड़ा ही उपयोगी होता पर इसके लिए मसाला कम है। इसमें सन्देह नहीं कि आजकल के बनारस से प्राचीन बनारस बहुत भिन्न रहा होगा क्योंकि आज जिले के जिन भागों में घनी बस्ती है उन भागों में गाहड़वाल युग तक जंगल थे। शहर के अनगिनत तालाबों और पुष्करणियों का भी, जिनमें बहुत-सी तो १९ वीं सदी तक बच गयी थीं, अब पता नहीं है। वे नाले भी अब पट चुके हैं जो एक समय बनारस की भूमि को

---

[1] शेरिंग, उल्लिखित, पृ० ३००।

[2] कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भा० १, पृ० १४

[3] ए० एस० आल्टेकर, हिस्ट्री आफ बनारस, बनारस १९३७, पृ० १२

झपटते रहते थे। बहुत नाली पर जो एक समय चौक तक पहुँचती थी अब शहर की घनी आबादी है और नालों के तो अब केवल नाम ही बच गये हैं।

जिले की आबादी आज बहुत घनी है, पर जातकों से हमें पता चलता है कि बनारस के आसपास घने जंगल थे। काशी जनपद के जिन ग्रामों इत्यादि के वर्णन हमें मिलते हैं उनमें अधिकतर आधुनिक बनारस तहसील के अथवा जौनपुर के थे जो प्राचीन काशि-जनपद का अंग था। मृगदाव और इसिपतन जिसे आज हम सारनाथ कहते हैं बनारस तहसील में हैं तथा मच्छिकासंड (आधुनिक मछली शहर) और कीटगिरि (केराकत) जौनपुर में हैं[१]। सम्भवतः चन्दौली तहसील मध्यकाल में आबाद हुई। कम से कम इस तहसील में अभी तक गुप्तकाल या उसके पहले के भग्नावशेष नहीं मिले हैं, पर गाहड़-वाल युग (११–१२ वीं शताब्दी) में चन्दौली तहसील पूरी तरह से बस चुकी थी जैसा कि हमें उस युग के ताम्रलेखों से पता चलता है।

बनारस जिला जिसमें रामनगर की भूतपूर्व देशी रियासत भी सम्मिलित है, गंगा के दोनों किनारों पर २५·८ और २५·३५ अक्षांश उत्तर तथा ७८·५६ और ७९·५२ देशान्तर पूर्व तक फैला है। यह इलाका टेढ़ी-मेढ़ी शकल का है और इसकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम तक ८० मील और उत्तर से दक्षिण तक चौड़ाई ३४ मील है। उत्तर में इसकी सीमा जौनपुर जिले से लगती है, उत्तर-पूर्व और पूर्व में गाजीपुर से, दक्षिण में मिर्जापुर से, दक्षिण-पूर्व में बिहार जिला शाहाबाद से जिसे करमनासा नदी बनारस से अलग करती है। गंगा के बहाव से जिले का रकबा उत्तर-पूर्व की ओर घटता-बढ़ता रहता है, लेकिन यह घट-बढ़ यों ही मामूली-सी होती है।

सारा जिला गंगा की घाटी में स्थित है और इसके भूगर्भिक स्तरों से मिट्टी के सिवा और कुछ नहीं निकलता, क्योंकि विन्ध्याचल की पहाड़ियाँ मिर्जापुर जिले में समाप्त हो जाती हैं। जिले में मिट्टी की गहराई का ठीक-ठीक पता नहीं है। पर गहरे कुओं की खोदाई से ३५ फुट तक लोम, उसके बाद तीस फुट नीली खांच, उसके बाद २७ फुट जमी मिट्टी और उसके नीचे पानी के सोतों वाली लाल बालू मिलती है। प्राकृतिक बनावट की दृष्टि से बनारस को दो भागों में बाँटा जा सकता है; एक उपरवार और दूसरा तरी। ये दोनों भाग गंगा के ऊँचे-नीचे करारों से विभाजित हैं। इन करारों की भिन्नता जमीन, प्रकृति और नदी के बहाव पर भी अवलंबित है। बनारस के दोनों भाग मुख्यतः जमीन का तल और ढाल में एक-दूसरे से भिन्न हैं।

जिले का पश्चिमी भाग जिसमें बनारस तहसील और गंगापुर तथा भदोही सम्मि-लित हैं पूर्व की चन्दौली तहसील की अपेक्षा ऊँचे हैं। बनारस तहसील में जमीन की सतह पूर्व और दक्षिण-पूर्व की तरफ ढलुई है। तालों का बहाव गंगा की तरफ है इसी लिए जिले का पश्चिमी भाग नीचा-ऊँचा पठार है। जौनपुर आजमगढ़ की सड़कें जहाँ

---

[१] बी० सी० लाहा, इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्सट्स आफ बुधिज्म एण्ड जैनिज्म, पृ० ४२

उत्तर से बनारस पार करती हैं वहाँ उनकी ऊँचाई क्रमशः २३८ और २५० फुट है। बनारस की ऊँचाई समुद्री सतह से २५२ फुट है और यहाँ गंगा की सबसे कम ऊँचाई १९७ फुट है। उत्तर पूर्व अर्थात् परगना जाल्हूपुर में यह सतह क्रमशः ढलती हुई नदी के उस पार बलुआ में आकर २३८ फुट रह जाती है।

सतह की इस ऊँचाई-निचाई का प्रभाव सतह की बनावट पर भी काफी पड़ा है। जिले के पश्चिमी भाग की समतल जमीन अच्छी है। जल विभाजकों के पास यह मूर सवई कहलाती है, बाद में यह मूर अर्थात् बलुई हो जाती है। जिले की निचली जमीन मटियार कहलाती है और उसमें झीलों और तालाबों की सिंचाई से धान खूब होता है।

बनारस तहसील की प्राकृतिक बनावट के उपर्युक्त विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आर्यों ने अपना केन्द्र पहले यहाँ क्यों बनाया। अच्छी जमीन, पानी की सुलभता तथा आयात-निर्यात के साधन इसके मुख्य कारण थे।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन युग का राजपथ भी बनारस से गाजीपुर होकर बिहार की ओर जाता था और वह शायद इसलिए कि ग्रेंड ट्रंक रोड के आधुनिक रास्ते पर उस समय घनघोर वन थे। गंगा पार चन्दौली तहसील में जमीन नीची होने से बरसाती पानी छोटी नदियों में बाढ़ लाकर काफी नुकसान पहुँचाता है और पानी के बहाव का ठीक रास्ता न होने से सिंचाई का प्रबन्ध भी ठीक से नहीं हो सकता। जमीन नीची होने से शायद यहाँ मलेरिया का भी अधिक प्रकोप रहा हो। जो भी हो अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में बनारस के अवैदिक रीति-रिवाजों से अप्रसन्न होकर सूक्तकार काशी जनपद पर तक्मा को धावा करने को कहता है। संभवतः प्राचीनकाल में तक्मा अर्थात् मलेरिया से लोग बहुत डरते थे और उनका डरना स्वाभाविक भी था क्योंकि कुनैन के आविष्कार के पहले मलेरिया भारी प्राण संहारक होता था।

गंगा—बनारस की प्राकृतिक रचना में गंगा का मुख्य स्थान है। गंगापुर के बेतवर गांव से पहले पहल गंगा इस जिले में घुसती है। यहाँ इससे सुबहा नाला आ मिला है। वहाँ से प्रायः सात मील तक गंगा बनारस मिर्जापुर जिले से अलग करती है और इसके बाद बनारस जिले में बनारस और चन्दौली तहसीलों को विभाजित करती है। गंगा की धारा अर्ध-वृत्ताकार रूप में वर्ष भर बहती है। इसके बाहरी भाग के ऊपर करारे पड़ते हैं और भीतरी भाग में रेती अथवा बाढ़ की मिट्टी। जिले में गंगा का रुख पहले उत्तर की तरफ होता हुआ रामनगर के कुछ आगे तक देहात अमानत को राल्हूपुर से अलग करता है। यहाँ करारा कंकरीला है और नदी उसके ठीक नीचे बहती है। तूफान में नावों को यहाँ काफी खतरा रहता है। देहात अमानत में गंगा का बायां किनारा मूंडादेव तक ऊँचा चला गया है। इसके नीचे की ओर वह रेती में परिणत हो जाता है और बाढ़ में पानी से भर जाता है। रामनगर छोड़ने के बाद गंगा की उत्तर-पूर्व की ओर झुकती दूसरी केहुनी शुरू होती है। धारा यहाँ बायें किनारे से लगकर बहती है। अस्सी संगम से लेकर ऊँचे करारे पर बनारस के मन्दिर घाट और मकान बने हैं और दाहिने किनारे पर बलुआ मैदान है। मालवीय पुल से कैथी तक नदी पूरब की ओर बहती है। यहाँ धारा बायें

किनारे से लगकर बहती है और यह ऊँचा करारा बरना संगम के कुछ आगे तक चला जाता है। नावों के लिए खतरनाक चचरियों की वजह से गंगा की धारा बदलने की संभावना ही नहीं रह जाती। तांतेपुर पर यह धारा दूसरे किनारे की ओर जाने लगती है और किनारा नीचा और बलुआ होने लगता है। दाहिनी ओर मिट्टी के नीचे करारे का बाढ़ से डूबने का भय रहता है।

कैथी के पास गंगा पुनः उत्तर की ओर झुकती है और उसका यह रुख बलुआ तक रहता है। कैथी के काँवर तक दक्षिणी किनारा पहले तो भरभरा रहता है पर बाद में कंकरीले करारे में बदल जाता है लेकिन काँवर से बलुआ तक मिट्टी की एक उपजाऊ पट्टी कुछ भीतर घुसती हुई पड़ती है। इस घुमाव के अन्दर जाल्हूपुर परगना है। इस परगने के अन्दर से गंगा की एक उपधारा बहती है जो बरसात में कैथी का एक कोना काटकर चार गाँवों का एक टापू छोड़ देती है। यह उपधारा बलुआ के कुछ ऊपर गंगा से मिल जाती है। बलुआ से गंगा उत्तर-पश्चिम की ओर घूम जाती है। इसका बायीं ओर का किनारा जाल्हूपुर और कटेहर की सीमा तक नीचा और बलुआ है। यहाँ से नदी पहले उत्तर को ओर, बाद में उत्तर-पूर्व की ओर बहती है। कटेहर के दक्खिन-पूरब ऊँचा कंकरीला किनारा शुरू हो जाता है और यहाँ-वहाँ खादर के टुकड़े दीख पड़ते हैं। दूसरा किनारा परगना बरह में पड़ता है। बरह के उत्तरी छोर से कुछ दूर गंगा गाजीपुर और बनारस की सीमाएँ अलग करती है और सैदपुर से वह गाजीपुर जिले में घुस जाती है।

बानगंगा—किनारे की भूगर्भिक बनावट और बहुत जगहों पर कंकरीले करारों की वजह से जिले में नदी की धारा में बहुत कम अदल-बदल हुआ है। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि प्राचीनकाल में बरह शाखा के सिवा गंगा की कोई दूसरी धारा थी। लेकिन इस बात का प्रमाण है कि गंगा की धारा प्राचीनकाल में दूसरी ही तरह से बहती थी। परगना कटेहर में कैथी के पास की चचरियों से ऐसा लगता है कि इन्हीं कंकरीले करारों की वजह से नदी एक समय दक्खिन की ओर घूम जाती थी। गंगा की इस प्राचीन धारा के बहाव का पता हमें बानगंगा से मिलता है जो बरसात में भर जाती है। टाँड़ा से शुरू होकर बानगंगा दक्खिन की ओर छह मील तक महुआरी की ओर जाती है, फिर पूर्व की ओर रसूलपुर तक; अन्त में उत्तर में रामगढ़ को पार करती हुई वह हसनपुर (सैदपुर के सामने) तक जाती है। जिस समय गंगा की धारा का यह रुख था उस समय गंगा की वर्तमान धारा में गोमती बहती थी जो गंगा में सैदपुर के पास मिल जाती थी। यह कहना आसान नहीं है कि कैथी और टाँड़ा के बीच में कँकरीले करारे को गंगा ने कब तोड़ा लेकिन ऐसा हुआ अवश्य; इसका पता यहाँ की जमीन की बनावट से लगता है। ऊपर हम देख चुके हैं कि इस स्थान पर नदी का पाट, दूसरी जगहों की अपेक्षा जहाँ नदी ने अपना पाट नहीं बदला है, बहुत कम चौड़ा है। दूसरी तरफ बानगंगा का पाट बहुत चौड़ा है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी समय यह किसी बड़ी नदी का पाट था। बैराँट की लोककथाओं से भी इस मत की पुष्टि होती है। जनश्रुति यह है कि शान्तनु ने बानगंगा को काशिराज की कन्या के स्वयंम्वर

के अवसर पर पृथ्वी फोड़कर निकाला। काशिराज की राजधानी उस समय रामगढ़ थी। अगर किसी समय राजप्रासाद रामगढ़ में था तो वह गंगा पर रहा होगा और इस तरह इस लोककथा के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि एक समय गंगा रामगढ़ से होकर बहती थी।

गंगा की इस प्राचीन धारा के बारेमें प्राचीन साहित्य में भी अनेक प्रमाण हैं। ब्राह्मण और बौद्ध-साहित्य में तो गंगा की इस धारा की कोई चर्चा नहीं है पर जैन-साहित्य में इसका थोड़ा-बहुत उल्लेख है। जैनों के एक प्राचीन अंग नायाधम्म कहा (४।१२१) में इस बात का उल्लेख है कि बनारस के उत्तर-पूर्व में मयगंगा तीर्थदह अर्थात् मृतकगंगा तीर्थह्लद था। उत्तराध्ययन चूर्णि (१३, पृ. २१५) तथा आवश्यक चूर्णि (पृ. ५१६) के अनुसार मयगंगा के निचले बहाव के रुख में एक ह्लद था जिसमें काफी पानी इकट्ठा हो जाता था जो कभी निकलता नहीं था। जिनप्रभ सूरि ने विविध तीर्थकल्प[1] में मातंग ऋषि बल का जन्म-स्थान मृतगंगा का किनारा बतलाया है। कथा में यह कहा गया है कि ऋषि बल एक समय तिन्दुक नामक उपवन में ठहरे थे। वहाँ उन्होंने अपने गुणों से गंडी तिन्दुक यक्ष को प्रसन्न कर लिया। कोसलराज की कन्या ने एक समय ऋषि को देखकर उनपर थूक दिया इस पर यक्ष उसके सिर पर चढ़ गया और राजकन्या को ऋषि से विवाह करना पड़ा। ऋषि ने बाद में उसे त्याग दिया और उसने रुद्रदेव से विवाह कर लिया। भिक्षा-याचन पर निकले ऋषि का एक समय ब्राह्मण अपमान कर रहे थे लेकिन भद्रा ने उन्हें पहचाना और ब्राह्मणों की भर्त्सना की। ऋषि ने फिर ब्राह्मणों को भी क्षमा कर दिया।

मृतगंगा संबंधी उक्त कथा से कई बातें ज्ञात होती हैं; पहली यह कि कम से कम गुप्तयुग में जब नायाधम्म कहा लिखी गयी मृतगंगा आज के जैसीही थी। दूसरी यह कि यह मृतगंगा बनारस के उत्तर-पूर्व में थी जो भौगोलिक दृष्टिकोण से बिलकुल ठीक है। तीसरी यह कि आज से तेरह-सौ बरस पहले इसमें पानी भरा रहता था और यह दह बन जाती थी। आज दिन तो मृतगंगा में पानी केवल बरसात में आता है। संभवतः हजार बरस पहले बानगंगा अधिक गहरी थी और बाद में मिट्टी भरने से छिछली हो जाने के कारण पानी रोकने में असमर्थ हो गयी।

रामगढ़ में बानगंगा के तट पर बैराँट के प्राचीन खंडहरों की स्थिति है, जो महत्त्वपूर्ण है। लोककथाओं के अनुसार यहाँ एक समय प्राचीन वाराणसी बसी थी। सबसे पहले बैराँट के खंडहरों की जाँच पड़ताल ए० सी० एल० कार्लाइल[2] ने की। बैराँट की स्थिति गंगा के दक्षिण में सैदपुर से दक्षिण-दक्षिणपूर्व में और बनारस के उत्तर-पूर्व में करीब १६ मील और गाजीपुर के दक्षिण-पश्चिम करीब बारह मील है। बैराँट के खंडहर बान गंगा के वर्तुलाकार दक्षिण-पूर्वी किनारे पर हैं।

बैराँट के नाम की व्युत्पत्ति के बारे में ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। मत्स्यों की राजधानी बैराँट जो जयपुर, राजस्थान में है, इससे भिन्न है, फिर भी मत्स्यों

[1] विविधतीर्थकल्प, शान्तिनिकेतन, १९३४, पृ. ७३,

[2] ए० एस० रि० २२, पृ० १०८ इत्यादि।

के इस प्रदेश में होने का उल्लेख एक जगह महाभारत में आया है। लगता है मत्स्य एक जगह स्थिर न होकर आगे-पीछे आते-जाते रहे होंगे और शायद इस नाम से उनका संबंध भी हो। पर लौकिक अनुश्रुति के अनुसार इस स्थान का प्राचीन वाराणसी से संबंध है। आगे चलकर हम देखेंगे कि इस अनुश्रुति में सत्य का अंश है और इसे हम कोरी गप्प मानकर नहीं टाल सकते।

बैराँट के खंडहरों में प्राचीन किले का भग्नावशेष बान गंगा के पूर्वी कोने पर है। प्राचीन नगर के अवशेष किले से लेकर दक्षिण में बहुत दूर तक ऊँची जमीन पर हैं, इसके बाद वे घूमकर दक्षिण-पश्चिम की ओर नदी के किनारे पर स्थित हैं। पुराना किला मिट्टी का बना है पर उसमें बहुत-सी ईंटें भी मिलती हैं। उत्तर-दक्खिन में इसकी लंबान १३५० फुट और पूरब-पश्चिम में ९०० फुट है। इसके बगल में प्राकार के ७० से १०० फुट चौड़े वप्र के अवशेष हैं। कहीं कहीं यह वप्र ऊँचा है पर अधिकतर नालियों से कट गया है। किले के तीन ओर अर्थात् उत्तर-पूर्व, उत्तर-पश्चिम और दक्खिन-पूरब के अट्टालक बच गये हैं। किले के चारों फाटकों का, विशेष रूप से उत्तर-दक्खिन के फाटकों का अभी भी पता लगता है। किले के अंदर दक्खिन में करीब एक तिहाई भाग नीचा है, फिर एक तिहाई जमीन उत्तर की ओर चढ़ती हुई है और किले का उत्तरी चौथा भाग और भी ऊँचा है। उत्तर-पूर्व अट्टालक के पास किसी बड़ी इमारत के भग्नावशेष हैं। किले के बाहर की खाई के निशान अब भी उत्तर-दक्खिन की ओर देख पड़ते हैं।

किले से करीब ३८० फुट की दूरी पर बैराँट नामक गाँव है। इस गाँव के उत्तर-पूर्व में १५० फुट की दूरी पर एक दूसरा टीला है। गाँव से उत्तर की ओर करीब २०५० फुट पर भगतिन का तालाब है जिसके उत्तर में करीब ३२० फुट पर एक दूसरा टीला है। तालाब से करीब ६३० फुट पश्चिम में रामसाला नाम का मंदिर है जहाँ अघोरी महंत और उनके चेले रहते हैं। इस मंदिर से करीब चौथाई मील उत्तर में रामगढ़ का गाँव है।

बैराँट गाँव के उत्तर पूरब ६५० फुट पर ठीकरों और ईंटों से पटी कुछ ऊँची जमीन है। किले के दक्खिन में करीब ४५० फुट पर प्राकार के भग्नावशेष हैं जो पूर्व से पश्चिम तक करीब १४०० फुट तक दीख पड़ते हैं। इसके पास ही में एक चौरस टीला है जिसके दक्खिन में एक नाला है। इस नाले से करीब ३२०० फुट पर रसूलपुर का गाँव और एक टीला है। इस तरह देखने से पता चलता है कि बानगंगा के पूर्वी किनारे पर पुराने किले से रसूलपुर तक कोई प्राचीन शहर बसा था क्योंकि बरसात के प्रारम्भ में बराबर यहाँ से ठीकरे और ईंटें निकलती रहती हैं। इतना ही नहीं प्राचीन शहर के भग्नावशेष रसूलपुर से दक्खिन-पश्चिम करीब ३००० फुट और आगे तक चले गये हैं। शहर के इस बढ़ाव के दक्खिनी कोने पर बानगंगा पर पुराना घाट है। जहाँ शहर के अवशेष खतम होते हैं वहाँ एक मिट्टी का ऊँचा बुर्ज है।

कार्लाइल के अनुसार प्राचीन किले को छोड़कर शहर की पूरी लम्बाई करीब ७००० या ८००० फुट यानी डेढ़ मील है लेकिन किले को लेकर शहर की लम्बाई

करीब पौने दो या दो मील है। पूरब से पश्चिम तक शहर की चौड़ाई का इसलिए ठीक पता नहीं लगता क्योंकि खेतों के लिए जमीन समतल कर दी गयी है। लेकिन ध्यान से देखने पर शहर की उत्तर ओर चौड़ाई २००० फुट और दक्खिन १४०० से १००० फुट और ठेठ दक्षिण ओर ८०० फुट रह जाती है। प्राचीन नगर के ठेठ पूर्व में एक प्राचीन छिछली नदी का तल था जिससे नगर घिरा था। अब यह सूख गया है पर इसमें बरसात में थोड़ा पानी भर जाता है।

कार्लाइल ने बैरांट से बहुत-से आहत और ढलुए सिक्के पाये। ईसा पूर्व दूसरी सदी की ब्राह्मी लिपि में ज्येष्ठदत्त तथा विजयमित्र के सिक्के तथा कनिष्क के भी थोड़े सिक्के उन्हें मिले। राय कृष्णदास के साथ लेखक ने भी बैरांट से बहुत आहत सिक्के इकट्ठे किये। एक सिक्के पर शुंगकालीन ब्राह्मी में गोमि लेख है।

कार्लाइल को अकीक इत्यादि की बहुत-सी मणियाँ भी यहाँ से मिलीं। भारत कला भवन काशी में भी ऐसी मणियों का अच्छा संग्रह है। यहाँ हाथी दाँत की चूड़ियों के भी टुकड़े काफी संख्या में मिलते हैं। हम लोगों को पत्थर का एक टुकड़ा भी यहाँ से मिला जिस पर भरहुत से मिलती-जुलती शुंगकालीन बेल बनी है।

कार्लाइल को बैरांट के आस-पास के नालों और खेतों से प्रस्तर युग की चिप्पियाँ (flakes) तथा कोर भी मिले थे। इन सब बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि बैरांट की बस्ती बहुत प्राचीन है। काली मिट्टी के ओपदार बरतनों के टुकड़ों के मिलने से तो यह निश्चित हो जाता है कि मौर्ययुग में यहाँ बस्ती थी।

ऊपर हमने बैरांट के प्राचीन शहर का इसलिए विस्तारपूर्वक वर्णन किया है कि इस नगर की स्थिति से वाराणसी के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। इस इतिहास के बारे में तो हम आगे चलकर विस्तार से वर्णन करेंगे यहाँ केवल काशी की प्राचीन स्थिति के संबंध की कुछ बातों का जानना आवश्यक है। महाभारत (अनुशासनपर्व, १८९९, १९००) में यह कथा आयी है कि काशिराज हर्यश्व को वीतिहव्यों ने गंगा-जमुना के मैदान में हराकर मार डाला। हर्यश्व के पुत्र सुदेव को भी लड़ाई में मात खानी पड़ी। बाद में उनके पुत्र दिवोदास ने दूसरी वाराणसी गंगा के उत्तर किनारे और गोमती के दक्षिण किनारे पर बसायी। अब प्रश्न उठता है कि दिवोदास का बसाया यह दूसरा बनारस कहाँ पर था? गंगा की आधुनिक धारा को देखते हुए यह नगर गंगा गोमती के संगम कैथी के पास होना चाहिए पर कैथी के आस-पास किसी प्राचीन नगर का भग्नावशेष नहीं है। चंद्रावती के भग्नावशेष भी गाहड़वाल युग के पहले के नहीं हैं और एक बड़े शहर का तो यहाँ नाम निशान भी नहीं मिलता। आज तक यह भी नहीं सुनने में आया कि चंद्रावती से कोई प्राचीन सिक्के भी मिले हों। आस-पास खोजने पर बैरांट के सिवा कोई ऐसी दूसरी जगह नहीं मिलती जहाँ प्राचीन काल में एक शहर रहा हो। गंगा-गोमती की वर्तमान धारा इस मत के विरुद्ध पड़ती है, पर गंगा की प्राचीन धारा की अगर कल्पना की जाय तो बैरांट पर ही दिवोदास की बनायी दूसरी वाराणसी संभव जान पड़ती है। बानगंगा रसूलपुर तक पूर्ववाहिनी रहती है पर रामगढ़ के आगे उत्तरवाहिनी होकर हसनपुर में गंगा के वर्तमान प्रवाह में मिल

जाती है। जिस समय गंगा का मूल प्रवाह बानगंगा कांठे से था, उस समय गोमती गंगा की वर्तमान धारा में बहती हुई सैदपुर के पास गंगा से आ मिलती थी। इस तरह बैरांट या प्राचीन बनारस गोमती के दक्षिण में पड़ता था जैसा कि महाभारत में कहा गया है।

अब प्रश्न यह है कि यह नयी वाराणसी कब तक बसी रही। ऐसा जान पड़ता है कि जब तक गंगा ने अपना प्रवाह नहीं बदला था तब तक नगर बैरांट में ही बना रहा। पर जब गंगा ने इस जगह को छोड़ दिया तब नगर भी धीरे-धीरे वीरान हो चला और अंत में केवल टीला रह गया। लेकिन यह सब हुआ कब? ऐसा पता लगता है कि मौर्य युग तक तो बैरांट का शहर बसा था और शायद गंगा ने तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के बाद ही अपना रास्ता बदला होगा। कम-से-कम जैसा हमें जैन अनुश्रुतियों से पता लगता है गुप्तयुग में तो मृतगंगा अर्थात् बाणगंगा इतिहास में आ चुकी थी, अतः गंगा ने अपना रास्ता इसके कई शताब्दी पहले बदला होगा। यह प्रश्न ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है पर इस प्रश्न पर और अधिक प्रकाश तभी पड़ सकता है जब बैरांट की आधुनिक ढंग से खुदाई हो। भारत कलाभवन की ओर से करीब २५ साल पहले हम लोगों ने पुरातत्त्व विभाग का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था और इस संबंध में कुछ पैमाइश भी हुई थी पर बाद में मामला ठंडा पड़ गया। क्या हम आशा कर सकते हैं कि भविष्य में पुरातत्त्व-विभाग इस प्रश्न को अपने हाथ में लेगा?

बरना—सुबहा और अस्सी जैसे दो एक मामूली नाले-नालियों को छोड़कर इस जिले में गंगा की मुख्य सहायक नदियाँ बरना और गोमती हैं। बनारस के इतिहास के लिए तो बरना का काफी महत्त्व है क्योंकि जैसा हम पहले सिद्ध कर चुके हैं इस नदी के नाम पर ही वाराणसी नगर का नाम पड़ा। अथर्ववेद (५।७।१) में शायद बरना को ही वरणावती नाम से संबोधन किया गया है। उस युग में लोगों का विश्वास था कि इस नदी के पानी में सर्प-विष दूर करने का अलौकिक गुण है। प्राचीन पौराणिक युग में इस नदी का नाम वरणासि था। बरना इलाहाबाद और मिर्जापुर जिलों की सीमा पर फूलपुर के ताल से निकलकर बनारस जिले की सीमा में पश्चिमी ओर से घुसती है और यहाँ उसका संगम बिसुही नदी से सरवन गाँव में होता है। बिसुही नाम का संबन्ध शायद विषघ्नी से हो। संभवतः बरना नदी के जल में विष हरने की शक्ति के प्राचीन विश्वास का संकेत हमें उसकी एक सहायक नदी के नाम से मिलता है। बिसुही और उसके बाद बरना कुछ दूर तक जौनपुर और बनारस की सीमा बनाती हैं। बलखाती हुई बरना नदी पूरब की ओर जाती है और दक्खिनी ओर कसवार और देहात अमानत की ओर उत्तर में पन्द्रहा, अठगांवा और शिवपुर की सीमाएँ निर्धारित करती है। बनारस छावनी के उत्तर से होती हुई नदी दक्खिन-पूर्व की ओर घूम जाती है और सराय मोहाना पर गंगा से इसका संगम हो जाता है। बनारस के ऊपर इस पर दो तीर्थ हैं, रामेश्वर और कालकाबाड़ा। नदी के दोनों किनारे शुरू से आखिर तक साधारणतः ऊँचे हैं और अनगिनत नालों से कटे हैं।

गोमती—इस नदी का भी पुराणों में बहुत उल्लेख है। पौराणिक युग में यह विश्वास था कि वाराणसी क्षेत्र की सीमा गोमती से बरना तक थी। इस जिले में पहुँचने

के पहले गोमती का पाट सई के मिलने से बढ़ जाता है। नदी जिले के उत्तर में सुल्तानीपुर से घुसती है और वहाँ से बाईस मील तक अर्थात् कैथी में गंगा से संगम होने तक यह जिले की उत्तरी सरहद बनाती है। नदी का बहाव टेढ़ा-मेढ़ा है और इसके किनारे कहीं ऊँचे और कहीं ढालुए हैं।

नंद—नंद ही गोमती की एकमात्र सहायक नदी है। यह नदी जौनपुर की सीमा पर कोल असला में फूलपुर के उत्तर-पूर्व से निकलती है और धौरहरा में गोमती से जा मिलती है। नंद में हाथी नाम की एक छोटी नदी हरिहरपुर के पास मिलती है।

करमनासा—मध्यकाल में हिंदुओं का यह विश्वास था कि करमनासा के पानी के स्पर्श से पुण्य नष्ट हो जाता है। करमनासा और उसकी सहायक नदियाँ चन्दौली तहसील में हैं। नदी कैमूर पहाड़ियों से निकल कर मिर्जापुर जिले से होती हुई, पहले-पहल बनारस जिले में मझवार परगने के फतहपुर गाँव से घुसती है। मझवार के दक्खिन-पूरबी हिस्से में करीब दस मील चलकर करमनासा गाजीपुर की सरहद बनाती हुई परगना नरवन को जिला शाहाबाद से अलग करती है। जिले को ककरैत में छोड़ती हुई फतेहपुर से चौंतीस मील पर चौसा में वह गंगा से मिल जाती है। नौबतपुर में इस नदी पर पुल है और यहीं से ग्रेंड ट्रंक रोड और गया को रेलवे लाइन जाती है।

गड़ई—करमनासा की मुख्य सहायक नदी गड़ई है जो मिर्जापुर की पहाड़ियों से निकलकर परगना धूस के दक्खिन में शिवनाथपुर के पास से इस जिले में घुसती है और कुछ दूर तक मझवार और धूस की सीमा बनाती हुई बाद में मझवार होती हुई पूरब की ओर करमनासा में मिल जाती है।

चन्द्रप्रभा—मझवार में गुरारी के पास मिर्जापुर के पहाड़ी इलाके से निकल कर चन्द्रप्रभा बनारस जिले को बबुरी पर छूती हुई, थोड़ी दूर मिर्जापुर में बहकर उत्तर में करमनासा से मिल जाती है।

बनारस जिले की नदियों के उक्त वर्णन से यह ज्ञात होता है कि बनारस तहसील में तो प्रस्रावक नदियाँ हैं लेकिन चन्दौली में नहीं हैं जिससे उस तहसील में झीलें और दलदल हैं; अधिक बरसात होने पर गाँव पानी से भर जाते हैं तथा फसल को काफी नुकसान पहुँचता है। नदियों के बहाव और जमीन की ऊँचाई-निचाई की वजह से जो हानि-लाभ होता है उसे प्राचीन आर्य भली-भाँति समझते थे और इसीलिए सबसे पहले आबादी बनारस तहसील में हुई।

किसी नगर की बढ़ती का एक मुख्य कारण यातायात के साधन हैं। बहुत प्राचीन काल से काशी में यातायात का अच्छा सुभीता रहा है। बौद्ध युग में एक रास्ता काशी होकर राजगृह जाता था। इस सड़क पर अन्धकविन्द पड़ता था। (विनय, १, पृ० २२०)। दूसरा रास्ता भद्दिया होता हुआ श्रावस्ती को जाता था (विनय १, १८९)। बनारस से तक्षशिला (धम्मपद अ० १, १२३) और वेरंजा के बीच भी एक रास्ता था। कहा गया है कि एक समय बुद्ध वेरंजा से बनारस तक इस रास्ते से गये। वेरंजा से सोरेय्य, संकिस्स, कण्णकुज्ज होते हुए उन्होंने गंगा को प्रयाग-प्रतिष्ठान में पार

किया। बाद में बनारस से वे वैशाली चले गये (समंतपासादिका, १, २०१)। बनारस गाजीपुर रोड होकर ही यह प्राचीन रास्ता वैशाली की तरफ गया होगा। बनारस से वेरंजा तक की सड़क प्राचीन महाजन पथ का एक भाग जान पड़ती है। वेरंजा से सड़क मथुरा जाती थी और वहाँ से तक्षशिला। बनारस से वैशाली तक जाने वाली सड़क के कुछ निशान अब भी बच गये हैं। कपिलधारा तालाब से एक पतला रास्ता खास सड़क के समकोण में बरना की तरफ निकल जाता है और इस नदी को पार करके गाजीपुर की ओर चला जाता है। इस रास्ते की गहराई देखते हुए और इसके दोनों ओर प्राचीन वस्तुओं के मिलने से यह कहा जा सकता है कि यह सड़क बहुत प्राचीन है और बौद्ध-युग में ऋषि-पत्तन से बनारस तक आने का यही मुख्य मार्ग था। मुगलों ने इस रास्ते में बरना पर एक पुल भी बाँधा था लेकिन अब यह खतम हो चुका है और इसी के मसाले से डंकन के समय बरना का आधुनिक पुल बना था। इस सड़क पर अलईपुर से बरना पार जाने के लिए पुल बन गया है जिससे काशी से सारनाथ का प्राचीन मार्ग फिर से आरम्भ हो गया है।

यात्रियों के आराम पर बनारसवासियों का काफी ध्यान था। वे सड़कों पर जानवरों के लिए पानी का भी प्रबन्ध करते थे। जातकों में (जा० १७४) एक जगह कहा गया है, कि काशी जनपद के राजमार्ग पर एक गहरा कुआँ था जिसके पानी तक पहुँचने के लिए कोई साधन न था। उस रास्ते से जो लोग जाते थे वे पुण्य के लिए पानी खींचकर एक द्रोणी भर देते थे जिससे जानवर पानी पी सकें।

यात्रियों के विश्राम के लिये अक्सर चौराहों पर सभाएँ बनवायी जाती थीं। इनमें सोने के लिये आसंदी और पानी के घड़े रखे होते थे। इनके चारों ओर दीवारें होती थीं और एक ओर फाटक। भीतर जमीन पर बालू बिछी होती थी और ताड़ वृक्षों की कतारें लगी होती थीं (जा० १।७९)।

अलबेरूनी के समय में (११वीं सदी का आरंभ) बारी (आगरा की एक तहसील) से एक सड़क गंगा के पूर्वी किनारे-किनारे अयोध्या पहुंचती थी। बारी से अयोध्या २५ फरसंग तथा वहाँ से बनारस बीस फरसंग था। यहाँ से गोरखपुर, पटना, मुंगेर होती हुई यह सड़क गंगासागर को चली जाती थी[१]। यही वैशाली वाली प्राचीन सड़क है और इसका उपयोग सल्तनत युग में बहुत होता था।

सड़क-ए-आज़म जिसे हम ग्रैंड ट्रंक रोड कहते हैं, बहुत ही प्राचीन सड़क है जो मौर्य काल में पुष्कलावती से पाटलिपुत्र होती हुई ताम्रलिप्ति तक जाती थी। शेरशाह ने इस सड़क का पुनः उद्धार किया, इस पर सराएँ बनवाईं और डाक का प्रबंध किया। कहते हैं कि यह सड़क-ए-आजम बंगाल में सोनारगाँव से सिंध तक जाती थी और इसकी लंबाई १५०० कोस थी। यह सड़क बनारस से होकर जाती थी[२]। इस सड़क की अकबर के समय में भी काफी उन्नति हुई और शायद उसी काल में मिर्जामुराद और सैयद राजा

---

[१] सचाऊ, अलबेरूनीज इंडिया, भा० १, लंडन, १९१०, पृ० २००–२०१।

[२] कानूनगो, शेरशाह, ३९३–९५।

में सराएँ बनीं। आगरे से पटने तक इस सड़क का वर्णन पीटर मंडी ने[1] १६३२ में किया है। चहार गुलशन[2] में भी बनारस से होकर जाने वाली सड़कों का वर्णन है। एक सड़क दिल्ली-मुरादाबाद-बनारस होकर पटना जाती थी और दूसरी आगरा-इलाहाबाद होकर बनारस आती थी। इन बड़ी सड़कों के सिवा बहुत-से छोटे-मोटे रास्ते बनारस को जौनपुर, गाजीपुर और मिर्जापुर से मिलाते थे।

मुगलों के पतन के बाद बनारस की सड़कों की पूरी दुर्गत हो गयी। १७८८ में बनारस के रेसिडेंट श्री डंकन ने सुझाव दिया कि बनारस की सड़कें बहुत खराब हो गयी हैं और उन्हें अंग्रेज अथवा राजा बनवा दे। १७८९ में तहसीलदारों को अपने हल्कों में सड़कें ठीक रखने का आदेश हुआ पर इसका कोई खास नतीजा नहीं निकला। १७९३ में पुनः डंकन ने इस बात की सूचना दी कि चुंगी और दूसरी मदों से कुछ रुपया निकाल कर सड़कों की मरम्मत करवा दी गयी थी। उसी समय बनारस से कलकत्ता तक १५ फुट चौड़ी सड़क बनी। १७९४ में बरना का पुल बँधा। पर इस सबके होते हुए भी सड़कों की अवस्था विशेष न सुधरी। १८४१ में बोर्ड आफ रेवेन्यू के प्रस्ताव को मानकर एक प्रतिशत मालगुजारी से रोड सेस फंड कायम किया गया और तभी से बनारस की सड़कों की क्रमशः उन्नति होने लगी।

बनारस के धार्मिक और व्यापारिक प्रभाव का मुख्य कारण इसकी गंगा पर स्थित है। गंगा में बहुत प्राचीन काल से नावें चलतीं थीं जिनमे काफी व्यापार होता था। बनारस से कौशांबी तक जलमार्ग से दूरी तीस योजन दी हुई है[3]। बनारस से समुद्र यात्रा भी होती थी। एक जातक (३८४) में कहा गया है कि बनारस के कुछ व्यापारियों ने दिशाकाक लेकर समुद्र यात्रा की। यह दिशाकाक समुद्र में यात्रा के समय किनारे का पता लगाने के लिए छोड़ा जाता था। कभी-कभी काशी के राजा भी नावों के बेड़ों में (बहुनावासंघाटे) सफर करते थे (जा० ३।१२६)।

बनारस की उन्नति का प्रधान कारण नदी-व्यापार था। यह व्यापार कलकत्ते से दिल्ली तक रेल बनने से पूर्व तक बराबर चलता रहा, पर रेल चलते ही बनारस के नदी मार्ग के व्यापार को गहरा धक्का लगा। विजेता भी नदी मार्ग का उपयोग करते थे। अकबर ने गंगा से बनारस होकर अफगानों को हराने के लिए पटने की तरफ नाव से प्रस्थान किया। बनारस पर अंग्रेजों का अधिकार होने पर क्रमशः सड़कों की उन्नति होने लगी, जकात-महसूल कम कर दिये गये और स्थल यात्रा में चोर-डाकुओं का भय भी क्रमशः कम होने लगा। इन सब कारणों से भी गंगा नदी का व्यापार क्रमशः कम होने लगा फलतः बनारस की समृद्धि को काफी धक्का पहुँचा। नदी में यातायात की कमी सबसे पहले १८४८ में लक्षित हुई। १८१३ तक तो शहर में अनाज नदी से आता था और १८२८ में बनारस में पटैलों के झुरमुटों का उल्लेख है। इस घटते हुए व्यापार को

[1] दि ट्रेवल्स आफ पीटर मंडी, टेंपुल द्वारा संपादित, भा० २, ७८, इत्यादि

[2] सरकार, इंडिया आफ औरंगजेब,कलकत्ता १९०१

[3] मज्झिम निकाय, अट्ठकथा, भा०, २, ९२९

रोकने के लिए कर लगा कर नदी गहरी करने की योजना भी बनी पर यह सब बेकार गया। स्थल मार्ग से यात्रा नदी की यात्रा से सुखकर और सरल निकली और लोग उसी ओर झुक गये। पुराने कागजातों से पता लगता है कि नदियों पर भी डाकेजनी होती थी। बीमे वालों को ठगने के लिए भी अक्सर नावें डुबा दी जाती थीं। इन सब बदमाशियों से रक्षा पाने के लिये १८४९ में योजनाएँ बनायी गयी पर उस समय तक तो नदी का व्यापार काफी ढीला पड़ चुका था।

महाजनपद युग में भी गंगा पर घाट चलते थे। घाटों से नाविक यात्रियों को पार ले जाते थे। अवारिय नामक एक बनारस के मूर्ख नाविक की कहानी में यह कहा गया है कि वह लोगों को पार पहुँचा कर फिर किराया माँगता था, और बहुधा उसे अपने किराये से हाथ धोना पड़ता था। बोधिसत्व ने उसे उपदेश दिया—अपना किराया नदी पार करने के पहले माँगो क्योंकि यात्रियों की चित्तवृत्ति बराबर बदला करती है (जा० ३।१५२)। मुगल युग में भी गंगा और गोमती पर घाट चलते थे। इस समय भी गंगा पर कई घाट हैं जिनमें रामनगर, बलुआ और कैथी के घाट खूब चलते हैं। गोमती पर भी कई घाट हैं। बनारस के पास बरना पर तीन घाट हैं। अंग्रेजों की अमलदारी के शुरू में घाटों पर सरकार का कोई अधिकार न था, फिर भी संभवतः घाट चलाने का ठीका होता था। घाट पुश्त दरपुश्त माँझियों के अधिकार में होते थे और वे ही उनकी देख रेख करते थे। १८१७ में बनारस के कलेक्टर को उनपर अधिकार करने की आज्ञा मिली और कर सरकार में जमा करने को कहा गया पर फकीरों और साधुओं को मुफ्त में ले जाने की प्रथा कायम रक्खी गयी (बनारस गजेटियर, पृ० ७९-८०)।

● ●

दूसरा अध्याय

काशी का इतिहास और वैदिक पौराणिक तथा बौद्ध ग्रन्थों के साक्ष्य

१. वैदिक आधार

वैदिक आर्यों के आगमन से पूर्व कालीन काशी के इतिहास के बारे में कुछ कहना कठिन है क्योंकि बनारस नगर और जिले दोनों में ही पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज अभी बहुत कम हुई है। फिर भी अगर हम बनारस की वर्तमान आबादी का विश्लेषण करें तो हमें बनारस के प्राचीन इतिहास का कुछ संकेत मिलेगा। बनारस की आबादी में भर इत्यादि जातियों की संख्या काफी है। काशी और उसके आस पास के इलाकों में यह अनुश्रुति प्रचलित है कि एक समय में बनारस और गाजीपुर में भरों और सुइरों का, जो निश्चित ही अनार्य जातियाँ थीं, प्राधान्य था। बनारस शहर में तो नहीं, पर गाजीपुर में मसोन-डीह के सबसे नीचे स्तर से वाराणसी जिले में बैरांट से, मिर्जापुर शहर के पास से, मि० कार्लाइल को प्रस्तर युग के हथियार मिले हैं[1]। यह मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जिस आदिम सभ्यता के प्रतीक ये पत्थर के हथियार हैं उसका अधिकार बनारस और उसके आस-पास के इलाकों पर रहा होगा। संभवतः आर्यों के काशी पर अधिकार कर लेने के बाद भी इन आदिम निवासियों का बनारस के आस-पास काफी प्रभाव था। पौराणिक अनुश्रुति[2] है कि काशिराज दिवोदास को हराकर जब हैहय-राज भद्रश्रेण्य ने काशी जनपद पर अधिकार कर लिया तब मौका पाकर राक्षस क्षेमक ने वाराणसी पर कब्जा कर लिया फिर दिवोदास के पोते अलर्क ने क्षेमक को मारकर पुनः बनारस पर अपना अधिकार जमाया। राक्षसों से यहाँ आदिम निवासियों का ही आशय जान पड़ता है तथा इस आख्यान में हम विजित और विजेताओं की उस कशमकश का आभास पाते हैं जिसमें कभी एक का पलड़ा भारी हो जाता था और कभी दूसरे का।

पूर्व भारत में आर्यों का प्रवेश कब हुआ, इसका ठीक-ठीक समय निश्चित करना तो कठिन है, लेकिन यह घटना उसी समय घटी होगी जब सरस्वती के किनारे से चल कर विदेघ माथव और उनके पुरोहित गौतम राहुगण ने उत्तरप्रदेश में वैदिक सभ्यता का प्रकाश फैलाया। शतपथ ब्राह्मण (१।४।१।१०-१७) में इसकी कथा यों है—एक समय विदेघ माथव के मुख में अग्नि वैश्वानर बंद हो गये। उनके कुल पुरोहित गौतम राहुगण ने राजा को बुलाना चाहा, पर वे इस भय से नहीं बोले कि कहीं अग्नि उनके मुख से टपक न पड़े। पुरोहितजी ने ऋग्वेद की ऋचाओं से अग्नि का आवाहन किया पर कुछ नतीजा न निकला। संयोग से एक ऋचा में घृत का नाम आ गया। अग्नि को घृत प्रिय है, बस क्या था, वे राजा के मुख से निकल पड़े और पृथ्वी को दग्ध करते हुए पूर्व की ओर चल पड़े और उनके पीछे-पीछे विदेघ माथव और गौतम राहुगण हो लिए। अग्नि ने अपने विक्रमण से नदियाँ सुखा डालीं और इस प्रकार वे उत्तर हिमालय से निकली सदानीरा नदी के किनारे

---

1. ए. एस. आर. भा. २२, पृ. ११ से
2. वायु. पु. ९२।२३–२८; ६१-६८; ब्रह्मांड.पु. ३।६३; ११९-१४१।

पहुँचे पर इस नदी को वे दग्ध न कर सके। प्राचीन काल में ब्राह्मणों ने इस नदी को इसलिए पार नहीं किया था क्योंकि वह अग्नि वैश्वानर से दग्ध नहीं हुई थी। ये घटनाएँ बहुत प्राचीन काल की थीं क्योंकि शतपथ काल में तो नदी के पूर्व में भी बहुतसे ब्राह्मण रहते थे। जिस समय सदानीरा के किनारे अग्नि वैश्वानर पहुँचे उस समय सदानीरा के पूर्व के प्रदेश में खेती नहीं होती थी और जमीन दलदल थी। इन सब का कारण शतपथ के अनुसार यह है कि अग्नि वैश्वानर द्वारा वह प्रदेश तब तक दग्ध नहीं हुआ था। शतपथ के समय में उस प्रदेश में खेती होती थी और गरमी में भी सदानीरा में ठंडा पानी जोरों से बहता रहता था। राजा ने जब अग्नि से अपने रहने का स्थान पूछा तो उसने नदी के पूरब का प्रदेश दिखला दिया। शतपथ के समय सदानीरा नदी कोसल और विदेह की सीमा बनाती थी। कोसल और विदेह दोनों माथव के अधीन थे।

इस अनुश्रुति में आर्यों की पूर्व में भूप्रतिष्ठा की एक के बाद दूसरे पड़ावों का उल्लेख है। पहले पड़ाव में आर्य पंजाब से सरस्वती नदी तक फैले थे। वहाँ से विदेघ माथव के नेतृत्व में सदानीरा (आधुनिक गंडक) तक, जो कोसल और विदेह की प्राकृतिक सीमा है, पहुँचे। कुछ समय तक आर्यों की सदानीरा नदी पार करने की हिम्मत नहीं हुई, लेकिन शतपथ युग में नदी के पूर्व का भाग उन्होंने अपने अधीन कर लिया था। अग्नि वैश्वानर यहाँ आर्यधर्म और सभ्यता के प्रतीक यज्ञ के परिचालक हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब सदानीरा की ओर से आर्य सभ्यता का उत्तर बिहार में प्रसार हो रहा था उस समय काशी की ओर भी आर्य बढ़ चुके थे अथवा नहीं। काशी प्रदेश में आर्यों की भूप्रतिष्ठा की कोई अनुश्रुति वैदिक साहित्य में नहीं मिलती। काशी का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा (५।१२।१४) में आता है; वह भी विचित्र रूप में। मंत्रकार एक रोगी के लिए तक्मा अथवा जूड़ी से प्रार्थना करता है कि वह उसे छोड़कर गंधार काशी और मगध के लोगों में अपना अधिकार फैलावे। इसके माने तो यह होते हैं कि गंधार मगध और काशी के लोगों से कुरु-पंचाल देश के ठेठ वैदिक सभ्यता के अनुयायी आर्य अप्रसन्न थे और उनकी अवनति देखना चाहते थे। इस शत्रुता का कारण शायद इन प्रदेशों में धर्म-पालन की शिथिलता थी। शतपथ ब्राह्मण (१३।५।४।१९) में काशिराज धृतराष्ट्र का भरत-कुल के शतानीक सात्राजित द्वारा हराये जाने का उल्लेख है। इस हार का नतीजा यह हुआ कि काशी-वासियों ने शतपथ ब्राह्मण के समय तक अग्निहोत्र छोड़ दिया था लेकिन यह समझ में नहीं आता कि हार जाने पर काशीवासियों ने अग्निहोत्र क्यों छोड़ दिया। क्या इस घटना से काशीवासियों की वैदिक प्रक्रियाओं की ओर अवहेलना प्रकट होती है? ऐसा संभव है क्योंकि वैदिक युग और बहुत बाद तक भी काशीवासियों में धार्मिक कट्टरता की कमी थी। वे दूसरों की बातें सुनते थे और दूसरों के विश्वासों का आदर करते थे। इसीलिए प्राचीन वैदिक दृष्टि में काशी की कोई धार्मिक महत्ता नहीं थी। आज दिन हम काशी को प्राचीन वैदिक धर्म का केन्द्र मानते हैं, पर मनुस्मृति में (तीसरी सदी ई० पू०) तो भारतवर्ष का पवित्रतम क्षेत्र ब्रह्मावर्त्त था; काशी की कोई गिनती ही नहीं थी। उसमें तो काशी मध्यदेश में भी नहीं सम्मिलित हुई है।

काश्यों और विदेहों का बड़ा घनिष्ट संबंध था और इसका कारण दोनों का भौगोलिक सान्निध्य था। काशि-विदेह द्वंद्व का प्रयोग कौषीतकी उपनिषद् (४।१) में सबसे पहले आता है। बृहदारण्यक (३।८।२) में गार्गी अजातशत्रु को काशी अथवा विदेह का राजा कहती है। शांखायन श्रौतसूत्र में (१६।१९।५) जलजातुकर्णी को काशी कोसल और विदेह के राजाओं का पुरोहित कहा गया है। बौधायन श्रौतसूत्र (२१।१३) में भी काशी और विदेह का पास-पास में उल्लेख हुआ है। काशि-कोसल का सर्वप्रथम उल्लेख गोपथ ब्राह्मण (१।२।९) में हुआ है। काशी की स्वतंत्र राज्यसत्ता नष्ट हो जाने पर और उसके कोसल में मिल जाने पर काशि-कोशल साथ-साथ आने लगे। महाभाष्य के काशि-कोसलीया (काशी-कोसल संबंधी) उदाहरण[1] में काशी और कोसल जनपदवाची शब्दों का जोड़ा बनाया गया है।

काशी के उक्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि काशी शब्द वैदिक साहित्य में काफी बाद में आया, लेकिन जैसा कि कीथ का अनुमान है [2]वाराणसी काफी पुरानी हो सकती है क्योंकि अथर्ववेद में (४।७।१) वरणावती नदी का नाम आया है जिसके नाम पर ही वाराणसी का नामकरण हुआ। यह बात विचारणीय है कि काशी का कोसल और विदेह से घनिष्ट संबंध होने पर भी कुरुपांचालों से उसका संबंध शत्रुतापूर्ण था। इस शत्रुता का कारण राजनीतिक अनबन तथा कुछ हद तक सांस्कृतिक दृष्टिकोण में विभिन्नता रही होगी। शतपथ में वर्णित विदेघ माथव की कथा से तो यह पता चल जाता है कि कुरु-पंचाल देश वैदिक संस्कृति का प्रधान केन्द्र था। पश्चिम के वैदिक क्रियावाद को पूर्व ने पूर्णतः स्वीकार नहीं किया था और पूर्व का झुकाव ब्राह्मण अध्यात्मवाद की ओर पूर्णरूप से नहीं था। बौद्धधर्म भी पूर्व की देन है और जैसा बौद्धग्रंथों से पता चलता है यहाँ क्षत्रियों का स्तर ब्राह्मणों से ऊँचा था। इस ब्राह्मण और क्षत्रिय मनोमालिन्य का पता हमें बाद के वैदिक ग्रंथों[3] से लगता है जिनमें मगध के प्रति संदेह व्यक्त हुआ है। इसका कारण मगधवासियों की धार्मिक-वृत्ति ही हो सकती है। इस वृत्ति को हम वाजसनेयी संहिता (३०।५।२२) तक में देख सकते हैं। यह भी संभव है कि कोसल, विदेह और काशी कुरुपांचालों की ही शाखाएँ थीं। संभवतः आदिवासियों को पूरी तरह न हरा सकने के कारण उनके विश्वासों और धर्म में आदिवासियों के धार्मिक विश्वासों का मिश्रण हो गया। दिवोदास के पौराणिक आख्यान और काशी में बहुत प्राचीन काल से लिंगपूजा शायद उत्तर प्रदेश की इस संकर वैदिक संस्कृति की ओर संकेत करते हैं। जैसा हम आगे देखेंगे, अगर कस्सियों से काश्यों का कोई संबंध है तो उनकी मिश्र एसियानी और आर्यसंस्कृति को इस देश के आर्य संदिग्ध दृष्टि से देखते रहे हों तो इसमें आश्चर्य न होना चाहिए।

वैदिक युग में स्थानवाचक प्रथा के अनुसार काशी के राजाओं को काश्य कह कर संबोधन करते थे। शतपथ में काशिराज धृतराष्ट्र का नाम आया है। हमें काशी के

[1] ४।८।४५, कीलहार्न, २, २८०

[2] वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० १५४

[3] कात्यात्यान श्रौतसूत्र, २५।४।२२; लाट्यायन श्रौतसूत्र, ८।६।२८

एक दूसरे राजा अजातशत्रु का भी पता है जिसने काशी को विदेहराज जनक की राजधानी की तरह दर्शन का केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया। राजा अजातशत्रु स्वयं दार्शनिक थे जैसा कि ब्राह्मण बलाकी के साथ उनके संवाद से पता चलता है। पर इन राजाओं का काल गणना क्रम में क्या स्थान था यह कहना संभव नहीं है।

२. पौराणिक आधार

वैदिक साहित्य में काशी के इतिहास की सामग्री बहुत परिमित है, पर पुराणों में ऐसी बात नहीं है। इनमें जो वंशावलियाँ दी हुई हैं उनके आधार पर महाभारत के पूर्व काशी के इतिहास का ढाँचा खड़ा किया जा सकता है। पुराणों के द्वारा काशी के धार्मिक विश्वासों पर और विशेषकर काशी में शिवपूजा के इतिहास पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। फिर भी पौराणिक आधारों का उपयोग समझ बूझकर ही किया जा सकता है। इसका मुख्य कारण यह है कि पुराणों के निर्माण अथवा संकलन काल का पक्का पता हमें नहीं है। बहुत काल तक श्रुत होने से भी वंशावलियों में गड़बड़ी आ गयी है। पुराणों में बहुधा अनेक युगों की बातों का संग्रह है और इसी कारण से नयी पुरानी बातें मिल गयी हैं, जिन्हें छाँटकर उपयोग में लाने का काम आसान नहीं है। इतना सब होते हुए भी पौराणिक आधारों को केवल कपोल कल्पित समझकर छोड़ा नहीं जा सकता। उनमें इस देश के धार्मिक विश्वासों, वंशावलियों तथा भूगोल संबंधी बहुत-सी सामग्री भरी पड़ी है, पर इनका उपयोग सावधानी से और तर्कसंयत दृष्टि से ही करना चाहिए।

श्री एफ० ई० पार्जिटर ने काशी के इतिहास के इन पौराणिक आधारों की तर्कसंयत व्याख्या की है। उनके निष्कर्षों की पुष्टि पुरातत्त्व की खोजों द्वारा ही हो सकती है। फिर भी जिन तथ्यों पर वे पहुँचें हैं उनमें से कोई असंभव बात नहीं दीख पड़ती।

पुराणों में काशी वंश के दो उद्गम दिये गये हैं। सात पुराणों (ब्रह्मांड, वायु इत्यादि) के अनुसार यह वंश अयु के पुत्र से प्रारंभ हुआ। इस अनुश्रुति के अनुसार इस वंश के पहले चार राजा क्षत्रवृद्ध, सुनहोत्र, काश और दीर्घतपस् हुए। ब्रह्म और हरिवंश पुराण इस वंश की भिन्न उत्पत्ति बतलाते हैं, जिसमें सुनहोत्र और पौरव वंश के सुहोत्र को एक ही बताया गया है। इस अनुश्रुति के अनुसार सुहोत्र वितथ का पुत्र था और इस प्रकार से काशी वंश की उत्पत्ति सुहोत्र पौरव से हुई। इस दूसरी अनुश्रुति के अनुसार इस वंश के प्रथम चार राजगण क्रमशः विनथ, सुहोत्र, काशिक और दीर्घतपस् हुए। यह तालिका भर्ग तक पहुँचती है। लेकिन यह कहना कठिन है कि हम भर्ग को कालक्रम में कहाँ रक्खें[१]।

पुराणों के आधार पर श्री पार्जिटर ने काशी वंश की निम्नलिखित तालिका दी है:—

(१) मनु, (२) इला, (३) पुरुरवस्, (४) अयु, (५) नहुष, (६) क्षत्रवृद्ध, (७-८) खाली, (९) सुनहोत्र, (१०-११) खाली, (१२) काश, (१३)-(१४) खाली, (१५) दीर्घतपस्, (१६) खाली, (१७) धनव, (१८) खाली, (१९) धन्वंतरि, (२०) खाली, (२१) केतुमंत प्रथम, (२२) खाली, (२३) भीमरथ, (२४) खाली, (२५) दिवोदास प्रथम, (२६) अष्टरथ, (२७-३७) खाली, (३८) हर्यश्व, (३९) सुदेव, (४०) दिवोदास द्वितीय,

[१] पार्जिटर, इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन, ५।१०।१, लंडन १९२२

(४१) प्रतर्दन, (४२) वत्स, (४३) अलर्क, (४४) खाली, (४५) सन्नति, (४६) सुनीथ, (४७) खाली, (४८) क्षेम, (४९) खाली, (५०) केतुमंत द्वितीय, (५१) खाली, (५२) सुकेतु, (५३) खाली, (५४) धर्मकेतु, (५५) खाली (५६) सत्यकेतु, (५७) खाली, (५८) विभु, (५९) खाली, (६०) सुविभु, (६१) खाली, (६२) सुकुमार, (६३) खाली, (६४) धृष्टकेतु, (६५) खाली, (६६) वेणुहोत्र, (६७) खाली, (६८) भर्ग। (६९-७०) खाली, (७१) पौरवस् (७२) जन्हु।

इस तालिका से काशी के इतिहास पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। तालिका में वैदिक साहित्य में आये राजाओं जैसे धृतराष्ट्र और अजातशत्रु के भी नाम नहीं मिलते।

पुराणों में बहुत-सी ऐसी परंपराएं मिलती हैं जिनमें हैहयों का काशी और अयोध्या के इतिहास से संबंध है। पुराणों के अनुसार दक्षिण मालवा में भद्रश्रेण्य की अधीनता में हैहयों का चरमोत्कर्ष हुआ और उनका प्रभाव पूर्व की ओर बढ़ा। भद्रश्रेण्य महिष्मंत के पुत्र थे। अपने पूर्व की विजयों में उन्होंने काशी जीतकर उस पर अपना अधिकार जमा लिया। उनकी चौथी पुश्त में अर्जुन कार्तवीर्य नर्मदा पर स्थित माहिष्मती पर राज्य करते थे। दिग्विजय करते हुए उनकी आयव वसिष्ठ से मुठभेड़ हुई अर्थात् उन्होंने मध्यदेश जीत लिया। बाद में तालजंघों और हैहयों ने उत्तर-पश्चिमी सेना की सहायता से अयोध्या के राजा बाहु को मार भगाया, पर बाहु के पुत्र सगर ने हैहयों से अपना राज्य वापस ले लिया और उनकी सत्ता नष्ट कर दी। अर्जुन कार्तवीर्य के समकालीन अयोध्या के शासक त्रिशंकु और हरिश्चन्द्र थे। इस तरह सगर की कहानी से हैहयों और इक्ष्वाकुओं की तालिकाएं मिल जाती हैं।

काशी संबंधी पौराणिक कथानकों में मेल खाता दिखलायी देता है[1]। इन कथानकों के अनुसार भीमरथ के पुत्र काशिराज दिवोदास अपनी राजधानी वाराणसी छोड़कर अपने राज्य के ठेठ पूरब में गोमती के किनारे एक दूसरा नगर बसाकर रहने लगे। भद्रश्रेण्य ने काशी जनपद जीत लिया और राक्षस क्षेमक ने वाराणसी दखल कर ली। दिवोदास ने भद्रश्रेण्य के पुत्रों से पुनः काशी वापस ले ली, लेकिन भद्रश्रेण्य के पुत्र दुर्दम ने पुनः नगरी पर अपना अधिकार जमा लिया। दिवोदास के बाद उनके भाई अष्टरथ काशी की गद्दी पर आये। प्रतर्दन दिवोदास के पुत्र थे। उन्होंने पुनः अपना राज्य हैहयों से वापस ले लिया और हैहयों के साथ उनकी लड़ाई समाप्त हुई। प्रतर्दन के पौत्र अलर्क ने राक्षस क्षेमक को मारकर पुनः वाराणसी वापस ले ली। ये सब घटनायें एक हजार वर्ष में हुई[2]। इस कहानी को पूरी तरह समझने में एक दूसरी क्षत्रिय अनुश्रुति से सहायता मिलती है[3]। इस अनुश्रुति की बातें कुछ गड़बड़ भी हैं फिर भी इससे यह पता चलता है कि इस अनुश्रुति का संबंध तालजंघ के परवर्ती हैहयों और खासकर राजा वीतिहव्य के वंशजों से है। कथा में कहा गया है कि काशिराज हर्यश्व, वीतिहव्य के वंशजों द्वारा गंगा-यमुना के संगम पर हराये और मारे गये।

---

[1] वायु पु० ९२।२३-२८; ब्रह्मांड, ३।६३, ११९-१४१

[2] पार्जिटर, उल्लिखित, पृ० १५३-१५४

[3] अनुशासन पर्व, ३०।१९४९-९६

हर्यश्व के पुत्र सुदेव काशी की गद्दी पर बैठे पर वीतिहव्यों ने उन्हें भी हरा दिया। इसके बाद दिवोदास काशी के राजा हुए तथा उन्होंने वाराणसी नगरी बसायी। यह नयी वाराणसी नगरी गंगा के उत्तर किनारे और गोमती के दक्षिण किनारे पर बसी थी, लेकिन वीतिहव्यों ने इस पर भी चढ़ाई कर दी और एक हजार दिन लड़ाई होने के बाद दिवोदास हारकर जंगल में भागे जहाँ उन्होंने बृहस्पति के सबसे बड़े पुत्र भरद्वाज के आश्रम में आश्रय पाया। यह भी अनुश्रुति है कि वैशाली से भरद्वाज काशी आकर दिवोदास के पुरोहित हो गये। दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन ने वीतिहव्यों को हराया और वीतिहव्य भागकर भृगु ऋषि की शरण गये। भृगु ऋषि ने उन्हें ब्राह्मण बना उनकी रक्षा की। इस घटना की पुष्टि ब्राह्मण अनुश्रुतियों से होती है जिनके अनुसार भरद्वाज दिवोदास के पुरोहित थे और उन्होंने प्रतर्दन को राज्य वापस दिलवाया[1]।

काशी संबंधी इन दोनों कथाओं की तुलना से पार्जिटर इस नतीजे पर पहुँचे कि पहली कथा में हैहयों और काश्यों के बीच की लड़ाई के आदि और अंत का वर्णन आता है, तथा दूसरी कथा में इसके बाद की घटनाओं का। पार्जिटर के अनुसार काशी के राजवंश में दो दिवोदास हुए; एक तो पहले प्रारंभ में हुए जो भीमरथ के पुत्र थे और दूसरे अंत में जो सुदेव के पुत्र थे। दोनों दिवोदासों के बीच में कम-से-कम तीन राजाओं यथा अष्टरथ, हर्यश्व और सुदेव ने काशी पर राज्य किया। पहिली कथा में दोनों दिवोदासों का घालमेल हो गया है। प्रतर्दन दिवोदास द्वितीय के पुत्र थे। यह भी पता चलता है कि दूसरी कथा के वीतिहव्य (संभवतः वंशावलियों के वीतिहोत्र), तालजंघ के बाद के हैहय वंशीय राजा थे। पार्जिटर के अनुसार शायद दिवोदास प्रथम ने दूसरी वाराणसी की स्थापना की[2]।

पुराणों से काशी के राजाओं के बारे में थोड़ी-सी और फुटकर बातें मिलती हैं जैसे अलर्क काशी के बड़े प्रतापी राजा थे। मत्स्य पुराण (१८०।६८) में तो बाराणसी को अलर्क की पुरी कहा गया है। अलर्क के प्रताप और दीर्घ राज्यकाल का कारण लोपामुद्रा की उन पर अनुकंपा कही गयी है[3]।

हैहयों और काश्यों के युद्ध से ज्ञात होता है कि मध्यप्रदेश के राजाओं की काशी पर बहुत प्राचीनकाल से दृष्टि रहा करती थी। ऐतिहासिक काल में भी ११ वीं सदी में गांगेयदेव द्वारा काशी पर अधिकार इस प्राचीन राजनीतिक परंपरा का सूचक है।

महाभारत में भी काशी संबंधी कुछ फुटकर बातें मिलती हैं। एक जगह कहा गया है कि काशिराज की पुत्री सार्वसेनी का विवाह भरत दौष्यन्त से हुआ था (आदिपर्व अ० ९५)। भीष्म ने काशिराज की तीन पुत्रियों यथा अंबा, अंबिका, और अंबालिका को स्वयंवर में अपने भाई विचित्रवीर्य के लिए जीता (उद्योग पर्व, १७२।९४)। एक जगह काशिराज सुबाहु का भीम द्वारा जीते जाने का उल्लेख है (सभापर्व, अ० ३०)। कहा गया है कि काशिराज युधिष्ठिर के मित्र थे और उन्होंने कुरुक्षेत्र के युद्ध में पांडवों

---

[1] पंचविंश ब्रा० १५।३७; काठक संहिता, २१।१०, वैदिक इंडेक्स, भा० २, पृ० ९८

[2] पार्जिटर, उल्लिखित, पृ० १५५

[3] पार्जिटर, उल्लिखित, पृ० १६८

की मदद की (उद्योग अ० ७२) काशिराज का युद्धक्षेत्र में सुवर्ण माल्य विभूषित घोड़ों पर चढ़ने का (द्रोणपर्व, २२।३८) तथा शैब्य के साथ काशिराज का पांडव सेना के बीच ३०,००० रथों के साथ स्थित रहने के (भीष्मपर्व, अ० ५०) उल्लेख हैं। एक जगह काशिराज को धनुर्विद्या में बहुत प्रवीण माना गया है (द्रोणपर्व, अ० २५)। युद्धक्षेत्र में काशी, कारूष और चेदि की सेनाएँ धृष्टकेतु के नायकत्व में थीं (उद्योगपर्व, १९८)।[1]

महाभारत में एक जगह (उद्योगपर्व ४७।४०) कृष्ण द्वारा वाराणसी के जलाये जाने का वर्णन है। विष्णु पुराण में भी काशी के जलाये जाने की पूरी कथा आती है।[2] कथा के अनुसार पौंड्रक नाम का एक वासुदेव था जो लोगों की खुशामद से बहककर अपने को सच्चा वासुदेव समझने लगा और उसने वासुदेव के लक्षणों को भी अपना लिया। इसके बाद उसने असली वासुदेव के पास एक दूत भेजा और उन्हें अपने लक्षणों को उतार फेंकने और अपनी अर्थात् पौंड्रक या नकली वासुदेव की अभ्यर्थना करने के लिए आवाहन किया। कृष्ण ने हँसकर दूत को वापस भेज दिया और पौंड्रक से कहलवा दिया कि वे अपने चिह्न चक्र के साथ स्वयं उसके पास आ उपस्थित होंगे। इसके बाद कृष्ण पौंड्रक की ओर बढ़े। काशिराज ने अपने मित्र पौंड्रक को आपत्ति से घिरा देखकर उसकी सहायता के लिए स्वयं सेना भेजी और स्वयं सेना के पृष्ठदेश में हो लिए। दोनों की सम्मलित सेनाएं कृष्ण का सामना करने के लिए आगे बढ़ीं। लड़ाई में इस सम्मिलित सेना को हार खानी पड़ी और पौंड्रक के टुकड़े-टुकड़े उड़ा दिये गये। काशिराज फिर भी युद्ध से विरत नहीं हुए और तब तक लड़ते रहे जब तक उनका सिर कटकर अलग नहीं हो गया। इस तरह कृष्ण और काशिराज की लड़ाई का पहला अध्याय समाप्त हुआ और कृष्ण द्वारका लौट गये।

काशिराज के पुत्र ने यह पता लगने पर कि उसके पिता के घातक कृष्ण थे शंकर की आराधना की और उनके प्रसन्न होने पर कृष्ण को नष्ट करने का वर माँगा। शिव ने कृत्या का सृजन किया और वह द्वारका जलाने के लिए दौड़ी। उसे नगर की ओर आते देखकर कृष्ण ने चक्र को उसे नष्ट कर देने की आज्ञा दी। चक्र को देखते ही कृत्या भागी पौर चक्र ने उसका पीछा किया और इस तरह से दोनों वाराणसी पहुँचे। काशिराज ने अपनी सेना के साथ चक्र का सामना करना चाहा पर चक्र ने उसे मार गिराया और वाराणसी में जहाँ कृत्या छिपी थी, आग लगा दी। इस तरह से वाराणसी नगरी जो देवताओं के लिए अवरुद्ध थी चक्र द्वारा उद्भूत आग की लपटों से आवृत होकर पूरी तरह से नष्ट हो गयी। यह कथा हरिवंश, भागवत और पद्म पुराणों में भी कुछ हेर-फेर के साथ आयी है।

उक्त कथा की जाँच-पड़ताल से तो ऐसा जान पड़ता है मानो यह कथा शैवों और वैष्णवों की लड़ाई की ओर संकेत करती हो। शिव की नगरी वाराणसी में कैसे वासुदेव प्रवेश नहीं पा सकते थे और कैसे भागवतों ने इससे क्रुद्ध होकर नगरी जला दी यही इस कथा के भीतर छिपी हुई घटना जान पड़ती है। पर वाराणसी जलाने का एक राजनीतिक

[1] बी० सी० लॉ, ट्राइब्स इन एंशेन्ट इंडिया, पृ० [illegible]

[2] विष्णु पुराण, ५।३४, एच. एच. विल्सन का अनुवाद, पृ. ५९७ लंदन १८४०

उद्देश्य भी हो सकता है। कथा से स्पष्ट है कि पौंड्रक अर्थात् पौंड्र देश (उत्तरी बंगाल) के राजा का काशिराज से मित्रता का संबंध था। संभवत: पौंड्रक जरासंध के अनुयायी थे। महाभारत के समय जरासंध मगध का राजा था तथा मगध से कृष्ण की शत्रुता थी। विष्णु पुराण के अनुसार इस शत्रुता का कारण कृष्ण द्वारा कंस का वध था क्योंकि कंस को जरासंध की दो पुत्रियाँ ब्याही थीं। जो भी हो, महाभारत से तो यह पता चलता है कि जरासंध ने उत्तर के अनेक राजाओं को हराकर कृष्ण की राजधानी मथुरा को जा घेरा। चेदिराज शिशुपाल से और जरासंध से इतनी घनिष्ट मित्रता थी कि जरासंध ने उसे मगध का सेनानी बना दिया था। काशिराज का उस समय क्या रुख था यह तो नहीं कहा जा सकता पर वे जरासंध के अनुगत रहे हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इस तरह की राजनीतिक गुटबंदी से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण ने बदला लेने के लिये वाराणसी नष्ट कर दी।

महाभारत से यह भी पता लगता है कि भारतवर्ष में काशी और अपर काशी नाम की दो जातियाँ (भीष्मपर्व, १०।४०) थीं। काशी तो काशी जनपद में बसते थे पर अपर काश्यों का निवास किस प्रदेश में था और उनका काश्यों से क्या संबंध था इस पर कहीं से प्रकाश नहीं पड़ता। हो सकता है कि काशी और अपर काशी एक ही कबीले की दो शाखाएं रही हों। एक शाखा काशी तो टूटकर काशी जनपद में जा बसी और दूसरी शाखा अपने आदि स्थान पर ही रह गयी। अब प्रश्न यह उठता है कि इन काश्यों का स्थान कहाँ था। अगर विदेहों और कोसलों की तरह काश्यों को भी कुरु-पंचालों की एक शाखा मान ली जाय तो अपर काश्यों को हमें कुरु-पंचाल देश ही में कहीं ढूँढ़ना पड़ेगा। यह भी उल्लेखनीय है कि गंगोत्री के रास्ते में भी उत्तरकाशी नाम का एक तीर्थ स्थान पड़ता है पर इस स्थान का अपर काश्यों से हम तब तक संबंध नहीं जोड़ सकते जब तक हमें यह पता न चल जाय कि वास्तव में उत्तरकाशी की स्थिति बहुत प्राचीन है।

रामायण में काशी से संबंधित बहुत थोड़े ही प्रकरण आये हैं। उत्तर कांड में (५६।२५) काशीराज पुरुरवस् का नाम आया है। उसी कांड में (५९।१९) में ययाति के पुत्र पुरु को प्रतिष्ठान पर राज्य करते हुए काशी का भी राजा बतलाया गया है।

उक्त पौराणिक आधारों से काशी के प्राचीन इतिहास पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वह धुंधला ही है। यह भी कहना आसान नहीं है कि ऐतिहासिक कालगणना के क्रम में काशिराजों में किस राजा का क्या समय है। बहुत सोच समझकर शायद हम यह कह सकते हैं कि पौराणिक वंशावलियों में जो काशी के राजगण आये हैं उनका समय ईसा पूर्व १००० वर्ष के पहले था पर कितने पहले, इस तथ्य तक पहुँचना कठिन है।

यहाँ पर हम एक विशेष बात की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं जिसका संबंध काश्यों के उदय से संभव है। ईसा पूर्व करीब दो हजार पहले के बाबुली अभिलेखों से हमें कस्सी लोगों का पता चलने लगता है। खेती के मजदूरों के रूप में वे करीब १५० वर्ष तक बाबुल में प्रवेश पाते रहे। ईसा पूर्व १८ वीं सदी के मध्य में उन्होंने बाबुल जीत लिया और उस देश पर उनका अधिकार ११७१ ईसा पूर्व तक बना रहा। लूरिस्तान के निवासी कस्सी

उत्तर और पूर्व में बढ़े। कस्सियों में अधिकतर एसियानिक थे पर भारोपीयों का उनपर कब्जा था। उसका नतीजा यह हुआ कि कस्सियों में एसियानी देवताओं और विश्वासों के साथ-साथ हम बाबुली और भारोपीय देवताओं और विश्वासों का मेल देख सकते हैं जैसे संस्कृत सूर्य की जगह शुरियश, मरुत् की जगह मरुतश् इत्यादि। अश्व कस्सियों का दिव्य प्रतीक था। एसियानी जाति के देव का नाम कश्शु था।

कस्सियों का वास्तविक इतिहास ईसा पूर्व २४वीं सदी से आरंभ होता है। अशुर इन्हें कस्सी कहते थे और ग्रीक कोस्सैओई (Kossaioi)। कास्पियन सागर, काजविन काश्यपपुर (मुल्तान) तथा कश्मीर के नामों में कस्सियों का नाम बच गया है। ईरान तथा बाबुल के इतिहासे में कस्सी संस्कृति के बारे में काफी सूचना मिल जाती है पर भारत के साथ उनका संबंध कैसा रहा इसके बारे में इतिहास प्रायः मौन है पर काश्य—काशी—कश्यपपुर—कश्मीर में अगर कस्सियों के नाम का अवशेष बच गया है तो कस्सियों के भारत आगमन की बात पुष्ट होती है। महेसर के पास नवदा टोली से मिले पुरातात्विक अवशेषों, विशेषकर चित्रित मिट्टी के बरतनों से जिनका संबंध सियाल्क की कस्सी सभ्यता से है इस बात की संभावना और भी पुष्ट हो जाती है। पर इस संबंध में अधिक जानकारी काशी के आस-पास की खुदाई से ही अधिक मिल सकती है।

३. बौद्ध साहित्य में काशी

मगध पर महाभारत के युद्ध काल से ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी तक जब शैशुनाग वंश का उदय हुआ, बार्हद्रथ राजाओं का राज था। इस युग के पालि वाङ्मय से यह प्रकट होता है कि बुद्ध के जन्म के कुछ शताब्दियों पहले काशी पर ब्रह्मदत्त वंश का राज्य था।

जातकों से, जिनसे हमें भारतवर्ष की प्राचीन राजनीतिक स्थिति का ज्ञान होता है, पता चलता है कि मगध, वत्स, काशी, कोसल, उत्तर पंचाल और मगध गंगा की घाटी के मुख्य जनपद थे। काशी षोडश महाजनपदों में एक थी (अंगुत्तर, १।२१३) और यहाँ ब्रह्मदत्त वंश का राज्य था। मत्स्य पुराण के अनुसार (पृ० ५५६, ६७२, आनन्दाश्रम सीरीज) ब्रह्मदत्त वंश के सौ राजाओं ने काशी पर राज किया। एक जातक में उल्लेख है कि राजा ब्रह्मदत्त ने कुमार ब्रह्मदत्त को अपना उत्तराधिकारी बनाया (जा० २।६०)। इससे भी यह पता चलता है कि ब्रह्मदत्त वंश का नाम था। गंगमाल जातक में (जा० ३।४५२) बनारस के राजा उदय को ब्रह्मदत्त कहकर संबोधन किया गया है।

संभवतः जातक युग में काशी और कोसल में अक्सर युद्ध हुआ करता था। विजय कभी एक पक्ष की होती थी कभी दूसरे की। उदाहरण के लिए एक जातक (३।२११)[1] में कहा गया है कि काशी के एक ब्रह्मदत्त राजा वैभवशाली थे और इसके विपरीत कोसल के राजा दीघीति गरीब थे। ब्रह्मदत्त ने उन पर धावा बोल कर उनका खजाना जीत लिया। दीघोति और उनकी पत्नी जान बचाकर भागे। कुछ समय बाद उनको दीघावु नाम का एक पुत्र हुआ जिसे उन्होंने दूसरी जगह भेज दिया। जब ब्रह्मदत्त को यह पता चला कि कोसलराज सपत्नीक उनके राज्य में छद्मावस्था में रह रहे हैं, उसने उनके वध की आज्ञा

[1] विनय १। ३४३, इत्यादि ; धम्मपद अट्ठकथा, १। ५६ इत्यादि

दी। वधभूमि को जाते हुए दीघीति ने अपने पुत्र दीघावु को देखा और उसे उपदेश दिया कि बहुत पास और बहुत दूर मत देखो। उनके उपदेश का आशय समझकर दीघावु ने काशिराज की नौकरी कर ली। एक दिन दीघावु ब्रह्मदत्त का रथ हाँकता हुआ दूर निकल गया। थक जाने पर राजा ने रथ रुकवा दिया और सो गये। दीघावु ने पहले तो उसे मार डालने की सोची पर अपने पिता का उपदेश याद करके वैसा करने से रुक गया। ब्रह्मदत्त के जागने पर दीघावु ने उसे अपना परिचय दिया। ब्रह्मदत्त ने उसे उसका राज लौटा दिया और उससे अपनी बेटी ब्याह दी।

एक दूसरे समय (जातक, ३।११५ इत्यादि) काशिराज ब्रह्मदत्त ने कोसल पर चढ़ाई करके कोसल राज को बंदी बना लिया और वहाँ अपने प्रादेशिक नियुक्त कर दिये। इसके बाद लूट-खसोट के बहुत-से द्रव्य के साथ वे काशी वापस आ गये। कोसल नरेश को छत्त नाम का एक पुत्र था। अपने पिता के कैद होने पर वह अपनी शिक्षा समाप्त करने के लिए तक्षशिला भाग गया। तक्षशिला से लौटते समय एक जंगल में उसकी ५०० ऋषियों से भेंट हो गयी और वह उनका मुखिया बन बैठा। बनारस आने पर उसने राजा के उपवन में एक रात बितायी, दूसरे दिन तपस्वी भिक्षा माँगते हुए राजमहल के दरवाजे पर पहुँचे। छत्त से आकर्षित होकर राजा ने उससे अनेक प्रश्न किये और उसने उनके संतोषप्रद उत्तर दिये। मंत्रबल से उसने राजा के उपवन में गड़े अपने पिता से लूटे हुए धन का भी पता लगाया। बाद में तपस्वियों से उसने अपना भेद खोला और उनकी मदद से खजाना श्रावस्ती पहुँचाया। तदुपरांत उसने ब्रह्मदत्त के सब कर्मचारियों को पकड़कर अपना राज्य फिर से जीत लिया।

उपर्युक्त घटना से यह न समझना चाहिए कि जीत सदा काशी की ही होती थी। कोसल द्वारा भी अक्सर बनारस जीतकर उस पर अधिकार करने के हवाले जातकों में आये हैं। महासीलव जातक (जा० १।२६२ इत्यादि) में कहा गया है कि एक समय कोसलराज ने बनारस जीतकर उसके राजा महासीलव और उसके सिपाहियों को गले तक जमीन में गड़वा दिया। महासीलव किसी तरह गढ़े से निकले और उन्होंने अपने सिपाहियों को छुड़ाया तथा दो यक्षों की मदद से जो एक शव के लिए आपस में लड़ रहे थे राजा ने अपनी तलवार प्राप्त की और कोसलराज के शय्यागृह में आधी रात में जाकर उसे डराया। बाद में कोसलराज ने काशिराज को उनका राज लौटा लिया और वे अपनी सेना के साथ कोसल लौट गये।

एक जातक (जा० १।४०९) से पता चलता है कि एक समय कोसलराज ने एक बड़ी सेना के साथ काशी पर चढ़ाई करके उसके राजा को मार डाला और वह उसकी रानी को उठा ले गया। लेकिन काशी का राजकुमार किसी तरह से निकल भागा और एक बड़ी सेना इकट्ठी करके वह पुनः काशी पर चढ़ आया। उसने अपना डेरा नगर के पास डाल दिया और कोसलराज के पास दूत भेजकर राज्य वापस लौटा देने अथवा युद्ध करने को ललकारा। कोसलराज ने युद्ध करना निश्चित किया, पर राजपुत्र की माता ने उससे कहलवा भेजा कि वह चारों ओर से नगर छेंक ले जिससे भूख-प्यास से

व्याकुल होकर लोग आप-ही-आप आत्म-समर्पण कर देंगे। राजकुमार ने ऐसा ही किया। भूख-प्यास से पीड़ित होकर नागरिकों ने सातवें दिन कोसलराज का सिर काटकर राजकुमार के पास भेज दिया और इस तरह वह अपना पैत्रिक राज्य पाने में सफल हुआ।

ऐसा जान पड़ता है कि इन लड़ाइयों में काशी जनपद धीरे धीरे कमजोर पड़ता गया। ईसा पूर्व छठीं सदी के आरंभ में काशी जनपद कोसल में मिला लिया गया। इसका श्रेय कोसलराज कंस (जा० २८२, ५२१) को है क्योंकि इन्हें वाराणसिग्गहो (जा० २।४०३) अर्थात् वाराणसी विजेता कहा गया है। छठीं सदी ईसा पूर्व के तृतीय चरण में जब मगध नरेश बिंबिसार ने महाकोसल की पुत्री और प्रसेनजित् की बहन से विवाह किया तब काशी के कोसल में मिलने की बात पक्की हो चुकी थी क्योंकि विवाह के अवसर पर महाकोसल ने स्नानद्रव्य के लिए अपनी पुत्री को कासिक ग्राम उपहार दे दिया (जा० २।४०३; ४।३४२)। बहुत संभव है कि यह कासिक ग्राम आधुनिक परगना कसवार रहा हो।

काशी के राजा वीर होते थे। उनकी कोसल के साथ लड़ाइयों का वर्णन तो हम ऊपर कर चुके हैं। कामनीत जातक से हमें पता चलता है कि बनारस के एक राजा ने इंद्रप्रस्थ, उत्तर पंचाल और केकय देशों को जीतने की ठानी थी। अस्सक जातक से हमें पता चलता है कि विंध्य पर्वत के उस पार अस्सकों ने भी काशी का अधिकार माना था।

जातकों में काशी के और बहुत-से राजाओं के, यथा अंग, उग्गसेन, उदय, धनंजय, विस्ससेन, कलाबु (जातक ३।३९) संयम और किकी के नाम आये हैं। पर इनकी ऐतिहासिकता के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता[1]।

काशी के यों तो बहुत-से राजाओं ने अपना राज्य बढ़ाने की चेष्टा की लेकिन काशिराज मनोज ने तो तमाम भारतवर्ष में लड़ाई लड़कर अपने लिये अग्गराजा की पदवी प्राप्त की। सोणनंद जातक (जा० ५।३१५ इत्यादि) में इस विजययात्रा का सांगोपांग वर्णन है। पहले उसने कोसलराज को हराया और बाद में क्रमशः अंग, मगध, अस्सक और अवंती को। इस प्रकार वह सारे जंबूद्वीप का राजा बन बैठा। शायद उसके विरुद राजाधिराजा एवं जयंतपति थे (जा० ५।३२२, गा० १२७)। वाराणसी का नाम उसके समय में ब्रह्मवर्धन पड़ा।

मगधराज बिंबिसार के पितृहंता अजातशत्रु द्वारा मारे जाने के बाद बिंबिसार की वैदेही और कौसली पत्नियों का पतिवियोग के दुःख से देहांत हो गया। उसी समय महाकोसल के स्थान पर प्रसेनजित् कोसल की गद्दी पर बैठे और उन्होंने काशीग्राम की आमदनी वापस लेनी चाही। इस प्रश्न को लेकर अजातशत्रु और प्रसेनजित् में लड़ाई छिड़ गयी। पहली तीन लड़ाइयों में अजातशत्रु ने प्रसेनजित् को हराकर श्रावस्ती तक खदेड़ दिया लेकिन चौथी लड़ाई में विजय प्रसेनजित् के हाथ लगी और उन्होंने काशीग्राम जीत लिया। यह सब होने पर भी प्रसेनजित् ने अजातशत्रु से सुलह करके उसके साथ

[1] मलालशेखरे, डिक्शनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स में इन नामों की व्याख्या देखिये।

अपनी कन्या का विवाह कर दिया और दहेज में लड़ाई की जड़ काशी ग्राम को भी दे दिया (संयुक्त निकाय १, पृ० ८२–८५)।

दीघनिकाय (१।२२८–९) से पता चलता है कि राजा प्रसेनजित् काशी-कोसल की प्रजा से कर वसूल करके अपने कर्मचारियों के साथ उसे बाँट लेते थे। महावग्ग में एक काशिराज का नाम आता है जिसने जीवक को एक वस्त्र भेजा था। बुद्धघोस के अनुसार यह काशिराज प्रसेनजित् का सगा भाई था (विनय २, पृ० १९२, पा० टि० २)। शायद यह प्रसेनजित् का एक उपराजा था। जैन निरयावलिओ के अनुसार काशी-कोसल में अट्ठारह गणराय थे। इस उल्लेख का शायद यह तात्पर्य है कि काशी-कोसल प्रदेश में अट्ठारह उपराजा थे जो इस प्रदेश के राजा के अधीन थे।

मगध के बढ़ते हुए राज्य और अजातशत्रु के पराक्रम के आगे कोसल बहुत दिनों तक अपनी स्वतंत्र सत्ता कायम नहीं रख सका। अजातशत्रु के राज्य के अंतिम दिनों में कोसल के कुछ हिस्से मगध में मिला लिये गये और धीरे धीरे कोसल और उसके साथ ही साथ काशी मगध में मिल गये और उनकी स्वतंत्रता और राज्य सत्ता नष्ट हो गयी।[1]

बुद्ध के समय में तो काशी की स्वतंत्रता नष्ट हो चुकी थी पर काशी का गत इतिहास लोगों की आँखो के सामने था और उसी की छाया हम बौद्ध साहित्य में पाते हैं। काशी के राजाओं तथा सामाजिक जीवन का बौद्ध साहित्य में सुंदर वर्णन है। बुद्ध के समय वाराणसी एक स्वतंत्र महाजनपद की राजधानी नहीं रह गयी थी फिर भी उसका सुनाम सारे भारतवर्ष में था। इसकी इतनी ख्याति थी कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के लिए प्रस्तावित स्थानों में राजगृह, चंपा, साकेत, कोशांबी और श्रावस्ती के साथ वाराणसी का भी नाम आता है (दीघनिकाय २, १४६)। ●●

---

[1] भांडारकर, कार्माइकेल लेक्चर्स पृ० ७९.

तीसरा अध्याय

प्राचीन साहित्य के आधार पर काशी का धार्मिक इतिहास

हिन्दू पुराणों में, विशेषकर मध्यकालीन पुराणों में, काशी को शैव धर्म का प्रसिद्ध क्षेत्र माना गया है। पर वैदिक और बौद्ध साहित्य में काशी जनपद और वाराणसी का महत्त्व उसका व्यापार और संस्कृति है, धर्म नहीं। कुरुपंचाल देश में संवर्धित आर्य-धर्म और वाराणसी के आर्यों के धार्मिक विश्वासों में अंतर अवश्य था और इसीलिए काशी को वैदिक साहित्य में विशेष स्थान न मिल सका। काशी के आर्य-धर्म में और कुरु-पंचाल देश के आर्य-धर्म में क्या अंतर था, इसका तो हमें प्राचीन वैदिक साहित्य से अधिक पता नहीं चलता पर पुराणों और बौद्ध साहित्य में काशी के इस प्राचीन धर्म की कुछ बातें अवश्य आयी हैं। पुराण एक मत से इस बात के साक्षी हैं कि काशी तीर्थ शिव का प्रधान क्षेत्र है और आज से नहीं, सृष्टि के आरंभ से। इस में कहाँ तक सत्य है यह तो तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक पुरातत्त्व के द्वारा यह प्रमाणित न हो जाय कि गुप्तकाल के भी पहले काशी शैवों का प्रधान अड्डा था।

पुराणों में दक्ष-यज्ञ की कथा आती है। इस यज्ञ में शिव इसलिए नहीं बुलाए गये कि उनका वैदिक धर्म में विश्वास नहीं था। शिव-पत्नी सती बिना न्योते के ही अपने पिता के घर गयीं, वहाँ उनका निरादर हुआ और उन्होंने दुखी होकर यज्ञ-कुंड में कूदकर अपना शरीर त्याग दिया। इसके उपरान्त शिव की आज्ञा से वीरभद्र ने यज्ञ विध्वंस कर दिया। इस कथा में डाक्टर अल्टेकर के अनुसार, शैव और वैदिक धर्मों के मतभेदों को दूर करने की चेष्टा का आभास मिलता है पर यह चेष्टा सफल नहीं हुई[1]।

काशीखंड (अध्याय ६२) और अन्य बहुत-से पुराणों में वर्णित दिवोदास की कथा में भी वैदिक धर्म को काशी की प्रजा और राजा दोनों ही द्वारा काशी में प्रवेश न करने देने की प्रवृत्ति के संकेत मिलते हैं। इस कथा के अनुसार राजा दिवोदास ने काशी से शिव को छोड़कर और सब देवताओं को निकाल बाहर किया। काशीखंड का कहना है कि (अध्याय ५८, ७८) सब देवताओं के काशी से निकल जाने पर वहाँ सत्य का प्रचार बढ़ा। बदला लेने के लिए देवताओं ने काशी को सहायता देना बंद कर दिया पर दिवोदास अडिग रहे। अंत में देवताओं ने धोखा देने को सोची। गणेश ने दिवोदास को इस बात पर तैयार किया कि अट्ठारह दिन बाद उत्तर से आने वाले एक ब्राह्मण की सलाह दिवोदास मान लें। यह ब्राह्मण छद्म वेश में विष्णु थे। उन्होंने दूसरे देवताओं को काशी में आने के लिए दिवोदास को तैयार कर लिया। वायु पुराण से (३०।५८) यह सूचना मिलती है कि दिवोदास के काशी छोड़ देने पर भी और उसके नष्ट हो जाने पर भी शिव ने काशी नहीं छोड़ी। वाराणसी में विहार करते हुए उन्होंने गौरी से कहा—हे देवि, मैं इस नगर

---

[1] अल्टेकर, उल्लिखित, पृ० ३ से

को छोड़कर कहीं नहीं जा सकता। इसी लिए स्वयं देव ने इसे अविमुक्त क्षेत्र कहा है। अग्नि पुराण (३५।१६) के अनुसार भी काशी का नाम अविमुक्त पड़ा क्योंकि शिव इसे कभी नहीं छोड़ते।

महाभारत में काशी के शैव तीर्थ होने का वर्णन केवल आरण्यकपर्व (८२।६९–७०) में आया है। यह मार्के की बात है कि तीर्थयात्रा पर्व में जहाँ कुरु-पंचाल देश के अनेक छोटे मोटे तीर्थों का भी बहुत बढ़ा चढ़ाकर वर्णन किया गया है वहाँ काशी क्षेत्र को केवल दो श्लोकों में ही समाप्त कर दिया गया है। दूसरे शब्दों में काशी का उस काल में अपेक्षाकृत धार्मिक महत्त्व नहीं था जितना अब है। यह भी संभव है कि भागवत धर्म के समर्थक महाभारत में शिव की नगरी वाराणसी का उतना ध्यान नहीं किया गया हो। आरण्यक पर्व से पता लगता है कि वाराणसी में वृषभध्वज की पूजा होती थी और कपिल-ह्रद (आधुनिक कपिलधारा) में स्नान करने से राजसूय यज्ञ का पुण्य होता था। बनारस के पास गंगा और गोमती के संगम पर मार्कण्डेय तीर्थ का भी उल्लेख आया है।

लेकिन जैसा हम ऊपर कह आये हैं बौद्ध और जैन साहित्य में तो काशी में शिव की पूजा के उल्लेख नहीं के बराबर हैं। इनके अनुसार वहाँ नागों और यक्षों की पूजा प्रचलित थी। संभव है कि इन्हीं यक्षों में शिव का भी स्थान रहा हो पर विशेष रूप से शिव का नाम वाराणसी के संबंध में कहीं नहीं आया। बौद्ध साहित्य में शिव की गणना यक्षों में है; उदाहरणार्थ महामायूरी में[1] बनारस के प्रधान यक्ष को महाकाल कहा गया है जो शिव का एक नाम है। जो भी हो, यक्ष पूजा से बनारस का बड़ा प्राचीन संबंध जान पड़ता है और आज भी बनारस के बरम और बीर में प्राचीन यक्ष पूजा के अवशेष बच गये हैं।

जातक कथाओं में जन साधारण यक्षों से बहुत भयभीत चित्रित किये गये हैं। यक्षों के राजा वैश्रवण से भी लोग भय खाते थे। जन साधारण के लिए संसार यक्षों से भरा था और वे उन्हें मूर्तरूप में देखते थे। उनकी आँखें निश्चल होती थीं, परछाहीं नहीं पड़ती थी और वे निडर और क्रूर स्वभाव वाले होते थे। यक्ष मनुष्य और पशुओं का मांस खाते थे और रेगिस्तान तथा जंगलों पेड़ों और नदियों में घूमा करते थे। यक्षिणियों का स्वभाव तो और भी क्रूर होता था और वे अपने रूप, रस, गंध, स्पर्श से मनुष्यों को लुभाकर उन्हें अपना शिकार बनाती थीं। यक्ष मनुष्यों पर आते भी थे।[2] बनारस में कम से कम शुंग युग तक ऐसे यक्षों की पूजा होती थी क्योंकि इस युग की अथवा इसके पहले की यक्ष मूर्तियाँ भारत कला भवन बनारस तथा सारनाथ संग्रहालय में हैं।

जैन साहित्य से भी हमें पता चलता है कि ईसा पूर्व की शताब्दियों में यक्ष पूजा बहुत प्रचलित थी और उत्तर भारत के प्रत्येक शहर में यक्षों के चैत्य होते थे। जैन साहित्य से यह भी पता चलता है कि कुछ यक्ष ऊँचे दरजे के भी होते थे जो तपस्वियों का आदर करते थे (उत्तराध्ययन ३।१४ इत्यादि)। वाराणसी के गंडि तिंदुग नाम के यक्ष का नाम उत्तराध्ययन (१६।१६) में आया है। यह यक्ष मातंग ऋषि के गंडि तिंदुक उपवन की

---

[1] जर्नल० यू० पी० हि० सो०, भाग १५, पार्ट २, पृ० २७

[2] रतिलाल मेहता, प्रीबुधिस्ट इंडिया, पृ० ३२४, बंबई, १९३९

रक्षा करता था। यक्ष अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या और पूर्णिमा के दिन लोगों की मदद करते थे। पुत्र-कामिनी स्त्रियों के मानता मानने पर यक्ष उनको पुत्र प्राप्ति का वरदान देते थे। यक्ष लोगों की बीमारियों से भी रक्षा करते थे। एक जगह कहा गया है कि माणिभद्र यक्ष की प्रार्थना करने पर उन्होंने माता के रोग से नागर की रक्षा की। यक्ष कुलटा स्त्रियों का भी पता पा लेते थे। माणिभद्र और पुण्यभद्र यक्ष उस समय मगध और अंग में पुजते थे।[२]

पर यक्ष केवल दयालु ही नहीं होते थे, वे लोगों को मार भी डालते थे और अक्सर जैन साधुओं को रात में भोजन करा के उनका नियम भंग करवा देते थे। यक्ष लोगों के सिर चढ़ जाते थे और झाड़-फूंक के बाद उतरते थे। एक विचित्र विश्वास यह भी था कि यक्ष स्त्रियों से मैथुन करते थे। नीची जातियों के यक्ष अलग होते थे। यक्षों के उपलक्ष्य में बहुत-से उत्सव भी होते थे।

यक्षों के बारे में जो बातें बतलायी गयी हैं उनका संबंध मगध और अंग के यक्षों से है, पर काशी के यक्षों और मगध के यक्षों की पूजा में कोई भेद नहीं था। संभवतः काशी की यक्ष अथवा देव पूजा में भेंड़, बकरी, मुरगी, सूअर इत्यादि पशुओं और पक्षियों के बलिदान होते थे और पूजा में गंध पुष्प के अतिरिक्त बलि पशुओं के रक्त रंजित शव भी चढ़ाये जाते थे (जा० १।१२६।१२७)।

मत्स्य पुराण (अध्याय १८०) में यक्ष हरिकेश की कहानी से काशी की यक्ष पूजा पर काफी प्रकाश पड़ता है और यह भी पता चलता है कि शिव-पूजा के आंदोलन के द्वारा यक्ष-पूजा काशी से कैसे हटी। हरिकेश यक्ष पूर्णभद्र यक्ष का पुत्र था। वह बहुत शुद्ध आचरण वाला और तपस्वी था तथा बचपन से ही शिव-भक्त था। हरिकेश के इस आचरण से पूर्णभद्र यक्ष बहुत कुपित हुआ और उसने उसे घर से निकाल बाहर करने की धमकी दी; पूर्णभद्र की राय में हरिकेश का आचरण यक्षों के आचरण के प्रतिकूल था। यक्ष तो स्वभावतः क्रूर, मांस खाने वाले और हिंसाशील होते थे इसीलिए हरिकेश को मनुष्यों का आचरण शोभा नहीं देता था। जब हरिकेश ने अपने पिता की बात न मानी तो उसे अपना घर छोड़ देना पड़ा और वाराणसी में आकर उसने एक हजार वर्ष तक शिव की आराधना की (मत्स्य० १८०।६–२०)। शिव ने इस घोर तपस्या से प्रसन्न होकर हरिकेश से वर माँगने को कहा। इस पर हरिकेश ने वाराणसी में सदा स्थित रहने का वर माँगा। शिव ने उसकी इच्छा स्वीकार कर ली और उसे काशी का क्षेत्रपाल नियुक्त किया और उसके सहायक त्र्यक्ष, दण्डपाणि, उद्भ्रम और संभ्रम यक्ष नियुक्त किये गये (मत्स्य० १८०।८८।९९)। मत्स्य पुराण में एक दूसरी जगह (१८३।६२।६६) वाराणसी के शिव गणों में यक्षों के बहुत-से नाम गिनाये गये हैं यथा विनायक, कूष्माण्ड, गजतुंड, जयंत, मदोत्कट इत्यादि। इसमें कुछ सिंह और व्याघ्र-मुख वाले होते थे। कुछ का आकार विकट था और कुछ कुब्ज और वामन होते थे। दूसरे गण नन्दी, महाकाल, चंडघंट, महेश्वर, दंड-

---

[१] जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशेंट इंडिया, पृ० २२०–२२१, बंबई, १९४७

[२] वही, पृ० २२१–२२

चंडेश्वर तथा घंटाकर्ण थे। ये बड़े पेट वाले यक्ष वज्रशक्तिधारी होते थे और सदा अविमुक्त तपोवन की रक्षा करते रहते थे।

इस कथा से कई बातों का संकेत मिलता है। सबसे पहली बात तो यह है कि हरिकेश यक्ष की पूजा बनारस में होती थी और इस यक्ष का संबंध पूर्णभद्र यक्ष से था। दूसरी बात यह है कि जिस समय बनारस में यक्ष पूजा प्रचलित थी उस समय वहाँ शिव पूजा भी जारी थी। लगता है यक्ष और शैवधर्म में बराबर कशमकश जारी रही। अंत में दोनों धर्मों में समझौता हो गया या यों कहिये कि शैवधर्म ने यक्षधर्म को अपने में मिला लिया और जितने यक्ष थे वे सब शिव के पार्षद हो गये। मत्स्य पुराण (१८०।६२) में एक जगह यहाँ तक कहा गया है कि महायक्ष कुबेर ने भी वाराणसी में अपना स्वभाव छोड़ दिया और गणेशत्व पद को प्राप्त हो गये। शिव के सेवक हो जाने से मुद्गरपाणि यक्ष द्वार द्वार पर रक्षक का काम करने लगे (मत्स्य, १८३।६६)। शैवधर्म की यक्ष-धर्म पर पूर्ण विजय कब हुई यह कहना तो मुश्किल है पर यह एकाएक नहीं हुई, यह तो निश्चय है; इसमें सदियों लगी होगीं। संभवतः गुप्तकाल में शैवधर्म की यक्ष-धर्म पर पूर्ण विजय हो गयी। कम से कम हम पुरातत्त्व के आधार पर तो इसी नतीजे पर पहुँचते हैं।

हरिकेश की कथा के संबंध में एक बात जानना जरूरी है। यह कथा काशी खंड (अ० ३२) में भी आती है लेकिन यहाँ इस कथा की प्राचीनता नष्ट हो गयी है। पूर्णभद्र और हरिकेश यक्ष के उल्लेख तो हैं पर वे यहाँ पूर्ण शिवभक्त माने गये हैं। यहाँ तक कि हरिकेश का जन्म भी शिव-तपस्या का प्रसाद कहा गया है। पूर्णभद्र और हरिकेश में जब बहस होती थी तब पूर्णभद्र उसको वाराणसी जाने से रोकने का कारण अपना वैभव बतलाता था। मत्स्य वाली कहानी में पूर्णभद्र यक्ष-धर्म की खास बातें बतलाता है, जैसे क्रूरता, मांस भक्षण इत्यादि, इन सब का काशी खंड में पता तक नहीं है। लगता है कि चौदहवी शताब्दी में यक्ष-धर्म की प्राचीन कल्पना करीब करीब नष्ट हो चुकी थी। पर बनारस में परंपरा बहुत मुश्किल से मरती है। हजारों वर्ष बीत जाने पर भी हरिकेश यक्ष आज दिन भी बनारस से थोड़ी दूर पर भभुआ में हरसू बरम के नाम से तथाकथित छोटी जातियों द्वारा पूजे जाते हैं। आज भी उनके नाम से मन्नतें मानी जाती है, तथा हरसू बरम स्त्रियों के सिर पर आते हैं और भूत भविष्य की बातें बताते हैं। भूत उतारने के लिए तो हरसू बरम बड़े ही प्रसिद्ध माने जाते हैं।

महाजनपद युग में बनारस में हिमालय के अनेक तपस्वियों का बराबर आवागमन होता रहता था (जा० ३।३६१)। जातकों से यह तो पता नहीं चलता कि ये तपस्वी कौन-सा धर्म मानने वाले थे, पर हम इन्हें शैव मान सकते हैं। बनारस वाले इन तपस्वियों को काफी दान दक्षिणा देते थे और राजा भी उनका काफी आदर करते थे। विषय नाम के काशी के एक सेठ ने तो नगर के चारों द्वार पर, नगर के बीच में और अपने घर पर दान शालाएँ बनवायी थीं जहां निरंतर भिक्षार्थियों को भिक्षा बँटा करती थी (जा० ३।१२९)।

इस युग में नाग पूजा भी बहुत प्रचलित थी। लोगों का विश्वास था कि नाग जल के अंदर बड़े बड़े महलों में रहते थे और अपनी इच्छानुसार मनुष्य तथा दूसरे रूप धारण कर सकते थे। क्रुद्ध होने पर वे भीषण हो उठते थे लेकिन साधारणतः वे स्वभाव से दया-

वान और कोमल होते थे। वाराणसी के नागरिक उनकी पूजा दूध, चावल मछली, मांस और मद्य से करते थे (जा० १।३११)।

बुद्ध के समय बनारस में नाग पूजा प्रचलित थी। धम्मपद अट्ठकथा में (३।२३०) कहा गया है कि बनारस के पास सात सिरीस के पेड़ों का झुरमुट था और यहीं बुद्ध ने नाग एरकपत्त को उपदेश दिया। आज दिन भी बनारस में नाग-पूजा के कुछ अवशेष बच गये हैं। नाग कुआँ को लोग अब भी पवित्र मानते हैं और नागपंचमी तो बनारस का एक प्रधान त्यौहार है।

उत्तर भारत की और दूसरी जगहों की तरह बनारस में भी उस समय वृक्ष-पूजा का संभवतः काफी प्रचार था। इस वृक्ष-पूजा के द्वारा वृक्ष के अंदर बसने वाले देवता अथवा यक्ष की पूजा होती थी। जातकों में वृक्षों को बलि देने की प्रथा का उल्लेख है और कभी कभी तो वृक्षों को नर बलि भी दी जाती थी। वृक्षों से भविष्य की बातें भी पूछी जाती थी और वे पुत्र और धन देने वाले माने जाते थे। वृक्षों पर मालाएं लटकायी जाती थीं और उनके चारों ओर दीपक बाले जाते थे।[1]

महाजनपद युग में मंत्र तंत्र बहुत लोकप्रिय थे और लोग जादू टोने में विश्वास करते थे। शकुन-विद्या (निमित्त शास्त्र) अर्थात् ज्योतिष का भी बोलबाला था। लक्षण पाठक, स्वप्न पाठक, अंगविद्या पाठक, नैमित्तिक और नक्षत्रज्ञाता शकुन अपशकुन, सायत, अच्छेबुरे भाग्य इत्यादि की बातें लोगों को बतलाते थे। ओझा भूतों पर अपना अधिकार बतलाकर मंत्रों के द्वारा अपशकुनों को वारण करने की क्रियाएं करते थे। लोगों का विश्वास था कि अभिमंत्रित बालू सिर पर रखकर और सिर पर नाड़ा बाँधने से भय से मुक्ति मिलती है। बहुत-सी जगहों में भूत प्रेतों का डेरा माना जाता था और उनके हटाने के लिए मंत्र प्रयोग में लाये जाते थे।[2] बनारस के एक राजा का उल्लेख धम्मपद अट्ठकथा में (१।१५१) है। इस राजा ने मंत्र सीखने के लिए एक ब्राह्मण को एक हजार कार्षापण दिये थे।

उपर्युक्त धार्मिक विवरण से यह पता चलता है कि उस समय सर्वसाधारण भूत प्रेत, यक्ष, नाग, वृक्ष आदि की पूजा करते थे और जादू टोने में उनका काफी विश्वास था। धर्म की यह अवस्था समाज के आदिम युग की सूचक है और संभवतः ये विश्वास आर्यों के पहले से इस देश में चले आते थे। आर्यधर्म की देश के इस आदिम धर्म से टक्कर हुई पर जैसा कि अथर्व वेद से विदित होता है विजेताओं ने विजितों के बहुत-से विश्वासों को अपना लिया। पर धर्म और विश्वास के क्षेत्र में इस उथलपुथल से कुछ लोगों में प्रज्ञात्मक वृत्ति जागी और इस तरह एक नवीन विचारधारा का उदय हुआ, जिसे हम उपनिषद् काल की विचारधारा कहते हैं।

इस युग की दार्शनिक विचारधारा को हम वैदिक विचारधारा का स्वाभाविक विकास मान सकते हैं। वैदिक विचारधारा और कर्मकांडों से लोगों की रुचि हटने लगी। लोग अनुभव करने लगे कि आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए वेदाध्ययन, कर्मकांड और दान-

[1] मेहता, उल्लिखित, पृ० ३२६।

[2] मेहता, उल्लिखित, पृ० ३२७।

दक्षिणा से कुछ नहीं होता, उसके लिए तो गंभीर चिंतन और ज्ञान की आवश्यकता है और ब्रह्मज्ञान यज्ञादि से कहीं ऊँचा है। शायद औद्दालक आरुणि के नेतृत्व में वैदिक कर्मकांड के विरुद्ध यह आंदोलन चला और इसी काल से परिव्राजकों की परंपरा का भी उदय हुआ। उनकी विचार-धारा में वैदिक धर्म के बाह्याडंबरों की अपेक्षा तत्त्वज्ञान का अधिक अन्वेषण हुआ और धीरे धीरे यह विचार-धारा वैदिक धर्म के क्रियाकांड से अलग होने लगी। जातकों (जा० ६।२०६–०८, गाथा ८८३–९०२) के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि इस विचार-धारा के अनुसार वेदों का कोरा अध्ययन वृथा था। इसी प्रकार यज्ञ, होम और अग्निहोत्र इस विचार-धारा के अनुसार ब्राह्मणों की धोखेबाजी थी और ब्राह्मण असत्यवक्ता और झूठी कथाओं को कहने वाले थे। यह विचार-धारा ब्रह्म की कल्पना को भी इसलिए नहीं मानती थी क्योंकि यदि ब्रह्म सारी सृष्टि में व्याप्त है तो फिर संसार में दुःख, अशांति, ठगी, झूठ, अनाचार और अन्याय क्यों है ?

ज्यों ज्यों महावीर और बुद्ध का समय पास आने लगता है, हम महाजन पद युग के सांस्कृतिक वायु-मंडल में इस नवीन विचारधारा और दर्शन का बढ़ता हुआ प्रकाश देखते हैं। इस विचारधारा को देश में फैलाने के लिए कोई संघटित संघ न था और न इसके अनुयायियों के लिए यही आवश्यक था कि वे इन नये विचारों को ही अंतिम सत्य मानकर अपनी चिंतन शक्ति को विश्राम दें; उनसे यह अपेक्षित नहीं था कि अपने स्वतंत्र विचारों को किसी तरह दबावें। इस नये धर्म को ग्रहण करने का एक ही अर्थ था कि लोग प्राचीन विचारशैली को छोड़कर नवीन एवं स्वतंत्र दृष्टिकोण ग्रहण करें। यह धर्म रूढ़िगत भावनाओं को दबाता था पर उसकी दृष्टि ऐसी उदार थी जो दूसरों के दृष्टिकोण को भी देख सकती थी।

महाबोधि जातक में (जा० ५।२२८ इत्यादि) महाजनपद युग की दार्शनिक विचार-धाराओं का यथा अहेतुवाद, इस्सरकारणवाद, पुब्बेकतवाद, उच्छेदवाद, और खत्तविज्जावाद का उल्लेख किया है। अहेतुवादी कारण नहीं मानते थे और उनके अनुसार पुनर्जन्म शुद्धि का कारण था। इस्सरकारणवादी एक कर्त्ता की स्थिति मानते थे। पुब्बेकतवादी कर्मवाद पर विश्वास करते थे, उच्छेदवादी मृत्यु के बाद ही शरीर का अंत मानते थे और खत्तविज्जा-वादियों का सिद्धान्त था—आत्मानं सततं रक्षेत् और इसमें अगर पिता तक का वध करना पड़े तो कोई बुरी बात नहीं थी। इन विचार शैलियों का बुद्ध और महावीर दोनों ने घोर विरोध किया।

आजीवक धर्म को, जो जैन और बौद्ध दोनों धर्मों से प्राचीन था, मस्करी गोसाल ने आगे बढ़ाया। बौद्ध और जैन शास्त्रों में इस धर्म की काफी हँसी उड़ाई गयी है। आजीवक घोर तपस्या में विश्वास करते थे और नंगे रहते थे, बुरे या भले कर्मफल पर विश्वास नहीं करते थे, सब जीवों को समान मानते थे और नियतिवादी थे।

महाजनपद युग में उपर्युक्त विचार धाराओं के साथ साथ एक ऐसी विचार-धारा थी जिसमें कर्मफल, धर्म और शील अथवा विनय का महत्त्वपूर्ण स्थान था जो भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में बहुत दिनों तक बना रहा।

धार्मिक जीवन में तपस्या का स्थान तो समाज की आदिम अवस्था में भी किसी न किसी रूप में मिलता है, यद्यपि इसका उद्देश्य समय समय पर बदलता रहता है। भारतीय दर्शनों में जब से पुर्नजन्म और कर्मफल के सिद्धान्त प्रतिपादित होने लगे तब से जीवन और उसके मूल्यों के संबंध में पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार जीवन क्रम अनन्त हो गया और इस पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति के उपाय लोग ढूढ़ने लगे। दार्शनिक विचार-धारा तेजी तथा मजबूती के साथ तपस्या की ओर बढ़ी और तपस्या का महत्त्व धीरे धीरे सर्व-साधारण पर छा गया। तपस्वियों के दो विभाग थे श्रमण और ब्राह्मण। रमते परिव्राजक जातकों में नहीं मिलते। शायद इनका बाद में उदय हुआ होगा।

भारतीय संस्कृति में तपस्वियों का महत्त्व तो बहुत प्राचीन काल से मिलता है। ऐसा जान पड़ता है कि बौद्ध धर्म के उदय के थोड़े ही पहले तपस्वियों की एक नयी शाखा चली जो अपने को ब्राह्मण कहती थी। ब्राह्मण शब्द से उनका अभिप्राय यह था कि वे अपने को उन तपस्वियों से अलग मानते थे, जो वन में रहकर तपस्या और यज्ञ करते थे क्योंकि ब्राह्मण गृहस्थ होते थे। प्राचीन तपस्वियों की परिपाटी इस युग तक समूल नष्ट नहीं हो गयी थी। ये बस्तियों के पास वनों में रहते थे और अध्ययन-अध्यापन और तपस्या में अपना समय बिताते थे। वे बहुधा हिमालय में भी चले जाते थे तथा झोपड़ियों में रहते थे, रक्त रंग के अधोवस्त्र और उपवस्त्र, अजिन, दंड, उपानह और कमंडल धारण करते थे। वे जटाजूट धारी होते थे, मूँज की मेखला पहनते थे, वन के फल फूल तथा चावल, शहद इत्यादि खाते थे। आश्रमों की दैनिक परिचर्या इस भाँति थी : सबेरे आश्रम झाड़-बुहारकर साफ कर दिया जाता था, इसके बाद लोग पास की नदी से पानी लाते और फल-फूल इकट्ठे करते, ईंधन के लिए लकड़ी चीरते और भोजन बनाते थे। वे लोग दोपहर में थोड़ा विश्राम करते थे और तीसरे पहर अध्ययन अध्यापन चलता था। शाम को भोजन करके लोग विश्राम करते थे। आश्रमों में अतिथियों का बड़ा स्वागत होता था। बरसात में तपस्वी पहाड़ों के नीचे उतर आते थे। शहरों से दूर बसने पर भी समाज पर इनका काफी प्रभाव था और लोग अपने प्रश्नों को लेकर बराबर उनसे मिला करते थे।

बनारस में संथागार-साला का उल्लेख आता है ; इसका सार्वजनिक कामों के लिए उपयोग नहीं होता था बल्कि धार्मिक और दार्शनिक शास्त्रार्थों के लिए उपयोग होता था। (जा० ४।७४)। जो श्रमण बनारस में आते थे वे कुंभकार शाला में रात बिताते थे (धम्मपद अट्ठकथा, १,३९)।

श्रमणों की यह नयी परिपाटी धीमे धीमे प्राचीन वैदिक तपश्चर्या से बिलकुल भिन्न हो गयी। महाजनपद युग में हम घोर तपश्चर्या की काफी निंदा पाते हैं। जातकों में इस घोर तपस्या के कुछ साधन दिये गये हैं। कुछ लोग बराबर झूलते रहते थे, कुछ कंटक शय्या पर लेटे रहते थे, कुछ पंचाग्नि तापते थे, कुछ उँकड़ू ही बैठे रहते थे, कुछ बराबर स्नान ही किया करते थे कुछ बराबर मंत्र ही पढ़ा करते थे। इन साधुओं में बहुत-से झूठे, निकम्मे और व्यभिचारी भी होते थे।

परिव्राजकों और श्रमणों में विशेष भेद नहीं था। ये साल में आठ या नौ महीने बराबर घूम घूमकर दर्शन या अध्यात्मवाद की चर्चा करते थे। श्रमण और परिव्राजक

मुंडित-मस्तक होते थे, भिक्षा माँगकर अपना पेट भरते थे तथा चीवर धारण करते थे। बायें कंधे पर एक झोले में इनका भिक्षा पात्र होता था और हाथ में दंड। राजा से प्रजा तक (मेहता, उल्लिखित, पृ० ३४०) सभी इन श्रमणों का आदर करते थे और इन्हें भिक्षा देते थे। ब्राह्मणों से लेकर सब जाति तक के लोग श्रमण हो सकते थे[१]।

ऊपर हमने कुछ विस्तार से महाजन पद युग के विभिन्न धर्मों का इसलिए वर्णन किया है क्योंकि बनारस प्राचीन काल में भी एक सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्र था। हमें बृहदारण्यक और कौषीतकी उपनिषदों से पता चलता है कि काशी के राजा अजातशत्रु की अध्यात्मवाद में काफी रुचि थी और वे स्वयं भी प्रसिद्ध दार्शनिक थे। औपनषिदिक विचार धारा में बनारस का कितना हिस्सा था इसका तो पता नहीं पर उपनिषदों में बनारस का नाम आने से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि मिथिला की तरह बनारस भी उस युग में नवीन विचार धारा का परिपोषक था।

महाजनपद युग में बनारस में ही, महावीर से करीब २५० वर्ष पहले, यानी ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ। जैन अनुश्रुति के अनुसार इनके पिता अश्वसेन बनारस के राजा थे। तीस वर्ष की उमर में इन्होंने श्रमण धर्म स्वीकार किया और सत्तर वर्षों तक धर्मोपदेश देते हुए अन्त में उन्होंने सम्मेत गिरि पर निर्वाण प्राप्त किया (कल्पसूत्र, ६।१४९–१६९)। पार्श्वनाथ कोई साधारण व्यक्ति न थे। इसीलिए इनके लिए जैन शास्त्रों में पुरिसादानीय (कल्पसूत्र, ६।१४९) और पालि में पुरिसाजानीय (अंगुत्तर, १।२९०) शब्द का व्यवहार हुआ है। महावीरस्वामी के समय तक पार्श्वनाथ के अनुयायी होते थे और स्वयं महावीर के माता पिता भी पार्श्वनाथ के मत को मानने वाले थे।

महावीर के जैनधर्म और पार्श्वनाथ के जैन धर्म में अंतर था। पार्श्वनाथ के अनुयायी वस्त्र पहनते थे और जीवन के अंत में जिनकल्प धारण करते थे। पार्श्वनाथ का धर्म अहिंसा-मूलक था और जात-पाँत के भेद के बिना वह अपने संप्रदाय में सबको स्वीकार करता था, स्त्रियाँ भी उनके संघ में शामिल हो सकती थी। पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म में अहिंसा, झूठ न बोलना, चोरी न करना, और बाह्य उपकरणों से दूर रहना था। घोर तपश्चर्या ही पार्श्वनाथ के मतानुसार निर्वाण की हेतु थी। पार्श्वनाथ ने अपना मत चलाने के लिए चार गण और चार गणधर नियुक्त किये। महावीर के समय पार्श्वनाथ का प्राचीन मत महावीर के मत में मिल गया।

जैन शास्त्रों से यह पता चलता है कि गंगा प्रदेश, जिसमें बनारस भी सम्मिलित था, बहुत प्राचीन काल में वानप्रस्थ तपस्वियों का अखाड़ा बना हुआ था (ओवाइय सूत्र)। इस प्रदेश में होत्तिय अग्निहोत्र करते थे, कोत्तिय जमीन पर सोते थे, पोत्तिय कपड़ा पहनते थे, जण्णई यज्ञ करते थे, सट्ठइयों का विश्वास श्रद्धामूलक था, थालई अपना सब सामान साथ लेकर चलते थे, हुंबौट्ठ कुंडिका लेकर चलते थे, दंतुक्खलीय दाँत से पीसकर कच्चा अन्न खाते थे, उमज्जक नदी में केवल एक गोता लगाते थे, संमज्जक कई गोते लगाते थे,

[१] मेहता, उल्लिखित, पृ० ३४३–४४

निमज्जक नदी में थोड़ी देर तक रहते थे, संपक्खाल अपना बदन मिट्टी से साफ करते थे, दक्खिण कुलाग गंगा के केवल दक्खिन किनारे पर रहते थे, उत्तर कुलाग गंगा के केवल उत्तर किनारे पर रहते थे, संखधमग खाने के पहले शंख बजाकर लोगों को दूर करते थे, कूलधमग नदी के किनारे खाने के पहले शंख बजाकर लोगों को दूर भगाते थे, मियलुद्धय जीवहत्या करते थे, हत्थितावस हाथी को मार कर उसके मांस पर महीनों रहते थे, उड्डंडग, अपनी लाठी उठाकर चलते थे, दिसापोक्खी फल पुष्प इकट्ठा करने के पहले दिशाओं में पानी छिड़कते थे, बकवासी केवल वल्कल पहनते थे, अंबुवासी पानी में रहते थे, बिलवासी गुफाओं में रहते थे, जलवासी अपना शरीर पानी में डुबाकर रखते थे, रुक्खमूला वृक्ष के मूल में रहते थे, अंबुक्खावी केवल पानी पीकर जीते थे, बाउभक्खी हवा पीकर रहते थे तथा सेवालभक्खी केवल सेवाल खाकर जीते थे।[1]

भगवान बुद्ध का वाराणसी अथवा यों कहिए इसिपतन से संबंध सब को विदित है। इसिपतन (आधुनिक सारनाथ) में उन्होंने धर्मचक्र प्रवर्तन किया और ५३५–४८५ ईसा पूर्व के बीच अनेक बार विहार करते हुए वे यहाँ आये। उरुवेला से इसिपतन अट्ठारह योजन था। यहाँ बुद्धत्व प्राप्त करके गौतम बुद्ध इसिपतन की ओर रवाना हुए क्योंकि उनके साथी पंचवग्गिय भिक्खु उन्हें कठिन तप से निरत होते देख उन्हें छोड़कर इसिपतन चले गये थे (जा० १, ६८)। बुद्ध उरुवेला से इसिपतन की ओर पैदल चलकर आये और रास्ते में उनकी आजीवक उपक से भेंट हुई। पास में पैसा न होने से शायद बुद्ध को गंगा नदी उतरने में अड़चन पड़ी। बाद को, अनुश्रुति है कि बिंबिसार ने यह सुनकर तपस्वियों और ब्राह्मणों को नदी पार जाने के भाड़े में छूट कर दी। इसिपतन में पहुँचकर उन्होंने आषाढ़ी पूर्णिमा को धर्मचक्र प्रवर्तन किया और इस तरह बहुजन हित बहुजन सुख और लोकानुकंपा का अपूर्व संदेश संसार को दिया (विनय, १।१०, इत्यादि)। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि बुद्ध के मध्यम-मार्ग का बनारस से ही आरंभ हुआ।

बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि बुद्ध बनारस में कई बार ठहरे। उन्होंने यहाँ बहुत-से सूत्रों का उपदेश किया और वाराणसी में रहने वाले यश (विनय १।१५) एवं उसके मित्रों को यथा विमल, सुबाहु, पुण्णजि, गवांपति जो सब अच्छे घरानों के थे, बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। वाराणसी अथवा इसिपतन में ही बुद्ध ने भिक्षुओं को ताड़ के जूते न पहनने का आदेश दिया (विनय, १।१८९)। एक दूसरी बार राजगृह से वहाँ पहुँचकर बुद्ध ने कुछ अविहित मांसों के खाने का निषेध किया (विनय, १।२१६ इत्यादि)।

धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र के सिवा बुद्ध ने वाराणसी में निम्नलिखित सूत्रों का पाठ किया—पंच सुत्त, रथकार या पच्चेतनसूत्र, दोपास सुत्त, समय सुत्त, कटुविजय सुत्त, परायण की मेत्तयपञ्ह पर व्याख्या, तथा धम्मदिन्न सुत्त जो धम्मदिन्न नाम के एक प्रसिद्ध नागरिक को उपदेश स्वरूप में दिया गया।

जान पड़ता है बौद्ध संघ के कुछ प्रधान भिक्षु समय समय पर इसिपतन में रहा करते थे। इसिपतन में रहते हुए सारिपुत्त और महाकोट्ठिक के वार्तालापों का कई जगह

---

[1] जैन, उल्लिखित, पृ० २०३–०५।

वर्णन है। एक स्थल पर महाकोट्ठिक और चित्तहत्थि सारिपुत्त की बातचीत की चर्चा आयी है। इसिपतन में छन्न को उसकी कठिनाइयों में सहायता देने के लिए कई भिक्षुओं का आपस में संवाद भी आया है।

बौद्ध धर्म में प्रव्रज्या लेने वालों में जनपदकल्याणी अड्ढकाशी का भी उल्लेख है। कहा जाता है कि इस वेश्या की एक दिन की फीस काशी की आमदनी का आधा भाग नियुक्त किया गया था। बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर अड्ढकाशी अरहत्पद को प्राप्त हुई। विनय (२।३५९-६०) से पता लगता है कि सारिपुत्त और महाकोट्ठिक के सिवा-महामोग्गलान, महाकच्चान, महाचुंद, अनिरुद्ध, रेवत, उपालि, आनंद और राहुल भी बराबर काशी प्रदेश से होकर आते जाते रहते थे।

धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र में बुद्ध वचन में बुद्ध की महत्ता वर्णित है, जो निश्चय ही बाद में संकलनकर्त्ताओं द्वारा जोड़ी गयी मालूम पड़ती है। वाराणसी में धर्मचक्रप्रवर्तन करने का हेतु यह जान पड़ता है कि यहाँ पंचवर्गीय भिक्षु थे। पर ऐसा भी हो सकता है कि वाराणसी की उस समय इतनी ख्याति थी कि वहाँ धर्मचक्रप्रवर्तन करना बुद्ध के नये उपदेश के उपयुक्त था। जो भी हो बुद्ध उरुवेला से वाराणसी की ओर चल पड़े। बोधगया और गया के बीच उनकी उपक आजीवक से भेंट हुई। उपक ने बुद्ध की कांति देखकर उनके परिव्रजित होने की बात जान ली। बुद्ध क्रमशः यात्रा करते हुए वाराणसी में ऋषिपतन मृगदाव में, जहाँ पंचवर्गीय भिक्षु थे, पहुँचे। पंचवर्गीय भिक्षुकों ने भगवान को दूर से आते देखा और उन्हें देखते ही आपस में बातचीत करने लगे—आवुसो, साधना-भ्रष्ट संचय-कर्मी गौतम आ रहा है। इसे अभिवादन नहीं करना चाहिए, न इसके लिए खड़ा होना चाहिए, न इसका पात्र चीवर लेना चाहिए। केवल आसन रख देना चाहिए यदि इच्छा होगी तो बैठेगा। लेकिन जैसे ही बुद्ध उनके पास आये उनकी सब बातें हवा हो गयीं। एक ने बढ़कर पात्र चीवर लिया, दूसरे ने आसन बिछाया, तीसरा पैर धोने का पानी लाया और चौथे ने पादपीठ और पाद कठलिका ला रखी। भगवान ने अपने पैर धोये। बातचीत में बुद्ध ने अपने अर्हत्व की बात उनसे कही पर उन्होंने इसे मानने से इनकार कर दिया। तब भगवान ने उन्हें उपदेश दिया।

भिक्षुओ, दो अतियों की सेवा यथा अनर्थों और कामवासनाओं से लिप्त अति, और दुःखमय, आत्मपीड़क अति की जाती है। भिक्षुओ, इन दोनों अतियों में न पड़कर तथागत ने मध्यम-मार्ग निकाला है जो परम दृष्टि देने वाला, ज्ञानबोधक, शांतिदायक तथा अभिज्ञा, परिपूर्ण ज्ञान और निर्वाण के लिए है। यह वही आर्य अष्टांगिक मार्ग है, जिसमें सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीवन, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि निहित हैं। यह है भिक्षुओ, मध्यम मार्ग।

---

[१] थेरीगाथा अट्ठकथा, पृ० ३०–३१; विनय, ३।३६०, नो०, ३; वि० पृ० १९५-९६, नो० ३

भिक्षुओ, दुःख आर्य-सत्य है। जन्म, जरा और मरण दुःख हैं, अप्रियों का संयोग और प्रियों का वियोग भी दुःख है। इच्छित वस्तु का न मिलना भी दुःख है। संक्षेप में सर्व भौतिक अभौतिक पदार्थ ही दुःख है। भिक्षुओ दुःख-कारण आर्य-सत्य है। फिर से जन्म लेने की आकांक्षा, राग सहित जहाँ तहाँ प्रसन्न होने की प्रवृत्ति जिसे काम, भव और विभव तृष्णाएँ कहा है, ये सब तृष्णाएँ हैं। हे भिक्षुओ, यह दुःख-निरोध आर्य-सत्य तृष्णा से विरक्त होना है। भिक्षुओ, यह दुःख निरोध-गामिनी-प्रतिपद् आर्य सत्य है, यही आर्य अष्टांगिक मार्ग है।

यह दुःख आर्य-सत्य है और परिज्ञेय है ऐसी मुझे दृष्टि उत्पन्न हुई। यह दुःख-समुदय, यह दुःख-निरोध और यह दुःख-निरोधगामिनी-प्रतिपद् आर्य-सत्य है इसका भी मुझे ज्ञान हुआ।

भिक्षुओ, जब तक मुझे इन चार सत्यों का यथार्थ शुद्ध ज्ञान नही हुआ तब तक भिक्षुओ, मैंने यह दावा नही किया कि देव, मार, ब्रह्मा, मनुष्य तथा साधु ब्राह्मण सब में अनुपम परम ज्ञान को मैंने जान लिया। मैंने ज्ञान को देख लिया, मेरी मुक्ति अचल है, मेरा यह अंतिम जन्म है, मेरा फिर आवागमन नहीं होगा।

भगवान् के इन वचनों से संतुष्ट होकर पंचवर्गीय भिक्षुओं ने भगवान् के भाषण का अभिनंदन किया। भाषण के बीच में आयुष्मान् कौंडिन्य का धर्मचक्षु खुल गया और उन्हें ज्ञान हुआ कि जो कुछ उत्पन्न होने वाला है वह सब नाशमान है और इस बात को जान लेने से ही कौडिन्य का नाम आज्ञात कौंडिन्य पड़ा।

बुद्ध के उपदेश से संशय और विवाद रहित होकर आज्ञात कौंडिन्य ने बुद्ध से प्रव्रज्या और उपसंपदा चाही।

भगवान् ने कहा—भिक्षुओ, यह यह धर्म सुंदर तरह से व्याख्यात है इसलिये दुःख के अच्छी तरह से नाश के लिये ब्रह्मचर्य का पालन करो। यही उन आयुष्मानों की उपसंपदा हुई। इसके बाद बप्प और भद्दिय की भी दीक्षा हुई। इसके बाद बुद्ध ने रूप, वेदना संज्ञा संस्कार को अनात्म्य, अनित्य और दुःखमय बतलाया। उन्होंने यह भी समझाया कि रूप इत्यादि का जो कुछ भी भूत, भविष्य और वर्तमान संबंधी, भीतरी-बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, अच्छा या बुरा दूर या नजदीक का भाव है उसे अपना न मानना चाहिये। ऐसा करने से विद्वान आर्य-शिष्य रूप इत्यादि से उदास होकर विराग और मुक्त होता है। मुक्त होने पर उसका आवागमन नष्ट हो जाता है, ब्रह्मचर्य-वास पूरा हो जाता है और उसे पता लग जाता है कि जो कुछ करना था कर लिया, कुछ करने को बाकी नहीं है।

जिस समय बुद्ध ने इसिपतन में धर्मचक्र प्रवर्तन किया उसके थोड़े ही बाद यश की प्रव्रज्या हुई। यश वाराणसी के श्रेष्ठि का पुत्र था। उसके पास वैभव की कमी न थी; सब ऋतुओं के योग्य महल थे। रात भर तैल दीपों के प्रकाश में नाच रंग होता रहता था। एक दिन एकाएक यश की निद्रा खुली तो उसने अपने परिजनों की अस्तव्यस्त अवस्था देखी और यह सब देखकर उसे अत्यन्त घृणा हुई और वह सीधे मृगदाव में बुद्ध के पास पहुँचा।

बुद्ध उस समय सबेरे उठकर टहल रहे थे। यश को देखकर वे आसन पर बैठ गये, उसे अपने पास बैठाकर उन्होंने प्रव्रज्या दी। बाद में यश के माता पिता भी बुद्ध के उपासक हुए; यश का पिता बौद्ध धर्म का प्रथम उपासक कहा जाता है। इसके बाद यश के मित्रों ने यथा विमल, सुबाहु, पूर्णजित और गवांपति ने प्रव्रज्या ग्रहण की। फिर क्या था काशी में प्रव्रज्या लेने की होड़-सी लग गयी और यश के बहुत-से जानपदगृही मित्रों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। अंत में भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को अपना अमर उपदेश सुनाया जिसमें आदि से अंत तक कल्याण की भावना टपकती है।

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजन सुखाय लोकानुकंपाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं।

देसेथ भिक्खवे धम्मं आदि कल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसान कल्याणं सात्थं सव्यंजनं केवल परिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ।

हे भिक्षुओ, जनता के हित के लिए, जनता के सुख के लिए, लोक पर अनुकंपा करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों का हित सुख करने के लिए विचरो। आरंभ में कल्याणकर, मध्य में कल्याणकर, अंत में कल्याणकर धर्म का शब्दों और भावों सहित उपदेश करके सर्वांश में परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।

वाराणसी से उद्घोषित बुद्ध का यह अमर उपदेश हजारों भिक्षुओं द्वारा इस देश के कोने-कोने में फैला, साथ ही नदी नद, समुद्र, पर्वत और भीषण रेगिस्तानों को पार करता हुआ एक ओर जापान से लेकर अफगानिस्तान तक और दूसरी ओर सुवर्णभूमि से लेकर सिंहल तक फैल गया। शताब्दियों बाद बौद्ध धर्म के इस जाज्वल्यमान संदेश के स्थान पर वज्रयान और मंत्रयान के पूजा पाठ ने अपना घर कर लिया, लेकिन सदियों के गहरे अँधेरे को चीरती हुई अब भी बुद्ध की यह अमरवाणी हमें बहुजनहित के लिए आवाहन कर रही है। ● ●

चौथा अध्याय

महाजनपद युग में बनारस के सामाजिक इतिहास के कुछ पहलू और व्यापार

मध्यकाल में बनारस की ख्याति उसके तीर्थ क्षेत्र और विद्या का केन्द्र होने के कारण थी। पर महाजनपद युग में शिक्षा का सबसे बड़ा केन्द्र तक्षशिला था, जहाँ देश के कोने-कोने से लोग शिक्षा के लिए जाते थे। तक्षशिला के बाद शिक्षा के लिए बनारस ही मशहूर था। लगता है बनारस को शिक्षा का केन्द्र बनाने का श्रेय तक्षशिला के उन स्नातकों को था जिन्होंने बनारस लौटकर शिक्षण का कार्य प्रारंभ किया (जातक १।४६३; २।१००)। खुद्दकपाठ अट्ठकथा (पृ० १९८) में तो यहाँ तक कहा गया है कि बनारस की कुछ शिक्षा संस्थाएँ तो तक्षशिला की शिक्षा संस्थाओं से भी पुरानी थीं। धम्मपद अट्ठकथा (३।४४५) में इस बात का उल्लेख है कि तक्षशिला के शंख नामक एक ब्राह्मण ने अपने पुत्र सुसीम को शिक्षा के लिए बनारस भेजा। कुछ दिनों बाद बनारस में भी संसारप्रसिद्ध आचार्य होने लगे जिनका काम विद्यार्थियों को शिक्षा देना था (जा० १।२३८; ३।१८, २३३; ४।२३७)। बनारसवासियों में शिक्षा के प्रति इतना अनुराग था कि भोजन देकर वे गरीब बालकों को शिक्षा दिलवाते थे (जा० १।१०९)। आज दिन भी बनारस में विद्यार्थियों के लिए अनेक अन्न-सत्र हैं और विद्यार्थियों की हर तरह से मदद करना काशीवासी अपना धर्म मानते हैं। गुट्टिल जातक में कहा गया है कि बनारस संगीत-विद्या का केन्द्र था (जा० २।२४८ इत्यादि)। एक ऐसा समय था जब वहाँ वीणावादन की प्रतियोगिता भी होती थी।

इस बात का तो पता नही लगता कि महाजनपद युग में बनारस की पाठशालाओं का क्या पाठ्यक्रम था पर बनारस और तक्षशिला के शिक्षाक्रमों में समानता होने के कारण हम बनारस के शिक्षा क्रम के बारे में कुछ अंदाज लगा सकते हैं। प्रारंभिक शिक्षा समाप्त करके सोलह वर्ष की अवस्था में विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए गुरुओं के पास जाते थे। विद्यार्थीगण आचार्यों को दक्षिणा अग्रिम रूप में देते थे। दक्षिणा न दे सकने पर गुरु की सेवा करके भी विद्यार्थी पढ़ सकता था। ऐसे शिष्य दिन में तो गुरु की सेवा करते थे और रात में पढ़ते थे। दक्षिणा देकर पढ़ने वाले विद्यार्थियों को आचारियभागदायक और सेवा करके पढ़ने वाले विद्यार्थियों को धम्मन्तेवासिक कहते थे। पढ़ाई समाप्त करने के बाद भी विद्यार्थी दक्षिणा दे सकते थे। आचार्यों तथा विद्यार्थियों को बहुधा लोग भोजन करा देते थे और दान-दक्षिणा भी दे देते थे। राजकुमारों के साथियों के पढ़ने का आर्थिक भार उनके राज्यकोष उठाते थे।[1] अन्तेवासी प्रायः आचार्यों के पास दिन-रात रहते थे, पर दिन में भी आकर विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। ऐसे विद्यार्थियों में बहुधा गृहस्थ और विवाहित पुरुष होते थे। आचार्यों के पास विद्यार्थियों की संख्या सर्वदा पाँच सौ दी गयी है, पर यह संख्या गोल-सी मालूम पड़ती है। विद्यार्थियों में अधिकतर ब्राह्मण

---

[1] मेहता, उल्लिखित, पृ० ३००

और क्षत्रिय होते थे पर इनमें कभी कभी श्रेष्ठियों और राजपुरुषों के लड़के भी होते थे। शूद्रों का इन शिक्षालयों में प्रवेश नहीं था।

अपने शिक्षाकाल में विद्यार्थी सादा जीवन बिताते थे और उनकी दिनचर्या पर उनके आचार्य कड़ी नजर रखते थे, यहाँ तक कि बिना आचार्य के वे नदी पर नहाने भी नहीं जा सकते थे। उनका यह कर्त्तव्य था कि आश्रम के लिए जंगल से लकड़ियाँ इकट्ठी करें और हर प्रकार से गुरु की सेवा करें। उनके भोजन का मुख्य भाग दलिया और भात होता था इसे आचार्य की एक दासी पका देती थी।

विद्यार्थियों की संख्या काफी होने से आचार्यों को सहकारी अध्यापकों की, जिन्हें पिट्ठआचरिय कहते थे, आवश्यकता पड़ती थी। ऊँचे दरजों के विद्यार्थी भी पढ़ाने का काम करते थे।

अध्ययन सबेरे आरम्भ होता था। विद्यार्थियों को जगाने के लिए आश्रम में एक मुर्गा रक्खा जाता था। पहले के पाठ को दोहराने के लिए और एकान्त में अध्ययन करने के लिए भी कुछ समय नियुक्त था। पढ़ने का काम दोपहर तक समाप्त हो जाता था। पढ़ाई मौखिक और पुस्तक दोनों ही के द्वारा होती थी।

पाठ्यक्रम में वेदत्रयी और अट्ठारह शिल्पों का विशेष स्थान था। बार बार तीन वेदों के नाम आने से पता चलता है कि अथर्व वेद का पाठ्यक्रम में स्थान नहीं था। हस्तिसूत्र, मंत्र, लुब्धककर्म, धनुर्विद्या, अंगविद्या और चिकित्सा-शास्त्र भी पाठ्यक्रम में थे। इन शास्त्रों को पढ़कर, विशेषकर चिकित्सा शास्त्र पढ़ने के बाद, विद्यार्थी स्वयं घूमकर और अनुभव के आधार पर अपना ज्ञान बढ़ाते थे।

इन शिक्षालयों के अतिरिक्त ऋषि-मुनियों के आश्रमों में भी दर्शन और धर्म-शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन होता था। ये आश्रम हिमालय में तथा अन्य बस्तियों के पास भी होते थे। कहा जाता है कि प्रसिद्ध दार्शनिक श्वेतकेतु पहले बनारस में विद्यार्थी थे। वहाँ अपनी शिक्षा समाप्त करके वे तक्षशिला गये और वहाँ की भी शिक्षा समाप्त कर वे घूमकर सब विषयों और कलाओं का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते रहे। अन्त में उनकी भेंट एक गाँव में पाँच सौ परिव्राजकों से हुई और उन्होंने इन्हें दीक्षित करके सब विद्याएँ पढ़ाईं और उनका व्यावहारिक अनुभव कराया।[१]

जातकों से पता चलता है कि बनारस की शासन-व्यवस्था में सबके साथ न्याय का बड़ा ध्यान रक्खा जाता था। राजा के मन्त्री ईमानदार होते थे। अदालतों में झूठे मुकदमें नहीं आते थे और सच्चे मुकदमें भी इतने कम होते थे कि कभी-कभी न्यायमंत्री को यों ही बेकार बैठे रहना पड़ता था। बनारस के राजा का अपने दोषों को जानने की ओर बराबर ध्यान बना रहता था। एक जातक (जा० २।१–५) में कहा गया है कि एक दिन काशि-राज यह जानने के लिये नगर के बाहर निकले कि क्या कोई ऐसा भी है जो उनके विरुद्ध कोई बात जानता हो। उधर से कोसलराज भी इसी दृष्टि से निकले और दोनों राजाओं की

[१] मेहता, उल्लिखित, पृ० ३०५

भेंट ऐसी जगह हुई जहाँ सड़क सँकरी होने से दो रथ एक साथ नहीं निकल सकते थे। दोनों रथों के सारथियों ने अपने-अपने राजा का यश गाना शुरू किया, पर अंत में कोसल के सारथि को बनारस के सारथि को जाने की जगह देनी पड़ी।

बनारस के लोगों का कुछ ऐसा विश्वास था कि न्यायप्रिय और शांतिप्रिय राजा के शासन में वस्तुएँ अपने अकृत्रिम स्वभाव से होती थीं लेकिन अन्यायी और अशांतिप्रिय राजा के राज में चीजें अपना स्वभाव बदल देती थीं; तेल, शहद, गुड़ तथा और भी दूसरी चीजें यहाँ तक कि जंगली फल-फूल भी अपनी मिठास और स्वाद छोड़ देते थे (जा० ६।११०–१११)।

लेकिन इससे यह न समझना चाहिए कि बनारस के सभी लोग देवतुल्य थे। वहाँ भी चारित्रिक कमजोरियाँ थीं और नगर के आसपास चोर-डाकुओं के अड्डे तक थे, जो यात्रियों को बराबर सताया करते थे (जा० २।८७–८८)।

बनारस शहर की रक्षा करने के लिए नगरगुत्तिक होते थे जो सम्भवतः आधुनिक कोतवाल की तरह थे। एक कथा है (जातक ३।२०) कि एक समय अछूत कुल में उत्पन्न बोधिसत्त्व के ज्ञान से प्रसन्न होकर काशिराज ने अपने गले की माला उतारकर उनके गले में पहनाकर उन्हें नगरगुत्तिक बना दिया। उसी काल से बनारस में नगरगुत्तिकों के गले में लाल फूलों की माला पहनने की प्रथा चली। बनारस की अदालतों का भी उल्लेख आता है। एक बोधिसत्त्व के पिता का पेशा वकालत बतलाया गया है (वोहारं कत्वा जीवकं कम्मेति, जा० २।११)।

बनारस वालों की उत्सव प्रियता आज दिन भी प्रसिद्ध है। बनारस की प्रसिद्ध कहावत है 'आठ बार नौ त्योहार'। महाजनपद युग में भी बनारस में काफी त्योहार मनाये जाते थे। बनारस में दीवाली बड़ी धूमधाम से मनायी जाती है। महाजनपद युग में भी दीवाली इसी तरीके से मनायी जाती थी। एक जातक में कहा गया है कि काशी की दीपमालिका कार्तिक में मनायी जाती थी। उस अवसर पर नगर इन्द्रपुरी की तरह सजाया जाता था और सभी छुट्टी मनाते थे। संभवतः इस अवसर पर सब लोग, विशेषकर स्त्रियाँ केसरिया रंग के वस्त्र पहनकर बाहर निकलती थीं (जा० १।३१२–१३)। जैन सूत्रों से भी पता चलता है (जैन सूत्र, १, पृ० २६६) कि बनारस में दीवाली धूम धाम से मनायी जाती थी। इस त्योहार के बारे में यह अनुश्रुति है कि जिस रात को महावीर की मृत्यु हुई वह उपोसथ का दिन था। काशी के राजा ने महावीर की मृत्यु सुनकर यह निश्चय किया कि उस दिन खूब रोशनी की जाय क्योंकि महावीर की मृत्यु के साथ ज्ञानदीप तो बुझ गया था, पर दीप जलाने से उसकी स्मृति बनी रहेगी।

छत्र-मंगल दिवस बनारस का एक दूसरा त्योहार था। इस अवसर पर नगर खूब सजाया जाता था और राजा की सवारी निकलती थी। बाद में राजा एक सजे सजाये महल में आकर एक श्वेत छत्र से सुशोभित सिंहासन पर बैठता और उपस्थित लोगों की ओर दृष्टिपात करता था। दरबार में एक तरफ अमात्यगण होते थे और दूसरी तरफ ब्राह्मण और गहपति। ये सब के सब आकर्षक वस्त्र पहने रहते थे (नानाविधवेसविलास-समुज्जले)। तीसरी ओर नागरिक हाथों में भाँति भाँति के उपायन (नजरें) लिए खड़े रहते थे (नानाविध

पण्णाकार-हत्थे)। चौथी ओर हजारों की संख्या में नर्तकियाँ होती थीं। छत्त-मंगल दिवस शायद राजा के राज्याभिरोहण दिवस के उपलक्ष्य में मनाया जाता रहा होगा। यह विजया दशमी का भी त्योहार हो सकता है, क्योंकि आज दिन भी राजे-रजवाड़े इस उत्सव को बड़ी धूम-धाम से मनाते हैं।

हस्तिमंगल बनारस का प्रसिद्ध त्योहार था। इसमें ब्राह्मण हस्तिसूत्र का पाठ करते थे और शुभ्रदंतों वाले सौ हाथी इसमें भाग लेते थे। हाथियों को सोने के गहने पहनाये जाते थे और वे सुवर्णध्वजाओं से सजाये जाते थे। वे सुवर्ण जाल से बने झूल से ढके होते थे। इस अवसर पर राजा का महल और आँगन खूब सजाया जाता था। ब्राह्मण श्रेणी बाँधकर खड़े होते थे। इसके बाद राजा का प्रवेश होता था और उनके साथ उस महोत्सव के लिए गहने इत्यादि आते थे (जा० २।३३)।

बनारस में मदिरोत्सव भी मनाया जाता था जिसे सुराक्षण कहते थे। एक जातक में (१।२०८) कहा गया है कि काशिराज ने एक समय इस उत्सव के अवसर पर तपस्वियों को खूब छककर शराब पिलायी। माले मुफ्त दिले बेरहम की कहावत को चरितार्थ करते हुए इन तपस्वियों ने खूब डटकर शराब पी और इसके बाद वे अपने पड़ाव को लौटे। नशे की झोंक में कुछ तो नाचने गाने, बाद में थक कर धान की डालियाँ पैरों मे बिखेरने लगे और अपने सामान इधर उधर फेंकने लगे। इस सबके बाद वे थककर सो रहे (जा० १।२०८)। एक दूसरे जातक में (जातक ४।७३) इस बात का उल्लेख है कि इस मदिरोत्सव पर एक गाम भोजक ने, जिसने कड़ी शराब बेचने की सख्त मनाही कर दी थी, अपनी आज्ञा में ढील कर दी। उत्सव में भाग लेने वालों ने डट कर शराब पी। बाद में आपस में मार पीट हो गयी, जिससे बहुतों के सिर फूटे। इस सुराक्षण का अवशेष अब भी बनारस में पियाले के मेले में बच गया है। यह मेला वर्तमान चौकाघाट और शिवपुर में अगहन के पहले मंगल या सनीचर को होता है। कालका ब्राह्मणी और सत्या चमारिन को शराब भेंट की जाती है और खूब रंगरेलियों के बीच दिन काटा जाता है।

जान पड़ता है कि बनारस में जलोत्सव मनाने की भी प्रथा थी। पानी में उतरने के पहले लोग कुछ भाँग छान लेते थे। ऐसा करने से लोगों का जल की ठंडक से बचाव हो जाता था (जा० १।२८०)।

काशी सदैव से मौजी रहा है और इसके फलस्वरूप यहाँ वेश्याओं का हमेशा से जमाव रहा है। जातकों में एक जगह (३।४०–४१) सामा नाम की काशी की एक वेश्या का उल्लेख आता है। इस वेश्या की एक रात की फीस एक हजार कार्षापण होती थी और इसकी सेवा में पाँच सौ दासियाँ रहती थीं। वह इतनी प्रभावशालिनी थी कि उसने नगर-गुत्तिक को घूस देकर एक डाकू सरदार को छुड़वा लिया और एक दूसरे आदमी को उसकी जगह फाँसी पर लटकवा दिया। डाकू सरदार ने जब उसे छोड़ दिया तब उसने उसकी खोज के लिए बहुत-से नटों को नियुक्त किया।

पशु-पक्षियों पर दया भी काशी के लोगों की एक विशेषता है। अकसर तो यह दया बेवकूफी का स्थान भी ले लेती है जैसे दुष्ट बंदरों की रक्षा इत्यादि। संभवतः

महाजनपद युग में भी काशीवासी जानवरों और चिड़ियों पर दयाभाव रखते थे। एक जातक में कहा गया है (१।११२) कि बनारस के नागरिकों ने दया-भाव से प्रेरित होकर नगर में जगह-जगह चिड़ियों के आराम के लिए दौरियाँ लटकवा रक्खी थीं।

जातकों और बौद्ध साहित्य में बनारस की ख्याति अधिकतर उसके व्यापार के कारण थी। काशिक वस्त्र के उल्लेखों से तो सारा बौद्ध साहित्य भरा पड़ा है। काशी के बने वस्त्रों को काशीकुत्तम (जा० ६।४७; ६।१५१; १।३३५) और कहीं कहीं कासीय भी कहते थे (जा० ६।५००)। बनारस का कपड़ा इतना प्रसिद्ध था कि महा परिनिब्बाण सुत्त (५।२६) का टीकाकार विहित कप्पास (कुंदी किया हुआ कपड़ा) पर टीका करते हुए कहता है कि बुद्ध का मृत शरीर बनारस के बने कपड़े से लपेटा गया था और वह इतना महीन और गफ़ बुना गया था कि तेल तक नहीं सोख सकता था। बनारसी कपड़े का एक दूसरी जगह वर्णन करते हुए महापरिनिब्बाण सुत्त (३।२९) में कहा गया है कि बनारसी कपड़ा जिस तरफ देखिए नीला देख पड़ता था अथवा नीली झलक मारता था। नीले के सिवाय वह पीला, लाल और सफेद भी होता था (वही, ३।३०–३२)। बनारसी कपड़े (वाराणसेय्यक) के बारीक पोत का उल्लेख मज्झिम निकाय (२।३।७) में भी आया है। टीकाकार बनारसी कपड़े की इसलिए प्रशंसा करता है क्योंकि वहाँ अच्छी कपास पैदा होती थी, वहाँ की कत्तिनें और बुनकर होशियार होते थे और वहाँ का नरम पानी धुलाई के लिए बहुत अच्छा पड़ता था। बनारसी कपड़े दोनों रुख में मुलायम और चिकने होते थे।

बनारस के आस-पास ऐसा जान पड़ता है कि एक समय बहुत अच्छी कपास पैदा होती थी। तुण्डिल जातक में (जा० ३।२८६) बनारस के आस पास कपास के खेतों का वर्णन है। स्त्रियाँ इन खेतों की रखवाली करती थीं (जा० ६।३३६)। बनारसवासी स्त्रियों द्वारा महीन सूत कतवाकर (सुखुमसुत्तानि कंतित्वा) गंडियाँ बनवाते थे (जा० ६।३३६)।

बनारस में सूती कपड़ों के सिवा क्षौम और शायद ऊनी कपड़े भी बनते थे। बनारस के रेशमी वस्त्र का एक जगह उल्लेख है (जा० ६।५७७)। बनारस में क्षौम मिश्रित कंबल भी बनते थे। जीवक कुमारभृत्य को एक ऐसा ही कंबल काशिराज से उपहार में मिला था (महावग्ग, ८।१।४)। महावग्ग (८।२) में, एक दूसरी जगह कहा गया है कि एक समय काशी के राजा ने जीवक की सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे अड्ढकासिक कंबल उपहार में भेजा। श्री ह्राइस डेविड्स ने अटकल से इसका अंग्रेजी अनुवाद आधे बनारसी कपड़े से बना हुआ ऊनी वस्त्र किया है। बुद्धघोस ने कासी का अर्थ एक हजार कार्षापण किया है और अड्ढकासीय का पाँच सौ और इस तरह अड्ढकासीयं का अर्थ ५०० कार्षापण मूल्य वाला कपड़ा किया है। मेरा अनुमान है कि अड्ढकासीय कोई बहुत बारीक कपड़ा रहा होगा क्योंकि आज दिन भी बारीक सूती कपड़े को अद्धी कहते हैं। सम्भवत: काशी में कसीदे का काम भी बनता था और इसे कासिक-सूचीवत्थ कहते थे (जा० ६।१४४,१४५,१५४)।

काशी में सुगन्धित द्रव्यों का भी व्यापार होता था। जातकों में (जा० १।३३१, ५।३०२, गा० ४०, अंगुत्तर ३।३९१) कासिक चंदन का नाम आया है। काशी विलेपन

से (जा० १।३५५) किसी इत्र जैसे सुगन्धित द्रव्य का बोध होता है। कासिक-चंदन शब्द से लोगों का अनुमान है कि शायद यह चंदन बाहर से आता था और यहाँ केवल इसके चंदन का व्यापारिक नाम कासिक-चंदन पड़ गया। मेरा भी पहले ऐसा ही विचार था, पर बनारस में खोज करने से पता चला कि बरना के किनारे अब भी चंदन के बहुत-से पेड़ मिलते हैं, जिन्हें किसी ने लगाया नहीं है। खजुरी के पास तो प्रायः सब बगीचों में चंदन के पेड़ हैं। जान पड़ता है कि महाजनपद युग में काशी में बहुत अच्छा चंदन होता था।

जातकों से पता चलता है कि बनारस में बढ़ईगिरी का काम बहुत अधिक होता था। एक जातक में (जा० २।११) कहा गया है कि जब बनारस में ब्रह्मदत्त राज्य करते थे तब बनारस से थोड़ी ही दूर एक बढ़इयों का ग्राम था जिसमें पाँच सौ बढ़ई रहते थे। उनका काम था नाव के द्वारा नदी के ऊपर जाकर, जंगल में घुसकर घरों के लिए धरन और तख्ते चीरना (गेहसंभारदारुणि कोट्टेत्वा)। वे एक महले या दो महले घरों के ढाँचे तैयार करते थे (एकभूमिद्विभूमिकादि भेदे गेहे सज्जेत्वा), फिर वे खंभे से लेकर नीचे के सब भागों पर संख्या देते थे (थंभतो पट्ठाय सब्बदारुसु सज्जं कत्वा) और इनको नाव पर लादकर शहर में लाते थे और फिर लोगों के आज्ञानुसार घर बनाते थे। उन्हें मजदूरी कार्षापणों में मिलती थी। बनारस में शायद बढ़इयों का एक मुहल्ला था जिसमें एक हजार बढ़इयों का परिवार रहता था। उनका दावा था कि वे कुर्सियाँ, पलंग और घर बना सकते थे, पर बहुत-से लोगों से पेशगी ले लेने पर और काम न करने पर पता चला कि उनका यह दावा झूठा था। फिर क्या था, उनके गाहकों ने इतना सताया कि उन्हें नगर छोड़कर भाग जाना पड़ा (जा० ४।१५९)। बनारस में अच्छे-से-अच्छे संगतराश भी होते थे (जा० १।४७८)।

बनारस में हाथीदाँत का भी बाजार था जहाँ की दंतकारवीथि में दंतकार चूड़ी इत्यादि बनाते थे। कथा है कि उनको हाथीदाँत का काम बनाते देख एक गरीब आदमी ने पूछा कि यदि मैं हाथीदाँत लाऊँ तो क्या तुम लोग उसे लोगे (जा २।१३९)।

बनारस में गंगा के इस किनारे और उस पार शिकारियों के गाँव थे और उन गाँवों में शिकारियों के पाँच-पाँच सौ परिवार रहते थे (जा० ६।७१)। मोर जातक (जा० २।३६) में एक बहेलिया, जिसे राजा ने सुनहरे मोर को पकड़ने की आज्ञा दी थी, बनारस के पास एक निषाद-ग्राम में रहता था और शिकार ही उसका व्यवसाय था। बनारस जिले में अब भी निषादों या मल्लाहों की बहुत बड़ी संख्या है और इनका व्यवसाय मछली मारना और नावें चलाना है। जान पड़ता है प्राचीन काल में ये शिकार भी करते थे।

व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र होने के कारण बनारस से बराबर सार्थ (कारवाँ) चला करते थे। काशी से एक रास्ता राजगृह जाता था (विनय, १।२६२, धम्मपद अ० १।१२६)। बनारस से तक्षशिला के लिए एक रास्ता था और दूसरा श्रावस्ती के लिए जो भद्दिया होकर वहाँ पहुँचता था (वि० १।१८९)। बनारस और वेरंजा के बीच दो रास्ते थे। एक तो सोरेय्य होकर जाता था और दूसरा प्रयाग में गंगा पार करके बनारस

पहुँचता था और वहाँ से वैशाली को चला जाता था। एक उल्लेख है कि बनारस का एक सार्थवाह पाँच सौ गाड़ियों के साथ प्रत्यंत देश जाकर वहाँ से चंदन लाया (सुत्त-निपात अ० २, पृ० ५२३ इत्यादि)। बनारस के एक दूसरे व्यापारी के बारे में कहा गया है (धम्मपद, ३।४२९) कि लाल कपड़े से भरी पाँच सौ गाड़ियों को लेकर वह श्रावस्ती की ओर चला लेकिन बाढ़ की वजह से भरी नदी पार नहीं कर सका, और नदी के इसी ओर उसे अपना माल बेच देना पड़ा। बनारस के अध्यवसायी व्यापारी अपना माल खच्चरों पर लादकर दूर-दूर तक बेचते फिरते थे (जा० २।१०९)।

जातकों में बनारस के सार्थवाहों की अनेक कथाएँ हैं जिनसे पता चलता है कि वे अपने कार्य में कितने दक्ष होते थे। एक जातक (जा० १।१०८ इत्यादि) में कहा गया है कि एक समय बोधिसत्त्व बनारस में एक सार्थवाह-कुल में पैदा हुए; उन्हें अपनी पाँच सौ गाड़ियों सहित साठ योजन का एक रेगिस्तान पार करना पड़ा। रेगिस्तान का बालू इतना महीन था कि मुट्ठी में बाँधने पर भी रंध्रों से सरक कर निकल जाता था। जलते हुए रेगिस्तान में दिन को यात्रा नहीं हो सकती थी इसलिए सार्थवाह अपनी गाड़ियों पर ईंधन, पानी, तेल, चावल इत्यादि लेकर रात में यात्रा करते थे। सबेरा होते ही वे चारों ओर गाड़ियाँ इकट्ठी करके और उन पर पाल डालकर अपना डेरा डाल देते थे और जल्दी से भोजन करके साये में दिन भर बैठे रहते थे। सूर्यास्त होने के बाद वे ब्यालू करते थे और जैसे ही जमीन ठंडी होती थी गाड़ी जोतकर आगे रवाना हो जाते थे। इस रेगिस्तान में सफर करना समुद्र में सफर करने के समान था और यहाँ रास्ता दिखलाने के लिए एक स्थल-निर्यामक था। जब रेगिस्तान पार करने में सात योजन रह गये तो गाड़ियों पर से ईंधन और पानी फेंक दिये गये। गाड़ी पर आगे बैठकर स्थल-निर्यामक रास्ता बतला रहा था, पर अभाग्यवश वह सो गया और सार्थ अपना रास्ता भूल गया। मंडली में गड़बड़ी पड़ गयी केवल बोधिसत्त्व ने ही अपना दिमाग ठंडा रक्खा। उन्होंने रेगिस्तान में पानी ढूँढ़ निकाला और इस तरह सही सलामत सार्थ को उसके गंतव्य स्थान पर पहुँचाया।

बनारस के व्यापारी समुद्री व्यापार भी करते थे। एक जातक में इस बात का उल्लेख है कि दिसाकाक लेकर बनारस के व्यापारी समुद्र-यात्रा को गये (जा० ३।३८४) मित्तविंदक बनारस का एक दूसरा व्यापारी था जिसने एक जहाज खरीदकर समुद्र-यात्रा की ठानी और उसे समुद्र-यात्रा में अनेक कष्ट उठाने पड़े (जा० ४।२ इत्यादि)।

बनारस में उत्तरापथ के घोड़ों का भी खूब व्यापार होता था। कथा है कि एक समय बोधिसत्त्व काशिराज के सब्बत्थक (पारखी) नियुक्त हुए और वे राजा के अर्थ-धर्मानुशासन अमात्य का काम करते थे। एक समय उत्तरापथ से व्यापारी पाँच सौ घोड़े लेकर आये। जब बोधिसत्त्व राजा के प्रियपात्र थे तब वे व्यापरियों को ही घोड़ों का मूल्य निर्धारित कर लेने देते थे लेकिन एक बार इस लालची राजा ने अपने एक बदमाश घोड़े को इन घोड़ों के बीच में भेज दिया और उसने कई घोड़ों को काट खाया। इस प्रकार व्यापारियों को झख मारकर उनके दाम घटाने पड़े (जा० २।२१,२२)। सिंधु के अच्छे-से-अच्छे घोड़े भी बनारस में उपलब्ध थे (जा० ३।१९८)। ● ●

पाँचवाँ अध्याय

मौर्य और शुंग युग की काशी

दूसरे अध्याय में हम देख चुके हैं कि काशी और मगध से किस प्रकार संबंध बढ़ा। महाकोसल ने अपनी कन्या का विवाह बिंबिसार (५४३–४९१ ई० पू०) के साथ करके काशिग्राम (कसवार) जिसकी आमदनी एक लाख सालाना थी अपनी कन्या को महाचुण्णमूल (जा० २।४०३) (दहेज) में दे दिया। अजातशत्रु (४९१–४५९ ई० पू०) ने अपने पिता की हत्या कर डाली। जान पड़ता है अजातशत्रु की इस करनी से क्रुद्ध होकर कोसलराज प्रसेनजित् ने उसे काशिग्राम की आमदनी देनी बंद कर दी। फिर क्या था, आपस में लड़ाई छिड़ गयी जिसमें प्रसेनजित् को तीन बार हार खानी पड़ी पर चौथी बार शकटव्यूह की रचना कर उसने अजातशत्रु को हराकर कैद कर लिया। पर कुछ ही दिनों बाद प्रसेनजित् ने अजातशत्रु को मुक्त कर दिया और उसके साथ अपनी कन्या वजिरा का ब्याह करके चूर्णमूल में काशी ग्राम भी उसे दे दिया।

प्रसेनजित् के बाद काशि-कोसल का राजा विडूडभ हुआ जिसने बदला लेने के लिए शाक्यों को समूल नष्ट कर दिया। विडूडभ के बाद कोसल के किसी राजा का नाम न मिलने से यह पता चलता है कि काशि-कोसल की स्वतंत्र-सत्ता नष्ट हो चुकी थी और वह मगध के बढ़ते हुए साम्राज्य में मिला लिया गया था। शायद यह घटना अजातशत्रु के अन्तिम दिनों में घटी हो। अजातशत्रु के बाद उसका पुत्र उदयभद्र या उदायिन् (४५९–४४३ ई० पू०) मगध की गद्दी पर बैठा और उसने पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया। इसके बाद मुंड (४४३–४३५ ई० पू०) और उसके बाद नागदासक (४३५–४१० ई० पू०) जो पुराणों के दर्शक हो सकते हैं, ये मगध की गद्दी पर आये। महावंश के अनुसार अजातशत्रु से लेकर नागदासक तक मगध के राजा पितृहंता थे। उनके इस अनाचार से क्रुद्ध होकर प्रजा ने नागदासक के अमात्य सुसुनाग की सहायता कर एक नये राजवंश की स्थापना करायी[1]। भांडारकर की राय में सुसुनाग किसी राजा का नाम न होकर नागवंश की एक शाखा का नाम था और इसलिए नवीन वंश कोई दूसरा न होकर बिंबसार के नागवंश की केवल एक शाखा थी। पुराण हमें सूचित करते हैं कि शिशुनाग ने प्रद्योतवंश को नीचा दिखाया, अपने पुत्र को वाराणसी का राजा बनाया तथा गिरिव्रज अपनी राजधानी बनायी। शिशुनाग ने वाराणसी में जो अपने पुत्र को बैठाया इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि उस समय तक अर्थात् नागदासक के समय तक वाराणसी में किसी राजा की सत्ता थी जिसको शिशुनाग ने उखाड़ फेंका अथवा वाराणसी की ऐसी सामरिक और राजनीतिक महत्ता थी कि वहाँ अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए शिशुनाग ने स्वयं अपने पुत्र को भेजना आवश्यक समझा। जातकों की एक कथा में (जा० ६।१६५–६६, गा० ७५२–५९) बनारस पर एक नाग राजा के धावे का उल्लेख

---

[1] भांडारकर, कार्माइकेल लेक्चर्स, पृ. ८०–८१

है और इस प्रकार, जैसा श्री मेहता का अनुमान है[1], जातकों में वह अनुश्रुति सुरक्षित है जिसमें काशी के अवनति के दिनों में उस पर नागों का धावा हुआ। फिर भी यह कहना कठिन है कि जातकों में उल्लिखित यह धावा शिशुनाग के धावे की ओर संकेत करता है अथवा नहीं। जातककी कहानी इस प्रकार है—नागराज धतरट्ठ ने बनारस की राजकुमारी समुद्रजा से विवाह करने के लिए बनारस पर धावा बोल दिया। इन जंगली योद्धाओं के आक्रमण से बनारस तहस-नहस हो गया और लोग हाथ उठाकर चिल्लाने लगे कि नागराज के साथ राजकुमारी ब्याह दी जाय। प्रजा की पुकार सुनकर काशिराज ने राजकुमारी का ब्याह नागराज से कर दिया। इस तरह दोनों में मित्रता स्थापित हो गयी।

जो भी हो पुराणों से पता चलता है कि शिशुनाग मगध के सिवाय काशिकोसल और अवंति के भी राजा बन गये और शायद वत्सों का राज भी इनके अधिकार में आ गया। इस प्रकार शिशुनाग पंजाब को छोड़कर सारे उत्तर भारत का सम्राट बन गया। शिशुनाग ने १८ वर्ष (करीब ४१०–३९२ ई० पू०) तक राज्य किया। उसके बाद कालाशोक गद्दी पर बैठा। इनके समय शिशुनाग वंश की राजधानी गिरिव्रज से हटकर पाटलिपुत्र आ गयी। इसी के समय में वैशाली में बौद्ध धर्म की द्वितीय संगीति (ई० पू० ३८३–८२) हुई और उसी समय थेरावाद से महासांघिक अलग हो गये[2]। कालाशोक के बाद उसके दस पुत्रों ने साथ मिलकर बाईस वर्ष तक मगध साम्राज्य पर राज किया और अंत में नंदवंश ने शिशुनाग वंश को उखाड़ फेंका। नव नंदों में उग्रसेन और उसके आठ पुत्रों ने यथा पंडुक, पंडुगति, भूतपाल, राष्ट्रपाल, गोविषाणक, दशसिद्धक, कैवर्त और धन ने सब मिलकर बाईस वर्षों तक राज किया। महानंद उग्रसेन बड़ा ही प्रभावशाली राजा था और जान पड़ता है उसने अपने पराक्रम से उत्तर भारत में एकछत्र राज्य स्थापित किया। ३२६ ई० पू० में जब सिकंदर ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की तो शायद धन नंद मगध की गद्दी पर था। नंदों के युग में बनारस की क्या अवस्था थी इसका तो हमें ज्ञान नहीं है, पर नंद वैदिक धर्म के अनुयायी थे और इसलिए हम मान सकते हैं कि शायद बनारस में भी इस धर्म को और अधिक प्रोत्साहन मिला हो।

सिकंदर के भारत से लौट जाने के कुछ ही दिनों बाद मगध का राज्य करीब ३२१ ई० पू० में नंदो के हाथों से मौर्यों के हाथों में चला गया। चंद्रगुप्त मौर्य (करीब ३२१–२९७ई० पू०) ने उत्तर भारत में मौर्य साम्राज्य की स्थापना की और विष्णुगुप्त चाणक्य ने उस दृढ़ राज्यसत्ता की नींव डाली जिसका वर्णन हम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पाते हैं। सम्राट अशोक (करीब २७२–२३२ ई० पू०) मौर्य वंश के सबसे बड़े राजा हुए। उन्होंने स्वयं बौद्ध धर्म ग्रहण किया और उनके प्रयत्नों से इस धर्म का भारतवर्ष में ही नहीं इसके बाहर भी प्रचार हुआ।

---

[1] मेहता, उल्लिखित, पृ० ६८

[2] भांडारकर, उल्लिखित, पृ० ८२

[3] वही, पृ० ८२–८३

अशोक के समय बनारस की क्या अवस्था थी, इसका पता हमें थोड़ा बहुत सारनाथ से मिले अवशेषों से मिलता है। बनारस से कुछ दूर बैरांट से भी कुछ मौर्यकालीन सिक्के, ठीकरे इत्यादि मिले हैं। राजघाट की खुदाई में भी मौर्य स्तर मिला है, पर बनारस में पुरातत्त्व संबंधी खोज इतनी कम हुई है कि मौर्य कालीन बनारस की संस्कृति पर अभी तक बहुत कम प्रकाश पड़ सका है। जातकों में (जा० ४।१५) एक जगह कहा गया है कि अशोक के काल में काशी की राजधानी मोलिनी थी। इसका यह अर्थ हुआ कि बनारस का एक नाम मोलिनी भी था। यह नाम कैसे पड़ा और अशोक कालीन बनारस कहाँ बसा था इन सब बातों का पता पुरातत्त्व की वैज्ञानिक खुदाइयों के बिना नहीं चल सकता; फिर भी अशोक कालीन वाराणसी के बारे में जो कुछ हमारा ज्ञान है वह नीचे दिया जाता है।

मौर्य स्तर की जाँच के लिये श्री कृष्णदेव ने राजघाट में शुंगकालीन पाँचवे स्तर के नीचे दो जगहों में दो गढ़े खोदे। इनमें से एक गढ़े से करीब २० से २२ फट के नीचे सत्रह घड़े मिले जिनमें शायद अन्न रखा जाता था। २४–२५ फुट के नीचे पालिशदार काले अथवा गहरे भूरे रंग के बरतनों के टुकड़े मिले। ऐसे बरतन मौर्य काल की विशेषता है और भीड़ और भीटा के सबसे निचले स्तरों से भी मिले हैं।[१] राजघाट से मिली एक मौर्य मुद्रा पर 'सत्यवमुस्य' लेख है। लगता है ये कोई मौर्यकालीन बनारसी रहे होंगे।[२]

सारनाथ से मौर्यकालीन कई अवशेष मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि अशोक के युग में इसिपतन की बहुत उन्नति हुई और वहाँ भिक्षु और भिक्षुणियों के संघ स्थापित हो गये। सारनाथ से मिले अशोक के स्तंभोत्कीर्ण लेख[३] में राजा का शासनपत्र अंकित है। यही शासनपत्र सारनाथ, साँची और इलाहाबाद के स्तंभों पर उत्कीर्ण है। पहले दो स्तंभ तो अपने स्थान पर ही हैं पर इलाहाबाद का स्तंभ कौशांबी से हटाकर इलाहाबाद किले में स्थापित है। इस शासन से अशोक का उद्देश्य संघ में विग्रह रोकना था। शासन पत्र कहता है कि जो कोई संघ में विग्रह उत्पन्न करेगा, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी, उसे श्वेत वस्त्र पहनाकर संघ के बाहर निकाल दिया जायगा। इनमें से दो लेखों से यह पता चलता है कि यह शासन महामात्रों के नाम था; एक लेख से यह पता चलता है कि कौशांबी स्थित महामात्रों के नाम यह शासनपत्र था और इसी आधार पर डा० भांडारकर की राय है कि यह शासन दूसरे जिलों के महामात्रों के नाम था जहाँ कि अशोक के समय में बौद्ध संघ थे।[४] अगर यह बात ठीक है और इसके विपक्ष में कोई कारण नहीं दीखता, तो प्रश्न यह उठता है कि शासन पाटलिपुत्र के

---

[१] एनुएल बिब्लिओग्राफी आफ इंडियन हिस्ट्री एण्ड इंडोलाजी, ३, १९४०, (पृ. ४१९–४१)

[२] वासुदेवशरण, ए स्टडी ऑफ राजघाट सील्स, टाइपकापी

[३] हुल्ट्श, इंसक्रिप्शंस ऑफ अशोक, ११६ इत्यादि

[४] भांडारकर, अशोक, पृ० ९१, कलकत्ता १९२५

महामात्रों के नाम क्यों संबोधित है, जब उसका तात्पर्य बनारस के भिक्षु संघ से था। इसकी दो व्याख्याएँ हो सकती हैं—(१) वाराणसी पाटलिपुत्र के महामात्रों के अधिकार में थी और इसीलिए सारनाथ का शासन पत्र उन्हीं के नाम निकाला गया। (२) उक्त शासन में 'पाट' शब्द, जिसकी यह व्याख्या मानी गयी है कि शासन पाटलिपुत्र से निकाला गया था, वास्तव में किसी दूसरे ही शब्द का द्योतक था, जिसका काशी से संबंध था। यहाँ यह विचारणीय है कि एक जातक के अनुसार वाराणसी का नाम भी पोतलि था और यहाँ 'पाट' शब्द से शायद उसी का तात्पर्य रहा हो। जो भी हो, अशोक के काल में बौद्ध संघ में विग्रह का रोकना बहुत ही आवश्यक था। इसके लिए जिले में स्थित महामात्रों को ही शासन देने से काम नहीं चलने का था। इसीलिए उसी शासनपत्र में राजा आज्ञा देते हैं—ऐसा ही एक शासन संसरण में लगा दिया गया है, जिससे वह आपको सुविधा से मिल सके और एक दूसरी प्रति उपासकों के लिये लगा दी गयी है। उपासकों को उपोषथ के दिन आकर इस शासन से अपने को परिचित कर लेना चाहिए। हर एक उपोषथ के दिन जिस महामात्र के यहाँ पहुँचने की बारी हो, उसे भी इस शासन को समझ लेना और उससे परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। साथ ही, जहाँ तक आपका अधिकार है आप इस शासन को लेकर यात्रा पर निकलें। इसी प्रकार विषयों में भी आप आज्ञा देकर मेरे इस शासन के साथ दूसरे राजकर्मचारियों को यात्रा पर भिजवायें।

इस स्तंभ लेख से यह बात पक्की हो जाती है कि अशोक बौद्ध संघ में विग्रह रोकने को पूरी तरह से सन्नद्ध था। इस विग्रह को रोकने के लिए उसने तीन उपायों को अपनाया—(१) विग्रह करने वालों को सफेद वस्त्र पहनाकर उन्हें भिक्षुओं के रहने के स्थान से निकाल देना। इस प्रकार भिक्षु अपने साथियों को भड़का नहीं सकते थे। (२) इतना ही नहीं कहीं वे उपासकों को भी न भड़काएँ और उनकी मदद से संघ में भेद पैदा न हो, इसलिए अशोक ने अपने महामात्रों को आज्ञा दी कि उसके इस शासन की एक प्रतिलिपि एक ऐसी जगह लटका दी जावे जहाँ उपासक आसानी से देख सकें। इस बात का प्रमाण नहीं है कि शासन की प्रतियाँ कहाँ लटकाई जाती थीं पर डा० भांडारकर का अनुमान है कि शायद ये निगम सभा में लटकायी जाती रही हों।[1]

सारनाथ–कौशांबी–साँची के स्तंभ लेखों से ज्ञात होता है कि अशोक-काल में बौद्ध संघ में विग्रह की आग भड़क रही थी और राजा ने उसे रोकना अपना कर्त्तव्य समझा। अशोक से पूर्व बौद्ध संघ दो भागों में, यथा महासांघिक और थेरवाद में बँट चुका था। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक के राज्याभिषेक के अट्ठारह वर्ष बाद बौद्धों की एक संगीति हुई और इसके बाद थेरवाद दो भागों में और महासांघिक चार भागों में बँट गये। अगर यह तथ्य है तो फिर बौद्ध संघ में विग्रह रोकने से अशोक का क्या तात्पर्य था? इस प्रश्न का पूर्ण विवेचन करके डा० भांडारकर का निष्कर्ष है कि अशोक के युग तक बौद्ध-संघ अविच्छिन्न था और इस संबंध की बौद्ध अनुश्रुतियों में अधिक तथ्य नहीं है।

---

[1] भांडारकर, अशोक, पृ० ९३

इसी प्रकार वैशाली की दूसरी संगीति वास्तव में अशोक के समय में हुई, जब बौद्ध संघ शायद दो भागों में, यथा थेरवाद और महासांघिकों में, बँट गया।[1]

अशोक ने सारनाथ में धर्मराजिक स्तूप भी बनवाया। अभाग्यवश १७९४ में बनारस के एक जमींदार बाबू जगत सिंह के आदमियों ने काशी का प्रसिद्ध मुहल्ला जगतगंज बनाने में ईंटों के लिए इस स्तूप को खोदकर बिल्कुल ध्वस्त कर दिया। मि० डंकन के अनुसार[2] इस स्तूप में १८ हाथ की गहराई पर एक प्रस्तर पात्र के भीतर संगमरमर की मंजूषा में कुछ हड्डियाँ एवं सुवर्णपत्र, मोती के दाने और रत्न मिले पर किसी अर्थ के न होने से उन्हें गंगा में प्रवाहित कर दिया गया। १९०५ में पुरातत्त्व विभाग के द्वारा यहाँ की खुदाई से यह पता चला कि अशोक द्वारा बनवाये धर्मराजिक स्तूप का व्यास ४४ फुट, ३ इंच था। इसमें लगे हलके कीलाकार ईंटों की नाप १९।। इं० × १४।। इं० × २।। इं० और १६।। इं० × १२।। इं० × ३।। इं० थी।[3] कुषाण युग में इस स्तूप पर १७ इं० × १०।। इं० × २¾ इं० नाप की ईंटों का एक आवरण चढ़ा। पाँचवीं या छठी सदी में एक दूसरा आवरण चढ़ाकर स्तूप के चारों ओर करीब १६ फुट चौड़ा प्रदक्षिणापथ बना दिया गया, उसके चारों ओर एक मजबूत दीवार खींच दी गयी और उसमें चार दरवाजे लगा दिये गये। सातवीं सदी में प्रदक्षिणापथ भर दिया गया और स्तूप तक पहुँचने के लिये सीढ़ियाँ लगा दी गयीं। नवीं और दसवीं शताब्दियों में भी कुछ हेर फेर हुए। बारहवीं शताब्दी में पुनः स्तूप पर आवरण चढ़ा और यही आवरण इस स्तूप का अंतिम आवरण था क्योंकि इसके बाद ही मुसलमानों ने सारनाथ नष्ट कर दिया।

शुंग युग

हमें पुराणों से पता चलता है कि अंतिम मौर्य शासक के सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने अपने राजा को मारकर ई० पू० १८४ के करीब मगध पर अपना शासन कायम किया और १४८ ई० पू० तक उन्होंने मगध पर राज्य किया। इनके राज्य में विदिशा और विदर्भ में युद्ध हुआ जिसमें शुंगों की विजय हुई, लेकिन पुष्यमित्र शुंग के राज्यकाल की सबसे मुख्य घटना वाल्हीक के यवनराज डिमिट्रियस की भारत पर चढ़ाई थी। बलख से हिन्दूकुश पार करके उसने पहले गंधार पर और इसके बाद तक्षशिला पर अधिकार किया। उसने सिंधु से हिंदूकुश के विजित प्रदेश का डिमिट्रियस द्वितीय को उपराजा बनाया गया और कापिशी इस प्रदेश की राजधानी बनी। तक्षशिला से अपोलोडोरस सिंध की ओर बढ़ा और मिलिंद दक्खिन पूर्व की ओर। मिलिंद ने सबसे पहले साकल (आधुनिक सियालकोट) पर अधिकार किया और फिर मुख्य यवन सेना आगे बढ़कर मथुरा और साकेत को जीतती हुई पाटलिपुत्र तक पहुँच गयी और उसे १७५ ई० पू० के करीब जीत लिया। टार्न के अनुसार पाटलिपुत्र जीतने का श्रेय

---

[1] वही, पृ० ९६–९७।

[2] एशियाटिक रिसर्चेस्, ५, पृ० १३१–१३२

[3] ए० एस० आर० एन० रि० १९०४–०५, पृ० ६५

मिलिंद को था।[1] अपोलोडोरस सिंध से भरुकच्छ तक पहुँच गया और उसे लेकर उसने भरुकच्छ-उज्जैन सड़क से आगे बढ़कर मध्यमिका को जा घेरा। टार्न के अनुसार १६७ ई० पू० में युक्रेटाइड की बगावत के कारण डिमिट्रियस को भारत छोड़ देना पड़ा। एक नये मत के अनुसार ये घटनाएँ उत्तर मौर्य युग में ही हो चुकी थीं और तब आक्रमण-कारी कौन था, इसका पक्का निश्चय नहीं हो सका है।

युगपुराण में भी पाटलिपुत्र पर यवनों की इस चढ़ाई का हाल मिलता है। इस पुराण के अनुसार यवन साकेत, पंचाल, और मथुरा को जीतते हुए पाटलिपुत्र पहुँच गये लेकिन वे मध्यदेश में इसलिए बहुत दिन नहीं टिक सके क्योंकि उनके देश में आपसी लड़ाई छिड़ गयी थी। पर डा० अवधकिशोर नारायण युगपुराण के श्लोकों की कुछ और ही व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार पंचाल और मथुरा की शक्तियों के साथ सुविक्रान्त यवनों ने साकेत पर धावा बोल दिया और वहाँ से पाटलिपुत्र दखल करने के लिए आगे बढ़ गये। जब ये शक्तियाँ पाटलिपुत्र की मिट्टी की शहर पनाह पर जा पहुँची तो वहाँ के नागरिक आकुल हो उठे। पंचाल और दूसरे राजाओं ने शहर पर धावा बोल कर उसे नष्ट कर दिया। पर विजेताओं की आपस में लड़ाई हो गयी जिसके फलस्वरूप यवन मध्य देश में टिक न सके। उनके अनुसार वह घटना ई० पू० १५० के आस-पास घटी होगी। (ए० के नारायण, दि इंडोग्रीक्स, पृ० ८२–८३, लंडन १९५७)। डा० नारायण की राय है कि पाटलिपुत्र की ओर इस अभियान में इंडोग्रीक केवल माथुरों और पांचालों के मददगार थे (वही, पृ० ८८)

यवनों की इस चढ़ाई की ओर संकेत पतंजलि के दो उदाहरणों से मिलता है यवनों ने साकेत को घेरा (अरुणद् यवनः साकेतं), यवनों ने मध्यमिका को घेरा (अरुणद् यवनो मध्यमिकां)। इस चढ़ाई का संकेत हमें मालविकाग्निमित्र नाटक (अंक ५) में भी मिलता है, जिसमें कहा गया है कि सिंधु नदी के किनारे पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र ने यवनों की सेना को पराजय दी।[2]

पाटलिपुत्र पर यवनों की चढ़ाई का यहाँ कुछ विस्तृत वर्णन देने का यह कारण है कि इस चढ़ाई का एक प्रमाण हमें बनारस के पुरातात्त्विक अवशेषों से भी मिलता है। १९३९ में आधुनिक राजघाट पर रेलवे स्टेशन का विस्तार करने के लिए मिट्टी के लिए खुदाई की गयी और उस खुदाई से बहुत सी प्राचीन वस्तुएँ जिनमें मिट्टी की मुद्राएँ भी थीं मिलीं, जो अब मुख्यतः भारत कला-भवन, और इलाहाबाद म्युनिसिपल म्यूजियम में सुरक्षित हैं। इन मुद्राओं में एक प्रकार पर यूनानी देवी देवताओं की आकृतियाँ तथा किसी यूनानी राजाओं के सिर अंकित हैं। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि आज तक उत्तरप्रदेश अथवा बिहार में कहीं से भी इस प्रकार की मुद्राएँ प्राप्त नहीं हुई हैं। राजघाट से मिली वस्तुओं से आकर्षित होकर भारतीय पुरातत्त्व विभाग ने श्रीकृष्ण देव की देख-रेख में वहाँ खुदाई करवाई। श्री कृष्णदेव को वहाँ के चौथे स्तर से जिसे वे दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसवी का

[1] टार्न, दि ग्रीक्स इन इंडिया ऐंड बेक्ट्रिया पृ० १४६ केंब्रिज, १९३८

[2] केंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० १, पृ० ५४४

मानते हैं, नीके, अपोलो, पल्लास, हेराकल्स इत्यादि की आकृतियों सहित मुद्राएँ मिलीं।[१] श्री कृष्णदेव ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि ये मुद्राएँ दूसरी-तीसरी शताब्दियों के घरों से मिली हैं अथवा भराव से, अगर वे भराव से मिली हैं जैसा कि मेरा अनुमान है तब तो निश्चय ही ये मुद्राएँ किसी पहले स्तर की हैं जो भराव के लिये, नीचे से मिट्टी पाटने पर ऊपर आ गयी हैं। श्री कृष्णदेव इन मुद्राओं का अध्ययन करके इस नतीजे पर पहुँचे कि शायद ये मुद्राएँ बनारस और पश्चिम के व्यापारिक संबंध की द्योतक हैं[२] लेकिन इस राय को मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। सबसे पहली कठिनाई तो यह है कि क्या यूनानी और रोम की व्यापारिक वस्तुएँ मध्यदेश में वहाँ के व्यापारियों द्वारा सीधी पहुँचायी जाती थीं? जहाँ तक हमें भारत के साथ यूनान और रोम के व्यापार के संबंध में ज्ञात है उससे तो यही पता चलता है कि समुद्र-मार्ग से जो व्यापार होता था वह अरब सागर और बंगाल की खाड़ी के बंदरों तक ही सोमित था। वहाँ भारतीय व्यापारी विदेशी वस्तुएँ खरीद कर भारत के कोने में पहुँचाते थे। भारत के भीतरी मार्गों में प्रवेश होने के कारण ही रोमन व्यापारियों द्वारा संगृहीत भीतरी भारत का भौगोलिक वर्णन अधूरा है क्योंकि यह वर्णन दूसरों से सुनकर लिखा गया था। इसका भी कोई प्रमाण नहीं है कि रोम के व्यापारी स्थल मार्ग से किसी काल में भी मध्यदेश तक पहुँचते थे। अगर यह मान भी लिया जाय कि पश्चिम और मध्यदेश के बीच व्यापारिक संबंध था तब यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह व्यापार केवल बनारस ही तक सीमित नहीं हो सकता. इसके प्रमाण तत्कालीन मध्यदेश के बड़े व्यापारिक नगरों जैसे कौशांबी, सहजाति (आधुनिक भीटा), श्रावस्ती (आधुनिक सहेठ महेठ) से अवश्य मिलने चाहिए। कौशांबी से मिली वस्तुओं से इलाहाबाद म्यूजियम भरा पड़ा है पर उसमें एक भी राजघाट जैसी यूनानी मुद्रा नहीं मिली है। भीटा की काफी खुदाई हुई है पर वहाँ से ऐसी मुद्राओं का पता नहीं चला है। श्रावस्ती से भी बहुत-सा सामान मिला है जिसमें प्राप्त मुद्राएँ लखनऊ म्यूजियम में हैं पर उसमें भी यूनानी मुद्राएँ नहीं हैं। अब प्रश्न उठता है कि अगर इन मुद्राओं का संबंध पश्चिम और बनारस के व्यापार से नहीं है तो ये यहाँ कैसे आयीं; क्या इनका संबंध किसी ऐतिहासिक घटना से है? मैं विचार कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इन मुद्राओं का संबंध डिमिट्रियस अथवा मिलिंद की पाटलिपुत्र की चढ़ाई से है। प्राचीन महाजनपथ, जिससे डिमिट्रियस की सेना मध्यदेश आयी, बनारस से होकर गाजीपुर से गंगा पार करके पाटलिपुत्र या पटना की ओर जाता था। लगता है बनारस में डिमिट्रियस अथवा मिलिंद की सेना ने पड़ाव डाला था; और उसी पड़ाव के प्रसंग में कुछ यूनानी मुद्राएँ यहाँ बच गयी हैं। मेरे इस विचार से प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डा० वासुदेवशरण भी सहमत हैं। अपने एक लेख में (ए स्टडी आफ राजघाट सील्स) वे राजघाट से मिली यूनानी मुद्राओं की वैज्ञानिक ढंग से जाँच पड़ताल करके इस तथ्य पर पहुँचे हैं कि वास्तव में ये मुद्राएँ यूनानी विजेताओं की हैं मुद्राओं पर निम्नलिखित यूनानी देवी देवताओं की मूर्तियाँ आती हैं:—

[१] एनुएल बिब्लिओग्राफी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, ३ (१९४०) पृ०४९–५१

[२] कृष्णदेव, कायन डिवायसेस फ्राम राजघाट सील्स, जर्नल आफ दि न्युमिसमेटिक्स सोसाइटी आफ इंडिया, ३ (दिसम्बर, १९४१), पृ० ७७

१—**नीके**—मुद्राओं के भीतर बदामे के अन्दर सपक्ष नीके दाहिनी ओर खड़ी है। उसके बाहर की ओर निकले हुए बाएँ हाथ में एक माला है और उसके बाएँ कंधे पर ताड़ का झाड़। आकृति बहुत सुन्दर है और एक ही साँचे से निकली मालूम पड़ती है। इन सब मुद्राओं के पीठ पर रस्सी का निशान है जिससे पता चलता है कि वे पत्रों या किसी व्यापारी सामान के साथ लगायी गयी थीं।

२—**अथेना**—बदामे के अंदर अथेना दाहिने हाथ में ढाल और बाएँ हाथ में भाला लिये खड़ी है। अथेना का ऐसा चित्र डिमिट्रियस द्वितीय के सिक्कों पर मिलता है (केम्ब्रिज हिस्ट्री, १,४६४, प्लेट ३,५)।

३—(अ) **हेराकल्स**—नाटे बदामे में हेराकल्स की नंगी मूर्ति बाएँ रुख खड़ी है, उसकी बायीं कुहनी एक गदा पर है और उसका दाहिना हाथ कमर पर है। हेराकल्स का ऐसा चित्र डिमिट्रियस के सिक्कों पर भी मिलता है (केम्ब्रिज हिस्ट्री, १,५८९, प्ले३,३)।

३—(ब) मुकुट पहने हेराकल्स बाएँ रुख खड़े, एक सिंह पर बैठा है। मुकुट के बंद पीछे की ओर फड़फड़ा रहे हैं। यह लक्षण युथेडेमोस प्रथम (बी० एम० सी० पृ० १०, प्लेट १) तथा अगाथोक्लिया और स्ट्राटो (बी० एम० सी०, पृ० ५२ प्ले ५,१) के सिक्कों पर आते हैं। लेकिन इन सिक्कों पर हेराकल्स एक चट्टान पर बैठा दिखलाया गया है और राजघाट की मुद्राओं में हेराकल्स बाएँ रुख खड़े सिंह पर बैठा दिखलाया गया है। पीछे भी एक छाप है पर वह साफ नहीं है।

४—**अपोलो**—अपोलो दाहिने रुख खड़ा है। उसके बाएँ हाथ में धनुष है और दाहिने हाथ में एक संदिग्ध वस्तु। कुछ मुद्राओं में इसका दाहिना हाथ मुँह छूता हुआ दिखलाया गया है। एक मुद्रा में उसके उठे हुए हाथ में तीर है। यह 'प्रकार' (डिवाइस) युक्रातीद के सिक्कों पर आता है, लेकिन इन सिक्कों में अपोलो बाएँ रुख खड़ा दिखलाया गया है। युक्रातीद उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत और वाह्लीक में १०५ ईस्वी पूर्व के लगभग राज करता था।

५—मुद्राओं पर राजाओं के सिर—इन शबीहों की अभी तक ठीक तरह से पहचान नहीं हो सकी है लेकिन शायद ये यूथिडेमोस और डिमिट्रियस की शबीहें हों।

६—लखनऊ म्यूजियम की एक मुद्रा में बायीं ओर एक हाथी है और नीचे की ओर दो कूबड़ों वाला एक बलखी ऊँट है। नीचे ब्राह्मी का लेख है जो साफ नहीं पढ़ा जाता। कला भवन की दो मुद्राओं में दो कूबड़ों वाला एक बलखी ऊँट दाहिने रुख खड़ा है और उसी ओर एक जंगली सूअर भागता दिखलाया गया है। ब्राह्मी में गरुत्मरंकस्य लेख है। ऐसा मालूम पड़ता है कि यह किसी यूनानी नाम का संस्कृत रूप है।

इन मुद्राओं को जाँचने के बाद डा० वासुदेवशरण निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

"राजघाट से इन मुद्राओं जिन पर अथेना, अपोलो, नीके और हेराकल्स की आकृतियाँ बनी हैं, के मिलने से एक बड़ी ऐतिहासिक समस्या हमारे सामने खड़ी हो जाती है। प्रश्न यह उठता है कि ये यूनानी मुद्राएँ बनारस तक कैसे पहुँचीं? उत्तर भारत में किसी भी

प्राचीन स्थान से अभी ऐसी मुद्राएँ नहीं मिली हैं। यह भी निश्चित् है कि सिक्कों की तरह मुद्राएँ बिना किसी खास कारण के अपने उद्गम स्थान से बहुत दूर नहीं जाती थीं। मुद्राएँ कागज पत्र पर लगाकर उनके सही होने के प्रणाम स्वरूप बाहर भेजी जाती हैं। सर आरेल स्टाइन को मध्य एशिया के नीया नामक स्थान में बहुत-से ऐसे लकड़ी के पट्ट मिले हैं जिनमें मिट्टी की मुद्राएँ उनके बंदों पर लगी हुई थीं (जे० आर० ए० एस०, १९०१,५७१)। प्रायः मिलने वाली एक भाँति की मुद्रा पर, जो किसी उच्च कर्मचारी की मालूम पड़ती है, ढाल और एजिस के साथ पल्लास और एथेनी के चित्र मिलते हैं, एक दूसरी बड़ी मुद्रा पर यूनानी कारीगरी की श्रेष्ठतम शैली में एरोस का चित्र है। दूसरी मुद्राओं पर राजाओं के सिर इत्यादि बने हैं। यहाँ हम उस ऐतिहासिक घटना की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं जिसका उल्लेख स्त्राबो (११,५१६) ने अपोलोडोरस के आधार पर किया है। इस उल्लेख में यह बताया गया है कि किस प्रकार वाह्लीक की साधारण सीमा डिमिट्रियस और मेनेंडर के विजय पराक्रम के फलस्वरूप आगे बढ़ी। कैंब्रिज हिस्ट्री (पृ० ४४५) के अनुसार इस विजय में जो चीनी तुर्किस्तान की तरफ बढ़ाव का उल्लेख आया है उसे हम डिमिट्रियस अथवा उसके पिता युथिडेमास की उपलब्धि मान सकते हैं। सर आरेल स्टाइन के अनुसार नीया से मिली मुद्राओं का समय दूसरी-तीसरी शताब्दी है (एंशेन्ट खोतान, पृ० ३५७) और शायद उनमें से अधिकतर रोमन साम्राज्य से आयीं। लेकिन ऐसा भी हो सकता है कि इनमें से कुछ मुद्राएँ काफी प्राचीन हों और उनकी छापें प्रथम शताब्दी तक बच गयी हों। राजघाट से मिली मुद्राएँ नीया की मुद्राओं से मिलती जुलती हैं और नीया की तरह इनका व्यवहार भी कागजातों के साथ लगाने के लिये होता था।

"इन मुद्राओं के संबंध में महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—उनका समय और देश के इतने भीतरी भाग में उनके मिलने का कारण। मेरे मित्र डा० मोतीचन्द्र ने इस संबंध में एक सुझाव रखा है जो मेरे विचार में राजघाट से मिली मुद्राओं के बारे में ठीक जान पड़ता है। उनके मत में डिमिट्रियस की पाटलिपुत्र पर चढ़ाई के बीच उसकी सेना ने बनारस में डेरा डालकर पाटलिपुत्र के लिये यहाँ पर गंगा पार की। ये मुद्राएँ उसी पड़ाव की याद दिलाती हैं। यूनानियों के इस जल्दी में किये गये आक्रमण के अनेक साहित्यिक प्रमाण मिलते हैं। खारवेल के हाथी-गुंफा वाले लेख में यवनराज दिमित का मथुरा से हटने की ओर संकेत है (मधुरं अप्यतो यवनराज दिमित)। अपने राज्यकाल के आठवें वर्ष में खारवेल ने राजगृह और गोरथगिरि पर आक्रमण किया। इस आक्रमण के धक्के से घबराकर दिमित ने पूर्व में पाटलिपुत्र तक बढ़ी अपनी सेना को पश्चिम में हटा लिया।"

इसके बाद डा० अग्रवाल युग-पुराण, महाभाष्य और मालविकाग्निमित्र के प्रमाणों का इस संबंध में उल्लेख करते हैं और अंत में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजघाट से मिली मुद्राएँ डिमिट्रियस द्वारा पाटलिपुत्र पर चढ़ाई की सर्वप्रथम ज्ञात पुरातात्त्विक प्रमाण हैं और साथ ही साथ वे पाटलिपुत्र की ओर जाती अथवा वहाँ से लौटती हुई यूनानी सेना के रास्ते में एक निश्चय पड़ाव की ओर संकेत करती हैं। राजघाट की खुदाई होने पर इस संबंध की और अधिक सामग्री मिलने की आशा है।

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में पुष्यमित्र के बाद बनारस का संबंध शुंग साम्राज्य से क्या था इसका तब तक ठीक ठीक पता नहीं चल सकता जब तक राजघाट की खुदाई अच्छी तरह से न हो जाय। पर ऐसा जान पड़ता है, काशी से शुंगों का घनिष्ठ संबंध था। भागभद्र (करीब ९० ईसा पूर्व) अंतिम शुंग राजा के ठीक पहले हुए और उनके पास तक्षशिला के यवन राजा अंतकिलदास ने अपने एक दूत हेलियदोरस को भेजा। जान पड़ता है भागभद्र का काशी से संबंध था क्योंकि इनकी माता काशी की राजकुमारी थीं (कैंब्रिज हिस्ट्री, पृ० ५२२)। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या काशी में उस समय कोई राज्य था? जब तक राजघाट की खुदाई पूरी न हो जाय, इसका ठीक पता चलना कठिन है।

पभोसा के एक लेख से पता चलता है कि ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में पंचाल (अहिछत्र) और वत्स (कौशांबी) पर एक ही वंश की दो शाखाओं का अधिकार था, और ये दोनों राज्य शुंगों का अधिकार मानते थे। हो सकता है कि बनारस उस समय कौशांबी के अधिकार में हो। करीब ७२ ईसा पूर्व में देवभूति शुंग वंश के अंतिम राजा हुए। इसके बाद शायद कौशांबी पर शुंगों का कुछ दिन तक और अधिकार रहा पर उनके बारे में कुछ ठीक पता नहीं चलता।

इस युग में या उससे पहले काशी की क्या दशा थी यह कहा नहीं जा सकता, लेकिन राजघाट से मिली थोड़ी बहुत सामग्री से इतना तो पता चलता है कि शायद इस युग में काशी पर कौशांबी के राजवंश का अधिकार था। इस संबंध में हम राजघाट से मिली दो मुद्राओं का वर्णन करना चाहते हैं। पहली मुद्रा जेठदत्त की है और डा० अग्रवाल लिपि के आधार पर उसका समय ईसा पूर्व पहली-दूसरी सदी मानते हैं। मुद्रा पर नंदिपद, स्वस्तिक और वैजयंती के लक्षण हैं। संभवतः ये वही जेठदत्त हैं जिनका एक सिक्का कार्लाइल को बनारस के पास बैरांट से मिला था और जिस पर ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी की ब्राह्मी में लेख है।[1] ऐसा जान पड़ता है कि ये कौशांबी के स्थानीय राजा थे और बनारस इनके अधिकार में था। फाल्गुनीमित्र की मुद्रा पर प्रायः ईसा पूर्व पहली शताब्दी की ब्राह्मी में लेख है और उसकी बायीं ओर वृषभ और सामने पताका है। या तो ये बनारस के राजा थे अथवा कौशांबी के, जिसके अंतर्गत बनारस था। बैरांट से प्रायः इसी समय की लिपि वाले गोमित्र के दो सिक्के मिले हैं, जो भारत कला भवन में हैं। इन गोमि का काशी में इतिहास से क्या संबंध था यह तो ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता, पर शायद ये कौशांबी के मित्र वंश के राजा थे; संभवतः जिनका अधिकार काशी पर काफी दिनों तक बना रहा।

राजघाट की खुदाई से भी शुंग कालीन काशी के इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ता है। पाँचवें स्तर में १८ फुट से २१ फुट नीचे तक श्री कृष्णदेव को दो चकों में विभाजित चार मकानों के अवशेष मिले। लेकिन, कमजोर दीवारों और बहुत ही साधारण बनावट के आधार पर ये साधारण लोगों के मकान मालूम पड़ते हैं। यहाँ से मिली बहुत-सी वस्तुओं पर फगुनंदिस लेख अंकित हाथी दाँत की एक मुद्रा और बलमितस नाम की

[1] एलन, कायन्स ऑफ एंशेन्ट इंडिया, प्लेट ४५, १०।

एक मिट्टी की मुद्रा मिली है। फल्गुनंदि और बलमित्र कौन थे इसका तो पता नहीं, पर शायद फल्गुनीमित्र और फल्गुनंदि से कोई संबंध हो सकता है। बलमित्र भी शायद काशी के कोई शुंग कालीन राजा रहे हों क्योंकि इन दोनों मुद्राओं पर के लेखों पर की लिपि शुंग कालीन है और इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजघाट की खुदाई का पाँचवां स्तर शुंग कालीन है। इस स्तर से आहत सिक्कों के मिलने से भी इस बात की पुष्टि होती है।[1]

कला भवन में कुछ शुंग कालीन व्यक्तियों की मुद्राएँ हैं, जिनसे बनारस के कुछ नागरिकों के यथा हथिसेन, गोपसेन, खुदपठ के नाम प्रकट होते हैं।

बौद्ध साहित्य में पुष्यमित्र को बौद्धों का घोर विरोधी कहा गया है और यह भी कहा गया है कि उसने अपनी पूरी शक्ति बौद्धधर्म को उखाड़ फेंकने में लगा दी। पाटलिपुत्र के दक्षिण-पूर्व में स्थित अशोकीय कुक्कुटाराम विहार को उखाड़ फेंकने तथा साकल जाकर बौद्ध संघ को नष्ट करने का प्रयत्न किया। पुष्यमित्र द्वारा प्रत्येक बौद्ध भिक्षु के सिर के लिए एक सौ दीनार इनाम देने की घोषणा करने का उल्लेख है। बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार इसका अंत भी अमानुषिक शक्तियों द्वारा हुआ (दिव्यावदान, पृ० ४३३-४३४)।

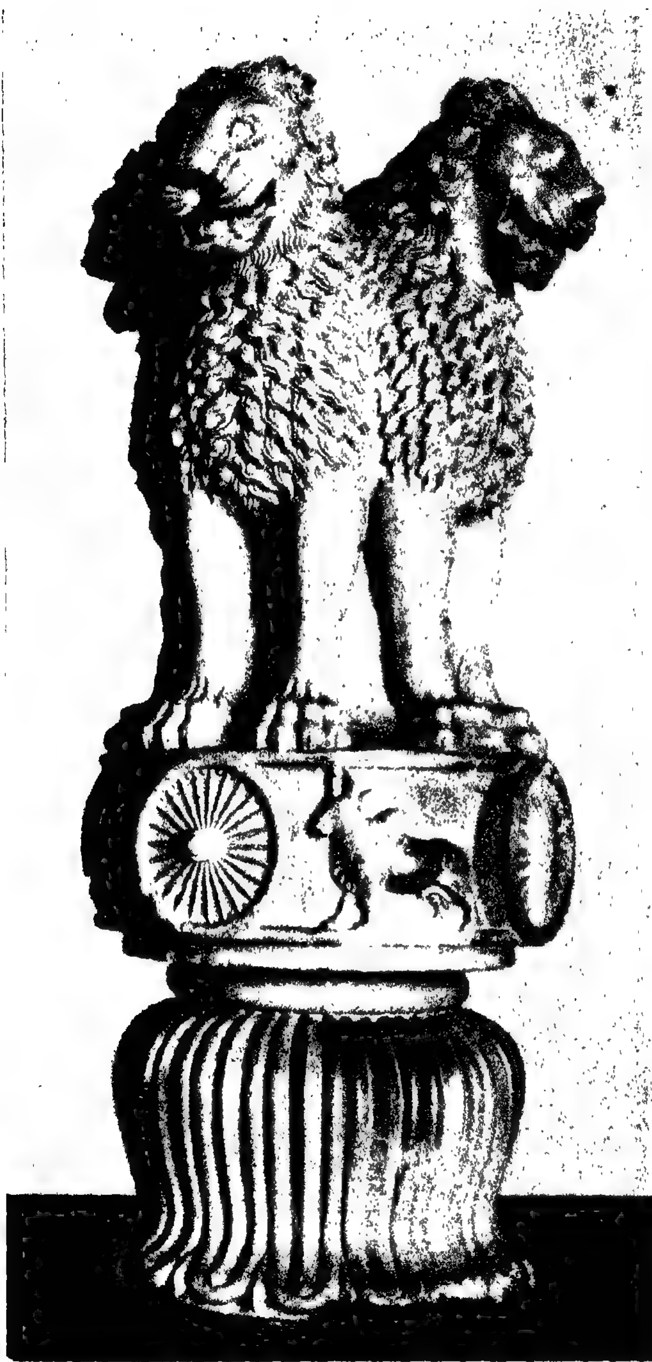
इन सब कथाओं से हम कुछ-कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का अनुमान लगा सकते हैं। पुष्यमित्र अशोक कालीन बौद्ध धर्म की विजय के विरुद्ध ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया के प्रतीक थे। पुष्यमित्र ने वैदिक यज्ञ-परिपाटी को पुनः जगाया और अपनी विजय के उपलक्ष्य में अश्वमेध यज्ञ किया। इस बात का कोई ऐतिहासिक प्रमाण तो नहीं है, पर शायद वाराणसी में भी इस ब्राह्मण धर्म के नव-जागरण का असर पड़ा हो। जो भी हो, सारनाथ से मिले अवशेषों से तो यह पता चलता है कि शुंग काल में भी वहाँ कुछ विशेष हस्तक्षेप नहीं किया गया।

२. व्यापार

काशी अथवा बनारस के व्यापार के बारे में मौर्य और शुंग युग के साहित्य में विशेष मसाला नहीं मिलता। पर इतना तो निश्चित है कि इस युग में वाराणसी बौद्धों का प्रसिद्ध धार्मिक क्षेत्र बन चुकी थी और जैसा कि वेदिका स्तंभों के लेखों से पता लगता है बौद्ध यात्री उज्जैन से बराबर यहाँ आया करते थे। इसमें भी संदेह नहीं कि महाजनपद युग की भाँति इस युग में भी वाराणसी प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था। पाणिनि के एक सूत्र (४।३।७२) पर भाष्य करते हुए (कीलहार्न, २,३१३) पतंजलि कहते हैं—**न वै तत्रेति चेद्ब्रूयाज्जित्वरीवदुपाचरेत् तद्यथा वणिजो वाराणसीं जित्वरीत्युपाचरन्ति,** अर्थात् व्यापारी लोग वाराणसी को 'जित्वरी' के नाम से पुकारते थे। जित्वरी का अर्थ है जयनशीला अर्थात् यहाँ पहुँचकर व्यापारियों की सारी मनोकामना पूरी हो जाती थी। पाणिनि के एक दूसरे सूत्र (२।१।१६) पर पतंजलि के भाष्य से पता चलता है कि गंगा के किनारे किनारे लंबे बल में वाराणसी बसी थी। राजघाट पर जो शुंग कालीन स्तर मिला है वह भी गंगा के किनारे किनारे लंबे बल में है। इस भौगोलिक स्थिति के फलस्वरूप गंगा के द्वारा बनारस में काफी व्यापार होता रहा होगा।

---

[1] एनुअल् बिब्लियोग्राफी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, ३ (१९४०), ४९-५१।



चित्र नं. १ अशोक स्तंभ का सिंह शीर्ष
ईसा पूर्व तीसरी सदी (सारनाथ म्यूज़ियम)



चित्र न. २ श्री देवी
मौर्य युग, ईस्वी पूर्व तीसरी सदी (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ ६८



चित्र न. ३. शीर्ष
मौर्य युग, सारनाथ (नेशनल म्यूजियम, दिल्ली)

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि काशी और पुंड्र मौर्य युग में क्षौमवस्त्र के लिये विख्यात थे।[१] जातकों में काशिक वस्त्र की बहुत चर्चा आयी है जिससे अनुवादकों ने सर्वदा रेशमी वस्त्र का तात्पर्य समझा है। अर्थशास्त्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि काशिक का तात्पर्य काशी में बने सूती और क्षौम वस्त्रों से है। पतंजलि ने भी महाभाष्य में काशिक वस्त्र की चर्चा की है। पाणिनि के एक सूत्र (५।३।५५) पर भाष्य करते हुए (कीलहार्न २।४१३) पतंजलि कहते हैं–**एवं हि दृश्यते इह समाने आयामे विस्तारे पटस्यान्योऽर्घोभवति काशिकस्यान्यो माथुरस्य**, अर्थात् ऐसा देखा जाता है कि लंबाई और चौड़ाई में बराबर होने पर भी काशिक वस्त्र का मूल्य कुछ और होता है और मथुरा के बने हुए वस्त्र का कुछ और। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि शुंग युग में वस्त्रों के मूल्य उनकी लंबाई-चौड़ाई पर नहीं वरन् उनकी कारीगरी पर निर्भर होते थे। इसमें संदेह नहीं कि काशिक वस्त्र के दाम मथुरा के वस्त्रों के दाम से, नाप में एक होते हुए भी, अधिक रहे होंगे।

३. कला

काशी की सभ्यता का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है और जैसा हम देख चुके हैं महाजनपद युग में यह सभ्यता काफी विकसित हो चुकी थी। पर इस युग की सभ्यता के बाह्य प्रतीक कला का जिसमें मूर्तिकला, तक्षण, वास्तु इत्यादि सम्मिलित हैं, हमें कुछ भी पता नहीं है। इसका एक कारण तो यह है कि अपने देश की जलवायु के कारण लकड़ी, कपड़े और धातु के सामान तो प्रायः सभी नष्ट हो चुके हैं। पर इस सभ्यता के अवशेष जो अब भी बैरांट और राजघाट के नीचे दबे दबाये पड़े हैं उनकी वैज्ञानिक ढंग से खोज नहीं हुई है। आशा है कि इस खोज से काशी के सांस्कृतिक और राजनैतिक इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ेगा। ऐसी खोज का महत्त्व काशी के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, सारी भारतीय संस्कृति के लिए भी है क्योंकि काशी उत्तर वैदिक काल से ही कला, शिक्षा और स्वतंत्र विचार शैली के लिए सारे भारतवर्ष में प्रसिद्ध रही है और इसका प्रभाव भारतीय इतिहास की अविच्छिन्न धारा पर बराबर पड़ता रहा है।

काशी के सांस्कृतिक इतिहास पर सम्राट अशोक के आते ही परदा उठने लगता है; मौर्य काल से लेकर बारहवीं सदी तक हम अविच्छिन्न रूप से काशी की कला की क्रमिक उन्नति और अवनति का अध्ययन कर सकते हैं। भारतीय कला के आरम्भिक पारखियों का यह विचार था कि भारतीय कला अशोक के समय अपनी चरमावस्था को पहुँच चुकी थी और उसके बाद उसकी क्रमशः अवनति होती गयी पर अब इस विचार को विद्वान् नहीं मानते। हमें तो भारतीय कला में क्रमिक विकास की एक अटूट धारा दीख पड़ती है। भारतीय कलाकार अपनी कला में सौष्ठव लाने के लिए बराबर प्रयत्नशील थे और कारीगरी के नियमों का पालन करते हुए अपनी कला में सभी युगों में एक नवीनता देने का प्रयत्न करते रहे। भारतीय कला के क्रमिक विकास की कहानी हम सारनाथ से मिली मूर्तियों के द्वारा भली-भाँति जान सकते हैं। इसका कारण यह है कि जिस दिन से सम्राट अशोक ने सारनाथ को बौद्धों का एक प्रसिद्ध धार्मिक क्षेत्र बनाया

[१] अर्थशास्त्र (गणपति शास्त्री), भाग १, पृ० १९१

उसी दिन से ११९४ ईस्वी तक, जब मुसलमानों ने सारनाथ को जमींदोज़ कर दिया, भारतीय कला के विकास की सब सीढ़ियों का हम वहाँ अध्ययन कर सकते हैं। खास बनारस शहर में भी कला उन्नतिशील थी। इसके कुछ उदाहरण भारत कला-भवन, बनारस में देखे जा सकते हैं।

सारनाथ से मिली मौर्यकालीन मूर्तियों में सबसे प्रसिद्ध और कला की दृष्टि से सबसे सुन्दर अशोक स्तंभ का शीर्षक है। इसकी ऊँचाई सात फुट है और इसका आकार उत्फुल्ल कमल जैसा है जिसे घंटाकृति भी कहा गया है। कमल की पँखड़ियाँ खरबूजिया हैं। कमलनाल के स्थान पर गोल कंठा है और उसके ऊपर एक गोल पटिया। इसके ऊपर गोल शीर्ष-पट्ट (फलक) है जिसके ऊपर पृष्ठासक्त चार सिंह आकृतियाँ धर्मचक्र को, जो अब टूट गया है, वहन करती थीं। इन सिंहों के मुख खुले हैं और जिह्वाएँ बाहर लपलपा रही हैं। इनकी सुगठित शिराएँ तथा सुरचित अयाल बहुत ही सुन्दर दिखलाये गये हैं। शीर्षपट्ट पर एक हाथी, एक वृषभ, एक भागता हुआ घोड़ा और एक सिंह के अर्धचित्र बने हैं। इसमें संदेह नहीं कि कला और कारीगरी की दृष्टि से यह स्तंभ-शीर्षक भारतीय कला के क्षेत्र में बेजोड़ है।

शीर्षपट्ट पर जो पशु मूर्तियाँ बनी हैं, उनके लाक्षणिक अर्थों के बारे में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। श्री बेल उन्हें अनोत्तत सरोवर के चारों किनारे पर रहने वाले पशुओं का प्रतीक मानते हैं। डा० ब्लाख के अनुसार ये चारों पशु इंद्र, शिव, सूर्य और दुर्गा के प्रतीक हैं और इनके अशोक-स्तंभ पर चित्रण से यह तात्पर्य निकलता है कि ये तीनों देव और एक देवी बुद्ध और उनके धर्म के शरणागत हो गये थे। डा० फ़ोगेल इन पशुओं को केवल अलंकारिक मानते हैं। रायबहादुर दयाराम साहनी इस स्तंभ शीर्षक में बौद्ध धर्मग्रंथों के अनोत्तत सर की छाया देखते हैं और श्री बी० मजूमदार[१] इस शीर्षपट्ट पर आये लक्षणो को कुछ और ही माने लेते हैं जो मेरी समझ में बहुत-कुछ ठीक मालूम पड़ता है। तथा-कथित घंटाकार शीर्षक उनकी राय में कमल का द्योतक है क्योंकि बौद्ध साहित्य में बुद्ध आसनस्थ होकर ध्यान मग्न होते थे, और कमल मायादेवी के गर्भ का भी प्रतीक है। शीर्षपट्ट पर आये चार पशु और उनको अलग करते हुए चौबीस अरों वाले चार चक्रों के भी वे अलग अलग लाक्षणिक अर्थ देते हैं। चारों पशु शायद बुद्ध के जीवन की मुख्य घटनाओं के लाक्षणिक रूप के प्रतीक हैं। हाथी उनके गर्भ-प्रवेश का, वृषभ उनकी जन्म-राशि का, दौड़ता घोड़ा उनके महाभिनिष्क्रमण का और सिंह उनके शाक्य सिंह होने के प्रतीक है। चौबीस अरों वाले चौबीस बौद्ध प्रत्ययों के प्रतीक हैं। मूर्ध-स्थित चारों सिंह शायद शाक्य सिंह के महान् विक्रम की चारों दिशाओं में बड़ाई उद्घोषित करते हुए बौद्ध भिक्षुओं के प्रतीक हैं। इन लक्षणों का बौद्ध धर्म से सम्बन्ध स्वीकार करते हुए यह कहना ही पड़ेगा कि ये लक्षण काफी प्राचीन हैं। जैसा डा० कुमार-स्वामी का मत है, इनका ठीक अर्थ समझने के लिए वैदिक साहित्य का आश्रय आवश्यक है। भारतीय कला के पारखी पाश्चात्य आचार्यों को सारनाथ के इस स्तंभ-शीर्षक

---

[१] गाइड टु सारनाथ, पृ० ४५–४७, दिल्ली, १९४१

में यूनानी कला द्वारा संवर्धित ईरानी कला की स्पष्ट छाया दीख पड़ती है और इसलिये वे सारनाथ के सिंह-शीर्षक को एक विदेशी की कृति मानते हैं। हाँ, इतना तो वे अवश्य कहते हैं कि इसके बनाने में, कुछ छीलछाल करने में शायद भारतीय कारीगरों का भी हाथ रहा हो (कैंब्रिज हिस्ट्री, पृ० ६२१–२२)। इस उपपत्ति में पश्चिमी विद्वानों का इतना दोष नहीं है जितना उनके उस दृष्टिकोण का जिसके द्वारा वे भारतीय संस्कृति के प्रायः हर अंग में ईरान और यूनान की छाया देखते हैं। जैसा डा० कुमारस्वामी ने बतलाया है कि जो जो अलंकार अशोक के स्तंभों पर आये हैं वे ईरान के न होकर असीरिया के हैं फिर यह क्यों न कहा जाय कि मौर्य-युग की कला पर ईरान होकर असीरिया की कला का प्रभाव है। बलख द्वारा प्रचारित जिस यूनानी कला की बात की जाती है कम-से-कम उसका एक भी प्राचीन नमूना अभी तक नहीं मिला है। फिर हम कैसे समझ लें कि उस कला का, जिसका हमें अभी तक पता भी नहीं है, मौर्य कला पर प्रभाव था। बात यह है कि पश्चिमी एशिया कुछ तरह के अलंकरणों का खजाना थी, जिससे प्राचीन काल में भारतीयों और ईरानियों ने समान रूप से कुछ अलंकरण ग्रहण किये। अभाग्यवश भारत की आरम्भिक कला के नमूने लकड़ी पर बने होने के कारण बिलकुल नष्ट हो गये और ईरान में पत्थर पर बने होने के कारण बच गये, पर केवल इतने से ही यह नही मान लिया जा सकता कि भारत ने सब कुछ ईरान से लिया। लेकिन यह भी न मान लेना चाहिए कि भारतीय कला ने ईरान से कुछ ग्रहण किया ही नहीं। भारतीय संस्कृति की समन्वय की ओर बहुत प्राचीन काल से प्रवृत्ति रही है। बाहर से अच्छी चीजों को लेना पर उन्हें भारतीयता के रंग में रँग देना हमारी संस्कृति की विशेषता रही है और इस प्रवृत्ति के अनुसार उसने ईरान, यूनान, मध्य-एशिया सबसे कुछ-न-कुछ ग्रहण किया पर ढाँचा उन्हें दिया भारतीयता का। अशोक का सारनाथ वाला स्तंभ-शीर्षक भी इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। हो सकता है कि इसकी बनावट में ईरानी कारीगरों से मदद ली गयी हो पर इसमें संदेह नही कि इसके निर्माण का कार्य भारतीयों ने किया क्योंकि इसकी बनावट से पूर्ण भारतीयता टपकती है जिसे विदेशी कारीगर थोड़े दिनों में ही आत्मसात नहीं कर सकते थे, वह तभी आ सकती है जब कलाकार का भूमि से साक्षात् संबंध हो।

सारनाथ से मौर्य युग के अंतिम काल के अथवा शुंग युग के कुछ सिर भी मिले हैं जिन पर पालिश है; शायद उन पर कुछ यूनानी प्रभाव भी लक्षित है। इनमें एक सिर के भरे हुए गाल हैं, छोटी नाक और छोटा मुँह है, नीचे का ओंठ मोटा है, आँखें चपटी और खुली हुई हैं और बड़ी बड़ी मूछें दोनों ओर घूमी हुई हैं। लगता है यह सिर मौर्य-शुंग युग के किसी बनारसी सेठ के सिर की प्रतिकृति है। एक दूसरे सिर पर भारी भरकम पगड़ी है। उसका चेहरा घुटा हुआ है, लंबी और सकरपारे के आकार की आँखें हैं, सीधी नाक है, स्वभाविक-से ओंठ हैं और गोल ठुड्डी है। सारनाथ से इस युग की मूर्तियों में कुछ स्त्रियों के सिर भी मिले हैं। इन सिरों पर शुंगकालीन भारी भरकम शिरोवस्त्र हैं। सारनाथ से मिली हुई कोर कीहुई स्त्री की एक खंडित मूर्ति कला की दृष्टि से बड़ी ही सुन्दर है। स्त्री बैठी हुई है और उसका दाहिना पैर मुड़ा हुआ है, उसकी कमर में एक भारी करधनी और उसकी हाथों में एक कंकण है। एक दूसरी जगह पत्थर में खचित

स्त्री की एक मूर्ति है। उसका सिर घुटने पर पड़े हाथों पर झुका हुआ है और ऐसा मालूम पड़ता है जैसे वह किसी गहरे शोक में निमग्न हो।

बनारस में मौर्य कालीन कला अवशेषों का वर्णन करते हुए हम राजघाट से मिले कुछ चकियों की ओर ध्यान दिला देना चाहते हैं जो मौर्य कला के श्रेष्ठ उदाहरण होने के साथ ही साथ बनारस के धार्मिक इतिहास के लिए भी बड़ी उपयोगी हैं। ऐसी चकिएँ तक्षशिला, कोसम, संकीसा, सहेठ-महेठ, पाटलिपुत्र, वैशाली इत्यादि से भी मिली हैं। हथियल (तक्षशिला) से मिली चकिया पालिशदार पत्थर की बनी है और इसका ऊपरी भाग सम-केन्द्र वृत्तों में बँटा है, जिसमें सथिया तथा डोरी के अलंकार हैं। चक्र के छिद्र के पास चार नंगी देवियाँ हैं, उनके बीच-बीच में हनीसकल के फूल हैं।[१] राजघाट के कुछ परेवा पत्थर की टूटी हुई चकियों में से कुछ के ऊपरी भाग के बगल में एक ताल-वृक्ष के पास एक घोड़ा बना है और उसके बाद एक देवी बनी है जिसके दाहिने हाथमें एक पक्षी है। इसके बाद लंबे कान और छोटी दुम वाला एक पशु, एक बगला, फिर देवी, इसके बाद पुनः ताल का पेड़, एक पक्षी, एक छोटा चक्र, पुनः देवी, इसके बाद सपक्ष जन्तु और अन्तमें एक बगला जिसके पैर के पास एक केकड़े जैसा कोई जीव है। इस तरह लक्षणों के साथ देवी तीन बार आती है। इस चकिए और तक्षशिला के चकिए में इतना अन्तर है कि राजघाट के चकिए में अलंकार ऊपरी भाग में आता है और चकिए के बीच में कोई छेद नहीं है, पर तक्षशिला के चकिए में ढालुएँ भाग पर अलंकार बने हैं और उसमें बीच में छेद भी है। पर इसमें संदेह नहीं है कि राजघाट वाले चकिए का वही समय है जो तक्षशिला इत्यादि से मिली चकियों का। भारत कला-भवन में एक दूसरा टूटा हुआ छेददार चकिया है। इसमें छेद के पास हाथ फैलाये हुए दो देवियाँ हैं जिनके बीच में शायद हनीसकल है। चकिए के समतल भाग में डोरीदार अलंकारों के बीच बन्दर के शक्ल के दो जीव एक लता पकड़े हैं और उनके बीच में एक मगर है। चकिए के समतल भाग पर घिसा हुआ ब्राह्मी में एक लेख है जो ठीक तरह से पढ़ा नहीं जाता। भारत कला-भवन में कोसम से आयी हुई एक टूटी चकिया में भी ब्राह्मी का एक लेख है जो ठीक तरह से नहीं पढ़ा जा सका है।[२] इस चकिए के छेद के पास अलंकार की दो पट्टियाँ हैं। एक पट्टी में एक उमेठे रस्से वाले अलंकार के नीचे मगरों की एक श्रेणी है, और दूसरी पट्टी में ताल-वृक्ष के बीच में देवी है। डा० जितेन्द्रनाथ का मत है कि इन सब चक्रों का किसी धर्म विशेष से संबंध है। वे इनकी तुलना सिंधु-सभ्यता की नालों, शाक्तों के यन्त्रों, वैष्णवों के विष्णु-पट्टों और जैनों के आयाग-पट्टों से करते है। पर इन चकियों की समता बाद के शाक्त धर्म के चक्रों और यंत्रों से कहीं अधिक है। मार्शल के शब्दों में, "इन नालों के इतने छोटे होने से शायद प्रयोजन चढ़ावे के लिए था। इनपर नंगी माता की मूर्ति बड़ी ही खूबसूरती और साव-धानी के साथ खोदी गयी है। बीच के छिद्र के साथ इसका सामीप्य इसका संबंध योनि से स्थापित करता है।[3]" जो भी हो इन चकियों से तो यह सिद्ध हो जाता है कि मौर्य-युग

---

[१] ए० एस० आर०, १९२१–२२, पृ० ६६

[२] बेनर्जी, दि डेवेलपमेंट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ० १८८

[3] मार्शल, मोहेंजोदड़ो, १, पृ० ६२–६३

और उसके बाद भी उत्तर भारत के और केन्द्रों की भाँति बनारस और कौशांबी में भी माता की पूजा प्रचलित थी। बनारस में तो माता की यह प्राचीन पूजा अब भी चली आती है, यद्यपि कालान्तर में उसमें बहुत परिवर्तन हुए हैं।

जान पड़ता है कि सातवाहन युग में भी सारनाथ की कला की उन्नति होती रही। इस युग की एक वेदिका के बारह स्तंभ स्टेन कोनो और मार्शल को मिले। इस स्तंभों पर निम्नलिखित नक्काशियाँ दीख पड़ती हैं:—(१) सज्जित वेदिका युक्त पीपल का वृक्ष, (२) त्रिरत्न, जो बुद्ध, धर्म और संघ का प्रतीक है, धर्मचक्र के साथ एक स्तंभ पर स्थित, (३) स्तूप दोहरी वेदिका, छत्र, बंदनवार और मालाओं से सजा हुआ, (४) पर्णशाला के साथ एक चैत्य।[१] इनके अलावा पूर्णघट, पंजक, नाग इत्यादि की भी आकृतियाँ आती हैं। साँची और बोध गया में आये अलंकरणों से इनकी तुलना की जा सकती है। सारनाथ और उज्जैन से उस समय संपर्क था जैसा हमें हिंद-पर्सि-पोलिस शैली के कुछ स्तंभों के शीर्ष-पट्टों के टुकड़ों के मौर्य कालीन ब्राह्मी के लिखे लेखों से लगता है (मजूमदार, ए गाइड टु सारनाथ, पृ० ५०)। बहुत संभव है कि शुंगकालीन सारनाथ की कलापर विदिशा का प्रभाव पड़ा हो।

आन्ध्र युग अर्थात् पहली शताब्दी ईसा पूर्व का एक स्तंभ-शीर्षक मार्शल को सारनाथ में मिला था। शीर्षक की एक तरफ एक घुड़सवार है और दूसरी तरफ एक हाथी जिस पर दो महावत हैं। शीर्षक के कोने पेचकदार हैं और बाकी जगह में हनीसकल और पंजक बने हैं (केटलाग, वही, पृ० १४६)।

राजघाट की खुदाई से शुंग और आंध्रकालीन कोई प्रस्तरमूर्ति तो नहीं मिली हैं, पर ईसा पूर्व पहली और दूसरी शताब्दी के मिट्टी के खिलौने अवश्य मिले हैं। यहाँ से मिली शुंग मूर्तियों के सिर चौड़े और चेहरे चपटे हैं। स्त्रियों के सिर पर भारी भरकम शिरोभूषा भी मिलती है। गॉर्डन के अनुसार बनारस से निकलीं ठप्पे से ढलीं ऐसी स्त्रियों की मृण्मूर्तियों का समय करीब ४० ईसा पूर्व का है और ऐसी मूर्तियाँ मथुरा से बनारस तक या उसके और भी पूरब बसाढ़ तक मिलतीं हैं।[२] मृण्मूर्तियों के संबंध में हम पाठकों का ध्यान उस खौद पहने हुए सिर की ओर दिला देना चाहते हैं जो सारनाथ से मिला है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह किसी यूनानी सिपाही का सिर मालूम पड़ता है और शायद ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का हो। पाटलिपुत्र से भी कुछ ऐसी ही मृण्मूर्तियाँ मिली हैं जिन पर विदेशी प्रभाव स्पष्ट है।

राजघाट से मिला स्फटिक का बना एक स्त्री का सिर, हाथीदाँत की बनी एक कंघी शंख की और हाथीदाँत की चूड़ियाँ यह बतलाती हैं कि शुंग युग में पत्थर काटने, हाथी-दाँत के काम इत्यादि के व्यवसाओं की काफी उन्नति थी। ● ●

---

[१] केटलाग आफ दी म्यूजियम ऑफ आर्कियालाजी, सारनाथ, पृ० २०८ इत्यादि

[२] जे० आइ० स० ओ० ए०, ११ (१९४३), पृ० १११–१२

छठा अध्याय

सातवाहनों से गुप्तों के उदय तक काशी का इतिहास

सातवाहन युग में बनारस के इतिहास का कुछ पता नहीं चलता, पर सारनाथ से मिले वेदिका-स्तंभों और स्तंभ-शीर्षपट्टों के टुकड़ों पर के लेखों से, जिनमें उज्जैन का नाम आया है, यह पता चलता है कि साँची की आन्ध्र कालीन कला का सारनाथ की कला पर काफी प्रभाव था। ऐसा जान पड़ता है कि इस युग में भी बनारस कौशांबी के अधिकार में रहा। प्रथम शताब्दी ईस्वी में बनारस कौशांबी के राजनीतिक प्रभाव में था। सारनाथ में अशोक के स्तंभ पर उत्कीर्ण एक परवर्ती लेख से इस बात का पता चलता है कि राजा अश्वघोष के चालीसवें राज्य संवत् तक बनारस उनके अधिकार में रहा।[१] राजघाट से अश्वघोष की एक मुद्रा भी मिली है, जिस पर अश्वघोषस्य लेख है। इसके नीचे बैठा हुआ एक सिंह बना है। कनिंघम को बहुत दिनों पहले अश्वघोष का एक सिक्का मिला था।[२] डा० आल्तेकर ने भी इसी राजा का एक सिक्का प्रकाशित किया है जिसमें अश्वघोष के नाम के ऊपर सिंह की आकृति बनी है।[३] यह तो ठीक नहीं कहा जा सकता कि अश्वघोष का समय क्या है पर ऐसा जान पड़ता है कि वे कनिष्क द्वारा मध्यदेश पर अधिकार करने से पहले हुए होंगे।

करीब ईसा की प्रथम शताब्दी के अंत में कुषाणों का मध्यदेश पर अधिकार हो गया। सारनाथ से मिले दो लेखों से ऐसा पता चलता है कि कनिष्क के तीसरे राज्य वर्ष के पहले अर्थात् ८१ ईसा से पहले कनिष्क का अधिकार बनारस पर हो चुका था।

ये दोनों लेख भिक्षु बल द्वारा बनवायी गयी बोधिसत्त्व की प्रतिमा पर हैं।[४] इन लेखों का अभिप्राय यह है कि महाराज कनिष्क के तृतीय राज्य संवत्सर में त्रिपिटज्ञ भिक्षुबल ने बोधिसत्त्व की प्रतिमा और छत्र-यष्टि की वाराणसी में उस जगह स्थापना की जहाँ भगवान् बुद्ध चंक्रमण करते थे। इस प्रतिमा का उद्देश्य भिक्षु के माता-पिता, उपाध्याय, आचार्य, अंतेवासी, त्रिपिटज्ञा बुद्धमित्रा, क्षत्रप वनस्पर और खरपल्लाण के और चतुर्परिषद् के साथ सर्वसत्त्वों का हित-सुख था। दूसरे लेख से, जो प्रतिमा के पादपीठ पर है, पता चलता है कि भिक्षुबल ने महाक्षत्रप खरपल्लाण और क्षत्रप वनस्पर की मदद से यह प्रतिमा बनवायी।

उपर्युक्त लेखों से यह पता लगता है कि कनिष्क के तीसरे वर्ष में वाराणसी क्षत्रप वनस्प(स्फ)र और महाक्षत्रप खरपल्लाण के अधिकार में थी। वनस्पर शायद बनारस

---

[१] एपि० इंडि०, ८।१७१

[२] ए० एस० आर०, १०, ४

[३] जर्नल ऑफ दि न्यूमेस्मेटिक सोसाइटी, ४, पृ० १४

[४] एपि० इंडि०, ८।१७६

के क्षत्रप थे और उस समय वहाँ तमाम प्रदेश के, जिसमें बनारस भी था, सबसे बड़े अधिकारी खरपल्लाण थे। यह प्रदेश कौशांबी हो सकता है। डा० जायसवाल की राय में पुराणों में इन्हीं वनस्पर को विश्वस्फटि(क), विश्वस्फाणि और बिंबस्फ़ाटि कहा गया है। कनिष्क के तीसरे राज्यवर्ष में वनस्पर केवल क्षत्रप थे और खरपल्लाण महा क्षत्रप। डा० जायसवाल का अनुमान है कि शायद वनस्पर ९०-१२० ईस्वी में महाक्षत्रप हुए हों।[१] अगर डा० जायसवाल की विश्वस्फाटि में वनस्पर की पहचान ठीक है तो इसके संबंध में हमें पुराणों से कुछ विवरण मिलता है। ब्रह्मांड और वायु तीसरी शताब्दी के राजकुलों का वर्णन करते हुए विश्वस्फाणि का निम्नलिखित शब्दों में उल्लेख करते हैं— मागधों का राजा विश्वस्फाणि (भागवत-विश्वस्फूर्ति, वायु-विश्वस्फटिक) बहुत बड़ा वीर होगा। सब राजाओं का उन्मूलन करके वह निम्न जाति के लोगों को जैसे कैवर्तों, पंचकों मद्रकों, यादवों तथा पुलिंदों को राजा बनायेगा। इन जाति के लोगों को वह बहुत से देशों का शासक नियुक्त करेगा। युद्ध में वह विष्णु के समान पराक्रमी होगा, राजा विश्वस्फाणि का रूप षण्ढ की तरह होगा। क्षत्रियों का उन्मूलन करके वह दूसरी क्षत्रिय जाति बनायेगा। देव, पितृ और ब्राह्मणों को तुष्ट करता हुआ वह गंगा के तीर तप करता हुआ शरीर छोड़कर इन्द्रलोक जायगा।

विश्वस्फाणि के उपर्युक्त वर्णन से हमें कई बातों का पता चलता है। पहली बात तो यह है कि विश्वस्फाणि को पुराणकार तीसरी सदी में रखते हैं पर वनस्पर की सत्ता तो पहली सदी के अंत में और दूसरी सदी के आरम्भ में थी। लेकिन ऐसी गड़बड़ी तो पुराणों में अक्सर आती है और इसका कारण पुराणों का भ्रष्ट पाठ है जो सदियों के हेरफेर से बहुधा कुछ का कुछ हो गया है। विश्वस्फाणि ने लगता है छोटी जातियों को ऊपर बढ़ाया और प्रादेशिकों के पदों पर भी बैठाया। इससे यह प्रकट हो जाता है कि वह वैदिक धर्म को मानने वाला नहीं था। सारनाथ के लेखों से यह स्पष्ट है कि वह बौद्ध था और कम-से-कम बौद्धों में ऊँच-नीच अथवा जातिवाद का स्थान नहीं था। क्षत्रियों का उन्मूलन करके दूसरी क्षत्रिय जाति बनाने की बात को लेकर जायसवाल का कहना है कि बनाफर राजपूतों की उसने सृष्टि की। इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि उसने नीच जातियों को क्षत्रिय पद दिया। सबसे रोचक बात तो यह है कि इन सब अवैदिक कार्यों को करते हुए भी वह देव और पितृ-पूजक ब्राह्मणों का भक्त माना गया है। इस उल्लेख से साफ पता चलता है कि यह केवल ब्राह्मणों की हार्दिक अभिलाषा का द्योतक है। गंगा के तीर पर तप करते हुए शरीर त्यागने की बात में शायद इसकी वाराणसी में मृत्यु की ओर संकेत है। जो भी हो, यह पता नहीं चलता कि विश्वस्फाणि ने किन-किन क्षत्रियों को हराया। ऐसा जान पड़ता है कि मध्यप्रदेश और मगध में कनिष्क के राज्य स्थापन होने के बाद बहुत-से राजे बच गये होंगे और वनस्पर ने उनकी सफाई की।

वासुदेव के बाद करीब १७० ईस्वी में मध्यदेश से कुषाणों का अधिकार हट गया लेकिन कनिष्क के बाद से वासुदेव तक मध्यदेश के इतिहास पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता; यह भी पता नहीं चलता है कि कुषाण सीधे अपना राज्य चलाते थे अथवा मध्यदेश

[१] जायसवाल, हिस्ट्री ऑफ इंडिया—ए० डी० १५० टु ३५० ए० डी०, पृ० ४१

में बहुत-से सामंतों द्वारा उनका काम चलता था। जो भी हो कौशांबी से मिले सिक्कों तथा कुछ लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्वितीय शताब्दी में पूर्वी उत्तर प्रदेश एक तरह से स्वतन्त्र था। संभवतः ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दियों में भी बनारस कौशांबी के आधीन था। इस विश्वास का कारण यह है कि बनारस में राजघाट से जितनी भी द्वितीय या तृतीय शताब्दी की मुद्राएँ मिली हैं उन सबका संबंध कौशांबी के राजवंशों से है। पर केवल इन मुद्राओं के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें उल्लिखित राजाओं का काल-क्रम क्या था। यह सवाल तो तभी हल हो सकता है जब हमें इन राजाओं के शिला लेख भी मिलें।

धनदेव—राजा धनदेव की बहुत-सी मुद्राएँ राजघाट की खुदाई से मिली हैं। मुद्राओं पर धनदेवस्य राज्ञो लेख है, बायीं ओर वृषभ है जो यूप और चैत्य के सामने खड़ा है। उसके पीछे एक भाला है। धनदेव के सिक्के भी मिले हैं। श्री एलन का अनुमान है कि धनदेव के सिक्के कौशांबी के सिक्कों की अंतिम अवस्था प्रकट करते हैं और इस राजा का समय ईसा की आरंभिक शताब्दियों में है।[१]

जेष्ठमित्र—इनकी मुद्रा पर जेष्ठमित्रस्य लेख है जिसके अक्षर पहली शताब्दी के हैं। वृषभ बायीं ओर अंकित है। शायद ये वही ज्येष्ठमित्र हों जिनके सिक्के कोसम से मिले हैं।[२] संभव है ये कौशांबी के अन्तिम मित्र राजाओं में रहे हों।

अभय—कला-भवन वाली मुद्रा पर राज्ञो अभयस्य लेख है और इस पर चक्र और कुंत के लक्षण बने हैं। इलाहाबाद वाली इसी राजा की मुद्रा पर राजा के नाम के नीचे बायीं ओर वृषभ है, उसके सामने चैत्य और यूप और उसके पीछे त्रिशूल। वृषभ और चैत्य इस राजा का कौशांबी से संबंध प्रकट करते हैं। लेख की लिपि तृतीय शताब्दी की है।

मुद्राओं, सिक्कों और लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दियों में कौशांबी पर मघ राजाओं अधिकार था। इन मघ राजाओं में शिवमघ, भद्रमघ, वैश्रवण, भीमवर्मन्[३], सतमघ, विजयमघ[४] पुरमघ, यज्ञमघ, और भीमसेन[५] के सिक्के मिले हैं। शिवमघ[६] और भीमसेन की मुद्राएँ भीटा से मिली हैं[७] शिवमघ[८] भद्रमघ[९] वैश्रवण[१०] भीमवर्मन्[११] और भीमसेन[१२] के लेख भी मिले हैं।

---

[१] एलेन, उल्लिखित, पृ० ९६ [२] वही, पृ० ९६, प्लेट० २०, ९
[३] जे० एन० एस० आई०, २ (१९४०), पृ० ९५
[४] वही, जून, पृ० १०–११ [५] वही, पृ० १६
[६] ए० एस० आई० एन० आर०, १९११–१२, पृ० ४१ [७] वही, पृ० ५१
[८] एपि० इंडि०, १८।१५९–१६० [९] एपि० इंडि०, २३।२४५–४८
[१०] एपि० इंडि०, २४।१४६–४८
[११] ए० एस० आर०, १०, पृ० ३, प्लेट० २ (३); इंडियन कल्चर, जुलाई, १९२६, पृ० १७७–१७९
[१२] ल्यूडर्स लिस्ट ९०६

कौशांबी से तो इन राजाओं का संबंध विख्यात है, पर अभी तक यह पता नहीं था कि बनारस से इनका क्या संबंध था। सौभाग्यवश भीमसेन, रुद्रमघ, हरिषेण और कृष्णषेण की मुद्राएँ बनारस में राजघाट से मिली हैं जिनसे पता चलता है कि ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दियों में संभवतः बनारस कौशांबी के अधिकार में रहा होगा।

डा० आल्तेकर ने मघ वंश पर विस्तार के साथ विचार किया है।[१] इस विषय का काशी के इतिहास से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि हम डा० आल्तेकर के विचारों को यहाँ विस्तृत रूप में देना चाहते हैं।

भारतीय इतिहास में मघों के विषय में पौराणिक उल्लेख है। इसके अनुसार कोशल अर्थात् महाकोशल पर नव-मघों ने राज्य किया। पुराणों ने इनके काल पर कोई प्रकाश नहीं डाला है पर सन्दर्भ से हम यह पता पा सकते हैं कि शायद वे ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में राज्य करते थे। मघ राजाओं के अनेक शिलालेख बांधोगढ़ (रीवाँ) और कौशाम्बी से मिले हैं और उनमें कुछ नामों के पीछे 'मघ' भी मिलता है।

अभी तक हमें महाराज वासिष्ठी पुत्र भीमसेन के दो लेख, एक बांधोगढ़ से जिसका समय किसी संवत्सर का ५१ वर्ष है और दूसरा लेख जो ५२ वें साल का है, गिंजा से मिले हैं।[२] इनकी एक मुद्रा भीटा से मिली है[३] और दूसरी राजघाट बनारस से। इनके पुत्र कोच्छिपुत्र पोठसिरि थे और बांधोगढ़ से इनके ८६, ८७ और ८८ वर्षों के लेख मिले हैं। महाराज भद्रमघ का पता हमें ८१, ८६, और ८७ वर्षों में उत्कीर्ण कोसम के मिले लेखों से लगता है।[४] बांधोगढ़ से मिले भट्टदेव, जिनके लेख में ९० वाँ साल मिलता है, और भद्रमघ एक ही थे। इस लेख में इन्हें पोठसिरी का पुत्र कहा गया है। इनके सिक्के भी मिले हैं।[५] महाराज शिवमघ का पता कौशांबी के एक लेख[६] और भीटा से मिली एक मुद्रा[७] तथा सिक्कों से चलता है। वैश्रवण का पता हमें १०७ वें साल के कोसम के एक लेख[८] और बांधोगढ़ के दो अप्रकाशित और बिना संवत् के लेखों से, जिनमें उन्हें महासेनापति भद्रबल का पुत्र कहा गया है, और सिक्कों से चलता है। महाराज भीमवर्मन् का पता उनके कौशाम्बी से मिले १३० और १३९ संवत वाले लेखों[९] और सिक्कों से चलता है। महाराज सतमघ, विजयमघ[१०] पुरमघ तथा यज्ञमघ के भी सिक्के

---

[१] ए. एस. आल्तेकर, दि मघस् ऑफ साउथ कोसल, जर्नल ऑफ दि गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टिट्यूट, फरवरी १९४४, पृ० १४९–१६०,

[२] एपि०, इंडि०, ३ । ३०६

[३] ए० एस० आर०, १९१०–११, पृ० ५०–५१

[४] एपि० इंडि०, २४, २५३; १८।१६०; २३।२४५

[५] जे० एन० एस० आई०, २,९५ से

[६] एपि० इंडि०, १८।१५९

[७] ए० एस० आर०, १९१०–११, पृ० ५० से

[८] एपि० इंडि०, २४।१४६

[९] इंडियन कल्चर, १,१७७

[१०] जे० एन० एस० आई०, जून १९४२, पृ० १०–११

मिले हैं।[१] इन लेखों को जाँच कर डा० आल्तेकर इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि मघवंश का सबसे प्राचीन लेख ५१ वें वर्ष का है और सबसे अन्तिम १३९ वें वर्ष का और ये वर्ष किसी संवत्सर के हैं। पर यह कौन-सा संवत्सर है इसके बारे में विद्वानों का मतभेद है। कुछ इसे ३१९ ईस्वी का गुप्त संवत, कुछ १४८ ईस्वी का चेदि संवत, और कुछ इसे ७८ ईस्वी का संवत्सर मानते हैं। डा० आल्तेकर भी इन लेखों के अंकों को शक संवत् में ही मानते हैं।

वासिष्ठीपुत्र भीमसेन का राज्यकाल डा० आल्तेकर १२३ और १४८ के बीच और इसका राज्य-विस्तार इलाहाबाद से ४० मील दक्षिण गिंजा से लेकर बघेलखंड तक मानते हैं। उनके अनुसार कुषाणों का मध्यदेश में इस काल में भी प्राबल्य था इसलिए मथुरा से पाटलिपुत्र के रास्ते पर होने के कारण कौशांबी कुषाणों के अधिकार में थी। भीमसेन की भीटा वाली मुद्रा से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भीमसेन वहाँ का राजा था, शायद वह मुद्रा किसी पत्र के साथ बांधोगढ़ पहुँच गयी हो। वासिष्ठीपुत्र भीमसेन के बाद कोच्छिपुत्र पोठसिरी गद्दी पर आये। इनके समय का अनुमान डाक्टर आल्तेकर १४८–१६८ ईस्वी तक करते हैं। इनके समय के पाँच लेख बांधोगढ़ में मिले हैं जिनसे पता चलता है कि वहाँ मथुरा और कौशांबी के व्यापारी आते थे। पोठसिरी का मघ नाम का विदेशी मन्त्री भी था। इसके जमाने में कुषाणों की अवनति होने लगी और डा० आल्तेकर का अंदाजा है कि युवराज भद्रमघ अथवा भद्रदेव ने उससे करीब १५५ ईस्वी में कौशांबी को छीन लिया क्योंकि कौशांबी में उसके १५९, १६४ और १६५ ईस्वी के लेख मिलते हैं। यहाँ एक कठिनाई उपस्थित होती है कि बांधोगढ़ से भद्रमघ के पिता के भी लेख १६४, १६५ और १६६ ईस्वी के मिलते हैं। जिसके माने यह होते हैं कि पिता पुत्र साथ ही साथ राज्य करते थे, जो सम्भव नहीं है। इस कठिनाई का निराकरण डा० आल्तेकर इस प्रकार करते हैं कि युवराज भद्रमघ ने अपने पराक्रम से कौशांबी में राज्य स्थापित किया और शायद इसी से प्रसन्न होकर पोठसिरी ने उसे वहाँ स्वतन्त्र रूप से राज्य करने दिया। डा० आल्तेकर का कहना है कि भीटा से मिले अगर एक सिक्के पर प्रस्थश्रिय नाम ठीक है तो लगता है कि पोठसिरी ने अपने बढ़ते हुए राज्य को देखकर अपना सिक्का चलाया। इसके बाद भद्रमघ के सिक्के तो बराबर चलने लगे। भद्रमघ का राज्यकाल डा० आल्तेकर करीब १६८ से १७५ ईस्वी तक मानते हैं।

डाक्टर आल्तेकर का अनुमान है कि भद्रमघ के बाद शिवमघ गद्दी पर आये। इनका भद्रमघ से क्या संबंध था इसका तो ठीक पता नहीं है, पर भीमसेन और शिवमघ की मुद्राओं में समानता होने से यह कहा जा सकता है कि वे उसी के समसामयिक होंगे। शायद शिवमघ ने १२५ से १८४ ईस्वी तक राज्य किया। शिवमघ के बाद वैश्रवण गद्दी पर आये जो बांधोगढ़ के लेख के अनुसार महासेनापति भद्रबल के पुत्र थे। डा० आल्तेकर इस महासेनापति भद्रबल को भद्रमघ न मानकर एक दूसरा व्यक्ति मानते

[१] वही, १९४६ (जून), पृ० ८–९

हैं। उनकी राय में शायद भद्रबल शिवमघ का छोटा भाई था और इसीलिए शिवमघ के कोई संतान न होने पर उसका भतीजा भद्रबल गद्दी पर बैठा। वैश्रवण का राज्यकाल डा० आल्तेकर करीब १८४ से २०५ ईस्वी तक मानते हैं। उनका विचार है कि वैश्रवण के समय मघों का राज मध्यप्रदेश में बिलासपुर से लेकर शायद उत्तरप्रदेश में फतहपुर तक रहा हो। भीमवर्मन् वैश्रवण के बाद गद्दी पर आये और उन्होंने २०५ से २३० ईस्वी तक राज्य किया।

इन मघ राजाओं के अतिरिक्त डा० आल्तेकर को शतमघ, विजयमघ, पुरमघ और यज्ञमघ के सिक्के भी मिले हैं। उनका विचार है कि ये सब भीमवर्मन् के बाद कौशांबी के राजा हुए और इनका काल २३० से २७५ ईस्वी तक होना चाहिए।

अब हमें विचार करना चाहिए कि डा० आल्तेकर ने जो मघ राजाओं के इतिहास का खाका तैयार किया है वह कहाँ तक ठीक है और उससे एवं बाद की मिली सामग्री को साथ लेकर बनारस के इतिहास पर क्या प्रकाश पड़ता है। श्री कृष्णदेव को राजघाट, बनारस की खुदाई से राजा भीमसेन की एक मुहर मिली है[१] जिससे यह प्रकट हो जाता है कि भीमसेन का संबंध केवल बांधोगढ़, गिंजा और भीटा तक सीमित न होकर बनारस तक था। इसका यह अर्थ नहीं है कि भीमसेन बनारस के राजा थे क्योंकि यह भी संभव है कि यह मुद्रा किसी और दूसरे कारण से भी बनारस में आगयी हो। पर संभावना तो इस बात की है ही कि भीमसेन का राजनीतिक प्रभाव बनारस तक फैला हुआ था। अब हम पाठकों का ध्यान गौतमीपुत्र शिवमघ और वासिष्ठीपुत्र भीमसेन की भीटा से मिली मुद्राओं की ओर दिखाना चाहते हैं।[२] शिवमघ की मुद्रा में एक वृषभ बायीं रुख खड़ा दिखलाया गया है। उसके गले वाले भाग के नीचे एक स्त्री सम्मुख रुख खड़ी है; उसका दाहिना हाथ फैला हुआ है और बाँया हाथ कमर पर है। वृषभ के पीछे एक स्तंभ या वज्र, है बगल में अधिज्य धनु और आंध्र सिक्कों की तरह गोलियों का एक ढेर है। भीमसेन की मुद्रा पर भी वैसे ही लक्षण हैं। भीटा के जिस स्तर से ये मुद्राएँ मिली हैं उससे दो बातें प्रकट होती हैं; एक तो यह कि वह स्तर कुषाण युग का है[३] और दूसरा यह कि इस युग में किसी भीषण आक्रमण होने के कारण यह स्तर ध्वस्त होने पर खाली कर दिया गया।[४] डा० आल्तेकर का अनुमान है कि कौशांबी को भद्रमघ ने शायद कौशल से हस्तगत किया, पर पुरातत्त्व का प्रमाण इसके विरुद्ध है। उत्खनन से तो यह भी सिद्ध ही होता है कि शायद कुषाणों को कौशांबी या कम से कम भीटा से उखाड़ फेंकने वाला राजा भीमसेन अथवा शिवमघ था। शिवमघ से भीमसेन का क्या सम्बन्ध था यह तो ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता पर उन दोनों की मुद्राओं पर लक्षणों की समानता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दोनों का समय काफी निकट था। डा० आल्तेकर की यह बात मानने का कोई प्रमाण नहीं है कि भद्रमघ के बाद शिवमघ

---

[१] एनुअल बिब्लियोग्राफी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, (१९४२), पृ० ४१-५१

[२] ए० एस० आर०, एन० इं०, १९११-१२, पृ० ४१, ५१

[३] वही, पृ० ३२,

[४] वही, पृ० ३४

गद्दी पर बैठे। शायद यह भ्रान्त धारणा भीमसेन के पौत्र और पोठसिरि के पुत्र भट्टदेव और भद्रमघ को एक व्यक्ति मानने से ही उत्पन्न हुई है। मेरी राय में तो भीमसेन का एक वंश ही अलग था और उसको खतम करके ही मघों ने उनके राज्य पर अधिकार जमाया। ऐसा मानने के कई कारण हैं। (१) डा आल्तेकर का विचार है कि राजा भीमसेन कोई बड़े राजा नहीं थे और इसीलिए पोठसिरी के पुत्र भद्रमघ ने जब कौशांबी दखल कर लिया तब उसने मघ वंश के सिक्के चलाये। पर बात ऐसी नहीं है। श्री शुभेंदुसिंह राय ने भीमसेन का एक सिक्का प्रकाशित किया है।[1] नाप और तौल में तो यह मघ सिक्कों की ही भाँति है पर यह सिक्का काँसे का है जब कि मघ सिक्के तांबे के हैं। मघ सिक्कों के चित ओर चैत्य अथवा चक्र वेदिका के अन्दर वृक्ष और नीचे एक सीढ़ी होती है, पट पर दाहिनी ओर वृषभ होता है। भीमसेन के सिक्के में पट ओर ऊपर वेदिका के अन्दर एक वृक्ष है उसके बाद नंदीपद और चित और बायीं ओर वृषभ। इन दोनों सिक्कों के मिलने से यह पता चलता है कि भीमसेन के सिक्के का प्रकार मघ सिक्कों से अलग है और निश्चय ही वे किसी दूसरे वंश की ओर संकेत करते हैं। (२) पोठसिरि के पुत्र भट्टदेव को डा० आल्तेकर ने भद्रमघ माना है पर ऐसा मानने में गड़बड़ी जान पड़ती है क्योंकि पोठसिरि तथा उनके तथाकथित पुत्र भद्रमघ के समय मिलने लगते हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिये डा० आल्तेकर को यह कल्पना करनी पड़ी कि शायद पोठसिरि ने उसे कौशांबी में स्वतंत्र राज्य कायम करने की आज्ञा दी। पर यह कठिनाई आप-से-आप हल हो सकती है अगर हम मानलें कि मघ वंश के भद्रमघ का राज्य १५९ ईस्वी में स्वतंत्र रूप से कायम हो चुका था। अब प्रश्न यह उठता है कि कौशांबी पर मघ वंश का अधिकार कब हुआ। इसका ठीक ठीक तो हमें पता नहीं है पर ऐसा मालूम पड़ता है कि पोठसिरि के पहले ही यह घटना घट चुकी होगी। भीमसेन और शिवमघ की मुद्राओं में गहरी समानता देखने से तो यह पता चलता है कि शायद भीमसेन के बाद शिवमघ ने अपनी स्वतंत्र सत्ता कौशांबी में कायम की। पर इस प्रश्न का तब तक हल नहीं हो सकता जब तक शिवमघ का कोई संवत् के साथ लेख न मिले। अगर शिवमघ भद्रमघ के पहले हुए तो भद्रमघ के बाद वैश्रवण आये और उनके बाद भीमवर्मन्।

अब हमें बांधोगढ़ के भीमसेन के वंश की ओर भी ध्यान देना चाहिए। भीमसेन ने करीब ईस्वी १२३ से १४८ तक राज्य किया, इनके पुत्र पोठसिरी ने शायद १४८ से १६८ ईस्वी तक। इनके पुत्र भट्टदेव के राज्यकाल का ठीक पता नहीं है। पर इतना तो पोठसिरी के बांधोगढ़ के एक लेख से पता लगता है कि मघ नाम के एक व्यक्ति पोठसिरी के राज्य में काफी प्रभावशाली व्यक्ति थे। हो सकता है शायद इन्हीं मघ ने बाद में शिवमघ नाम ग्रहण कर लिया हो और कौशांबी में अपनी स्वतंत्र राज्यसत्ता कायम कर ली हो। लगता ऐसा है कि १८४–२०५ ईस्वी के बीच में जो डा० आल्तेकर ने वैश्रवण का राज्य-काल माना है, भीमसेन का वंश बांधोगढ़ से खतम हो गया और जैसा कि वहाँ वैश्रवण के लेखों से पता चलता है मघ वंश का बांधोगढ़ और कौशांबी पर अधिकार हो गया।

---

[1] ज० एन० एस० आई०, जून १९४६, पृ० १५–१६।

यहाँ हम राजघाट से मिली रुद्रमघ की एक मुद्रा का भी उल्लेख कर देना चाहते हैं। कुषाण लिपि में लेख है 'महासेनापतिस्य(तेः) रुद्रमघस्य'। इस मुद्रा से यह पता चलता है कि रुद्रमघ का बनारस से संबंध था और ये अपने को महासेनापति कहते थे। मघ राजाओं की उपर्युक्त तालिका में रुद्रमघ का नाम नहीं आता। यह कहना कठिन है कि उनका मघ राजाओं के काल क्रम में क्या स्थान था और बनारस से उनका क्या संबंध था।

राजघाट बनारस से कुछ और मुद्राएँ मिली हैं जिनसे बनारस के द्वितीय और तृतीय शताब्दियों के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। पहिली मुद्रा हरिषेण की है और राजघाट से काफी संख्या में मिली हैं। मुद्राओं पर निम्नलिखित लक्षण हैं—ऊपर अधिज्यधनु, बीच में वेदिका से घिरा यूप, नीचे नंदीपद, श्रीवत्स और स्वस्तिक। इस मुद्रा में हरिषेण की राज्य पदवी न होने से यह तो दावे के साथ नहीं कहा जा सकता कि वह राजा था या नहीं पर इसकी मुद्राएँ इतनी संख्या में मिली हैं कि वह निश्चय ही राजा होगा। दूसरी मुद्राएँ कृष्णषेण की है, लिपि कुषाण काल के अंतिम युग की है। ऊपर अधिज्य धनु है और नीचे स्वस्तिक, त्रिशूल और श्रीवत्स हैं। इन दोनों मुद्राओं के लक्षणों में इतना मेल है कि यह कहना अत्युक्ति न होगी कि ये दोनों राजे एक ही वंश के थे। अब प्रश्न यह उठता है ये किस वंश के थे। यह कहना तो कठिन है क्योंकि अभी तक हरिषेण और कृष्णषेण के न तो कोई लेख मिले हैं न सिक्के। पर इनकी मुद्राएँ इतनी बड़ी संख्या में राजघाट से मिली हैं कि यह मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि दोनों बनारस में संभवतः द्वितीय शताब्दी के अंत या तीसरी शताब्दी में राज्य करते थे। यहाँ हम यह बात बता देना चाहते हैं कि इन मुद्राओं पर आया अधिज्य धनु शिवमघ और भीमसेन की भीटा वाली मुद्रा पर भी आता है। इस आधार पर यह तो नही कहा जा सकता कि ये दोनों राजे भीमसेन या मघ वंश के थे पर इससे यह तो जरूर पता लगता है कि इनका उनसे दूर या नजदीक का संबंध था।

इनके नामों में षेण आने से यह कहा जा सकता है कि शायद वे भीमसेन के वंशधर रहे हों। १२३-१६८ ईस्वी या उसके पहले तक तो हमें पता है कि भीमसेन और पोठिसिरी ने बांधोगढ़ पर राज्य किया। हमें यह भी पता है कि १५८ ईस्वी के पहले कौशांबी भद्रमघ के हाथ में थी। पोठसिरी के पुत्र भट्टदेव १६८ ईस्वी में बांधोगढ़ पर राज्य करते थे। १८५ ईस्वी के आस पास कोसम और बांधोगढ़ पर वैश्रवण का, जो मघ थे, राज्य था। इसका अर्थ यह हुआ कि भीमसेन का राज्य वंश १८५ ईस्वी के आस पास बांधोगढ़ से खतम हो गया। अगर हरिषेण और कृष्णषेण का उसके वंश से संबंध है तो उनका समय करीब १७० और १८५ ईस्वी के बीच होना चाहिए। यह भी संभव है कि भीमसेन के वंश की एक शाखा बनारस आ गयी हो और उसमें हरिषेण और कृष्णषेण रहे हों।

राजा नव की राजघाट से मिली मुद्रा पर 'राज्ञो नवस्य' लेख, दो लक्षणों, यथा बायीं ओर गड़ा हुआ भाला, और दाहिनी ओर वेदिका के अंदर यूप, के बीच में है। इस राजा के सिक्कों का बहुत दिनों से पता है। श्री स्मिथ इसे पहले देवस पढ़ते थे पर डा० जाय-

सवालने इसे नवस पढ़ा और श्री एलन ने इसे सही मान लिया।[१] डाक्टर अग्रवाल के अनुसार बहुत-से सिक्कों के आधार पर यह पता चलता है कि राजा का शायद ठीक नाम नेव था। नव और नेव दोनों ही संस्कृत के नव्य के प्राकृत रूपांतर हैं जिसका अर्थ प्रशंसनीय होता है। डा० आल्तेकर ने राजा नव के बारे में छानबीन की है। उनका कहना है कि नव के सिक्के पूर्वी उत्तरप्रदेश और विशेष कर कौशांबी से मिले हैं। इन सिक्कों के चित ओर वेदिका से घिरा वृक्ष और पट ओर वृषभ मिलने से यह अनुमान होता है कि ये कौशांबी के थे क्योंकि ये दोनों लक्षण कौशांबी से प्राप्त अनेक सिक्कों पर मिलते हैं। इसलिए राजा नव संभवतः कौशांबी के राजा थे जो मघों के बाद २७५ ईस्वी के करीब कौशाम्बी के शासक हुए।[२] पर डा० जायसवाल की इस राजा नव के बारे में दूसरी ही राय है। नव के सिक्कों का अध्ययन करके वे निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचे। (१) नव ने उत्तरप्रदेश में राज्य किया, (२) उसके सिक्के कौशांबी से निकले क्योंकि उन पर लक्षण कौशांबी के हैं, (३) उसके सिक्कों पर आये राज्य संवत्सरों से पता चलता है कि उसने २७ वर्ष तक राज्य किया, (४) उसके सिक्के पद्मावती, विदिशा और मथुरा के वीरसेन के सिक्कों से मिलते-जुलते हैं।[३] जायसवाल की राय में राजा नव पुराण के नवनाग वंश के स्थापक थे। उनके अनुसार १६५ से १७६ ईस्वी के बीच में नव ने भारशिव वंश की स्थापना की। उनकी इस स्थापना से यह प्रकट है कि इसके समकालीन मघवंश की सत्ता ही नहीं थी जो अनेक प्रमाणों द्वारा प्रायः सिद्ध हो चुकी है। इसीलिए हमें डा० आल्तेकर की यह राय मान्य है कि मघों के बाद ही कौशांबी पर राजा नव का अधिकार हुआ और उसके बाद कुछ राजा इस वंश में हुए होंगे। संभवतः गुप्त युग के आरम्भिक काल में राजा नव के वंशजों को हराकर शायद चन्द्रगुप्त प्रथम ने कौशांबी पर अपना अधिकार कर लिया। कम-से-कम भीटा की खुदाई से यह पता लगता है कि वहाँ के चौथे स्तर को, जिसका समय शायद तीसरी शताब्दी है, आरंभिक गुप्त युग में खाली करना पड़ा। जले हुए घर और गलियों में पड़े पत्थर के बड़े बड़े गुलेल लड़ाई की भीषणता के प्रतीक हैं।[४] डा० जायसवाल के अनुसार भीटा के दूसरी बार खाली किये जाने का कारण समुद्रगुप्त की चढ़ाई है।[५] परंतु कम-से-कम समुद्रगुप्त के इलाहाबाद वाले लेख में तो इसका उल्लेख नहीं है। संभवतः समुद्रगुप्त के पहले ही बनारस और कौशांबी पर गुप्तों का अधिकार हो चुका था। काशी के प्राक्-गुप्त युग के इतिहास के अध्ययन से एक बात का पता चलता है, जिससे उस सर्वमान्य मत को धक्का पहुँचता है, जिसके अनुसार पूर्वी उत्तर-प्रदेश से कुषाणों का राज्य १५० ईस्वी के बाद वासुदेव के राज्यकाल में लुप्त हो गया। हमें पता है कि दूसरी शताब्दी में काशी का गहरा संबंध कौशांबी से था पर इस युग में धनदेव, भीमसेन, शिवमघ और वैश्रवण इत्यादि का बराबर

---

[१] कायंस ऑफ एंशेंट इंडिया, पृ० १५४

[२] भारत कौमुदी, भा० १, पृ० १३–१८

[३] जायसवाल, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० १८–१९

[४] ए० एस० आर०, १९११–१२, पृ० ३४

[५] जायसवाल, उल्लिखित, पृ० २२४–२५

अधिकार रहा। इन्हें इतनी स्वतंत्रता थी कि वे अपने सिक्के स्वतंत्र शैली में और कुषाणों के सिक्कों की बिना नकल किये भी चला सकते थे। इनमें से कुछ का संबंध कुषाणों से इतना ही जान पड़ता है कि वे अपने लेखों में शक संवत् व्यवहार में लाते हैं। अब यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि इस काल में जब पूर्वी उत्तरप्रदेश में कुषाण प्रबल माने जाते हैं क्या उस समय ये राजे भी प्रबल थे और इनका कुषाणों से क्या संबंध था। इनके सिक्कों और लेखों में तो कोई बात ऐसी नहीं है जिससे इनका कुषाणों से संबंध प्रकट हो। संभव है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश में, कम-से-कम वासुदेव के समय में, कुषाणों का नाम मात्र का अधिकार रह गया था और कौशांबी के राजे इलाहाबाद के आसपास के प्रदेश और बनारस पर अंत तक स्वतंत्र रूप से बने रहे। ऐसा लगता है कि मघों ने कुषाणों की रही सही सत्ता भी कौशांबी से उखाड़ फेंकी। ● ●

सातवाँ अध्याय

सातवाहन, कुषाण और मघ काल में बनारस की कला, धर्म और व्यापार

१. धर्म

इस युग में ईस्वी पहली सदी से तीसरी सदी बनारस में बौद्ध धर्म का बोलबाला था। सारनाथ और राजघाट से मिली मूर्तियों से पता चलता है कि कनिष्क के समय से ही यहाँ बौद्ध धर्म की काफी उन्नति हुई। भिक्षु बल द्वारा सर्व प्रथम कनिष्क के राज्य के तीसरे वर्ष में अर्थात् ८१ ईस्वी में यहाँ बोधिसत्त्व की मूर्ति शायद मथुरा से लाकर स्थापित की गयी[1] और इस मूर्ति की स्थापना के बाद सारनाथ में बौद्ध धर्म को काफी प्रोत्साहन मिला होगा। जो भी हो, उक्त लेख से यह पता चलता है कि उस समय मथुरा और काशी में बौद्ध संघ काफी विकसित अवस्था में पहुँच चुका था और बौद्ध त्रिपिटक का खूब पठन पाठन होता था। भिक्षु बल स्वयं त्रिपिटिज्ञ थे और बुद्धमित्रा भिक्षुणी भी त्रिपिटज्ञा थी। सारनाथ के विहार में उपाध्याय, आचार्य और अंतेवासी बौद्ध धर्म के पठन पाठन में रत रहते थे। मथुरा और पेशावर की तरह सारनाथ में भी सर्वास्तिवादी भिक्षुओं का बोलबाला था। इस समय बुद्ध की सारनाथ में परिचर्या का अध्ययन होने लगा था क्योंकि भिक्षु बल ने चंक्रमण पथ पर एक पत्थर की छतरी लगवायी। हमें इसका तो पता नहीं है कि इस युग में बनारस में बौद्ध बिहार कहाँ कहाँ थे। सारनाथ में विहार अवश्य रहे होंगे, ऐसा अनुमान है यद्यपि खुदाई में इनके अवशेष अभी नहीं मिले हैं। राजघाट से एक मुद्रा मिली है जिस पर 'भिसकविहारे थेरस–भिखुसघस,' भिषक् विहार के भिक्षु संघ के स्थविर की-ऐसा लेख कुषाण काल की लिपि में है। इस लेख से पता चलता है कि वाराणसी या शायद सारनाथ में बौद्धों के एक विहार का नाम भिषग् विहार था।

राजघाट, बनारस से मिली इस युग की कुछ मुद्राओं के द्वारा भी बौद्ध धर्म का प्रभाव स्पष्ट मालूम पड़ता है। एक मुद्रा पर 'भगवतो सितस' लेख है। असित शुद्धोदन के पुरोहित थे और इन्होंने ही सिद्धार्थ गौतम के बुद्ध होने की भविष्यवाणी की थी। दूसरी मुद्रा में कुषाण लिपि में 'बुद्धस्य' लेख दो लक्षणों के बीच में है। दाहिनी ओर चक्र शीर्षक वाला स्तंभ और बाईं ओर सिंह-व्याल शीर्षक वाला स्तंभ है। इस मुद्रा से पता चलता है कि सारनाथ में धर्मचक्र-प्रवर्तन की घटना लोगों को खूब याद थी और बुद्ध के आदरार्थ भक्त गण ऐसी मुद्राएँ वहाँ चढ़ाते थे।

कुषाण युग के कुछ नामों के आधार पर यह भी पता लगता है कि बनारस में बौद्ध धर्म का प्रचार था। राजघाट से संघचरित की मुद्रा मिली है जो किसी बौद्ध की है। नागार्जुन की मुद्रा भी प्रारंभिक कुषाण काल की है और उसके लक्षणों से विदित होता है बौद्ध और अबौद्ध एक से लक्षण प्रयुक्त करते थे। इस मुद्रा पर वृषभ और यूप सामने की ओर बने हैं और धर्मचक्र पीछे की ओर।

---

[1] एपि० इंडि०, ८।१७६

सारनाथ से एक पत्थर के छत्र के टुकड़े पर भगवान् बुद्ध द्वारा धर्मचक्र प्रवर्तन के समय के उपदेश उत्कीर्ण हैं; इसमें बौद्ध धर्म के चारों आर्य सत्य आये हैं। लेख की लिपि अंतिम कुषाण काल की है। स्टेन कोनो का कहना है कि उत्तर भारत से प्राप्त पालि का यह एकमात्र लेख है और इससे पता चलता है कि पालि त्रिपिटक का उस समय अस्तित्व था और बनारस में लोग उसे जानते और पढ़ते थे।[1]

बौद्ध धर्म की काशी में इस उन्नति को देखकर यह न समझ लेना चाहिये कि जन साधारण के धर्म यज्ञ, पूजा इत्यादि काशी से लुप्त हो गये थे। भारत कला-भवन में कुषाण काल अथवा उसके पहले की बलराम अथवा किसी नाग की मूर्ति है जो राजघाट से मिली है। राजघाट से मिले एक स्तंभ-शीर्षक पर—जो कुषाण युग का है, यक्ष बने हुए हैं। कुषाण युग के साहित्य से हमें पता है कि कम से कम द्वितीय शताब्दी में वाराणसी के क्षेत्रपाल महाकाल यक्ष थे।[2] मत्स्यपुराण (अ० १८०-१८३) से ज्ञात होता है कि बनारस में शैवधर्म के पुनरुत्थापन के पहले यहाँ यक्ष-पूजा का बोल बाला था और शैव धर्म में किस तरह यक्ष इत्यादि गण शिव के सेवक बना दिये गये।

बनारस शैवधर्म का प्राचीनतम अड्डा माना जाता है। पर कुषाण युग की राजघाट से मिली वस्तुओं से तो ऐसा मालूम पड़ता है कि बनारस में ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में शैवधर्म का कोई विशेष प्रचार नहीं था। पर इसके माने यह नहीं कि शैवधर्म बनारस में था ही नहीं। असल में बात यह है कि शैवधर्म तपस्या प्रधान है और लगता है आरंभिक युग में न तो इसका कोई अपना संघ था और न कला द्वारा इसे मूर्त देने का किसी ने प्रयत्न किया। शायद इसीलिए बनारस में शैवधर्म के बहुत प्राचीन अवशेष कम मिलते हैं।

काशी में शैवधर्म के इतिहास पर शायद राजघाट के चौथे स्तर से प्रकाश पड़ता है। इस चौथे स्तर में आठ इमारतों के एक चक में श्री कृष्णदेव को पूर्व से पश्चिम तक ६५ फुट लंबी और ५४ फुट चौड़ी एक इमारत की नींव मिली। इसमें एक खुला चौक और बीच में खंभों वाली इमारत है तथा इसके चारों तरफ से दालानें घेरे हैं। अठारह फुट गहरी इसकी नीव से पता चलता है कि इसके ऊपर कभी एक ऊँची इमारत रही होगी। यह इमारत श्री कृष्णदेव की राय में एक मंदिर था। क्योंकि इसके चारों ओर जो गली है वह प्रदक्षिणा-पथ हो सकती है। मंदिर का गर्भ-गृह कुछ ऊँची कुरसी पर उत्तर की ओर है तथा बाकी ओर की दालानों में या तो दूसरे देवताओं की प्रतिमाएँ स्थापित थीं अथवा उनमें मंदिर के पुजारी रहते थे। मंदिर के दक्षिण-पश्चिम किनारे पर चहबच्चा है जिसमें शायद मंदिर का गंदा पानी और कूड़ा इकट्ठा होता था।

मंदिर के स्तर पर अन्य इमारतों में एक मंडप में पाँच पक्के कुएँ हैं। एक घर में चूने का पलस्तरदार नहाने का चौखूटा कुंड है, एक तीसरे घर में १७ फुट नीचे एक लंबा चौड़ा चौक है, जिसमें कृष्णदेव को मिट्टी के कलश के नक्काशीदार टुकड़े, जिन पर कमल,

[1] केटलाग आफ दि म्यूजियम ऑफ आर्कियोलाजी सारनाथ, पृ० २३०

[2] महामायूरी, जर्नल यू० पी० हि० सो०, १५, २७ श्लो. १२

बंदा, पत्तियाँ और उड़ते हुए हंसों की नक्काशियाँ हैं, तथा धनदेव की और यूनानी मुद्राएँ मिलीं। श्री कृष्णदेव के मत से यह स्तर एक से तीसरी सदी ईस्वी तक का है।[१]

मंदिर के समय के बारे में धनदेव की मुद्राओं से कुछ सहायता मिल सकती है। धनदेव दूसरी सदी के आरंभ में कौशांबी के राजा थे और इनके अधिकार में बनारस भी था। अगर धनदेव के धर्म का पता चल सकता तो हम शायद यह कह सकते कि जिस मन्दिर में उनकी इतनी मुद्राएँ मिली हैं उसमें शायद उनके इष्टदेव की प्रतिमा रही हो। पर अभाग्यवश हम यह कहने में असमर्थ हैं कि वे हिन्दू थे अथवा बौद्ध, पर उनकी मुद्राओं पर यूप, वृषभ और चैत्य अथवा पहाड़ी हैं जिनसे उनका वैदिक धर्म से निकट संबंध मालूम पड़ता है। अगर ऐसा है तो हमें इस मंदिर को शिव-मंदिर मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। कम-से-कम महामायूरी से, जो इसी युग की धार्मिक और भौगोलिक अवस्था का वर्णन करती है, विदित होता है कि बनारस के क्षेत्रपाल महाकाल यक्ष थे। यह बतालाने की आवश्यकता नहीं कि महाकाल शिव का भी नाम है। पर इस बारे में हम तभी ठीक ठीक राय दे सकते हैं जब कुछ और प्रमाण उपलब्ध हों।

अगर भारशिवों का काशी से संबंध था और संभव है कि उनका संबंध यहाँ से राजा नव के बाद रहा हो, तो उनके संपर्क से काशी में शैवधर्म को अवश्य प्रोत्साहन मिला होगा। भारशिवों के बारे में एक वाकाटक लेख से हमें निम्नलिखित वृत्तांत मालूम पड़ता है[२]—"**अंसभारसंनिवेशित-शिव-लिंगोद्वहन-सुपरितुष्ट-समुत्पादित-राजवंशानां पराक्रमाधिगत-भागीरथ्यमलजलमूर्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृतस्नानानां भारशिवानाम्**, उन भारशिवों का जिनके राजवंश का उद्भव शिव की उस प्रसन्नता से, जो उनको उनके कन्धों पर लिंगोद्वहन द्वारा हुई, जो भागीरथी के उस अमल जल से मूर्धाभिषिक्त हुए, जिसे उन्होंने अपने पुरुषार्थ से पाया—वे भारशिव जिन्होंने दश अश्वमेध यज्ञ करके अवभृत स्नान किया।" डा० जायसवाल का मत है कि दश अश्वमेध यज्ञ करने के बाद उन्होंने गंगा में जिस घाट पर स्नान किया उसी से बनारस के दशाश्वमेध घाट का नाम पड़ा। जो भी हो, मेरी समझ में तो दशाश्वमेध का नाम, जहाँ तक घाट का संबंध है, बहुत बाद में आया और यहाँ उससे केवल यही तात्पर्य है कि गंगा में यहाँ नहाने से दस अश्वमेध यज्ञों का पुण्य मिलता है। हमें तो अभी तक एक वाकाटक लेख के सिवा ऐसा दूसरा प्रमाण नहीं मिलता है कि भारशिवों ने अनेक अश्वमेध किये। हाँ उनके पक्के शैव होने में कोई संदेह की गुंजाइश नहीं है। जिस शैव धर्म का गुप्तकाल में बनारस में इतना उत्कर्ष हुआ, उस पौराणिक शैवधर्म की जड़ राजा नव के समय से बनारस में जमी हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यहाँ हम पाठकों का ध्यान बनारस से मिली, भारत कला-भवन संग्रह की एक अद्भुत मूर्ति की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं, जिसका भारशिवों से संबंध हो सकता है। इस मूर्ति का केवल सिर वाला भाग और दोनों हाथों का कुछ भाग बच गया है। इस आकृति के सिर पर एक थाले में शिवलिंग है जिसे मूर्ति दोनों हाथों से पकड़े है। शैली की दृष्टि से यह मूर्ति गुप्त युग के कुछ पहले की है। इस मूर्ति को देखकर फौरन हमारा ध्यान उस

---

[१] बिब्लियोग्राफी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, १९४०, पृ० ४१-५१।

[२] फ्लीट, गुप्त इंसक्रिप्शंस, पृ० २४५–२४६

वाकाटक लेख की ओर जाता है जिसमें भारशिवों को कन्धों पर शिवलिंग उद्वहन करते बतलाया गया है।

२. कला

जैसा हम एक दूसरे अध्याय में कह आये हैं, मौर्य और शुंग युग में काशी-की कला का संबंध तत्कालीन भरहुत, साँची और बोधगया की कला से था। हम यह तो ठीक-ठीक कह नहीं सकते कि इस युग की मूर्तियाँ, स्तंभ इत्यादि काशी के कारीगरों की कृतियाँ हैं अथवा नहीं, पर इसमें शक नहीं कि इसमें बनारस के कारीगरों का काफी हाथ रहा होगा, क्योंकि हमें जातकों से पता है कि महा-जनपद युग में भी बनारस में काठ का काम बहुत सुन्दर बनता था और वहाँ पत्थर का काम करने वाले भी थे।

कुषाण युग में बनारस की कला को विशेष प्रोत्साहन मिला और इस प्रोत्साहन का स्रोत मथुरा की कला रही होगी। मौर्य, शुंग और आंध्र काल में अर्थात् ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से पहली शताब्दी तक भारतीय कला में हम बुद्ध का मूर्त रूप नहीं पाते। बुद्ध को सबसे पहले किसने मूर्त रूप दिया, यह प्रश्न विवादास्पद है। कुछ विद्वानों का मत है कि बुद्ध-मूर्ति गंधार के यूनानी-बाह्लीक कारीगरों की कृति थी और यह पेशावर से होती हुई मथुरा पहुँची और बाद में गंगा के मैदान के और केन्द्रों में भी इसका प्रसार हुआ। डा० कुमारस्वामी का मत है कि बुद्ध-मूर्ति की भावना भारतीय है और बुद्ध को मूर्त-रूप देने का विचार शायद प्राचीन यक्ष मूर्तियों को देखकर हुआ होगा और यही बात अधिक संभव मालूम पड़ती है। जो कुछ भी हो, इस बात में अधिक संदेह नहीं है कि बुद्ध-मूर्ति का प्रसार मथुरा से मध्यदेश के दूसरे केन्द्रों में हुआ। इसका प्रमाण हमें सारनाथ से मिली कुषाण युग की कई मूर्तियों से मिलता है।

१९०५ में श्री ओएरटेल को सारनाथ से बुद्ध की एक विशाल मूर्ति मिली। इसके पादपीठ के एक लेख से पता चलता है कि मूर्ति बोधिसत्त्व अर्थात् अर्हत् होने के पहले शाक्य मुनि की है। पैरों के बीच में एक सिंह की मूर्ति से शायद बुद्ध की एक पदवी शाक्य सिंह की ओर संकेत है। यह मूर्ति कनिष्क के राज्यकाल के तीसरे वर्ष में अर्थात् ८१ ईसा पूर्व में बनी। डा० फ़ोगेल की राय में दो बातें ऐसी हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह मूर्ति मथुरा में, जो कुषाण काल में मूर्ति-कला का एक बहुत बड़ा केन्द्र था, बनी—यथा, यह मूर्ति चुनारी पत्थर की न होकर, जिसमें सारनाथ की और मूर्तियाँ बनी हैं, मथुरा के लाल पत्थर की है तथा मूर्ति के दाता भिक्षु बल का पता हमें खास मथुरा से मिली एक मूर्ति से भी लगता है। इसलिए यह मान लेने की काफी गुंजाइश है कि बुद्ध मूर्ति कुषाण युग में मथुरा से काशी आयी।[1]

अब यदि हम भिक्षु बल वाली बुद्ध की मूर्ति से, चुनारी पत्थर की बनी एक दूसरी मूर्ति की तुलना करें तो हमें पता लगेगा कि किस तरह बनारसी कारीगर शाक्य मुनि की इस नयी मूर्ति की नकल करने की कोशिश कर रहे थे। पहले इन दोनों मूर्तियों का थोड़ा-सा विवरण दे देना उचित है। भिक्षु बल वाली बुद्ध प्रतिमा की ऊँचाई ८$\frac{1}{2}$ फुट और कंधों पर चौड़ाई १ फुट १० इंच है। टूटा हुआ दाहिना हाथ अभय मुद्रा

[1] केट० ऑफ दि म्यू० आफ० आर्कि० सारनाथ, पृ० १८

में था। इसकी हथेली पर चक्र और अंगुलियों पर स्वस्तिक बने हैं। मुट्ठी बँधा बायाँ हाथ कमर पर है। वस्त्रों में अन्तरवासक, उत्तरासंग और मेखला हैं। सिर टूट फूट गया है और मुड़ा हुआ है। ऊर्णा नहीं है। जान पड़ता है सिर पर कभी उष्णीष था। एक समय चेहरे के चारों ओर प्रभामंडल था। पैरों के बीच में एक सिंह है। मूर्ति की रक्षा के लिए उसके ऊपर एक छत्र था, इसके आठ टुकड़े मिले हैं। इस छत्र का व्यास १० फुट है। इसके बीच का भाग उत्फुल्ल कमल के आकार का है, उसके चारों ओर पट्टीनुमा चौकोर स्थानों में अलौकिक पशु और चंदे हैं। दूसरी पट्टी में अष्ट मांगलिक लक्षण, त्रिरत्न, मत्स्ययुगल, श्रीवत्स, पूर्णघट, शंख, स्वस्तिक, मोदकभरा कटोरा और दोनों में माला, बीच बीच में पंचांगुलकों से अलग किये गये हैं। सबसे बाहरी पट्टी में कमल की पंखड़ियाँ है और यह पट्टी उपर्युक्त पट्टियों द्वारा दोहरी मालाओं से, जिसके बीच बीच में फुल्ले हैं, अलग की गयी है। बोधिसत्त्व की एक दूसरी कोर की हुई मूर्ति ६ फुट ऊँची है। उसका दाहिना हाथ जो अभय मुद्रा में था टूट गया है और सिर का भी पता नहीं है। बाएँ हाथ की कमर पर मुट्ठी बँधी है। कपड़ों का अंकन भिक्षु बल वाली मूर्ति से मिलता है। इससे डा० फ़ोगेल का अनुमान है कि इस मूर्ति को बनारस के किसी कारीगर ने भिक्षु बल वाली मूर्ति का आधार लेकर बनाया।

सिर-विहीन एक बोधिसत्त्व की ७ फुट ६॥ इंच ऊँची मूर्ति में शैली और भूषा तो बी (ए) नं० २ की मूर्ति की ही तरह है, लेकिन कपड़े की सिलवटें जो पहली मूर्ति में टूटी फूटी रेखाओं में परिणत हो गयीं थीं इस मूर्ति में नही हैं। इससे डा० फ़ोगेल का अनुमान है कि यह मूर्ति कुषाण से गुप्त युग के संक्रमण काल की है क्योंकि गुप्तकाल में सिलवटें समाप्त हो जाती हैं।

भिक्षु बल वाली बोधिसत्त्व की मूर्ति और चुनारी पत्थर की बनी एक दूसरी मूर्ति का मिलान करने पर हमें पता चलता है कि किस तरह से बनारस के मूर्तिकार मथुरा से आयी नयी मूर्ति की नकल करने का प्रयत्न कर रहे थे। पर नमूना और उसकी नकल का कला की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है। इन मूर्तियों की बनावट में एक चर्रापन है तथा उनमें लावण्य योजना और भाव की भी कमी है। पर मूर्तिकला की यह कमजोरी हम छत्र में बने अलंकारों में नहीं पाते। संभवतः बनारस के कारीगर नक्काशी के काम में बहुत प्रवीण थे। भिक्षु बल वाली बुद्ध मूर्ति और दूसरी कुषाण कालीन बुद्ध मूर्तियों पर भी सारनाथ में पत्थर की छतरियों के होने से डा० फ़ोगेल का अनुमान है कि उन दिनों मंदिरों की प्रथा नहीं थी और शायद इस प्रथा का गुप्तकाल में आरम्भ हुआ। पर जैसा पहले कह आये हैं बनारस में इसी काल में एक मंदिर का भग्नावशेष मिला है और इसलिए यह कहना ठीक न होगा कि उस समय मंदिर थे ही नहीं। तत्कालीन बौद्ध और जैन साहित्य में यक्षों और नागों के तो अनेक मंदिरों या चैत्यों के उल्लेख आये हैं।

बनारस में कुषाण युग में यक्षों और नागों की मूर्तियाँ भी बनती थीं और ऐसी दो मूर्तियाँ कला-भवन में हैं, पर कला की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व नहीं है। राजघाट से कुषाण युग की मिट्टी की बहुत-सी मूर्तियाँ भी मिली हैं। इनमें से एक में पूजा के लिए मिट्टी का तालाब बना है जिसमें मनुष्यों, चिड़ियों, सर्पों की भद्दी शक्लें और सीढ़ियाँ बनी



चित्र न. ४. स्फटिक में कटा हुआ स्त्री शीर्ष
शुंग युग, ईसा पूर्व दूसरी सदी, राजघाट, काशी से प्राप्त
(भारत कला भवन) पृष्ठ ६५



चित्र नं. ५. शृंगार
शुंग युग, ईसा पूर्व दूसरी सदी, राजघाट, काशी से प्राप्त
(प्रिंस ऑफ़ वेल्स म्यूज़ियम, बंबई) पृष्ठ ८१



चित्र ६ बुद्ध जीवन के दृश्य
गुप्त युग, सारनाथ (इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता)
पृष्ठ ११३

हैं। संभवतः ऐसे तालाबों का संबंध किसी प्रचलित धार्मिक विश्वास से था। अब भी बनारस में जन्माष्टमी से दो दिन पहले ललही छट का त्योहार मनाया जाता है, जिसकी पूजा में कुछ ऐसी ही शकलें और तालाब बनाया जाता है। राजघाट के कुषाण स्तर से तरह तरह के मिट्टी के सुघर खिलौनों के साथ साथ कुछ भद्दे प्राचीन शैली के भी खिलौने मिले हैं, इनमें कुछ में तो शरीर की रेखा मात्र देख पड़ती है, कुछ के बदन चपटे हैं उनकी नाक चोंच की तरह है और हाथ पैर कीलों की तरह।[1]

कुषाण युग में बनारस के व्यापार की क्या अवस्था थी इसका विशेष विवरण तो हमें तत्कालीन साहित्य में नहीं मिलता, पर जो कुछ भी विवरण हमें दिव्यावदान तथा ललितविस्तर इत्यादि और राजघाट से मिली कुषाण मुद्राओं से मिलता है उससे पता चलता है कि इस युग में भी बनारस अच्छा खासा व्यापारिक केन्द्र था।

३. व्यापार

कुषाण युग में भी बनारस में अच्छे-से-अच्छे कपड़े बनते थे और इसके लिये काशिक-वस्त्र[2] काशी[3] तथा काशिकांशु[4] शब्दों का व्यवहार हुआ है। भैषज्यगुरु सूत्र[5] में एक जगह कहा गया है कि काशिकवस्त्र बहुत महीन होते थे (सूक्ष्माणि जालानि च संहितानि)। काशिक वस्त्र से पहनने के बहुत अच्छे कपड़े बनने का (काशिकवस्त्रवराम्बरान्) भी उल्लेख है।[6] पेरिप्लस में इस बात का उल्लेख है कि पहली शताब्दी में भारत की सबसे अच्छी मलमल को 'गेंजेटिक' कहते थे अर्थात् वह गंगा पर बनती थी। शॉफ के अनुसार शायद यह मलमल ढाका के पास बनती होगी।[7] लेकिन, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, काशी में भी उस समय अच्छी से अच्छी मलमल बनती थी और इसलिए संभव है कि 'गेंजेटिक' से काशी की मलमल का उद्देश्य रहा हो।[8] एक उल्लेख से पता चलता है कि काशी से बहुत कपड़ा बाहर जाता था। भरुकच्छ में तो एक ऐसी दूकान का उल्लेख है जहाँ बनारस के कपड़े ही बिकते थे। इस दूकान को काशिकवस्त्रावारि कहा गया है।

राजघाट से मिली एक चौखूँटी मुद्रा पर कुषाण ब्राह्मी में 'निगमस्य' लेख है जिससे पता चलता है कि बनारस में आज के कुछ दिनों पहले की तरह सर्राफा था जिसमें लेनदेन का काम होता था।

जान पड़ता है उस समय के व्यवसाय श्रेणियों में बँटे थे। उस समय बनारस में कितनी श्रेणियाँ थीं इसका तो पता नहीं है पर राजघाट से मिली एक मुद्रा पर कुषाण काल के अक्षरों में 'गव्याक सेनिये' अर्थात गव्याक श्रेणि लेख है। इससे पता चलता है कि

---

[1] कृष्णदेव, एन० बि० ऑफ० इ० हि०, १९४०, पृ. ४१-५१।

[2] दिव्यावदान, पृ० ३९१ पं० २६

[3] वही, पृ० ३२८ पं० १७

[4] वही, पृ० ३१६ पं० २३–२७

[5] गिलगिट टेक्स्टस्, भा० १, पृ० १२५–२६

[6] ललितविस्तर, पृ० २६२, पं० ९

[7] शॉफ, पेरिप्लस आफ दि इरेथ्रियन सी, पृ० ४७

[8] दिव्यावदान, पृ० २१, पं० ४–५

बनारस में उस समय ग्वालों की एक श्रेणी थी। लगता है रूढ़िगत अट्ठारह श्रेणियों में, जिसका बौद्ध-साहित्य में बार-बार उल्लेख आया है, इसकी भी गिनती थी। इन अट्ठारह श्रेणियों का नाम जातकों में तो नहीं गिनाया गया है पर जैनों के जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति की टीका में इनके नाम आये हैं और इनमें गुआर अर्थात् ग्वाले भी हैं।[1]

बनारस का राज्य-प्रबंध क्या था इसका तो पता नहीं चलता, पर कुषाणकालीन एक मुद्रा पर 'कोष्ठागारिकाणाम्,' लेख आया है जिससे पता चलता है कि बनारस में राज्य से नियुक्त किये गये कोठारी होते थे।

राजघाट से कुषाण युग के बनारस के बहुत-से संभ्रान्त पुरुषों की मुद्राएँ मिली हैं। इनमें से अधिकतर व्यापारी रहे होंगे या उनका समाज में विशेष स्थान रहा होगा क्योंकि ऐरे गैरे तो अपनी मुद्राएँ रख नहीं सकते थे। इनमें से कुछ के नाम हैं—(१) जय, (२) जयपति, (३) विजय, (४) हल्लुसेन, (५) घोषक, (६) कन, (७) भगसिरि, (८) गरक, (९) गंग, (१०) धेनुक, (११) धनल, (१२) कनभट्ट, (१३) शूरिक्य, (१४) नागदत्त, (१५) नयपलिक, (१६) यमक, (१७) चित्रक, (१८) शिवषत्क, (१९) ओखरिका।

इन नामों में जय, विजय, जयपाल, घोषक, शूरिक्य तो गुण-वाचक है और जय की कामना प्रकट करते हैं। गंग, कन, कनभट्ट, नागदत्त, शिवषत्क के नाम गंगा, नागपूजा शिवपूजा और शायद प्रसिद्ध वीर कर्ण से संबंध रखते हैं। धनल बनिये की धन कामना का द्योतक है, और धेनुक शायद पशुपालक की ओर संकेत करता है। भाग्यश्री तो स्त्रियों के भाग्यवती होने की ओर इशारा करता है। नयपलिक के दो अर्थ हो सकते हैं, नय का पालन करने वाला अथवा नेपाल देश का। यमक के भी दो अर्थ हो सकते हैं, अपने ऊपर नियंत्रण करने वाला अथवा जोड़ुवाँ। पर पहला ही अर्थ ठीक मालूम पड़ता है। चित्रक से शायद चित्रकार से अर्थ हो। गरक से शायद विष पीने वाले अथवा विषवैद्य की तरफ इशारा हो। ओखरिका, जैसा लूडर्स बतलाते हैं, शायद ग्रीक नाम हो (लूडर्स लिस्ट, नं० ७८) पर ओखली शब्द पूर्वी उत्तर प्रदेश में तो घर घर में प्रचलित है क्योंकि इसमें धान कूटा जाता है। मेरा तो अनुमान है कि बनारस की ओखरिका बिचारी ग्रीक न होकर एक प्यार के नाम देने का उद्बोधक है जिसने कितने चिथरू चमारुओं को नाम दिया है।



[1] जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, ३, ४३, पृ० १९३

आठवाँ अध्याय

गुप्त युग में बनारस का इतिहास

हम देख आये हैं कि करीब करीब २७५ ईस्वी के बनारस में शायद कौशांबी के अधिपति राजा नव का शासन था और शायद इनके और इनके वंशधरों के समय में बनारस में शैव धर्म का विकास हुआ। अब प्रश्न यह उठता है कि बनारस पर गुप्त वंश का कब और कैसे अधिकार हुआ। गुप्तों के प्रारम्भिक इतिहास का हमें बहुत कम पता है और इसलिए ठीक तौर से तो कहना संभव नहीं है कि कौशांबी और बनारस गुप्त साम्राज्य की अधीनता में कब आये, पर एक बात तो निश्चित है कि समुद्रगुप्त के राज्य में बनारस सम्मिलित था क्योंकि राजघाट से उनकी मुद्राएँ मिली हैं, जिनके बारे में हम बाद में कहेंगे। डा० जायसवाल का यह विचार कि कौशांबी जीतकर समुद्रगुप्त ने अपनी विजय-यात्रा आरम्भ की, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सही नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि समुद्रगुप्त के इलाहाबाद वाले लेख में कौशांबी और बनारस की विजय का कहीं उल्लेख नहीं है, जिससे यही पता चलता है कि समुद्रगुप्त के पहले शायद चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य काल में ही कौशांबी और बनारस गुप्त साम्राज्य में आ चुके थे। इसका प्रमाण वायुपुराण (९९।३८३) के निम्नलिखित श्लोक से भी मिलता है जिसमें आरम्भिक गुप्त युग की राजसीमा का उल्लेख है—

अनुगंगाप्रयागं च साकेतं मगधंस्तथा
एतान्जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः

उपर्युक्त श्लोक से पता लगता है कि शायद चन्द्रगुप्त प्रथम गंगा की घाटी में प्रयाग से लेकर पाटलिपुत्र तक राज्य करते थे और साकेत अथवा अवध का प्रदेश भी उनके राज्य में शामिल था। अर्थात् गुप्त राज्य में, चन्द्रगुप्त प्रथम के काल में ही बनारस शामिल हो चुका था। लेकिन डा० जायसवाल इस श्लोक से यह तथ्य निकालते हैं कि आरंभिक गुप्तों की सत्ता प्रयाग में गंगा की ओर अर्थात् अवध-बनारस की तरफ थी, जमुना की तरफ नहीं।[1] उनके इस कथन में केवल इस बात की ओर इशारा है कि कौशांबी, जो जमुना की तरफ है, पर इस काल में भारशिवों का राज्य था। पर ऐसा मान लेने के लिए प्रमाण का अभाव है।

चन्द्रगुप्त प्रथम (करीब ३०५–३२५ ईस्वी) ने अपने पुत्रों में से समुद्रगुप्त (करीब ३३०–३७० ईस्वी) को अपना उत्तराधिकारी चुना। इनके इलाहाबाद के लेख से हमें इनके विजय पराक्रम का पता चलता है। ये स्वयं काव्य-प्रेमी और संगीतज्ञ थे। हो सकता है कि दक्षिण और मध्यप्रान्त की लड़ाइयों में बनारस रसद पहुँचाने का अड्डा रहा हो, पर इसका कोई प्रमाण नहीं है।

समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी कौन हुआ इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है। साधारणत: तो यह माना जाता है कि समुद्रगुप्त के बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय सिंहासन पर आये, पर कुछ

---

[1] जायसवाल, उल्लिखित, पृ० १२३

विद्वानों का मत है कि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच में रामगुप्त ने राज्य किया। इन विद्वानों ने इस सम्बन्ध की बहुत-सी ऐतिहासिक अनुश्रुतियाँ खोज निकाली हैं जिनके अनुसार रामगुप्त समुद्रगुप्त के बाद राजगद्दी पर आया। उसके समकालीन शक राजा ने उस पर आक्रमण किया, और रामगुप्त को हार खानी पड़ी। सन्धि की एक शर्त के अनुसार लाचार होकर रामगुप्त ने अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को शकराज को देने का वचन दिया। इसके बाद चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी का वेष बनाकर शकों के पास पहुँचे और उन्होंने शकपति को मार डाला। इस घटना के बाद शायद चन्द्रगुप्त के प्रोत्साहन से रामगुप्त की हत्या हुई और चन्द्रगुप्त सिंहासन पर बैठा।

यहाँ यह कह देना आवश्यक मालूम पड़ता है कि सिवा कुछ अनुश्रुतियों के, रामगुप्त की वास्तविकता के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं। कुछ विद्वानों ने समुद्रगुप्त के सिक्कों पर काच को राम पढ़ने की चेष्टा की है पर वह युक्तिसंगत नहीं है। अब हमें देखना है कि क्या कोई ऐसा प्रमाण है जिससे यह ज्ञात होता हो कि आरम्भिक गुप्त युग में पूर्वी उत्तरप्रदेश में शक अथवा किसी ऐसी ही जाति के आक्रमण का हमें पता चलता हो। यहां हम विद्वानों का ध्यान बनारस जिले की चन्दौली तहसील के महाइच परगने के पहलादपुर से मिले एक स्तम्भोत्कीर्ण लेख की ओर दिलाना चाहते हैं। लेख केवल एक पंक्ति में है और इसके अक्षर आरम्भिक गुप्त काल के हैं। इसमें शिशुपाल नाम के राजा के विजय पराक्रम का वर्णन है। लेख में कहा गया है कि वह विपुल विजय कीर्ति पालक, क्षात्रधर्म का रक्षक, राजाओं का सतत रंजक और पार्थिवों की सेना का पालक था।[१] डा० फ्लीट के मतानुसार यहाँ पार्थिवों से पहलवों का तात्पर्य है। और अगर यह बात ठीक है तो इस बात की पुष्टि होती है कि चौथी शताब्दी में शायद विदेशी पहलवों ने, जो उत्तर भारत में कहीं बसे थे, पूर्वी उत्तरप्रदेश पर चढ़ाई की थी और बनारस तक पहुँच गये थे। शिशुपाल के इस लेख से रामगुप्त की कहानी का क्या संबंध है यह तो नहीं कहा जा सकता, पर इतना तो जरूर है कि उस युग में शायद कोई ऐसी घटना घटी हो जिसमें समुद्रगुप्त के बाद भारतवर्ष में बसे किसी विदेशी राजा की इतनी हिम्मत हुई कि वह बनारस तक चढ़ आया। विद्वानों का विचार है कि रामगुप्त ने ३७६ से ३७८ ईस्वी तक राज्य किया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (करीब ३८०–४१२ ईस्वी) ने पश्चिम भारत से शकों का उन्मूलन किया और उज्जयिनी को अपनी द्वितीय राजधानी बनाया। इनका दक्षिण के वाकाटकों से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध था। चन्द्रगुप्त द्वितीय वैष्णव धर्मानुयायी थे पर उनके राज्यकाल में और धर्मों को भी पूरी स्वतन्त्रता थी। इस देश के सबसे बड़े कवि कालिदास इसी युग में हुए। इनके राज्यकाल में बनारस का किसी राजनीतिक घटना से तो सम्बन्ध नहीं मालूम पड़ता, पर सारनाथ की मूर्तियों और राजघाट से मिली मुद्राओं से यह पता चलता है कि बौद्ध और शैव धर्म इस युग में बहुत तेजी के साथ आगे बढ़ रहे थे। इनका विवरण हम आगे चल कर देंगे।

कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य (४१३–४५५ ईस्वी) के राज्यकाल का प्रथम भाग तो शांत और सुव्यवस्थित मालूम पड़ता है, लेकिन भितरी के स्कन्दगुप्त के लेख से पता लगता है कि

---

[१] फ्लीट, गुप्त इन्सक्रिप्शन्स, पृ० २५०–५१।

उसके राज्य के अन्तिम भाग में काफी गड़बड़ी रही और जब उसकी मृत्यु हुई तब ऐसा जान पड़ा कि हूण गुप्त साम्राज्य को ध्वस्त कर देंगे। साम्राज्य की रक्षा केवल स्कन्दगुप्त की अपूर्व वीरता से ही हो सकी। कुमारगुप्त स्वामि कार्तिकेय के परम भक्त थे और उनकी मुद्राओं पर नर्तित-मयूर स्वामि कार्तिकेय के लक्षण स्वरूप हैं। राजघाट से इनकी कुछ मुद्राएँ मिली हैं।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (४५५–४६७ ईस्वी) का कम-से-कम बनारस जिले से काफी सम्बन्ध मालूम पड़ता है क्योंकि उनके राज्य काल का सबसे महत्त्वपूर्ण लेख हमें गाजीपुर जिले के भितरी नामक स्थान से मिला है। गुप्तकाल में शायद यह जिला बनारस में ही शामिल था। इस लेख से हमें पता चलता है कि स्कन्दगुप्त ने भितरी में एक विष्णु की प्रतिमा स्थापित की और इसका खर्च चलाने के लिए एक गाँव दान कर दिया।[1] इस लेख से यह भी पता लगता है कि कुमारगुप्त के अन्तिम दिनों में गुप्त साम्राज्य को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन भितरी के इस लेख में है—

पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं, भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्यभूयः।
जितमिव परितोषान्मातरं सास्रनेत्रां हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः॥६॥

पिता के दिवंगत होने पर उसने शत्रुओं को अपने भुजबल से जीतकर पुनः अपनी विप्लुत कुललक्ष्मी की स्थापना की, पुनः यह कहते हुए कि मेरी विजय हुई वह हर्ष मे साश्रुनेत्रा अपनी माता के पास गया, जैसे कृष्ण अपने शत्रुओं को मार कर देवकी के पास गये।

पर स्कंदगुप्त को विजय यों ही नही मिली, इसके लिये उन्हें अनेक कष्ट उठाने पड़े। इसकी ओर भी लेख में इशारा किया गया है—

विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन, क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।
समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः॥४॥

विचलित कुल लक्ष्मी को रोकने के लिये उद्यत जिसे एक रात जमीन पर सोकर काटनी पड़ी, बल-कोश से संवर्धित पुष्यमित्रों को जीतकर उसने उनके राजा को पाद पीठ बनाकर उस पर अपना बायाँ पैर रख दिया। हूणों मे युद्ध की ओर भी इस लेख में संकेत है—

हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कंपिता, भीमावर्तकरस्य···श्रोत्रेषु गंगाध्वनिः

हूणों के साथ युद्ध में उसके दोनों बाहुओं के भीमावर्त से पृथ्वी काँपने लगी—(और शायद स्कंदगुप्त की सेना का कलकल) शत्रुओं के कानों में गंगाध्वनि की तरह लगने लगा।

हूणों को स्कंदगुप्त ने कब पराजित किया यह ठीक तो नहीं कहा जा सकता पर शायद यह घटना ४५६ ईस्वी के आस पास घटी हो। यह भी पता नहीं है कि यह युद्ध

[1] फ्लीट, गुप्त इन्सक्रिप्शन्स, पृ० ५२-५४।

कहाँ हुआ पर श्रोत्रेषु गंगाध्वनिः के उल्लेख से शायद यह गंगा की घाटी में हुआ हो। हमें यह पता नहीं है कि गंगा की घाटी में यह स्थान कहाँ था। क्या यह बनारस के आप पास का इलाका था ? इस प्रश्न का उत्तर तो पुरातात्त्विक खोज के सिवाय नहीं मिल सकता। सारनाथ के गुप्तकालीन मूलगंधकुटी विहार के बहुत टूट फूट जाने के बाद पुन-र्निर्माण की सूचना तो सारनाथ की खुदाइयों से मिलती है। पर इसका संबंध हूणों की चढ़ाई से था अथवा नहीं यह कहना कठिन है। जो भी हो, राजघाट से मिली मुद्राओं से तो यह प्रकट है कि स्कंदगुप्त के समय में भी बनारस गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत था।

स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया फिर भी वह कुछ दिनों तक चलता रहा। ४६७ ईस्वी के बाद पुरुगुप्त जो स्कंदगुप्त के सहोदर थे, वृद्धावस्था में गद्दी पर आये और ४६७ से ४७२ ईस्वी तक राज्य करते रहे। शायद पुरुगुप्त बौद्ध थे।

पुरुगुप्त के पुत्र नरसिहगुप्त ने बालादित्य की पदवी धारण की। नरसिंहगुप्त के समय का कोई लेख नहीं मिला है पर इनका नाम कुमारगुप्त द्वितीय की भितरी से मिली मुद्राओं में आया है। नरसिंहगुप्त ने भी थोड़े समय तक शासन किया क्योंकि कुमारगुप्त द्वितीय के गुप्त संवत् १५४ के लेख से यह पता चलता है कि वे ४७३ ईस्वी में राज्य करते थे इसीलिए नरसिंहगुप्त का समय ४७३ ईस्वी के कुछ ही पहले बैठता है।

कुमारगुप्त द्वितीय नरसिंहगुप्त के पुत्र थे। इनके दो लेख मिले हैं एक तो भितरी की मुद्रा और दूसरा सारनाथ का १५४ संवत् का लेख। इन दोनों लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बनारस और इसके आसपास के जिलों पर ४७३ ईस्वी तक गुप्तों का अधिकार था। कुमारगुप्त द्वितीय का शासन काल ४७३ और ४७७ ईस्वी के बीच में समाप्त हुआ जान पड़ता है क्योंकि ४७७ ईस्वी में हमें बुधगुप्त का सारनाथ वाला लेख मिलता है। कुमारगुप्त द्वितीय परम भागवत थे।

बुधगुप्त का, जिनका कुमारगुप्त के बाद गुप्तवंश की गद्दी पर अधिकार हुआ, सारनाथ से पहला लेख गुप्त संवत् १५७ (४७७ ईस्वी) का मिलता है।[1] इस लेख से और राजघाट से मिले १५७ गुप्त संवत् के एक दूसरे स्तंभोत्कीर्ण लेख[2] पर महाराजा-धिराज बुधगुप्त का नाम आने से यह निश्चित् है कि बनारस तब तक गुप्तवंश में ही था। इनके राज्यकाल का अंतिम वर्ष चाँदी के सिक्कों के आधार पर गुप्त संवत् १५७ (ईस्वी ४९५) तक ठहरता है। बुधगुप्त का राज्य शिलालेखों के आधार पर बंगाल से लेकर मध्यप्रदेश तक फैला हुआ था। बुधगुप्त बौद्ध थे और युवान च्वांङ के अनुसार उन्होंने नालंदा के बौद्ध विहार में अभिवृद्धि की थी।

बुधगुप्त के बाद वैन्यगुप्त का नाम मिलता है। इनका काल शायद ५०० के कुछ पूर्व से लेकर ५०८ ईस्वी तक था। वैन्यगुप्त को सिक्कों में द्वादशादित्य की पदवी दी गयी है। गुनैघर लेख से पता लगता है कि वैन्यगुप्त शैव थे।

---

[1] ए० एस० आर०, १९१४–१८ भा० २, पृ० १२५

[2] दि जर्नल ऑफ गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टिट्यूट, ३ (१९४५), १-५

वैन्यगुप्त के बाद भानुगुप्त हुए। इनका संबंध वन्यगुप्त से क्या था इसका पता नहीं है। लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भानुगुप्त ने करीब ५१० से ५४४ ईस्वी तक राज्य किया। इनके समय भी शायद मध्यप्रांत से लेकर बंगाल तक गुप्तों का राज्य था और काशी भी उसमें आ जाती थी। भानुगुप्त के युग की एक विशेष घटना हूणों का आक्रमण और विजय है। बाद में भानुगुप्त ने करीब ५३० ईस्वी में हूणों पर विजय पायी। गुप्तयुग का अंतिम राजा वज्र था और इसी के साथ गुप्त साम्राज्य समाप्त हो गया। ● ●

नौवाँ अध्याय

राजघाट से मिली गुप्तकालीन मुद्राओं से बनारस के शासन और व्यापार पर प्रकाश

१. व्यापारिक और शासनिक मुद्राएँ

हमने दसवें अध्याय में गुप्त साम्राज्य के इतिहास की एक रूपरेखा देकर यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि काशी और बनारस छठीं शताब्दी के आरम्भ तक गुप्त राज्य में थे। सम्प्रति हम केवल लेखों के आधार पर गुप्त साम्राज्य और बनारस के सम्बन्ध की थोड़ी बहुत विवेचना कर सके हैं। अगर सच पूछा जाय तो हमें राजघाट की खुदाई के पहले बनारस के इतिहास के सम्बन्ध में बहुत ही थोड़ी बातें मालूम थीं, पर राजघाट की खुदाई से बनारस के गुप्तकालीन इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ा है। काशी के गुप्तकालीन धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक इतिहास का स्रोत मुख्यत: मन्दिरों, व्यापारियों और नागरिकों की मुद्राएँ हैं। बनारस के गुप्तकालीन राजकर्मचारियों की भी मुद्राएँ मिली हैं और आयात निर्यात सम्बन्धी मुद्राओं से पता चलता है कि स्कन्दगुप्त के समय तक तो बनारस में गुप्तों का अक्षुण्ण प्रभाव बना रहा। लेकिन इन मुद्राओं के सम्बन्ध में कुछ और कहने के पहले हम यह बतला देना चाहते हैं कि इनका क्या प्रयोजन था और ये कैसे लगायी जाती थीं।

संस्कृत साहित्य से पता चलता है कि भारतीय राजे, महाराजे, मन्त्रि-गण, राज्य के उच्च कर्मचारी और व्यापारी अपनी मुहरें रखते थे जिन्हें नाम-मुद्रा कहा गया है। अर्थ-शास्त्र में शुल्काध्यक्ष के प्रकरण में व्यापार में इन मुद्राओं का किस तरह प्रयोग होता था इस पर प्रकाश डाला गया है।[1] चार पांच शुल्क वसूल करने वाले सार्थ के शुल्कशाला के पास आने पर वणिको के पास जाकर व्यापारियों से उनके आने का पता, माल की तायदाद और उसका दाम पूछकर यह भी पूछते थे कि माल पर सबसे पहले अभिज्ञान मुद्रा कहाँ लगी थी। जो व्यापारी मुद्रा नहीं लगवाते थे, उन्हें शुल्क का दुगुना दण्ड देना पड़ता था। जाली मुहर (कूटमुद्रा) लगाने पर दण्ड शुल्क का आठ गुना होता था। मुद्राओं के टूटने पर या मिट जाने पर व्यापारी को एक दिन तक शुल्कशाला के घटिका स्थान या हवालात में बन्द रहना पड़ता था। नामकृत राजमुद्रा बदल देने से व्यापारी को प्रति बोझ सवा पण दण्ड देना होता था। उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि माल पर राजमुद्रा भी लगती थी। चिट्ठियों और दूसरे कागजों पर भी मुद्राएँ लगती थीं।[2] मुद्राराक्षस (अंक ५) में कहा गया है कि चाणक्य के लिखे पत्र पर राक्षस की मुद्रा लगी

---

[1] अर्थशास्त्र, २।२०।२९

[2] धम्मपद अट्ठकथा (१, १५८) में मिट्टी लगा कर राजा द्वारा अपने शासनपत्रों पर मुद्रांकन का उल्लेख है।

थी (राक्षसस्य मुद्रा लांछितः) और उसकी पेटी पर भी उसकी मुद्रा थी (तस्यैवमुद्रा लांछिता इयं आभरण-पेटिका)। शकुन्तला को दुष्यन्त ने जो अँगूठी दी थी उस पर भी उसका नाम (नामाक्षराणि) खुदा था। एक बिलकुल दूसरी तरह की भी मुद्रा होती थी जिसका व्यवहार पासपोर्ट की तरह होता था। इसका वर्णन कौटिल्य में मुद्राध्यक्ष विवीताध्यक्ष प्रकरण में किया है।[१] इससे पता लगता है कि मुद्राध्यक्ष प्रति मुद्रा के लिए एक पण की फीस लेता था। जिनके पास मुद्राएँ होती थीं वे समुद्र यात्रा कर सकते थे या जनपदों में आ जा सकते थे। बिना मुद्रा के देश के अन्दर घुसने वालों को १२ पण दण्ड देना पड़ता था। कूटमुद्रा रखने वाले को भी दण्ड मिलता था। विदेशियों को बिना मुद्रा देश-प्रवेश करने पर गहरी सजा मिलती थी। मुद्राओं को जाँचने का भार चरा-हगाहों के अध्यक्ष (विवीताध्यक्ष) पर था। लड़ाई के समय भी राजमुद्रा की बहुत आवश्यकता पड़ती थी। मुद्राराक्षस में कहा गया है कि सिद्धार्थ को इसलिए गिरफ्तार कर लिया गया, क्योंकि भागुरायण से, जिसपर मलयकेतु ने पड़ाव का भार दे रक्खा था, उसने मुद्रा नहीं ली थी। महाभारत आरण्यक पर्व (१५।१८) से पता लगता है कि शाल्वों ने जब द्वारका पर चढ़ाई की तब बिना मुद्रा के नगरी के अन्दर कोई आ जा नहीं सकता था (**न चामुद्राभिनिर्याति नचामुद्र प्रवेश्यते**)।

उपर्युक्त अवतरणों से यह पता चलता है कि यात्रा करने के लिये मुद्राओं की बड़ी आवश्यकता पड़ती थी और इसके लिए फीस भी देनी पड़ती थी। मुगल काल में भी दस्तक के बिना कोई यात्रा नहीं कर सकता था।

राजघाट से मिली अधिकतर मुद्राएँ चार प्रकार की हैं—(१) पासपोर्ट, (२) राज-कर्मचारियों की मुद्राएँ, (३) व्यापारियों अथवा नागरिकों की मुद्राएँ, (४) देव-मंदिरों की मुद्राएँ। इनमें से हम देव-मंदिरों की मुद्राओं का वर्णन बाद में करेंगे।

राजघाट की मुद्राओं की जाँच से पता लगता है कि उनके पृष्ठभाग पर चौड़ी पनारी का कारण यह है कि जिन वस्तुओं पर वे लगायी जाती थीं उनके ढालुएँ स्तर थे। इन मुद्राओं पर जो पतले कटाव दीख पड़ते हैं वे उनमें लगी रस्सियों के निशान हैं। जान पड़ता है, साधारणतः मुद्रित वस्तुओं पर दो बार रस्सी लपेटकर उसमें गाँठ दे दी जाती थी। इस गाँठ पर एक गीली मिट्टी की तह जमाकर मुहर लगा दी जाती थी। वस्तुओं पर डोरी लपेटकर उसपर मिट्टी लपेट दी जाती थी और उसके ऊपर एक गीली मिट्टी की तह मुहर मारने के लिए लगा दी जाती थी। इसका पता ऐसे चलता है कि कुछ मुद्राओं में एक या दो सूराख हैं। ये सूराख आर पार इसलिए होते थे कि उनमें पिरोये गये डोरे मुद्राएँ हटाते समय काट दिये जाते थे। मुद्रा लगाने की ठीक ऐसी ही विधि बसाढ़[२] और भीटा[३] से मिली हुई मुद्राओं से भी ज्ञात होती है। साथ ही पासपोर्ट के लिए जो मुद्राएँ होती थीं, उनकी पीठ पर डोरी के निशान नहीं मिलते और ये आँवें में पकी हुई भी होती हैं।

---

[१] अर्थशास्त्र, २।३३।५२–५३

[२] ए० एस० आर०, १९०३-०४

[३] ए० एस० आर०, १९११–१२, पृ० ४५–४६

राजघाट से पासपोर्ट संबंधी जो मुद्राएँ मिली हैं उनका अध्ययन श्री कृष्णदेव ने किया है।[१] इन पकी हुई मुद्राओं पर महान् गुप्त सम्राटों के सिक्कों के चित ओर वाले लक्षण मिलते हैं। एक मुद्रा पर समुद्रगुप्त के वीणावादक भाँति के सिक्कों के चित ओर का लक्षण मिलता है।[२] इसमें राजा भद्रासन में बैठे दिखलाये गये हैं। सामने में एक और लक्षण है जिसका अभिप्राय शायद बायीं ओर बढ़ते हुए हाथी से है।[३]

दूसरी मुद्रा में चन्द्रगुप्त द्वितीय के धनुर्धारी सिक्कों के चित ओर वाली लक्ष्मी की आकृति अंकित है।[४] प्रकाशादित्य के सिक्कों को छोड़कर यह लक्ष्मी और सब गुप्त राजाओं के सिक्कों पर मिलती है। श्री कृष्णदेव के अनुसार शायद यह मुद्रा कुमारगुप्त की हो। इस पर तीन और मुहरें हैं और पट पर वृषभ सहित एक और मुहर है।

राजघाट से मिली कुछ और मुहरों पर भी चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त प्रथम के सिंह-पराक्रम वाले सिक्कों के चित और पट ओर वाले लक्षण मिले हैं। एक जगह शायद चन्द्रगुप्त सिंह को तीर मार रहे हैं।[५] लेकिन दूसरी जगह कुमारगुप्त प्रथम के सिंह-पराक्रम सिक्के के पट ओर वाली आकृति अर्थात् सिंहवाहिनी देवी आयी है।[६]

मुद्राओं पर चाँदी और ताँबे के सिक्कों पर आने वाले लक्षण भी लिये गये हैं। एक मुद्रा पर चन्द्रगुप्त द्वितीय की तीन चौथाई शबीह है।[७] एक दूसरी मुद्रा पर एक छाप में एक भद्दी-सी दाहिने रुख वाली एक चश्मी शबीह है और उसके दोनों तरफ मोर छपे हुए हैं।[८] इस मोर छाप का आरम्भ कुमारगुप्त ने किया और बाद में स्कन्दगुप्त तथा भानुगुप्त के सिक्को में भी मोर आता रहा।

कुछ मुहरों पर वेदियाँ भी आती हैं, जिनकी तुलना स्कन्दगुप्त के पश्चिमी प्रान्तों के चाँदी के सिक्कों पर आयी वेदी से की जा सकती है।

इन मुद्राओं पर के लक्षणों की जाँच-पड़ताल से एसा पता लगता है कि इनमें समुद्रगुप्त से लेकर स्कंदगुप्त तक की मुहरें हैं। फिर भी इनमें चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त द्वितीय की मुहरें अधिक हैं। इन मुद्राओं के आधार पर श्री कृष्णदेव निम्न-लिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—(१) ये मुद्राएँ सर्वसाधारण की न होकर गुप्त राजाओं की हैं क्योंकि कोई नागरिक राजलक्षणों की स्वप्न में भी नकल नहीं कर सकता था।

---

[१] जे० एन० एस० आई०, ३ (दिसम्बर १९४१), भा० २, पृ० ७४–७७।
[२] वही, प्ले० ५, १,
[३] वही, पृ० ७३
[४] वही, प्ले० ५, २
[५] वही, प्ले० ५, ४
[६] वही, प्ले० ५, ५
[७] वही, प्ले० ५, ६
[८] वही, प्ले० ५, ७

(२) ये मुहरें सिक्कों के साँचों से निकाली गयी हैं जिससे यह पता लगता है कि बनारस में गुप्तों की टकसाल थी। (३) इनके पीछे पनालियाँ न होने तथा इनके आवें में अच्छी तरह पकी होने से यह पता लगता है कि इनका व्यवहार पासपोर्ट या हुलिया के लिए होता था। (४) इनमें एक मुद्रा (नं० १०) ऐसी है जो शायद किसी पत्र या दस्तावेज पर लगी थी।[1]

राजघाट से मिली दूसरी तरह की अन्य गुप्तकालीन मुद्राओं का अध्ययन डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने किया है। उनके निष्कर्षों का विवरण हम नीचे देते हैं—

राजघाट से अमात्य जनार्दन की मुद्राएँ बड़ी संख्या में मिली हैं। लेख के अक्षर आरंभिक गुप्तयुग के हैं इसलिए यह कहा जा सकता है कि शायद समुद्रगुप्त के समय अमात्य जनार्दन बनारस का कारबार देखते थे। राजघाट से अमात्य हस्तिक की भी मुहर मिली है जिस पर प्राकृत में आरंभिक गुप्ताक्षरों में 'अमच हस्तिकस' लेख है। इन दोनों की मुद्राओं पर वृषभ बने हैं जिनसे काशी का शैवधर्म से संबंध ज्ञात होता है।

राजघाट से कुमारामात्याधिकरण की कई मुहरें मिली हैं। इन मुहरों में ऊपर कमल पर आश्रित गजलक्ष्मी है और नीचे 'कुमारामात्याधिकरणस्य' लेख। मुहरों से पता चलता है कि बनारस में कुमारामात्य का दफ्तर था। गुप्तकाल में कुमारामात्य संधि-विग्रहिक, महादंडनायक, मंत्री, सामंत और विषयपति होते थे। वे राजपुत्रों और उपरिकर महाराजा (प्रांतीयगवर्नर) के नीचे भी काम करते थे।[2] कुमारामात्य शब्द में कुमार अँग्रेजी 'केडेट' शब्द का प्रतीक है। पर अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि उसका काम क्या था और उसका उपरिकर महाराज और केन्द्र से क्या संबंध था। बनारस का कुमारामात्य तो शायद वहाँ का विषयपति रहा हो। अगर बनारस का कुमारामात्य विषयपति था तो अमात्य शायद उसका सलाहकार रहा हो।

राजघाट से काफी संख्या में 'वाराणस्याधिष्ठानाधिकरण' लेख वाली मुहरें भी मिली हैं। यहाँ अधिष्ठान से मतलब है कि विषय का मुख्य नगर जिसे हम आज डिस्ट्रिक्ट टाउन कहते हैं और अधिकरण के माने दफ्तर। अगर अधिकरण का यह अर्थ ठीक है, तो इसका अर्थ हुआ नगर का सरकारी दफ्तर लेकिन इसके साथ ही साथ कुमारामात्याधिकरण का भी अर्थ शायद विषयपति का दफ्तर है। इन दोनों दफ्तरों में कौन-से काम होते थे और उन दोनों में क्या भेद था, इसका तो ठीक-ठीक पता नहीं है, लेकिन अगर हम अधिकरण का अर्थ अदालत ले लें तो शायद यह बनारस की प्रधान अदालत की मुहर हो।

राजघाट से दो तरह की मुद्राएँ और मिली हैं जिनके बारे कुछ और अधिक जानने की आवश्यकता है। एक मुद्रा में एक तरफ निगम की छाप है और दूसरी तरफ जनपद की। निगम के ऊपर एक गुम्बददार इमारत है। एक दूसरी मुद्रा की एक छाप में

---

[1] वही, पृ० ७६।

[2] एडवांस्ड हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० १९३, लंदन १९४६

हरिदास का नाम है और दूसरी छाप निगम की है। एक तीसरी छाप में केवल 'जनपदस्य' लेख है। इन मुद्राओं से बनारस की तत्कालीन दो संस्थाओं पर प्रकाश पड़ता है, यथा निगम और जनपद। एक ही मुद्रा पर निगम और जनपद दोनों की छापें लगी रहने से यह भी कहा जा सकता है कि इन दोनों में कुछ संपर्क भी था। अब हमें विचार करना चाहिए कि ये दोनों संस्थाएँ क्या थीं।

डा० मजूमदार ने निगम सम्बन्धी उद्धरणों की जाँच पड़ताल की है।[१] सहजाति निगम, जिसका उल्लेख भीटा से मिली मौर्यकालीन मुद्रा में हुआ है, भट्टिप्रोलु के मंजूषा वाले लेख (ईसा पूर्व तीसरी सदी) जिसमें नेगमा आया है, उषवदात का नासिक वाला लेख जिसमें निगम सभा का उल्लेख है, अमरावती स्तूप का एक लेख जिसमें धनकटक निगम का उल्लेख है तथा भीटा से मिली चार कुषाण कालीन मुद्राओं पर निगम के उल्लेखों को जाँचकर डा० मजूमदार का कहना है कि यह सामूहिक सभा सारे शहर के लिये थी। संस्कृति और पालि साहित्यों में तो निगम की सुचारु व्याख्या नहीं है पर जैन बृहत्कल्पसूत्र में एक जगह तरह तरह की बस्तियों की बहुत ही प्राचीन तालिकाएँ आयी हैं जिनमें निगम को एक तरह की बस्ती माना है। बृहद्कल्पसूत्र भाष्य (श्लोक, १०९१) में, जिसका समय छठी शताब्दी का है, निगम शब्द की व्याख्या है—'निगम नेगम वग्गो' अर्थात् निगम बस्ती में रहने वालों को नेगम कहते थे। टीकाकार मलयगिरि ने इस भाष्य की निम्नलिखित टीका की है—**निगमं नाम यत्रनैगमाः वाणिजकविशेषास्तेषां वर्गः समूहो वसति, अतएव निगमे भवा नैगमा इति व्यपदिश्यते,** अर्थात् निगम में विशेष वाणिज्य करने वालों का समूह रहता है, अतएव निगम में रहने वालों को नैगम कहते हैं। इसी बृहद्कल्पसूत्र भाष्य में एक दूसरी जगह (श्लोक १११०) यह कहा गया है कि निगम दो तरह के होते थे सांग्रहिक और असांग्रहिक। मलयगिरि ने अपनी टीका में लिखा है कि सांग्रहिक निगम उसे कहते थे जो संग्रह यानी रेहन-बट्टे का काम और व्यवहार अर्थात् लेन-देन का काम करता था। असांग्रहिक नैगम शायद सांग्रहिक नैगमों का काम तो नहीं करते थे पर अपनी कोई अलग संस्था न बनाकर उसी में पड़े रहते थे—**सांग्रहिकयोरेव नैगमयोर्यथासंख्यमन्तर्भावनीयाविति न पृथक् प्रपंच्यते।** बृहद्कल्पसूत्र भाष्य के इन उल्लेखों से यह साफ हो जाता है कि निगम उस शहर को कहते थे जहाँ लेन-देन और ब्याज-बट्टे का काम करने वाले व्यापारी रहते थे।

बनारस बहुत प्राचीन काल से शायद निगम था, क्योंकि महाजनपदयुग में और उसके बाद भी उसकी ख्याति व्यापार पर अवलंबित थी। जैसा हम देख चुके हैं वाराणसी में कुषाण काल से गुप्तकाल तक निगम की मुद्राएँ मिली हैं। मेरी समझ में इस प्राचीन निगम का रूप बनारस के सर्राफ़े में, जो अब मर चुका है, बच गया था। सर्राफ़े की पंचायत में कुल इक्यावन-बावन सदस्य होते थे और बिना सर्व सम्मति के उसका कोई नया सदस्य नहीं चुना जा सकता था। इसमें वही व्यापारी शामिल होते थे जो लेन-देन हुंडी-पुर्जे और बीमे का रोजगार करते थे। सर्राफ़े के सदस्यों के ब्याज की बँधी दर होती थी जो बाजार दर से काफी नीची होती थी और जरूरत पड़ने पर सर्राफ़े के किसी

[१] मजूमदार, कार्पोरेट लाइफ़ इन एंशेंट इंडिया, पृ० १४४, इत्यादि, कलकत्ता १९२२

सदस्य से रुपया उसी निर्धारित सूद की दर पर ले सकते थे। नगर-सेठ उस सर्राफ़े का चौधरी होता था और उसका सरकार में तथा सारे शहर में काफी मान होता था।

राजघाट की मुद्राओं में जो जनपद शब्द आया है उसके संबंध में कुछ कहा नहीं जा सकता, पर इतना तो निश्चित् है कि इस संस्था का नगर के जीवन से काफी संबंध था और जैसा एक मुद्रा से पता चलता है जनपद और निगम से भी संबंध था। हो सकता है कि यह म्युनिसिपैलिटी अथवा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड जैसी कोई संस्था रही हो।

२. वेश्याएँ इत्यादि

चतुर्भाणी के पादताडितकम् में, जिसका समय पाँचवीं सदी का आरंभ माना गया है, वाराणसी के मौजी जीवन पर प्रकाश पड़ता है। एक जगह उज्जयिनी में आयी हुई पराक्रमिका नामक काशी की मुख्य वेश्या और उसके नखरों का वर्णन है। विट ने उसे खिड़की पर पिछोला बजाते हुए देखा। उसके कुच वैकक्ष्य से कसे थे, उसने अर्धोरुक ऐसे पहन रक्खा था कि उसके नितंब उघड़े-से लग रहे थे।[१]

विट ने एक दूसरी जगह उस युग के काशी, कोसल, भर्ग और निषाद के फटीचर कवियों पर गहरा व्यंग्य किया है जो प्यालों के मोल पर अपनी कविता बेचते थे।[२]

३. गुप्त युग में बनारस की धार्मिक अवस्था

यह बात निर्विवाद है कि गुप्त युग में शैव और वैष्णव धर्म अपने चरम विकास का पहुँचे। बौद्ध धर्म के प्रति जिस प्रतिक्रिया का आरंभ हम कुषाण काल ही से पाने लगते हैं, उसका पूर्ण विकास गुप्त काल में हुआ और इसके फलस्वरूप शैव और भागवत धर्म दोनों ही खिल उठे। इस धार्मिक पुनर्जीवन ने धीरे-धीरे वैदिक धर्म के प्रतीक यज्ञादि को भी गुप्तयुग के बाद समाप्त कर दिया पर इसका यह अर्थ नहीं है कि भागवत और शैवधर्म बौद्धों को दबाकर आगे बढ़े। ऐसा सोचना गुप्त काल की उस महान् धार्मिक उदारता के प्रति गहरा अन्याय करना होगा। प्राचीन लेखों, मूर्तियों और मंदिरों इन सब के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गुप्तों के समय में उत्तर भारत में पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता थी। परम भागवत होते हुए भी गुप्त सम्राट् बौद्ध धर्म और जैन धर्म को बड़े आदर से देखते थे। सारनाथ और मथुरा की बौद्ध कला इसी युग की देन है। कभी कभी तो हम धार्मिक कट्टरता छोड़कर हिंदुओं को बहुधा बौद्ध और जैन मंदिरों की स्थापना और चलाने में मदद करते पाते हैं। अब हम यह देखेंगे कि इतिहास गुप्तकाल के धार्मिक विकास पर क्या प्रकाश डालता है।

हम पहले कह आये हैं कि मत्स्य पुराण में हरिकेश की कहानी में हम सर्वसाधारण में प्रचलित यक्ष धर्म और शैव धर्म में कशमकश की छाया पाते हैं। इस कथा के अंत में शैवधर्म की विजय होती है और तमाम यक्षों और भूतों को अपने में समेटकर

---

[१] वी० एस० अग्रवाल और मोतीचन्द्र, चतुर्भाणी, पृ० १८७-८८

[२] वही, पृ० २५१

शैव धर्म ने उनको अपना कर शिव के गण, पार्षद इत्यादि बना देता है। विनायक, गजतुंड, जयंत, मदोत्कट, सिंह और व्याघ्रमुख वाले तथा कुब्ज और वामन यक्ष, महाकाल, चंडघंट, महेश्वर, दण्डचंडेश्वर, घण्टाकर्ण और भी बहुत-से गण और गणेश्वर जिनके बड़े-बड़े पेट और विशाल शरीर थे शिव के भक्त बनकर अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी के रक्षक बने और शूलपाणि और मुद्गरपाणि यक्ष द्वार द्वार पर शिव के गण बनकर जम गये (मत्स्य०, १८३।६३-६६)। वाराणसी में यहाँ तक शिव का प्रताप बढ़ा कि विचारे यक्षराज कुबेर भी वाराणसी नगरी में अपनी चाल-चलन छोड़कर गणेशत्व को प्राप्त हो गये (मत्स्य०, १८०।६२)। यह कशमकश किस काल से शुरू हुई यह तो नहीं कहा जा सकता पर इसका आरंभ काफी प्राचीन काल में हुआ होगा इसमें संदेह नहीं, क्योंकि हरिकेश की कहानी में यह भी संकेत है कि हजार वर्ष काशी में तप करने के बाद शंकर ने उन्हें वर देकर काशी का क्षेत्रपाल बनाया। पौराणिक आधारों से एक दूसरी बात का भी पता लगता है कि शैवधर्म ने न तो बौद्धों से टक्कर ली न उसने शुद्ध वैदिक धर्म से ही बैर मोल लिया। उसने तो अपना प्रचार केवल उस जनसमूह तक सीमित रक्खा जो यक्षों और नागों के फेर में सदियों से फँसा था और जिस लोकधर्म के साथ बौद्धों को भी किसी-न-किसी प्रकार का समझौता करना पड़ा। जान पड़ता है कम-से-कम ईसा की प्रथम शताब्दी में, जैसा कि कुषाणों के कुछ सिक्कों से पता लगता है, शैवधर्म विकसित हो चला था पर उसकी गति इतनी तेज नहीं थी। संभवतः पूर्वी उत्तर प्रदेश में भारशिवों के समय वह और भी तेजी से आगे बढ़ा और गुप्तकाल में तो यह मध्यदेश में छा गया।

पुराणों के अध्ययन से पता चलता है कि शैवधर्म के इस उत्कर्ष में बनारस का बहुत बड़ा हाथ था। पुरातत्व संबंधी सूत्रों के आधार पर तो यही जान पड़ता है कि वाराणसी का अविमुक्त-क्षेत्र नाम गुप्त युग में पड़ा, पर पुराण इस नामकरण की घटना दिवोदास के युग तक ले जाते हैं। वायुपुराण के अनुसार (३०।५८) शिव ने बनारस के नष्ट हो जाने पर भी यहाँ से कभी न हटने का विचार पार्वती से प्रकट किया इसीलिए इसका नाम अविमुक्त क्षेत्र पड़ गया। अग्नि पुराण (३५।१६) भी कहता है कि इस क्षेत्र को शिव के कभी न छोड़ने से ही इसका नाम अविमुक्त क्षेत्र पड़ा। गुप्त युग में शैव धर्म का काशी में पुनरुत्थान होते ही अनेक शिवलिंगों की स्थापनाएँ होने लगीं। मत्स्यपुराण (१२१।२८-२९) में कहा गया है गुप्तयुग में काशी के निम्नलिखित प्रसिद्ध आठ शिवलिंग थे—(१) हरिश्चन्द्र, (२) आम्रातकेश्वर, (३) जालेश्वर, (४) श्रीपर्वत, (५) महालय, (६) कृमिचण्डेश्वर, (७) केदारेश्वर, और (८) अविमुक्तेश्वर। हम आगे चलकर देखेंगें कि मत्स्य पुराण के इस कथन में काफी सत्य है।

पुराणों से यह भी पता लगता है कि गुप्तकाल में बनारस की पवित्रता का विश्वास दृढ़ हो चुका था। अग्नि पुराण (३५२१) में यहाँ स्नान, जप, होम, मरण, देवपूजन, श्राद्ध, दान और निवास मुक्तिदायक माने गये हैं। देवदेव अविमुक्त का शिवालय, महाश्मशान, तीर्थ और तपोवन पवित्रता की वस्तु माने गये (मत्स्य०, १८४।९)। ब्रह्मचारी, सिद्ध, वेदान्तकोविद इत्यादि मरने के दिन तक वहीं बसने लगे (मत्स्य०, १८२।८)। अंधविश्वास यहाँ तक बढ़ा कि लोग मानने लगे कि काशी में विधानपूर्वक आग में जल मरने से मृतात्मा

स्वयं शिव के मुख में प्रवेश करता है, और जो कृतनिश्चय होकर उपवास करते थे उनकी पुनरावृत्ति असंभव थी (मत्स्य०, १८३।७७–७८)। आजदिन बनारस के बारे में कहावत प्रसिद्ध है 'चना चबैनी गंगजल जो पुरवै करतार, काशी कबहुँ न छाँड़िए विश्वनाथ दरबार' पर इसका प्रारम्भ गुप्तयुग में ही हो चुकी थी, मत्स्यपुराण (१८४।५१) में कहा है, **'देवो देवी नदी गंगा मिष्टमन्नं शुभागतिः, वाराणस्यां विशालाक्षि वासः कस्य न रोचते।'** हे विशालाक्षि, जहाँ देव है, देवी हैं, गंगा नदी है, मिठाइयाँ हैं और शुभगति है, ऐसी वाराणसी किसको न रुचेगी। बिचारे मुगल कालीन बनारसियों को चना चबैना पर ही टरकना पड़ा। इतना ही नहीं, बनारस के अजीब दृश्यों में वहाँ के अकर्मण्य साधुओं के जमघट भी हैं। जान पड़ता है गुप्तयुग में भी बनारस में ये पूरी तरह से जम चुके थे। मत्स्यपुराण (१८३।३१–३२) का कहना है कि घास-पात खाकर जीने वाले, केवल किरण पीकर जीने वाले, केवल दांत से ऊखल का काम लेने वाले, अश्मकुट्ट, महीने महीने केवल कुशाग्र से जल पीने वाले, वृक्षमूल में बसने वाले, और पत्थर पर सोने वाले साधु नगरी की शोभा बढ़ा रहे थे। जैसे-जैसे समय बीतता जाता था वैसे-वैसे बनारस में तीर्थों की बाढ़ आती जाती थी। दशकुमार चरित में जब अर्थपाल अपने मित्रों सहित बनारस पहुँचे तब उनका व्यवहार बिलकुल श्रद्धालु यात्रियों की तरह था।[1] मणिशलाकावत् निर्मल जल वाले मणिकर्णिका कुंड में नहाकर भगवान् अन्धकमथन अविमुक्तेश्वर को नमस्कार करके उन लोगों ने मंदिर की प्रदक्षिणा की। इस मणिकर्णिका कुंड का अग्नि और मत्स्य पुराणों में कहीं पता नहीं है। जान पड़ता है इसकी कल्पना छठी शताब्दी में आरम्भ में हुई होगी।

राजघाट की खुदाई के पहले बनारस से शैवधर्म के संबंध के प्रमाण केवल पुराण थे, पर खुदाई से मिली मुद्राओं से बनारस के अनेक शिवलिंगों का पता चला है और इनसे मत्स्यपुराणादि में दी गयी शिवलिंगों की तालिकाओं की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है। जैसा हम पहले बता चुके हैं गुप्तयुग के काशी के प्रधान शिवलिंग आठ, अर्थात् हरिश्चन्द्रेश्वर आम्रातकेश्वर, जालेश्वर, श्रीपर्वतेश्वर, महालयेश्वर, कृमिचंडेश्वर, केदारेश्वर थे तथा इन सब में प्रधान अविमुक्तेश्वर थे। काशी खंड (अ० १०) में भी इनमें से अधिकतर नाम आते हैं, पर इस युग में अविमुक्तेश्वर की इतनी महिमा नहीं रह गयी थी और इनकी जगह विश्वेश्वर ने ले ली थी। मत्स्य पुराण की तालिका के शिवलिंगों में से दो की मुद्राएँ अभी यथा आम्रातकेश्वर और अविमुक्तेश्वर की अब तक मिली हैं। आशा है कि राजघाट की और अधिक खुदाई होने पर अन्य महादेवों की मुद्राएँ भी वहाँ से मिलेगीं। आम्रातकेश्वर की मुद्रा बनारस में तो नहीं, पर वैशाली से मिली है, संभवतः किसी भक्त के हाथ वह वहाँ पहुँच गयी होगी। अविमुक्तेश्वर की सब की सब मुद्राएँ बनारस से मिली हैं।

राजघाट से अविमुक्तेश्वर की निम्नलिखित भाँति की मुद्राएँ मिली हैं—(१) गुप्तकालीन अक्षरों में अविमुक्तेश्वर भ(ट्टारक), त्रिशूल, परशु और वृषभ; (२) गुप्तकालीन अक्षरों में अविमुक्तेश्वर, वृषभ और गंगा; (३) आठवीं सदी के अक्षरों में श्री अविमुक्तेश्वर; (४) आठवीं-नवीं सदी के अक्षरों में नाममुद्रा पर अविमुक्तेश्वर भट्टारक लेख। इन

[1] दशकुमारचरित, पृ० १६६, बम्बई १९३६

[2] ए० एस० आर०, १९०३–०४, पृ० ११०

लेखों से पता चलता है कि गुप्तकाल से लेकर नवीं शताब्दी तक अविमुक्तेश्वर की पूजा बनारस में प्रचलित रही। अविमुक्तेश्वर भट्टारक वाले लेख से मालूम पड़ता है कि अविमुक्तेश्वर मन्दिर के कोई महंत भी थे और यह महंती गुप्त युग से आरम्भ होकर नवीं सदी तक चलती रही। मुद्राओं से यह भी पता चलता है कि अविमुक्तेश्वर के लक्षण त्रिशूल, परशु, और वृषभ थे और शायद अविमुक्तेश्वर का मन्दिर गंगा के किनारे अथवा उसके पास में था।

अविमुक्तेश्वर के कुछ पौराणिक आधारों के बारे में हम ऊपर कह चुके हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या अविमुक्तेश्वर के और भी कई नाम थे। पुराणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसके कम-से-कम दो नाम और थे, अर्थात् देवदेव[1] और विश्वेश्वरदेव (मत्स्य, १८२।१७)। महाभारत में (आरण्यक पर्व, ८४।७८) अविमुक्त क्षेत्र में स्नान करने और देवदेव के दर्शन से ब्रह्महत्या के पातक से मुक्ति मानी गयी है। लेकिन भांडारकर इंस्टिट्यूट द्वारा संपादित महाभारत में (आरण्यक पर्व, १, पृ० २९२) इस श्लोक को प्रक्षिप्त माना गया है। इस प्रकार महाभारत में अविमुक्त तीर्थ वाला भाग गुप्त युग में, जब काशी में अविमुक्त को प्रधान लिंग मानकर अनेक शिवलिंगों की कल्पना की गयी, जोड़ा गया। जैसा कि भांडारकर इंस्टिट्यूट वाले महाभारत (३।८२।६९–७०) के संस्करण में कहा गया है, संभवतः गुप्तयुग के पहले भी बनारस में कुछ शिवलिंग थे और एकाध तीर्थ स्थानों की ओर भी संकेत मिलता है। यहाँ तो यही कहा गया है कि बनारस में कपिलह्रद में स्नान तथा वृषभध्वज और मार्कंडेय के दर्शन पवित्र है।

अविमुक्तेश्वर के देवदेव नाम की कल्पना के कुछ पौराणिक आधारों का हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं। सौभाग्यवश राजघाट से एक मुद्रा भी मिल गयी है जिसपर आरंभिक गुप्तयुग के अक्षरों में श्री देवदेवस्वामिन् लेख है। इस मुद्रा का संबंध बनारस के सबसे बड़े शैव मंदिर अविमुक्तेश्वर से रहा होगा जैसा हम आगे देखेंगे। चीनी यात्री युवान च्वांङ ने भी बनारस में देवदेव की पूजा का उल्लेख किया है।

ऊपर हम कह आये हैं कि देवदेव और विश्वेश्वर देव अविमुक्तेश्वर के ही नाम थे। कालान्तर में अविमुक्तेश्वर का नाम तो समाप्त हो गया और उसकी जगह विश्वेश्वर का नाम प्रचलित हो गया। शायद यह बात बारहवी सदी के बाद हुई। तब से बिचारे अविमुक्तेश्वर तो विश्वनाथ मंदिर के कोने में रह गये, पर इस युग में भी उनका नाम अविमुक्त क्षेत्र में बच गया।

राजघाट से मिली मुद्राओं से गुप्तकालीन या उसके थोड़े बाद के निम्नलिखित मंदिरों का पता चलता है :—

१—**श्रीसारस्वत**—दो मुद्राओं से स्कंद पुराणोक्त इस शिवलिंग का गुप्तयुग में पता चलता है।

२—**योगेश्वर**—(काशीकांड, अ० ९७)। इस मुद्रा पर निम्नलिखित लक्षण मिलते हैं। अर्धचन्द्र, अक्षसूत्र, त्रिशूल-परशु, कमंडलु और कुबड़ी।

---

[1] मत्स्य०, १८१।८; १८४।१९; १५५।५३

३—**भृंगेश्वर**—इसकी मुद्रा पर भृंगार, अक्षसूत्र, अर्धचन्द्र और त्रिशूल-परशु मिलते हैं।

४—**प्रीतिकेश्वर स्वामिन्**—काशी खंड (९१) में इस शिवलिंग का नाम आता है और विश्वनाथ के पास ही साक्षी विनायक पर इनका मन्दिर है। इनकी दो तरह की मुद्राएँ मिली हैं एक छोटी और दूसरी बड़ी। बड़ी मुद्रा पर वृषभ और परशु भी बने हैं।

५—**भोगकेश्वर**—काशीखंड (९७)। मुद्रा पर वृषभ बना है।

६—**प्राशेश्वर**—मुद्रा पर वृषभ लांछन है।

७—**हस्तीश्वर**—मुद्रा पर वृषभ लांछन है।

८—**गंगेश्वर**—डा० अग्रवाल के अनुसार यह मुद्रा गंगेश्वर अथवा गर्गेश्वर की है।

९—**गभस्तीश्वर**—मुद्रा पर लेख के अक्षर सातवीं सदी के हैं। गभस्तीश्वर का नाम काशीखंड में ३३ और ९१ अध्यायों में आता है। मङ्गलागौरी के पास आज भी गभस्तीश्वर का एक मन्दिर है।

प्रायः उपर्युक्त सभी नामों को जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, बारहवीं सदी में लक्ष्मीधर ने अपने तीर्थ विवेचन खंड में दिया है।

४. मुद्राओं के आधार पर काशी की गुप्तकालीन शिक्षा-संस्थाओं पर प्रकाश

गुप्त युग में काशी शिक्षा का एक बहुत बड़ा केन्द्र था। पर यहाँ मौर्य युग से गुप्त युग के पहले तक शिक्षा की क्या व्यवस्था थी इसका हमें बहुत कम पता है। भाग्यवश राजघाट से कुछ मुद्राएँ मिली है जिनके आधार पर हम गुप्तयुग में बनारस की शिक्षा की व्यवस्था पर प्रकाश डाल सकते हैं। चातुर्विद्य वाली गुप्तकालीन मुद्रा से पता चलता है कि उस काल में बनारस में चारों वेद पढ़ाने के लिये कोई पाठशाला थी। यह भी सम्भव है कि इस पाठशाला में चार विद्याएँ आन्वीक्षिकी, त्रयी वार्ता, दंडनीति और शाश्वती पढ़ाई जाती रही हों। बह्वृच्चरण के लेख वाली दो मुद्राएँ मिली हैं जिनसे पता लगता है कि गुप्तयुग में बनारस में ऋग्वेद के अध्यापन के लिए एक पाठशाला थी। इन मुद्राओं पर पाठशाला का सुन्दर चिह्न भी दिया हुआ है। इनमें बने एक आश्रम में एक जटाजूटधारी अध्यापक और दोनों तरफ एक एक दण्डधारी शिष्य खड़े दिखलाये गये हैं। अध्यापक के बाएं हाथ में करवा है जिससे वे बायीं ओर एक वृक्ष पर पानी डाल रहे हैं। आश्रम दो घने पेड़ों के बीच है। ऐसा मालूम पड़ता है कि बनारस में प्रत्येक मन्दिर के साथ पाठशाला होती थी।

बनारस में ऐसा जान पड़ता है कि गुप्तयुग में सामवेद पढ़ाने के लिए कोई विशेष पाठशाला थी। इस पाठशाला की गुप्तयुग की मुद्राओं पर छांदोग्य लेख आता है। शायद इस पाठशाला का लांछन वृषभ था। एलाहाबाद म्यूज़ियम की ऐसी तीन मुद्राओं के पट ओर भी छापे है। एक के पट छाप पर छांदोग्य की पुनरुक्ति है, दूसरे पर 'पालसेन' का नाम है। तीसरी मुद्रा में पट ओर दो छापे हैं। एक में चक्र और दो छोटे शंख हैं और दूसरे में छरहरे कद का एक लंबा मनुष्य अंकित है। कला-भवन, बनारस की छान्दोग्य वाली तीन

मुद्राओं के पट ओर योगेश्वर स्वामी का लेख है और अर्धचन्द्र, अक्षसूत्र, अमृतघट तथा दंड बने हैं। इस मुद्राओं के आधार पर हम निम्नलिखित नतीजों पर पहुँच सकते हैं—(१) बनारस में योगेश्वर के मंदिर के साथ सामवेद की एक पाठशाला थी, (२) कुछ वैष्णव लक्षणों के आने से यह कहा जा सकता है कि शायद इस पाठशाला के कुछ अध्यापक वैष्णव भी होते हों।

श्री सर्वत्रैविद्यस्य लेख वाली राजघाट से मिली गुप्तकालीन मुद्रा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बनारस में शायद त्रैविद्य नाम के किसी शिवमंदिर के साथ पाठशाला में तीनों वेदों के पढ़ाने का प्रबंध था।

राजघाट से काफी संख्या में जनसाधारण के नामों की मुद्राएँ मिली हैं। इन मुद्राओं पर मिले नामों से भी बनारस के तत्कालीन धार्मिक विश्वासों पर प्रकाश पड़ता है।

५. शैव नामों वाली मुद्राएँ

कर्दमरुद्र—यह नामांकित मुद्रा हड्डी की है और इस पर दो नागों के बीच एक तीर वाला लक्षण है। लगता है कर्दमक रुद्र जैसे कोई गहरे शैवाचार्य रहे हों।

रुद्रगुप्त—चित ओर वृषभ, पट ओर श्रीवत्स और रुद्रगुप्त का नाम।

भवदत्त—इस मुद्रा पर सर्प और अक्षमाला वाली भी एक छाप है।

शिवदत्त—इसके ऊपर अर्धचन्द्र और नीचे खिला हुआ कमल है।

कला-भवन की मुद्राओं में रुद्रशर्मा, शिवमित्र और कर्पटदास भी शैवधर्म के ही द्योतक हैं।

नंदी, बरद, नागशर्मा, भृगुशर्मा, चन्द्र, चन्द्रदत्त, वेष्टन, भृगु, मित्रक, मंगलक, धारिनंदी, विषक, देव, ईश्वरदत्त, महादेव, नागदत्त, भवसेन, नाथदत्त, महेश्वर इत्यादि नाम बनारस के गुप्तकाल में शैवधर्म के प्रसार के द्योतक हैं।

जान पड़ता है कुमारगुप्त के समय से बनारस कार्तिकेय की पूजा का भी एक प्रधान केन्द्र बन गया। बहुधा राजघाट से मिली कार्त्तिकेय के भक्तों की मुद्राओं पर नाचता हुआ मोर दीख पड़ता है। शतिक की मुहर पर एक नाचता मोर बना है। एक मुहर पर श्री महेन्द्र लेख है और बाँयी ओर नाचता मोर है। यह स्कंदगुप्त की मुहर मालूम पड़ती है क्योंकि उनका एक विरुद श्री महेन्द्र था। इस मुहर पर एक चन्द्र नाम के किसी व्यक्ति की भी मुहर है; लगता है श्री महेन्द्र का यह कोई कर्मचारी रहा होगा। एक मुहर पर षष्ठिमित्र, दूसरी पर सुविशाखदत्त, और तीसरी पर विशाखदत्त और चौथी पर गुहादित्य नाम आया है। इन सब नामों से पता लगता है कि कार्त्तिकेय की पूजा बनारस में खूब चलती थी। षष्ठि कार्तिकेय की देवी कही गयी है। गुप्त युग में इनकी बड़ी पूजा होती थी और इनके मंदिर भी स्थापित किये जाते थे। अब भी पुत्रजन्म के बाद षष्ठी के दिन बनारस में इस देवी की पूजा होती है। कला-भवन बनारस में गुप्तकालीन कार्तिकेय की एक बड़ी ही सुन्दर मूर्ति है; शायद इसकी पूजा किसी गुप्तकालीन मंदिर में होती रही हो।

६. वैष्णव धर्म

गुप्त नरेश अपने सिक्कों और लेखों में परम भागवत कहे गये हैं। यह मानने का पर्याप्त कारण है कि गुप्तयुग के बनारस में भी वैष्णव धर्म का प्रसार हो चुका था। खास विष्णु की गुप्तकालीन प्रतिमाएँ तो अभी तक बनारस से नहीं मिली हैं, पर गोवर्धन-धारी कृष्ण की बकरिया कुंड से मिली हुई गुप्तकालीन मूर्ति इस बात की साक्षी है कि बकरिया कुंड के पास गुप्तकाल में कृष्ण का एक बड़ा मंदिर रहा होगा जिसका अब कोई पता नहीं है। राजघाट से मिली अनेक मुद्राओं पर आये नामों और लक्षणों से भी यह पता चलता है कि वैष्णवधर्म की यहाँ काफी उन्नति हो चुकी थी। कृष्णषेण, हरिषेण, भागवत, हरिदास, माधव, दिवपुत्र, केशवशर्मा, देवरक्षित, हरिभट्ट, वल्लभ, विष्णुमित्र, इत्यादि नाम गुप्तकालीन भागवत धर्म के प्रतीक हैं। एक मुद्रा पर तो गुप्तकालीन बनारस के विष्णु मंदिर का चित्र है। मंदिर में एक पर एक चक्र और दो शंख दिखलाये गये हैं। पुष्पसर नामांकित भी कुछ मुद्राएँ मिली हैं जिन पर विष्णुचरण की छाप है। लगता है पुष्पसर पर विष्णु का कोई मंदिर था।

७. बौद्ध धर्म का विस्तार

मृगदाव यानी सारनाथ कम-से-कम अशोक के समय से बौद्धों का पवित्र तीर्थ रहा है और इस बात का काफी प्रमाण है कि मौर्य युग से ही यहाँ बौद्ध भिक्षु रहते थे। हमें इस बात का पता है कि गुप्तकाल में मूलगंध कुटी विहार बन चुका था क्योंकि इस संबंध में चौथी या पाँचवी शताब्दी का एक लेख एक दीवट पर मिला है।[१] छठी या सातवीं शताब्दी की सारनाथ से मिली मुद्राओं पर भी मूलगंधकुटी का नाम आता है। जान पड़ता है गुप्तयुग में सद्धर्म-चक्र-विहार का यह प्रधान मंदिर था।

गुप्तयुग के आरंभ में (करीब ३२० ईस्वी) सारनाथ में सर्वास्तिवादियों का जोर था क्योंकि इनके तीन लेख सारनाथ की खुदाइयों से मिले हैं। यह विचित्र बात है कि सर्वा-स्तिवादियों का एक लेख किसी प्राचीन लेख को, जिसमें किसी दूसरे निकाय का नाम आया था, मिटाकर लिखा गया। सर्वास्तिवाद स्थविरवाद की एक शाखा है और कुषाण युग में जैसा कि पेशावर, मथुरा और बनारस में मिले लेखों से पता चलता है, इसका उत्तर भारत में काफी जोर था।

अशोक स्तंभ पर हमें सम्मितियों का एक लेख मिलता है। सम्मितिय वात्सीपुत्रों की एक शाखा थे और सर्वास्तिवादियों की तरह हीनयान से संबंधित थे। यह लेख चौथी शताब्दी का है और सर्वास्तिवादियों के लेखों के थोड़े ही बाद का मालूम पड़ता है। जैसा हम आगे देखेंगे, सातवीं सदी में सद्धर्मचक्र विहार पूरी तौर से सम्मितिवादियों के कब्जे में था।

गुप्तयुग में सारनाथ से मिली बौद्ध मूर्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बोधिसत्वों की पूजा यहाँ बढ़ रही थी। कुषाण युग में महायान ने अपने संप्रदाय में तमाम

---

[१] केटलाग, पृ० ३

हिंदू देवी देवताओं को लेकर अपने को पुष्ट बनाने का प्रयत्न किया। मैत्रेय और अवलोकितेश्वर की इस युग की अनेक मूर्तियाँ सारनाथ से मिली हैं। पद्मपाणि, तारा, प्रज्ञापारमिता और दूसरे महायानी देवी-देवताओं की पूजा भी इस युग में बढ़ी, पर आरंभिक गुप्तयुग में सारनाथ में हीनयान का ही अधिक प्रभाव रहा।

सारनाथ में जिस तरह बौद्ध धर्म का केन्द्र बन रहा था, उसे देखते हुए बनारस शहर में बौद्ध धर्म का उतना अधिक प्रचार नहीं था। राजघाट से मिली मुद्राओं के आधार पर तो यह कहा जा सकता है कि बनारस शहर में बौद्ध धर्म का बहुत कम प्रचार था। धर्मस्वामी और बुद्ध की मुद्राओं से पता चलता है कि बनारस में बौद्ध भी थे पर इसमें संशय नहीं कि शहर में गुप्तकाल में प्रधान धर्म शैव था और उसके बाद वैष्णव।

८. जैन धर्म

गुप्त युग में धार्मिक स्वतंत्रता के अनुरूप जैन धर्म का भी प्रसार हुआ। जान पड़ता है कुमारगुप्त के काल में जैन धर्म की काफी उन्नति हुई क्योंकि गुप्त युग के जितने जैन लेख मिले हैं वे प्रायः कुमारगुप्त के युग के हैं।[१] बनारस में गुप्तयुग में जैन धर्म की क्या स्थिति थी इसका तो ठीक ठीक पता नहीं है, पर राजघाट-से मिली ऋषभदेव नाम के एक व्यक्ति की मुद्रा से यह पता चलता है कि बनारस में उस काल में भी जैन थे। बनारस के जैनों के बारे में हमें थोड़ा-सा वृत्तान्त पहाड़पुर से मिले गुप्त संवत् १५८ (४७९ ईस्वी) के एक ताम्रपत्र से मिलता है।[२] इस लेख में पुंड्रवर्धन के अधिकरण अधिष्ठान के पास एक ब्राह्मण और उसकी पत्नी द्वारा तीन दीनारों के जमा किये जाने का उल्लेख है, जिसके द्वारा कुछ जमीन खरीदकर उसकी आमदनी से वट गोहाली विहार की जैन प्रतिमाओं का पूजन हो सके। इस विहार का प्रबंध आचार्य गुहनंदिन् के शिष्य-प्रशिष्य करते थे। उपर्युक्त गुहनंदी काशी के थे और पंचस्तूपान्वयी थे, अर्थात् काशी में भी मथुरा के पंचस्तूपान्वय की शाखा पाँचवीं शताब्दी में थी।[३]

९. गुप्त युग में जन-साधारण के गुणवाचक नाम

ऊपर हमने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि काशी से अधिकतर मुद्राओं पर आये हुए नामों से नगर की गुप्तयुग में धार्मिक अवस्था पर क्या प्रकाश पड़ता है, पर इससे यह न समझ लेना चाहिए कि काशी के सब नाम केवल धर्मवाचक थे। बहुत-से नाम राजघाट से ऐसे भी मिले हैं जो गुणवाचक हैं, जैसे रसिक, नलश्री, सुविमल, वेदमित्र, धृतिशर्मा, सक्षणक, सुमति, धनमित्र, शौर्यवर्मा, वीरदेव, बलक, पालक, बोटिल (जवान या धर्मात्मा), महाघिर, पटिन्, शूरगुप्त, सिंहदत्त इत्यादि।

राजघाट से मिली दो मुद्राओं में दो स्थानवाची नाम भी मिले हैं यथा शिखंडवासी

---

[१] फ्लीट, गुप्त इंस० नं० ६१; ६२; एपि० इं०, २, पृ० २१०

[२] एपि० इंडि०, २०।५९ से

[३] पं० नाथूराम प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ, पृ० २४६–४८।

और युगंधर। शिखंड का तो पता नहीं कहाँ था, पर संभवतः युगंधर तो जगाधरी (पूर्वी पंजाब) का इलाका है।

१०. बनारस से मिली बिना नाम की मुद्राएँ

राजघाट में एक तरह की मुद्राएँ मिली हैं जिन पर केवल लक्षण अथवा अभिप्राय ही आते हैं जैसे बैठा हुआ नंदी और त्रिशूल, भागता हुआ सिंह, नंदी पर सवार शिव-पार्वती, अपने खांगों पर स्त्रीरूप पृथ्वी धारण किये हुए वराह, खिला हुआ फूल, एक खंभे और माला के बीच में डैना फैलाए हुए पंजों में सर्प पकड़े हुए गरुड़, तथा नृत्य करता हुआ मोर। एक गुप्त मुद्रा पर एक तुंदिल देवता हाथ में गदा लिये हुए एक मोढ़े पर बैठे दिखलाये गये हैं। ये दंडपाणि या मुद्गरपाणि हो सकते हैं। ● ●

दसवाँ अध्याय

ईस्वी ५५० से करीब ७०० तक काशी का इतिहास

छठी शताब्दी के मध्य में गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया तथा उसके उत्तराधिकारी अनेक स्वतंत्र राजवंश उत्तरी भारत में शासन करने लगे। इसी युग में बनारस का राज मौखरियों के हाथ में चला गया। गुप्तों का राज्य मगध तक ही सीमित रह गया। इस गुप्तवंश का और प्राचीन गुप्तवंश के संबंध का हमें पता नहीं है पर इस वंश को हम मागध-गुप्त कह सकते हैं। ऐतिहासिक आधारों से यह पता चलता है कि मागध-गुप्तों और मौखरियों में शत्रुता थी और दोनों में बहुधा युद्ध हुआ करता था। मागध-गुप्तों में जीवितगुप्त प्रथम के पुत्र कुमारगुप्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अफसड शिलालेख[1] से पता चलता है कि मौखरि ईशानवर्मा की सेना को इसने परास्त किया। ईशानवर्मा के हड़हा वाले लेख से (ईस्वी ५५४) यह कहा जा सकता है कि कुमारगुप्त ईस्वी ५६० के आसपास राज करता था। ईशानवर्मा को हराकर संभवतः कुमारगुप्त ने बनारस सहित प्रयाग को मौखरियों से छीन लिया था क्योंकि अफसड के लेख के अनुसार कुमारगुप्त की मृत्यु प्रयाग में हुई। पर मागध-गुप्तों की पूर्वी उत्तर प्रदेश में यह विजय क्षणिक ही रही। कुमारगुप्त के पुत्र दामोदरगुप्त को ईशानवर्मा के पुत्र सर्ववर्मा ने युद्ध में मार कर, जैसा देवबरनाक के लेख से पता चलता है, बिहार के शाहाबाद के इलाके तक अपना अधिकार कर लिया।[2] अर्थात् पुनः पूर्वी प्रदेश अर्थात् बनारस और इलाहाबाद मौखरियों के अधिकार में चले आये। पर यहाँ से ही किस्सा खतम नहीं होता। संभवतः दामोदर गुप्त के पुत्र महासेन गुप्त ने मौखरि अवंतिवर्मा को हराकर अपना राज्य मालवा तक विस्तृत किया। ग्रहवर्मा को, जो अंतिम मौखरि राजा थे और जिन्हें थाणेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन की पुत्री अर्थात् श्री हर्ष की बहन ब्याही थी, मालवा के राजा देवगुप्त ने युद्ध में मार डाला, पर हर्ष ने देवगुप्त को हरा दिया और मौखरियों का राज्य हर्षवर्धन के साम्राज्य में आ मिला।

श्री हर्ष की मृत्यु (६४७ ईस्वी) के बाद थाणेश्वर के साम्राज्य में बगावत फैल गयी और संभवतः इस गड़बड़ी से लाभ उठाकर मागध-गुप्त राजा आदित्यसेन ने अपना राज्य पुनः बढ़ाया। इस बात का कोई उल्लेख तो नहीं है कि इसका पूर्वी उत्तर-प्रदेश पर अधिकार था पर शिलालेखों में इस राजा के विक्रम के वर्णन से और इसके अश्वमेध यज्ञ करने से पता चलता है कि इसने शायद थानेसर के वर्धनों के राज्य का बहुत अधिक भाग अपने कब्जे में कर लिया था। मागध-गुप्तों में केवल आदित्यसेन ही ऐसा राजा था जो वैष्णव धर्म का अनुयायी था। आदित्यसेन ने शायद ६४८ से ६७३ ईस्वी तक राज्य किया।

---

[1] फ्लीट, गुप्त इंसक्रिप्शन्स, नं० ४२

[2] वही, नं० ४६

आदित्यसेन के बाद देवगुप्त द्वितीय और विष्णुगुप्त के समय में भी शायद बनारस मागध-गुप्तों के अधीन था। जीवितगुप्त द्वितीय के देवबरनाक लेख से मालूम पड़ता है कि जीवितगुप्त ने गोमती तट पर अपना विजय स्कंधावार स्थापित किया था। इससे पता चलता है कि बिहार से लेकर पूर्वी उत्तर-प्रदेश तक जीवितगुप्त का शासन था और इस शासन में बनारस भी शायद रहा होगा। लगता है मागध-गुप्तों का राज्य आठवीं सदी के आरंभ में समाप्त हो गया।

श्री हर्ष (६०६–६४८ ईस्वी) के युग का बनारस

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद मौखरियों का कन्नौज से लेकर बनारस तक का राज्य हर्ष के अधिकार में आ गया। हर्ष के राज्यकाल में प्रसिद्ध चीनी यात्री युवान च्वांङ ने भारत-यात्रा की और इस प्रसंग में उन्होंने बनारस भी देखा। सातवीं सदी के आरंभ में बनारस की धार्मिक और सामाजिक स्थिति पर युवान च्वांङ के वर्णन से काफी प्रकाश पड़ता है। युवान च्वांङ कुशीनारा से ५०० ली (१०० मील) चलकर वाराणसी जनपद पहुँचे।[१] वाराणसी का अर्थ यहाँ देश बोधक है राजधानी बोधक नहीं। जान पड़ता है, गुप्तयुग में बनारस शहर और जनपद दोनों का बोध वाराणसी से होता था। आज दिन भी बनारस शब्द का व्यवहार शहर और जिला दोनों ही के लिए होता है। अब युवान च्वांङ के शब्दों में ही तत्कालीन बनारस की दशा सुनिए।

इस चीनी यात्री के अनुसार बनारस जिला ४००० ली (८०० मील) के गिर्द में था। इसकी राजधानी का पश्चिम किनारा गंगा तक पहुँचता था। शहर ११ ली (३$\frac{3}{4}$ मील) लंबा और ६ ली (१$\frac{3}{4}$ मील) चौड़ा था। शहर के मुहल्ले सटे हुए थे। बनारस की आबादी घनी थी, लोग बहुत धनवान थे और उनके घर बहुमूल्य वस्तुओं से भरे रहते थे। बनारस के नागरिक बहुत शिष्ट थे और शिक्षा के प्रति उनका अनुराग था। उनमें से अधिकतर दूसरे मतों के मानने वाले थे और बहुत थोड़े-से बौद्ध धर्मानुयायी थे। बनारस की जलवायु सुखकर थी और फसल बहुत अच्छी होती थी। फलों के और दूसरे वृक्ष खूब घने होते थे और जमीन पर हरियाली छायी रहती थी। बनारस जिले में करीब तीस बौद्ध विहार थे जिसमें सम्मिति निकाय के तीन हजार से अधिक भिक्षु रहते थे। शहर में देवमंदिर सौ के ऊपर थे और इनके धर्मों के अनुयायियों की संख्या दस हजार के ऊपर थी। इनमें अधिकतर शैव थे। इनमें से कुछ अपने बाल कटवा डालते थे, कुछ जटाजूट बाँधते थे, कुछ नंगे फिरते थे और कुछ भस्म रमाते थे। घोर तपश्चर्या में निरत होकर ये भव-बाधा से मुक्ति पाने के लिये सतत प्रयत्नशील रहते थे। खास बनारस में बीस देव-मंदिर थे और इन मंदिरों के खंड और छज्जे नक्काशीदार पत्थर और लकड़ी के बने होते थे। मंदिरों में पेड़ों के झुरमुट चारों ओर छाया करते थे और वहाँ साफ पानी के सोते होते थे। एक मंदिर में देव की काँसे की बनी सौ फुट ऊँची मूर्ति थी जो अपनी सजीवता और भयोत्पादक कांति से लोगों को प्रभावित करती थी। यात्रा-विवरण के मूल को इकट्ठा करने वाले फांङ-चि का कहना है कि इस देव-मंदिर में १०० फुट ऊँचे शिवलिंग की पूजा होती थी।

---

[१] वाटर्स, युवान च्वाङ, भा० २, पृ० ४६–४७।

बनारस शहर के वर्णन के बाद युवान च्वांङ सारनाथ का वर्णन करता है। राजधानी के उत्तर-पूर्व में और बरना नदी के पश्चिम में अशोक निर्मित १०० फुट ऊँचा स्तूप था। इसके सामने हरे पत्थर का एक पालिसदार स्तंभ था। बरना नदी के १० ली (२ मील) उत्तर-पूर्व में मृगदाव विहार था। इसमें आठ भाग थे और वह एक ऊँची दीवार से घिरा हुआ था। इस विहार में सम्मितिय निकाय के १५०० भिक्षु रहते थे। दीवार के अंदर २०० फुट ऊँचा, स्वर्णमंडित आमलक से अलंकृत एक मंदिर था जिसकी कुरसी और सीढ़ियाँ पत्थर की थीं और जिसके ईंटों के बने भाग में निषीदिकाओं की पंक्तियाँ थीं और हर निषीदिका में बुद्ध की सुवर्णमंडित प्रतिमा थी। मंदिर के अंदर काँसे की बनी धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा में बुद्ध की एक कद्दे आदम मूर्ति थी।[1]

बौद्ध मंदिर के दक्षिण-पश्चिम भाग में अशोक निर्मित पत्थर का स्तूप था। इसका जमीन के ऊपर का सौ फुट हिस्सा तब भी बचा हुआ था। इसके सामने उस जगह, जहाँ बुद्ध ने धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था, एक तीस फुट ऊँचा खंभा था।

इस लाट के आस पास एक स्तूप आज्ञात कौंडिन्य और उसके चार शिष्यों के उस जगह तपस्या के उपलक्ष में बना था जब वे बुद्ध को तपस्या छोड़ने पर छोड़कर इसिपतन चले आये थे। यह स्तूप उसी जगह पर था जहाँ ५०० प्रत्येक बुद्धों को एक ही समय में निर्वाण मिला। वहाँ तीन विगत बुद्धों के बैठने और घूमने की जगहों पर भी तीन स्तूप थ।

युवान च्वांङ पुनः उस स्तूप का वर्णन करते हैं जहाँ बुद्ध ने मैत्रेय के भविष्य में बुद्ध होने की भविष्यद्वाणी की थी।

मैत्रेय संबंधी भविष्यद्वाणी वाले स्तूप के पश्चिम में एक स्तूप था जहाँ शाक्य बुद्ध ने ज्योतिपाल बुद्ध की तरह कश्यप बुद्ध से अपने को शाक्य बुद्ध के नाम से बोधि मिलने की भविष्यद्वाणी सुनी। इस स्तूप के पास नीले पत्थरों का सात फुट ऊँचा और पचास कदम लंबा चबूतरा था जहाँ भूतकाल के चार बुद्ध टहलते थे। इस चबूतरे पर बुद्ध की एक भव्य मूर्ति थी जिसके सिर पर बड़े बालों का एक जूट था।

युवान च्वांङ तीन तालाबों की भी बात करते हैं, इनमें एक तो विहार वाली दीवार के पश्चिम में था, दूसरा उसके और पश्चिम में और तीसरा दूसरे के उत्तर में। ये तालाब बौद्धों द्वारा पवित्र माने जाते थे और उनका विश्वास था कि इन पर नागों का कड़ा पहरा रहता था। इन तालाबों के पास षड्दंत जो एक छह दाँतों वाला हाथी था और जिसने स्वेच्छा से अपने दाँत एक शिकारी को दे दिए, के आदर में एक स्तूप था।

इस स्तूप के पास एक दूसरा स्तूप बोधिसत्त्व के उस कर्म की याद दिलाता था जब उन्होंने एक पक्षी का रूप ग्रहण किया और एक बंदर और एक सफेद हाथी से बात की जिसके फलस्वरूप पुनः नैतिकता का राज वापस आया।

---

[1] वही, पृ० ४८

इसके पास ही महावन में एक दूसरा स्तूप था जो उस घटना की याद में बनाया गया था जिसमें हिरणों की योनि में बुद्ध और देवदत्त ने अपना मामला चुकाया था।

कहानी के अनुसार दोनों ने अपने अपने यूथों से एक-एक हिरन अपनी पारी से राजा को देना स्वीकार किया। एक दिन देवदत्त के यूथ से एक गर्भवती हिरनी की राजा के पास जाने की पारी थी। बोधिसत्त्व को उसके ऊपर दया आ गयी और उसकी जगह उन्होंने अपने को भेंट देना चाहा। राजा पर इस बात का बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने मन से सब हिरनों को मृत्युभय से मुक्त करके मृगदाव का वन हिरनों के लिए निर्भय कर दिया।

युवान च्वांङ पुनः मृगदाव के बौद्ध विहार के दक्खिन-पश्चिम दो या तीन ली पर एक स्तूप की चर्चा करते हैं। यह स्तूप ३०० फुट ऊँचा था और इसकी चौड़ी और ऊँची कुरसी बहुमूल्य वस्तुओं से सजी थी। इस स्तूप में निषीदिकाओं के खंड थे और गुंबज के ऊपर शिखर था पर उसमें गोल घंटियाँ नहीं लगी थीं। इस स्तूप के पास ही एक दूसरा स्तूप उस घटना की याद दिलाता था जब आज्ञात कौंडिन्य और उसके चार शिष्यों ने बुद्ध का अनादर करने का अपना पूर्व निश्चय छोड़ दिया, और उनके महान् व्यक्तित्व के अनुरूप उनके स्वागत का निश्चय किया। मृगदाव से पूर्व में दो या तीन ली पर एक सूखे तालाब के किनारे एक स्तूप था। तालाब के दो नाम यथा 'वीर' और 'प्राणरक्षक' थे।

इसी वीर तालाब में पश्चिम में तीन पशुओं का स्तूप था जो खरगोश के रूप में बोधिसत्त्व को अपने को भून डालने की घटना की याद दिलाता था। कहानी के अनुसार एक वृद्ध मनुष्य के रूप में इन्द्र ने एक लोमड़ी, एक बंदर और एक खरगोश से भोजन माँगा। पहले दोनों ने फल और मछलियाँ दिये, पर बोधिसत्त्व ने वृद्ध को खाना देने के लिए स्वयं अपने को भून डाला।

ऊपर के वर्णन से सातवीं सदी के सारनाथ का पूरा खाका खिंच जाता है। पर युवान च्वांङ के समय से लेकर आज तक सारनाथ के नक्शे में इतना परिवर्तन हो गया है कि हम उसके द्वारा वर्णित स्तूपों को पहचान नहीं सकते। अशोक स्तूप के सामने के स्तंभ से शायद अशोक स्तंभ से मतलब है।

युवान च्वांङ ने यह भी बतलाया है कि बनारस में देवमंदिर बड़ी संख्या में थे और उनमें अधिकतर शैव थे। श्री हर्ष के बाद प्रकटादित्य नामक एक राजा ने जो शायद बनारस में प्रादेशिक राजा रहे हों, अपने एक लेख में जो बहुत टूट-फूट गया है, बनारस में मुरद्विष् नाम से विष्णु का मंदिर बनाने का उल्लेख किया है।[१] इस लेख में मध्यदेश का भी नाम आया है, जो गुप्तकाल में समूचे उत्तर प्रदेश के लिए व्यवहार में आता था।



[१] फ्लीट, उल्लिखत, पृ० २८४ से।

ग्यारहवाँ अध्याय

आठवीं सदी से गाहडवालों के पहले तक का काशी का इतिहास

मागध गुप्त जीवितगुप्त द्वितीय के राज्यकाल में शायद आठवीं सदी के आरंभ में कन्नौज के राजा यशोवर्मा ने (करीब ७२५–७५२ ईस्वी) मागध-गुप्तों को हराया। अपनी विजय-यात्रा में, जिसका वर्णन प्राकृत काव्य गौडवहो में आता है, पहले यशोवर्मा विंध्यवासिनी (आधुनिक मिर्जापुर के पास) पहुँचा। वहाँ से आगे बढ़कर उसने जीवितगुप्त को हराया और गौड़ को अधिकृत किया।[1] उसके विंध्यवासिनी पहुँचने से यह अंदाज लगाया जा सकता है कि बनारस उसके अधिकार में आ गया। विद्वानों का अनुमान है कि मागध-गुप्तों का अंतिम राजा जीवितगुप्त द्वितीय यशोवर्मा के हाथों मारा गया। इस सम्बन्ध में हम शैलवंशोद्भव जयवर्धन द्वितीय (८ वीं सदी का मध्य) के राघोली ताम्रपत्र की ओर ध्यान दिला देना चाहते हैं।[2] इस लेख से यह पता चलता है कि जयवर्धन द्वितीय के दादा ने काशी के अत्याचारी और अभिमानी राजा को मारकर शहर पर दखल कर लिया। डा० आल्तेकर का अनुमान है (देखो, हिस्ट्री आफ बनारस) कि जयवर्धन के सगे और चचेरे दादा यशोवर्मा की सेना में सम्मिलित होकर उसकी पूरब की लड़ाइयों में लड़े थे क्योंकि जयवर्धन के लेख में ये दोनों काशी और पुंड्र पर अधिकार करने वाले बतलाये गये हैं। जयवर्धन का समय आठवीं सदी का मध्य है इसलिए उनके दोनों दादा यशोवर्मा के समकालीन थे। यहाँ हम जयवर्धन के दादा द्वारा काशी नरेश के वध की बात का भी उल्लेख पाते हैं। संभव है कि इन्हीं के हाथों जीवितगुप्त की मृत्यु हुई हो।

लेकिन यशोवर्मा की पूर्व-भारत की यह विजय क्षणिक ही थी क्योंकि आठवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में उसे काश्मीर के राजा ललितादित्य के हाथों बुरी तरह से हार खानी पड़ी। बनारस के श्री मुरारीलाल केडिया को राजघाट से ललितादित्य के सिक्कों का एक काफी बड़ा संग्रह मिला है जिससे पता चलता है कि उसकी फौज बनारस तक घुस गयी थी। इस संबंध में राजतरंगिणी (४।१४५) का यह कथन कि ललितादित्य की विजय यमुना के किनारे तक ही सीमित थी ठीक नहीं मालूम पड़ता।

धर्मपाल, जो ७५२ और ७९४ ईस्वी के बीच सिंहासनाधिरूढ़ हुआ और जिसने कम से कम बत्तीस वर्ष राज्य किया, अपने समय का उत्तर भारत का सबसे प्रतापी राजा था। उसने पाटलिपुत्र के प्राचीन महत्त्व के पुनरुत्थान में कोई कसर बाकी नहीं रखी। इन्द्रराज तथा अपने अन्य शत्रुओं को हराकर उसने कन्नौज पर अपना अधिकार जमाया और अपने पड़ोसी राज्यों की अनुमति से उसने अपने आज्ञाकारी गुर्जर प्रतिहार चक्रायुध को कन्नौज की गद्दी पर बैठाया। बनारस भी धर्मपाल के राज्य में था पर गंगा के दोआब में इसकी

---

[1] आर० एस० त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० १९७–१९८, बनारस १९३७

[2] एपि० इंडि०, ९।४१–४७

विजय क्षणिक थी। मध्य-देश के लिए धर्मपाल, राजस्थान के वत्सराज और राष्ट्रकूट ध्रुव में खींचातानी चलने लगी। इस कशमकश के बीच भी बनारस धर्मपाल के हाथ में रहा। डा० आल्तेकर का अनुमान है कि गंगा-जमुना के दोआबों में लड़ाइयाँ होने से शायद बनारस धर्मपाल की सेना का प्रधान अड्डा रहा होगा। राष्ट्रकूट लेखों के अनुसार उन्होंने ७७२ और ७९४ ईस्वी के बीच धर्मपाल को गंगा-जमुना के इलाके से निकाल बाहर किया।[१] गुर्जर प्रतिहार राजा नागभट द्वितीय ने चक्रायुध को कन्नौज से मार भगाया। इस तरह राष्ट्रकूटों और प्रतिहारों ने शायद ८३३ ईस्वी के पहले मध्य देश के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार जमा लिया।

धर्मपाल की मृत्यु ७९४ और ८३२ ईस्वी के बीच हुई। धर्मपाल का पुत्र देवपाल भी बड़ा प्रभावशाली राजा था और उसका राज्य मालवा तक बढ़ गया था। शायद बनारस भी इसके अधिकार में था। बनारस पर पालों का अधिकार बहुत दिनों तक टिक न सका। प्रतिहारों के बढ़ते हुए विजय-पराक्रम के आगे पाटलिपुत्र पराभूत हुआ और बनारस भी ८५० ईस्वी के करीब प्रतिहारों के अधीनता में आ गया क्योंकि काहल के लेख से पता चलता है कि गोरखपुर का एक स्थानीय शासक प्रतिहार राजा भोज का, जो ८३६ ईस्वी के पहले कभी गद्दी पर आया, करद था।[२] इससे यह पता चल जाता है कि कम-से-कम बनारस के आसपास वाले क्षेत्र में तो प्रतिहारों की राज्यसत्ता जम चुकी थी।

जैसा हम ऊपर देख आये हैं ८३६ ईस्वी में प्रतिहारों ने कन्नौज पर अपना अधिकार जमा लिया। नवी शताब्दी के अन्त होते होते प्रतिहारों ने अपनी राज्यसत्ता चारों ओर बढ़ा ली और उनका शासन पंजाब में पिहोवा से लेकर मध्य प्रदेश में देवगढ़ तक और काठियावाड़ में ऊना से लेकर उत्तर बंगाल में पहाड़पुर तक हो गया। ९१६ ईस्वी के करीब राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीय द्वारा कन्नौज की लूट के बाद प्रतिहारों की सत्ता ढीली पड़ गयी पर दसवीं सदी के अंत तक बनारस उनके राज्य में बना रहा। त्रिलोचनपाल के एक लेख से पता चलता है कि इलाहाबाद पर उसका अधिकार १०२७ ईस्वी तक रहा।[३]

बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह के एक ताम्रपत्र से, जिसका समय ९३१ ईस्वी का है, यह पता चलता है कि गुर्जर प्रतिहार राजा विनायकपाल देव ने महोदय स्थित अपने स्कं ावार से तिक्करिका नामक एक ग्राम का दान दिया था। यह ग्राम प्रतिष्ठान भुक्ति में अवस्थित था और इसका लगाव वाराणसी विषय के काशीवार पथक से था।[४] इस उद्धरण से यह बात साफ हो जाती है कि ९३१ ईस्वी तक बनारस गुर्जर-प्रतिहारों के हाथ में था।

दसवीं शताब्दी के अंत में प्रतिहारों का बल कम पड़ने लगा और उनका बनारस पर अधिकार काफी शिथिल पड़ गया था। शायद जेजाकभुक्ति के धंग (करीब ९५०–१००० ईस्वी) ने काशी पर अपना अधिकार जमा लिया। डा० त्रिपाठी का

[१] एपि० इंडि०, १८।२२५

[२] एपि० इंडि०, ७।८९

[३] एपि० इंडि०, १८।३४

[४] इंडियन एंटिक्वेरी, १५।१४०

कहना है[1] कि अपने राज्य के अंत में धंग की अपनी सत्ता बनारस तक पहुँच गयी क्योंकि एक ताम्र-पत्र में[2] इस बात का उल्लेख है कि एक गाँव उसने काशी के भट्ट यशोधर को प्रदान किया। पर काशी के एक ब्राह्मण को एक गाँव दे देने ही से यह नहीं माना जा सकता कि काशी पर उसका अधिकार था।

जो भी हो, यह तो निश्चित है कि ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में काशी पर गांगेयदेव कलचूरीका अधिकार हो गया। गांगेयदेव ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। इसने अपने राज्य को बढ़ाने का भी प्रयत्न किया पर उसे भोज परमार (करीब, १०००–१०५० ईस्वी) से हार खानी पड़ी। हाल ही में अलाउद्दीन के टंकाध्यक्ष ठक्कुर फेरू द्वारा लिखित मध्यकालीन सिक्कों पर एक पुस्तक मिली है जिसमें गांगेयदेव की सुवर्ण-मुद्राओं को 'वाराणसी पद्मांकित द्रम्म' कहा गया है। इससे पता चलता है कि बनारस से ही उसने अपनी पद्मांकित मुहरें चलाई थीं। गांगेयदेव के राज्य की मुख्य घटना अहमद नियाल तिगिन द्वारा १०३३ ईस्वी में बनारस की लूट थी। इस घटना का वर्णन बैहाकी ने अपने तारीखस्सुबुकत्तिगिन[3] में इस तरह किया है: "उसने (नियाल तिगिन) अपने योद्धाओं और सेना के साथ १०३३ ईस्वी में लाहौर से निकलकर ठाकुरों से जबर्दस्ती खूब रकम वसूली। बाद में वह गंगा पार करके उसके बाएँ किनारे से नीचे की ओर चल पड़ा। यकायक वह बनारस नाम के शहर में, जो गंग नाम के राजा के राज्य में था, आ पहुँचा। इसके पहले कोई भी मुस्लिम सेना वहाँ तक नहीं पहुँची थी। नगर दो फरसंग मुरब्बे में था और उसमें काफी पानी था। सेना वहाँ सबेरे से दोपहर के नमाज तक ठहरी क्योंकि ज्यादा ठहरने में खतरा था। बजाजा, तथा गंधियों और जौहरियों की बाजारें लूट ली गयीं, लेकिन इससे कुछ अधिक करना नामुमकिन था। सेना के सिपाही भी इसलिए अधीर हो गये क्योंकि वे अपने साथ लूट का सोना, चांदी, अतर और जवाहरात लेकर सही सलामती वापिस लौट जाना चाहते थे।"

बनारस की इस लूट के वर्णन से पता चलता है कि गांगेयदेव का राज्य-प्रबंध काफी शिथिल था, नहीं तो इस तरह तुर्कों का बनारस लूटकर सही सलामत लाहौर वापस लौट जाना आसान नहीं था। पश्चिम उत्तर-प्रदेश में तो महमूद गजनवी की लूटपाट से पूर्ण अराजकता फैल चुकी थी और अहमद नियाल्र तिगिन के रास्ते को रोकने वाला कोई नहीं था। गांगेयदेव की मृत्यु प्रयाग में १०३८ से १०४१ ईस्वी के बीच हुई।

गांगेयदेव के बाद उनके पुत्र कर्ण गद्दी पर बैठे और इनका राज्य करीब १०४१ से १०७२ ईस्वी तक रहा। कर्ण प्रभावशाली राजा था। उसने गुजरात के राजा भीम (करीब, १०४१–१०६४ ईस्वी) की मदद से भोज को हरा दिया और कन्नौज पर भी धावे किये। कम-से-कम सारनाथ के एक लेख से पता चलता है कि बनारस कर्ण के राज्य में बराबर था।[4] १०५८ ईस्वी से तो बनारस पर कर्ण का अधिकार था

---

[1] त्रिपाठी, उल्लिखित, पृ० २७८ [2] इंडियन एंटिक्वेरी, १६।२०३–०६

[3] ईलियट और डाउसन, भा०२, पृ० १२३–२४

[4] ए० एस० आर०, १९०६–७, पृ० १००–१०१

ही। जबलपुर के एक ताम्रपट्ट से, जिसका समय १०६५ ईस्वी है, यह पता चलता है कि काशी में कर्ण ने कर्णमेरु नाम का एक मंदिर बनवाया था।[१] इस कर्णमेरु मंदिर का उल्लेख प्रबंध-चिंतामणि में भी है। विक्रमांकदेव चरित में (१८।९३-९६) विल्हण वाराणसी के वर्णन के ठीक बाद कर्ण की तारीफ करता है जिससे शायद हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि विल्हण की कर्ण से भेंट बनारस में हुई। प्रबंध चिंतामणि में भी कर्ण को वाराणसी का अधिपति कहा गया है।

आठवीं सदी से ग्यारहवीं सदी तक काशी की धार्मिक अवस्था

आठवीं सदी से ग्यारहवीं सदी तक बनारस की धार्मिक और समाजिक अवस्था में कुछ विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। पहले की ही तरह शैवधर्म बनारस वालों का प्रधान धर्म रहा। जान पड़ता है, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, इस युग में देवियों की पूजा का भी माहात्म्य बढ़ा। भागवत धर्म भी पहले ही की तरह चलता रहा। बौद्ध धर्म भी सारनाथ में ज्यों-का-त्यों रहा, पर अब वह बिलकुल वज्रयानी हो गया था और उसमें अनेक तांत्रिक देवी-देवताओं का प्रवेश हो गया था।

इस युग की धार्मिक स्थिति को ठीक-ठीक तरह से समझने के लिए कुछ प्राचीन लेख हमारी बड़ी सहायता करते हैं; इनमें बनारस से मिले पंथ का आठवीं सदी का लेख,[२] महिपाल के समय का १०२७ ईस्वी का लेख[३] तथा कर्ण के १०५६ ईस्वी[४] और १०६५[५] के लेखों से बड़ी मदद मिलती है।

पंथ के आठवीं सदी के लेख से बनारस के धार्मिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। पंथ ने अपने लेख में बनारस की बड़ी तारीफ की है। लेख की पहिली पंक्ति में बतलाया गया है कि वाराणसी ने त्रिभुवन को अपने में समेट रक्खा था। दूर-दूर से आये विरक्त जन्म-मरण से मोक्ष पाने के लिये यहाँ तप करते थे। दूसरी पंक्ति में यहाँ अपने गणों सहित देव की विमुक्ति की बात है। इस उल्लेख से यह पता लगता है कि अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी की पौराणिक कल्पना, जिसके अनुसार शिव ने काशी कभी न छोड़ने की प्रतिज्ञा की थी, आठवीं सदी में पूरी तरह से चल पड़ी थी। काशी की इस युग में इतनी पवित्रता मानी जाती थी कि ब्रह्महत्या का भी पातकी कलिकलुष से च्युत होकर शुद्ध भावों को प्राप्त करता था।

दूसरे श्लोक से वाराणसी के चन्द्रकिरणों से धौत उत्तुंग शृंग और जनपदस्त्रियों अर्थात् वारवनिताओं के विलास से अभिराम लंबी चौड़ी सड़कों का वर्णन है। यहाँ विद्या, वेदार्थ तत्त्व, व्रत, जप, नियम में व्यग्र चन्द्रमा की तपस्या का भी वर्णन है। काशीखंड (अ० १४) में इस बात का उल्लेख है कि बनारस में चन्द्रमा ने तपस्या की थी और इसके फलस्वरूप वहाँ चन्द्रेश्वर की स्थापना हुई।

---

[१] एपि० इंडि०, २।१ से [२] एपि० इंडि०, ९।५९ से

[३] ए० एस० आर०, १९०३-०४, पृ० २२३-२४

[४] ए० एस० आर०, १९०६-०७, पृ० १७०-१७१ [५] एपि० इंडि०, २।१ से

तीसरे श्लोक में पंथ की तारीफ की गयी है। ये बचपन ही से विनय व्याप्त भद्रमूर्ति, त्यागी, धीर, कृतज्ञ, तथा थोड़ी-सी आमदनी में संतोष मानने वाले थे और नित्य शिव की पूजा करते थे।

चौथे श्लोक में बताया गया है कि पंथ ने काफी द्रव्य लगाकर और अनेक धार्मिक कृत्यों के बाद चंडी की एक मूर्ति स्थापित की। भवानी की यह मूर्ति अत्यन्त भीषण थी और उसके गले में नरमुंड की माला थी उसके गले से रेंगते हुए सर्प लटके हुए थे और परशु में सूखा मांस लगा हुआ था। वह लीलाभाव से नृत्य कर रही थी और उसके नेत्र घूम रहे थ।

पाँचवें श्लोक में कहा गया है कि केवल चंडी की मूर्ति ही बनवाकर पंथ संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने भवानी का मंदिर भी बनवाया जो सुश्लिष्ट संधिबंधन से जुड़ा था, घंटा निनाद से वह सर्वदा मुखरित रहता था और उस पर ध्वजाएँ और चमर लहराते रहते थे।

पंथ के उपर्युक्त लेख से कई बातों पर प्रकाश पड़ता है। सबसे पहली बात तो यह है कि काशी संबंधी कुछ पौराणिक कल्पनाओं का, जिनके उल्लेख मत्स्य पुराण, अग्नि-पुराण और काशी खंड में हैं, आठवीं सदी में प्रचार हो चुका था। काशी को अविमुक्त तीर्थ मानने का हेतु और काशी में चन्द्र की तपस्या, इन दोनों के उल्लेख काशी खंड में हैं। यह तो ठीक पता नहीं लगता कि चंडी का यह मंदिर कहाँ था क्योंकि बनारस के जिस क्षेत्र से पंथ का लेख मिला, वहाँ इसका कुछ भी चिह्न नहीं बचा है, पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इस लेख में भीष्मचंडी जिसे आज भीमचंडी के कहते हैं, निर्माण की ओर संकेत है। आधुनिक भीमचंडी के आस-पास खोज करने पर इस संबंध की और बातों का पता चल सकता है।

बनारस की आठवीं सदी में इतनी महिमा थी कि शंकराचार्य को भी बनारस जाकर अपने मत की विद्वानों द्वारा पुष्टि करानी पड़ी (शंकरदिग्विजय, ६।८१–८४) और शायद उन्होंने ब्रह्मसूत्र (७।१) की रचना बनारस में गंगा के किनारे की।

आठवीं सदी से सारनाथ में वज्रयानियों का बहुत जोर बढ़ा और इसके फलस्वरूप वहाँ अनेक बोधिसत्त्वों और देवियों की पूजा बढ़ी। जान पड़ता है, धीरे धीरे शैवों, शाक्तों और वज्रयानियों का भेदभाव कम होने लगा और अक्सर बौद्ध भी शैव और शाक्त प्रतिमाएँ स्थापित कराने लगे। इस संबंध में सारनाथ से मिले स्थिरपाल और वसन्तपाल का १०२६ ईस्वी का लेख उल्लेखनीय है।[1] लेख एक मूर्ति के पादपीठ पर है। इसमें कहा गया है कि गौड़ाधिप महीपाल की आज्ञा से स्थिरपाल और उसके छोटे भाई वसंतपाल ने काशी में ईशान चित्रघंटा के तथा और भी सैकड़ों मन्दिर स्थापित कराये। ऐसी आज्ञा मही-पाल ने अपने गुरु श्री वामराशि की पादवंदना करने के बाद दी। स्थिरपाल और वसंत-पाल ने धर्मराजिक स्तूप और धर्मचक्र विहार की मरम्मत करवायी और अष्ट-महास्थान-गंध कुटी नाम के एक नये मंदिर की स्थापना की।

इस लेख से यह पता चलता है कि महीपाल बौद्ध होने पर भी हिंदू धर्म को आदर

[1] ए० एस० आर० १९०३–०४, पृ० २२१ से

की दृष्टि से देखते थे और उन्होंने काशी में ईशान और चित्रघंटा के मंदिर बनवाये। काशी की नवदुर्गाओं में अब भी चित्रघंटा की पूजा होती है।

उपर्युक्त लेख से सारनाथ के धर्मचक्रप्रवर्तन विहार के इतिहास पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। अपने करीब १५०० वर्षों के इतिहास में धर्मचक्रप्रवर्तन विहार की स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए। कनिंघम द्वारा सारनाथ की खुदाई से पता चलता है कि छठी सदी के आरम्भ में हूणों के आक्रमण से सारनाथ को बहुत क्षति पहुँची। पर उस क्षति की पूर्ति बहुत जल्दी हो गयी और सारनाथ पुनः बौद्ध विहारों और संघारामों से भरा पूरा हो गया। सारनाथ पर कई बार ऐसी ही मुसीबत गुजरी पर वह बार-बार ज्यों का त्यों बन गया।

इसी तरह के एक पुनर्निमाण का उल्लेख स्थिरपाल-वसंतपाल के लेख में आया है। इसमें कहा गया है कि उन्होंने धर्मराजिका और धर्मचक्र नाम की दो इमारतों का पुनरुद्धार कराया और अष्ट-महास्थान-शैल-गंध-कुटी विहार नाम से एक नयी इमारत खड़ी की। हमें इस बात का पता है कि धर्मचक्र मृगदाव का नाम था लेकिन इस लेख के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि इसमें धर्मचक्र से विहार अथवा संघाराम, किससे तात्पर्य है। इसी तरह यह भी ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि धर्मराजिका से किस स्तूप का मतलब है, पर शायद इसका उद्देश्य जगतसिंह स्तूप से हो सकता है। स्थिरपाल द्वारा बनायी गयी अष्ट-महास्थान-शैलगंधकुटी सारनाथ में कहाँ स्थित थी इसका भी ठीक ठीक पता नहीं है। डा० फ़ोगेल का ऐसा अनुमान है कि स्थिरपाल-वसंतपाल की बनवायी गंधकुटी में कोई ऐसा अर्धचित्र था जिसमें बुद्ध के जीवन की आठ महान् घटनाओं का चित्रण था।[१]

कलचूरि कर्ण देव के सारनाथ से मिले १०५८ ईस्वी के एक टूटे फूटे लेख से पता चलता है कि कम-से-कम १०५८ ईस्वी तक सारनाथ में सद्धर्मचक्रप्रवर्तनविहार नाम का एक विहार था।[२] लेख से यह भी पता चलता है कि इसमें आये भक्तगण महायानी थे क्योंकि इसमें महायानियों के धार्मिक ग्रंथ अष्ट-साहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता के नकल करने की बात आयी है। इस लेख और सारनाथ से मिली अनेक मूर्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय बनारस में महायानियों का पूरा जोर था।

इस युग में भी बनारस शैवधर्म का केन्द्र था। इस काल में शिव के कौन कौन-से नये मंदिर बने इसका तो ठीक पता नहीं चलता पर कलचूरि कर्ण के जबलपुर के एक लेख से पता लगता है कि १०६५ ईस्वी के पहले बनारस में कर्ण ने कर्णमेरु नाम का मंदिर बनवाया।[४] संभवतः इसी मंदिर का उल्लेख प्रबंध-चिंतामणि (टॉनी का अनुवाद, पृ० ७३ से) में है। शायद यह मंदिर पचास हाथ ऊँचा था। बृहत् संहिता (५६।२०) के अनुसार मेरु भाँति का षट्कोण मंदिर बारह खंड का होता था और इसमें विचित्र खिड़कियाँ और द्वार होते थे। ● ●

---

[१] केटलाग, पृ० ६–७

[२] ए० एस० आर०, १९०६–०७, पृ० १००–१०१   [४] पि० इंडि०, २।१ से

बारहवाँ अध्याय

करीब ३०० ईस्वी से ११वीं सदी के अंत तक बनारस की कला

हम बनारस की कुषाण कला के प्रसंग में कह आये हैं कि बनारस में सर्व प्रथम कनिष्क के तीसरे वर्ष में बुद्ध की प्रतिमा आयी और किस तरह से बनारस के कारीगरों ने दूसरी और तीसरी शताब्दियों में स्थानीय कला के अनुरूप एक नयी कला का सृजन आरंभ किया। बनारस की इस नयी कला ने करीब छह सौ वर्षों के अनवरत परिश्रम के बाद गुप्त युग (३००–६०० ईस्वी) में एक अपूर्व रूप ग्रहण किया। इस कला में अध्यात्मिकता और लावण्य-व्यंजना का एक ऐसा आकर्षक सम्मिश्रण है जैसा और किसी युग की कला में नहीं दीख पड़ता। गुप्त युग में रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य और सादृश्य तो कला के गुण हैं ही, पर इन सब के ऊपर इस कला में उस अपूर्व अध्यात्मिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है जो योग द्वारा ही अनुभूत हो सकती है। अगर हम यों कहें कि भारतीय कला के इतिहास की अनेक धाराओं का गुप्त कला में अपूर्व सम्मिश्रण है तो ठीक ही होगा। इस कला ने भरहुत और सांची से अलंकार प्रेम, मथुरा की कुषाण कला मे गुरु-गंभीरता और बाह्य सौंदर्य की ओर अनुरक्ति और अमरावती से अपूर्व संचरणशीलता ग्रहण की और फिर इसमें से कुछ कुछ लेकर अपने ढंग पर कला को एक नया रूप दिया। इस कला का दायरा किसी क्षेत्र-विशेष तक संकुचित नहीं रहा। मथुरा, सारनाथ, देवगढ़ मालवा इत्यादि में वह फली फूली अवश्य, पर उसका विस्तार सारे देश में ही क्या वृहत्तर भारत में भी हुआ।

गुप्त युग की कला से पता चलता है कि उस युग में कला का क्षेत्र कुछ सौंदर्योपासकों तक ही सीमित नहीं रह गया था, अगर ऐसा होता तो गुप्त कला फलफूल नहीं सकती थी। ऐसा जान पड़ता है कि इस युग में आम जनता की सौंदर्य-भावना काफी विकसित हो चुकी थी। गुप्त युग के गहने कपड़े, सज्जा के सामान यहाँ तक कि मामूली मिट्टी के बरतन और खिलौनों में भी उस युग की उस अपूर्व परिष्कृत रुचि का पता लगता है जिसका मूल कला-प्रेम और सौंदर्योपासना था। बनारस के नागरिक बहुत प्राचीन काल से बड़े ही सुरुचि संपन्न रहे हैं और कला के प्रति इनका सर्वदा से प्रेम रहा है। पर प्रेममात्र से कुछ नहीं होता, बड़े बड़े मंदिरों के बनवाने और सुंदर मूर्तियों के गढ़वाने में पैसे की आवश्यकता पड़ती है और वह भी बनारस में व्यापार की वजह से काफी था। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि सारनाथ और राजघाट से मिली कलात्मक वस्तुओं का मूल कारण गुप्तयुग के बनारस में नागरिकों का कला-प्रेम, धर्म के प्रति दृढ़ आस्था और भर पूर आर्थिक उन्नति का अपूर्व सम्मिश्रण था।

सारनाथ से मिली बुद्ध मूर्तियों का मूल तो भिक्षु बल वाली कुषाण मूर्ति ही है लेकिन गुप्तकालीन और कुषाणकालीन प्रतिमाओं का कोई मुकाबला नहीं किया जा



चित्र नं. ७. अवलोकितेश्वर
गुप्त युग, सारनाथ (इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता)
पृष्ठ नं. ११३



चित्र नं. ८. कार्तिकेय
पाँचवी सदी ईस्वी (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ नं. ११४



चित्र नं ९   प्रेमोन्मत्त (मृण्मूर्ति)
छठी सदी ईस्वी, राजघाट, काशी (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ ११४



चित्र नं. १०.   वादक (मृण्मूर्ति)
छठी सदी ईस्वी, राजघाट, काशी, (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ ११५

सकता। गुप्तकालीन प्रतिमाओं में कुषाण युग की प्रतिमाओं की गुरुता, भद्देपन और कमजोर बनावट का सर्वथा अभाव है और इनकी जगह एक अपूर्व कोमलता, अध्यात्मिकता, और आनंदातिरेक जनित मंद स्मित का हम दर्शन करते हैं। कुषाण मूर्तियों की तरह सारनाथ की गुप्तकालीन मूर्तियों में हम वस्त्रों का अंकन नहीं देखते, इसकी जगह वस्त्रों की प्रांत-रेखाओं से ही काम निकाल लिया जाता है। लेकिन गुप्त प्रतिमाओं में कुषाण-कालीन सादे प्रभा मंडलों की जगह हम पुष्प-पत्रालंकृत प्रभामंडल पाते हैं।

सारनाथ से मिली गुप्तकालीन मूर्तियों में सबसे सुन्दर बुद्ध की एक मूर्ति है। सिंहासन पर पद्मासनस्थ बुद्ध धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा में बैठे हैं, पीछे प्रभामंडल है। नीचे पीठ पर दो हिरनों के बीच में एक चक्र है और उसके दोनों ओर पंचवर्गीय भिक्षु और शायद एक दाता अंकित हैं। मूर्ति में एक अपूर्व आध्यात्मिक सौंदर्य की झलक मिलती है और गढ़न में तो यह अपूर्व है ही।

गुप्तयुग में बुद्ध मूर्ति का प्रभाव बढ़ जाने के फलस्वरूप पहले जो बुद्ध जीवन से संबंध रखने वाले अर्धचित्र बुद्ध प्रतिमा के साथ होते थे, वे क्रमशः छोटे होने लगे और उनका प्रयोग केवल यह बताने के लिए होने लगा कि किसी विशेष घटना से मूर्ति का क्या संबंध था।

गुप्तयुग में सारनाथ में बोधिसत्त्व-पूजा की बहुत चलन थी और इसके फलस्वरूप मैत्रेय और अवलोकितेश्वर की सुंदर प्रतिमाएँ मिलती हैं। अवलोकितेश्वर की एक बड़ी ही सुंदर मूर्ति के मुकुट में अमिताभ के दर्शन होते हैं। कभी कभी उनके फैले हुए हाथ के नीचे सूचीमुख प्रेत होता है जो अवलोकितेश्वर की अँगुलियों से झरती हुई अमृत की बूंदें ग्रहण करता है। इस मूर्ति पर गुप्ताक्षरों में एक लेख है जिससे पता लगता है कि मूर्ति किसी विषयपति ने बनवायी थी।[१] गुप्तयुग की तारा की भी एक बहुत सुंदर मूर्ति सारनाथ से मिली है।

सारनाथ से गुप्तकालीन बहुत-से बौद्ध अर्धचित्र भी मिले हैं। एक ऊर्ध्वपट पर जिसमें चार खाने हैं बुद्ध के जीवन की चार मुख्य घटनाओं के यथा जन्म, बोधि, धर्मचक्र प्रवर्तन और महापरिनिर्वाण के दृश्य अंकित हैं। इस पर एक लेख के अक्षरों से पता चलता है कि इसका समय पाँचवीं सदी है। एक दूसरे ऊर्ध्वपट पर तीन खंड हैं। पहले खंड में मायादेवी का स्वप्न, बुद्ध जन्म और सद्यः जात शिशु बुद्ध की नाग नन्द और उपनन्द तथा इंद्र और ब्रह्मा द्वारा अभ्यर्थना है, दूसरे खंड में महाभिनिष्क्रमण और गया में बुद्ध के तप के दृश्य हैं, तीसरे खंड में मारविजय और महाभिनिष्क्रमण के दृश्य हैं।

सारनाथ से बुद्ध के जीवन की और भी घटनाओं का भी चित्रण मिला है। श्रावस्ती का चमत्कार जिसमें बुद्ध ने प्रसेनजित् के सामने विधर्मियों को छकाने के लिए अपना चमत्कार दिखलाया तथा त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से अपनी माता को उपदेश देने के लिये बुद्ध का उतरना वैसे ही दृश्य हैं। सारनाथ में जातक के अंकन बहुत कम आये हैं लेकिन क्षान्तिवादिन् जातक

[१] केटलाग, पृ० १४८–४९।

का गुप्त कालीन अंकन बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है इसमें बोधिसत्त्व के द्वारा कलाबु की नर्तकियों को उपदेश देने पर, उन पर कलाबु का अत्याचार दिखलाया गया है।

गुप्त सम्राट परम वैष्णव थे। राजघाट से मिली मुद्राओं से भी पता चलता है कि गुप्त काल में बनारस शहर में विष्णु-पूजा का चलन था। अभाग्यवश गुप्त काल की कोई विष्णु की मूर्ति अभी बनारस से नहीं मिली है। पर जान पड़ता है कृष्ण की भी पूजा बनारस में प्रचिलित हो गयी थी। बनारस में बकरिया कुंड मे गोवर्धनधारी कृष्ण की एक बहुत ही सुन्दर गुप्तकालीन मूर्ति भारत कला-भवन में है। मूर्ति के खंडित होने पर भी उसमें एक अपूर्व ओज है।

गुप्त सम्राट कुमारगुप्त कात्तिकेय के उपासक थे। राजघाट मे मिली कुछ मुद्राओं से पता चलता है कि गुप्तकाल में यहाँ कात्तिकेय की पूजा होती थी। भारत-कला भवन में गुप्तकालीन कात्तिकेय की एक बड़ी ही सुन्दर प्रतिमा है। इसमें कात्तिकेय का बाल्य सुलभ रूप का बड़ा ही चित्ताकर्षक अंकन है। कुमारस्वामी की राय में यह मूर्ति गुप्तकला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में एक है।

राजघाट की खुदाई से गुप्तकालीन स्त्रियों के मिट्टी के शीर्ष सैकड़ों की संख्या में और दूसरी मूर्तियाँ करीब दो हजार की संख्या में मिली है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इन मृण्मूर्तियों का सांगोपांग अध्ययन किया है। साँचों में ढली ये मूर्तियाँ गुप्तकाल की सर्वोत्कृष्ट कारीगरी और शैली की द्योतक हैं। इन सिरों का दो बातों से महत्त्व है, (१) इनमें अनेक तरह के सुन्दर केश-विन्यास मिलते है और (२) इनमें कुछ पर प्राचीन रंगाई के अवशेष मिलते हैं। सामूहिक रूप से ये मृण्मूर्तियाँ कला की उस ताजगी और गहराई को प्रकट करती हैं जिनका पता अब तक हमें गुप्तकालीन मृण्मूर्तियों से नहीं मिला था। इनके चेहरों में अंगों की लुनाई के साथ हम अनेक केशविन्यास पाते हैं जिन्हें गुप्तकाल का कलापारखी जगत् पसंद करता था।

डा० वासुदेवशरण ने इन सिरों पर से निम्नलिखित केशविन्यास ढूढ़ निकाले हैं जिनसे पता चलता है कि गुप्त युग में स्त्री पुरुष कितने चाव से अपना केश विन्यास करते थे।

अलक में केश वीथि के दोनों ओर घुँघराली लटें होती थी; बर्हभार में लटें मोर-पंखनुमा होती थीं। मधुमक्खी के छत्तेनुमा केशवेश, एक अथवा त्रिशिखंडक केशवेश, एक तरफ पाड़ी हुई घुँघराली अलकावली भी केशविन्यास के प्रकार थे।

राजघाट से देवी-देवताओं की मृण्मूर्तियाँ कम मिली हैं पर जो थोड़ी बहुत मिली हैं, उनमें त्रिनेत्र और अर्धचन्द्र से मंडित शंकर का सिर अतीव सुन्दर है। इस सिर की तुलना भूमरा और खोह की शिव मूर्तियों से की जा सकती है। विष्णु की भी एक टूटी मृण्मूर्ति राजघाट से मिली है।

राजघाट से मिली सबसे सुन्दर मृण्मूर्ति में अशोक प्रेंखिका का पट है। इसमें खूब फूले एक अशोक वृक्ष पर झूला पड़ा है और उस पर एक स्त्री झूल रही है। इस मृण्मूर्ति में एक अजीब गति और सौन्दर्य है।

एक गोल पट्ट में किन्नर युगल दिखलाये गये हैं। एक दूसरे पट में एक हिरन को घास खिलाता हुआ लुब्धक अंकित है। उसने एक भारी कोट पहन रक्खा है, पर वास्तव में वह नंगा है। उसके दाहिने कंधे पर शायद मोर पंखों का एक भार है।

राजघाट से वादकों की भी कुछ छोटी-छोटी बहुत ही सुन्दर मूर्तियाँ मिली हैं। ये मूर्तियाँ यह बतलाती हैं कि बहुत ही कम विस्तार में भी गुप्तयुग के कलाकार कितना कमाल दिखला सकते थे।

राजघाट से मिली हुई गुप्तकालीन करकाओं की डोटियों का भी एक सुन्दर संग्रह कला-भवन में है। ये डोटियाँ मकर या दूसरे पशु-पक्षियों के आकार में होती थीं और इनकी कलात्मकता से यह पता लगता है कि बनारस के कुम्हार भी बड़े ही कारीगर होते थे और कला की तरफ उनकी पूर्ण अभिरुचि थी।

सारनाथ से मिली हुई मूर्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मध्य युग में सारनाथ में तंत्रयान का काफी जोर था। इस युग में हमें सारनाथ से मंजुश्री, अवलोकितेश्वर, मैत्रेय, यमारि, अमोघसिद्धि इत्यादि की मूर्तियाँ मिलती हैं। देवियों में तारा, वसुन्धरा और मारीचि की मूर्तियाँ मिली है।

मध्य युग में बौद्ध धर्म ने जो रास्ता पकड़ा, इसके इतिहास का हमें सारनाथ से मिली बहुत-सी मूर्तियों से पता चलता है। इसमें कोई शक नहीं कि इन देवी-देवताओं की पूजा बहुत प्राचीन काल से सर्व-साधारण में प्रचलित थी। हम देख आये हैं कि किस तरह शैव धर्म ने भी इन प्राचीन देवताओं को धीरे धीरे अपना लिया। बौद्ध धर्म से भी ये लोक-देवता बहुत दिनों तक बाहर नहीं रह सके और महायान और बाद में वज्रयान ने इन्हें बुद्ध और बोधिसत्त्वों के आस पास ही स्थान दिये। ऐसा ज्ञात होता है कि समन्वय की यह भावना गुप्तकाल में प्रारम्भ हुई और शैवों और वज्रयानियों ने इस प्रवृत्ति को समान रूप से ग्रहण किया। इन देवताओं के बौद्ध धर्म में प्रवेश करते ही उसमें अनेक विकराल मूर्तियों का आविर्भाव हुआ। ये मूर्तियाँ शांत और योगनिरत बौद्ध मूर्तियों के बिलकुल विपरीत हैं। इन का महायान में प्रवेश बौद्ध धर्म के उस पतन का द्योतक है जो तिब्बत के लामा धर्म में जाकर पूर्ण विकसित हो जाता है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि सारनाथ से मिली ऐसी विकराल मूर्तियाँ प्रायः मध्यकालीन हैं। इनके बहुत से हाथ, कभी कभी अनेक मुख हैं जिनमें कुछ पशुओं के भी हैं। जंभल या वैश्रवण की उस समय पूजा होती थी और इनकी मूर्तियाँ संघारामों में भी होती थीं। जंभल के साथ वसुंधरा की भी मूर्ति मिलती है। बाहर निकलती आखें और दाँतवाला, तुंदिल तथा नंगे बदनवाला जंभल जमीन पर पड़ी मूर्ति को कुचलता हुआ दिखलाया गया है। इसकी देवी वसुंधरा जरा कम बदशकल होती है। इस समय की सबसे प्रचलित देवी तारा थी उसका दायाँ हाथ वरद मुद्रा में होता है और बाएँ हाथ में नीलोत्पल दिखलाया जाता है। तारा की कल्पना एक सुभूषित भारतीय नारी के रूप में होती थी।

वज्रवाराही मारीचि की मूर्ति के तीन सिर होते हैं जिनमें एक सिर बराह का होता है। इसके हाथों में भिन्न भिन्न आयुध होते हैं। एक धनुर्धारी की मुद्रा में यह देवी सप्त

वराह वाले रथ पर सवार दिखलायी जाती है। शायद ये वराह सप्ताह के सात दिनों के द्योतक हैं। तिब्बत में आज दिन तक वज्रवाराही की पूजा होती है।

जैसे जैसे इन देवी देवताओं की संख्या बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे बुद्ध की प्रतिमा कम होती जाती है और उसी सारनाथ में जहाँ बुद्ध ने धर्मचक्रप्रवर्तन किया, हम ११ वीं शताब्दी में तंत्रयान का बोल-बाला पाते हैं। मुहम्मद गोरी के एक ही झटके में यह जीर्ण-शीर्ण धर्म सर्वदा के लिये जमीनदोज़ हो गया इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ● ●

तेरहवाँ अध्याय

काशी पर गाहडवालों का राज्य

काशी और कन्नौज पर गाहड़वालों की सत्ता स्थापित होने के पूर्व की मध्य देश की राजनीतिक अवस्था समझ लेना आवश्यक है। इससे हमें पता चल जायगा कि गाहडवालों ने किस तरह भयंकर अराजकता से उत्तर प्रदेश की रक्षा कर, करीब सौ बरस तक उसे भारतवर्ष का अग्रणी राज्य कायम रक्खा। १०१८ ईस्वी में महमूद गजनवी ने गुर्जर प्रतिहार राज्यपाल की सत्ता कन्नौज से उखाड़ फेंकी। इस झटके से त्रस्त होकर राज्यपाल के वंशधर पूर्वी उत्तर प्रदेश की ओर खिसक आये। त्रिलोचनपाल के झूंसी के लेख और यशःपाल के कड़ा के लेख से पता चलता है कि करीब १०२७ और १०३७ के बीच इलाहाबाद जिले का एक भाग इनके अधिकार में रहा; कन्नौज के आसपास का इलाका शायद चंदेल राजा विद्याधर (करीब १०१९ ईस्वी) के अधिकार में चला गया। विद्याधर के बाद मध्यदेश में कलचूरियों का इतिहास शुरू होता है और इस बात के काफी प्रमाण हैं कि इलाहाबाद और बनारस गांगेयदेव (करीब १०३०–१०४१ ईस्वी) और उसके पुत्र कर्ण (करीब १०४१–१०७० ईस्वी) के अधिकार में रहे लेकिन कन्नौज की हुकूमत दूसरों के हाथ में थी।

सल्लक्षणदेव के लेख से कन्नौज के इन नये शासकों की ओर संकेत मिलता है लेकिन विद्याधर के सहेठ-महेठ वाले (१०१९–२० ईस्वी) लेख[१] और राष्ट्रकूट लखनपाल के बदायूं के लेख[२] से यह बात पक्की हो जाती है। पहले लेख में गोपाल के पुत्र मदनपाल को गाधिपुर का शासक कहा गया है। बदायूं वाले लेख के मदनपाल और गोपाल तथा सहेठ-महेठ वाले लेख के मदनपाल-गोपाल एक ही हैं। इनका वंश शायद ११वीं सदी के दूसरे भाग में आरंभ हुआ और ये राष्ट्रकूट वंश के स्थानिक राजा थे। शायद इस वंश को लक्ष्मीकर्ण के आगे झुकना पड़ा। कर्ण की मृत्यु के बीस बरस के अंदर ही गंगा-जमुना के दोआब में एक नयी राज्यशक्ति का उदय हुआ जिसने१०९०ईस्वी के करीब बनारस से लेकर कन्नौज तक अपना अधिकार जमा लिया था।[३] ये बनारस के गाहडवाल थे।

यहां हम कह देना चाहते हैं कि गांगेयदेव और कर्ण के शासन काल में भी मध्यदेश में महमूद के हमलों से जो अराजकता उत्पन्न हुई उसका पूरी तरह से शमन नहीं हो सका था। इसका सबूत यह है कि १०३३ ईस्वी में नियाल तिगिन ने पूरा पश्चिमी उत्तर प्रदेश पार करके बनारस लूट लिया। वह किसी भय के बिना वापस भी चला गया और किसी

---

[१] ए० जे० ए० एस० बी०, ६१, भा० १, एक्स्ट्रा नं० पृ० ५७–६४

[२] एपि० इंडि०, १।६०–६१

[३] एपि० इंडि०, ९।३०२–०५

का कुछ किया धरा न हो सका। देश में ऐसी स्थिति पूर्ण अराजकता की द्योतक है। ऐसा होना अवश्यंभावी भी था क्योंकि महमूद गजनवी के घावों ने उत्तरी भारत की राजनीतिक और सांस्कृतिक भित्तियों को जड़ से हिला दिया था। उस के इन हमलों के प्रभाव का वर्णन करते हुए अलबेरुनी लिखता है—महमूद ने देश की विभूति पूर्णरूप से नष्ट कर दी। वहां उसने वीरता के ऐसे कारनामें दिखलाये कि हिंदू धूल के कणों की तरह चारों ओर बिखर गये और एक प्राचीन कथा की तरह केवल लोगों की जुबानों पर ही बच गये। उनमें से बचे बचाये लोग निश्चय ही मुसलमानों को बड़ी ही घृणा के भाव से देखते है। यही कारण है कि हिन्दू ज्ञान-विज्ञान हमारे विजित इलाकों से बहुत दूर हटकर उन जगहों में जैसे कश्मीर, बनारस इत्यादि में पहुंच गये, हैं, जहाँ हमारा हाथ अभी तक नहीं पहुँच सका है। और वहा उसके और विदेशियों के बीच की शत्रुता को राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रों से और अधिक प्रोत्साहन मिलता है।[१]

अलबेरुनी के उपर्युक्त वक्तव्य से हमें इस बात का पता चलता है कि महमूद के आक्रमणों से हिंदू राष्ट्रों को कितनी गहरी राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षति उठानी पड़ी पर साथ ही साथ अलबेरुनी से यह भी ज्ञात होता है कि इस आकस्मिक आपत्ति से भागे शरणार्थी हिंदुओं में अपने विजेताओं के प्रति एक घृणा भाव पैदा हो गया और इस भाव को बढ़ाने में राजनीति और धर्म दोनों ने ही सहारा दिया। अलबेरुनी के इस वक्तव्य के प्रकाश में अगर हम गाहड़वालों के लेखों में आये तुरुष्कदंड, और हम्मीर को हराने की बातें देखे तो हमें समझ में आयेगा कि प्रताड़ित हिन्दू किस तरह बदला लेने का प्रयत्न कर रहे थे।

जब चारों ओर अराजकता फैल रही थी और हिंदू क्षुभित होने पर भी सार्वभौम राज्यसत्ता के बिना अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों का प्रतिकार करने में असमर्थ थे, उसी समय मध्यदेश में गाहड़वाल वंश में चन्द्रदेव नामक एक वीर उत्पन्न हुआ जिसने अपनी वीरता और प्रताप से, जैसा उसका एक लेख कहता है, प्रजोपद्रव को शांत कर दिया—**येनोदारतरप्रतापशमिताशेषप्रजोपद्रवा**।[२] उन्होंने बनारस को अपनी राजधानी बनायी और इस तरह १७०० वर्षों के बाद काशिराष्ट्र पुनः चमक उठा।

गाहड़वालों के उद्गम के बारे में ठीक-ठीक पता नही चलता। लेखों में वे अपने को सूर्यवंशी अथवा चन्द्रवंशी उद्घोषित न करके केवल क्षत्रिय कहते हैं। गाहड़वालों के आधुनिक वंशज गहरवार हैं और मिर्जापुर में कंतित रियासत के राजा इसी जाति के हैं। इस वंश के भाटों की कल्पना से तो गाहड़वाल राजा दिवोदास के वंशधर हैं और शनि की दशा रोकने मे इनका नाम ग्रहवर पड़ा जो बाद में बिगड़ कर गाहड़वाल हो गया। पर यह निरी कपोल-कल्पना है। संभव है कि ये किसी आदिम जाति के रहे हों जो राज्यसत्ता पाने पर और ब्राह्मणों को दान देने से क्षत्रियत्व को प्राप्त हो गये। शायद उनके नाम से गह्वर अथवा गुफा की ध्वनि निकलती है जो उनके आदिम-वासी होने का प्रमाण है। महामहोपाध्याय पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ का विचार है कि

---

[१] अलबेरुनीज़ इंडिया, सचाउ का अनुवाद, भाग १, पृ० २२, लंडन १९१०

[२] इंडियन एंटिक्वेरी, भा० १८, पृ० १६।१८ पं० ४

गाहड़ का अर्थ पराक्रमी है। श्री सी० वी० वैद्य के अनुसार दक्खिन में गाहड नामक स्थान से आने से ही इनका नाम गाहडवाल पड़ा। कुछ विद्वानों की राय में गाहडवाल राष्ट्रकूटों की एक शाखा थी। रेऊजी अपने विचार की पुष्टि में निम्नलिखित प्रमाण पेश करते हैं: (१) अनुश्रुतियों के आधार पर मारवाड़ के राठौड सीहाजी के वंशधर हैं और सीहाजी कन्नौज के राजा जयचन्द्र के पोते थे। (२) रासो में गाहडवालों को ३६ राजपूत जातियों में स्थान न मिलने से शायद वे राष्ट्रकूटों के अंतरगत मान लिये गये हों। (३) लोगों का विश्वास है कि जयचन्द्र राठोड़ थे और रासो में इसका उल्लेख भी है। (४) इस बात का भी लेखों से पता चलता है कि गाहड़वालों के पहले भी उत्तरप्रदेश में राठोड़ों की सत्ता थी। डा० त्रिपाठी इन सब प्रमाणों की जाँच कर इस नतीजे पर पहुँचे कि उनमें कुछ तथ्य हो सकता है पर उनकी सचाई में सन्देह है। उन्होंने उपर्युक्त प्रमाणों के विरुद्ध निम्नांकित तर्क पेश किये हैं: (१) गाहडवाल अपने को कभी राठोड नहीं कहते, वे राठोड़ों में शादी ब्याह भी करते हैं और राठोडों से उनके गोत्र भी भिन्न हैं। राष्ट्रकूट काश्यप हैं और गाहड़वाल गौतम। (२) सीहाजी वाली अनुश्रुति १९४३ ईस्वी में उनके मृत्यु होने के बाद आरम्भ होने से, जयचंद्र से काफी दूर पड़ती है। इसके सिवाय हथौंडी के ९९७ ईस्वी के लेख से यह साफ पता चल जाता है कि राष्ट्रकूटों का मारवाड़ पर अधिकार गाहडवालों के वहाँ तथाकथित जाने के बहुत पहले हो चुका था। जान पड़ता है सीहाजी वाली अनुश्रुति बाद में गढ़ी गयी। (३) चंद बरदाई के गाहडवालों का क्षत्रियों में न रखने से यह नहीं माना जा सकता कि वे राष्ट्रकूट थे। (४) ११ वीं शताब्दी के दूसरे भाग में कन्नौज में राष्ट्रकूटों के होने से यह नहीं माना जा सकता कि वे गाहड़वालों के सगोत्री थे। कालक्रम के अनुसार भी हम बदाऊँ लेख के चंद्र और गाहडवाल चन्द्र को एक नहीं मान सकते।[1]

गाहड़वाल वंशावलियों में गाहडवाल कुल का प्रारम्भ यशोविग्रह से होता है।[2] इनके बाद महीचन्द्र हुए। हमें इस बात का पता नहीं है कि इन दोनों का राज्य कहाँ था। यशोविग्रह एक साधारण जन थे पर महीचन्द्र के अधिकार में कुछ सैन्यबल था जिसकी मदद से शायद उन्होंने एक छोटा-सा राज्य कायम कर लिया होगा। गाहडवाल वंश के असल संस्थापक महीचन्द्र के पुत्र चंद्रादित्य[3] अथवा नरपति चन्द्र थे[4]। शायद बदायूँ वाले लेख के गोपाल से इनका युद्ध हुआ और उसे उन्होंने जमुना के किनारे हराया। गोविंदचन्द्र के बसही के लेख[5] से पता चलता है कि भोज और कर्ण के बाद उन्होंने पृथ्वी की रक्षा करते हुए कान्यकुब्ज को अपनी राजधानी बनायी। यह घटना १०८० से १०८५ ईस्वी के बीच घटी। लेकिन जैसा डा० राय का अनुमान है[6] चन्द्र द्वारा कन्नौज

[1] त्रिपाठी, उल्लिखत, पृ० २९८–३००
[2] इंडियन एंटिक्वेरी, १८।११, पं० १
[3] एपि० इंडि०, १४।१९४, पं० १४
[4] एपि० इंडि०, ९।३२४ श्लो. १४
[5] इंडियन एंटि० १८।८५, पृ० १०२–७३
[6] डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, पृ० ५०७

दखल करने की बात ठीक नहीं जँचती क्योंकि सहेठ-महेठ के १११९–२० ईस्वी के लेख से पता लगता है कि वहाँ राष्ट्रकूट मदनपाल का अधिकार था। ऐसा हो सकता है कि अपनी राजनीतिक महत्ता के कारण कन्नौज गाहडवालों की एक राजधानी मान ली गयी हो लेकिन असल में गाहडवाल नरेशों की राजधानी बनारस थी। ऐसा मानने के कई कारण हैं, एक तो गाहडवालों के अधिकतर ताम्रपत्र काशी से मिले हैं, दूसरे मुस्लिम इतिहासकार[1] भी गाहडवालों को बनारस का राजा कहते हैं, तीसरे चन्देल लेखों में भी उन्हें काशी का राजा कहा गया है। आगे चल के हम देखेंगे कि लक्ष्मीधर ने अपनी प्रशस्ति में भी गोविन्दचन्द्र को काशी का राजा कहा है। बनारस को राजधानी बनाने में सामरिक दृष्टि से भी सुविधा थी क्योंकि कन्नौज का रास्ता मुसलमान देख चुके थे और उधर यदा कदा उनके हमले भी हो जाते थे। चन्द्रदेव अपने को काशी, कुशिक, उत्तर कोशल और इन्द्रस्थान यानी बनारस, कन्नौज और इन्द्रप्रस्थ का रक्षक कहते हैं।[2] इस प्रकार चन्द्रदेव प्रायः आधुनिक उत्तरप्रदेश के शासक थे। जान पड़ता है पूर्वी उत्तरप्रदेश में चन्द्रदेव का बढ़ाव कलचुरि यशःकर्ण (करीब १०७३ से ११२५ ईस्वी) को हराकर हुआ होगा।

मदनपाल

चन्द्रदेव की मृत्यु के बाद मदनपाल ११०० से ११०४ ईस्वी के बीच गद्दी पर बैठे। लेखों में इन्हें मदनदेव[3] और मदनचन्द्र[4] भी कहा गया है। इनके लेख ११०४ से ११०९ ईस्वी तक के मिलते हैं। इनका राज्य ११२४ ईस्वी के पहले समाप्त हो चुका होगा क्योंकि इसी साल का गोविन्दचन्द्र का पहला लेख[5] मिलता है। यह आश्चर्य की बात है कि मदनपाल का केवल एक ही लेख मिलता है। राज्य का सब कारबार गोविन्दचन्द्र करते थे और अपनी माताओं (राल्हदेवी और पृथ्वीश्री) के नाम पर दानपत्र निकाला करते थे। इसका कारण डा० राय के अनुसार शायद गोविन्दचन्द्र का गुरु-गंभीर व्यक्तित्व रहा हो। पर इसका कारण मदनपाल की बीमारी भी हो सकती है। अगर यह सही है तो शायद अपनी बीमारी में उन्होंने चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन किया हो और मदन-विनोद निघंटु, जिसका रचयिता काशी का मदन नाम का राजा कहा जाता है, मदनपाल द्वारा किया हुआ संकलन हो। इस युग की लड़ाइयों को जीतने का श्रेय गोविन्दचन्द्र को ही दिया गया है। राहन के ताम्रपट्ट में गौड़ों की गजघटा और हम्मीर पर विजय का श्रेय उनको ही दिया गया है।[6] गौड़ों की सेना शायद रामपाल (करीब १०८४–११२६ ईस्वी) की थी। इस लेख में जिस हम्मीर का उल्लेख आया है, उसका संबंध लाहौर की यामिनी सल्तनत के किसी धावे से मालूम पड़ता है। संभवतः

---

[1] ईलियट एंड डाउसन, भा० २, पृ० २५०

[2] इंडियन एंटि०, १८।१३

[3] वही, १८।१२, पं० २३

[4] एपि० इंडि०, ९।३२४ श्लो० १४

[5] एपि० इंडि०, ४।१०१–१०४ [6] इंडियन एंटी०, १८।१६, पं० ८–१०

महमूद गज़नवी के बाद भी उसके वंशजों ने लूट पाट के लिए समय समय पर सेनाएँ भेजीं। एक ऐसे ही धावे का उल्लेख तबक़ात नसीरी ने महमूद तीसरे के राज्य में किया है।[1] उसके अनुसार हाजी तुग़-तिगिन ने गंगा पार करके हिन्दोस्तान में जिहाद बोल दिया और उस जगह तक घुस गया जहाँ महमूद की सेना के सिवा और कोई नहीं पहुँच पाया था। इस धावे की कुछ बातों का उल्लेख शायद मासूद के एक दरबारी कवि मासूद इब्न साद इब्न सलमान की एक कविता में आया है। सलमान कन्नौज को हिन्दोस्तान की राजधानी, शमियों का काबा और काफिरों का किबला कहता है। इसका राजा मल्हीर प्रतापी और पराक्रमी था, लेकिन उसके धनी और पराक्रमी होने पर भी मासूद तृतीय ने उसे हराया और गहरी रकम वसूल कर उसे छोड़ा।[2] भ्रष्ट पाठ होने से कन्नौज के राजा का ठीक ठीक नाम पढ़ा नहीं जा सकता, लेकिन यहाँ राष्ट्रकूट मदनपाल से उद्देश्य हो सकता है। उसके बदायूँ के लेख में कहा गया है कि उसकी वीरता की वजह से देव नदी गंगा के किनारे तक हम्मीर के आने की बात ही नहीं उठती थी।[3] डा० त्रिपाठी का खयाल है कि हम्मीर के साथ इस युग में शायद राष्ट्रकूट मदनपाल गोविन्दचन्द्र की मदद पर था। यह घटना १११४ ईस्वी के पहले घटी।

गोविन्दचन्द्र

गोविन्दचन्द्र मदनपाल की गद्दी पर ११०९ और १११४ ईस्वी के बीच में बैठे। इनका नाम एक लेख में गोविन्दपाल भी आता है।[4] इनकी माता का नाम राल्हदेवी था। गोविन्दचन्द्र के आजतक पचास से अधिक लेख मिले हैं जिनका समय १११४ से ११५४ ईस्वी तक है। इनके राज्यकाल की प्रधान घटनाओं में मुसलमानों का एक धावा है। इनकी रानी कुमारदेवी के सारनाथ वाले लेख में यवनों से गोविन्दचन्द्र द्वारा बनारस की रक्षा का उल्लेख है।[5] गोविन्दचन्द्र के महासंधिविग्राहक भट्ट लक्ष्मीधर ने भी गोविन्दचन्द्र की प्रशस्ति में कहा है **"असमसमरसंपल्लंपटः शौर्यभाजामवधिरवधि-युद्धे येन हम्मीरवीरः"** अर्थात् उसने जिसने युद्ध में उस वीर हम्मीर को, जो शूरता का भाजन था, और जो असम समर में जीत का इच्छुक था, मार डाला।[6] भट्ट लक्ष्मीधर की प्रशस्ति से साफ मालूम पड़ता है कि गोविन्दचन्द्र से हम्मीर से लड़ाई हुई और इस युद्ध में हम्मीर मारा गया।

अब प्रश्न यह उठता है कि मुसलमानों के किस धावे की ओर कुमारदेवी का सारनाथ वाला लेख और लक्ष्मीधर की प्रशस्ति इंगित करते हैं। डा० राय का अनुमान है कि इसमें परवर्ती यामिनियों द्वारा गोविन्दचन्द्र के राज्य पर धावा करने का उल्लेख है

---

[1] रेवर्टी, तबक़ात नसीरी, भा० १, पृ० १०७

[2] राय, उल्लिखित, भा० १, पृ० ५१४

[3] एपि० इंडि०, १।६२, ६४, पं० ४

[4] एपि० इंडि०, ९।३२४

[5] एपि० इंडि०, ९।३२४-२५ श्लो० १६

[6] *कृत्यकल्पतरु*, पृ० ४८-४९, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़

जिसका मुसलमानी इतिहास मे कोई पता नहीं चलता ।[1] डा० त्रिपाठी इसे सलमान द्वारा उल्लिखित मासूद तृतीय के राज्यकाल का धावा मानते हैं। पर डा० राय की राय ठीक मालूम पड़ती है। इसके कई कारण हैं, पहला कारण तो यह है कि पहली लड़ाई तो मदनपाल के समय युवराज गोविन्दचन्द्र ने लड़ी और शायद कन्नौज के आस पास मुसलमानों को हराया। पर जिस युद्ध की ओर कुमारदेवी का सारनाथ वाला लेख और लक्ष्मीधर की प्रशस्ति इंगित करते हैं, उससे तो जान पड़ता है मुसलमानी फौज यहाँ तक आगे बढ़ आयी थी कि बनारस खतरे में पड़ गया था। मार्के की दूसरी बात, जिसका हमें भट्ट लक्ष्मीधर की प्रशस्ति से पता चलता है, यह है कि हम्मीर इस युद्ध में केवल हारा ही नहीं उसे अपनी जान भी देनी पड़ी। अब हमें देखना चाहिए कि क्या मुसलमानी इतिहास भी इस युद्ध पर प्रकाश डालता है। इस संबंध में हमारा ध्यान शेख सालार मासूद गाज़ी की ओर, जिनको अब भी पूर्वी उत्तर प्रदेश में लोग गाज़ी मियाँ के नाम से जानते हैं, बरबस जाता है। अब हमें देखना चाहिए कि इनकी कहानी से और गोविन्दचन्द्र के साथ हम्मीर के युद्ध का क्या संबंध है।

मासूद सालार गाज़ी का मज़ार बहराइच में है। मशहूर है कि वे सुल्तान महमूद गज़नवी के भांजे थे। इनके संबंध में बहुत से किस्से मशहूर हैं। एक किस्सा यह भी है कि उन्होंने राजा बनार अर्थात् बनारस के राजा को हराया। अब्दुल रहीम चिश्ती नाम के एक जहांगीर कालीन लेखक ने अपने मीरात-ए-मासूदी नाम के इतिहास में इनके संबंध की अनुश्रुतियों और गप्पों का संग्रह दिया है और उनके मृत्यु का समय ४२४ हिजरी दिया है। अबुल फज़ल तो शेख सालार मासूद को महमूद गज़नवी मानते हैं। फ़रिश्ता कहता है कि वे सुल्तान महमूद की औलादों में किसी के समय में हिन्दोस्तान आये थे और इनका समय ५५७ हिजरी था। श्री मुहम्मद हसन[2] फ़रिश्ता से सहमत हैं पर फ़रिश्ता द्वारा दी हुई तिथि उनकी राय में ग़लत है, क्योंकि ५५७ हिजरी में गज़नी के बादशाह में इतनी ताकत नही बच गयी थी कि वे हिन्दोस्तान पर धावा बोलते। जो भी हो, गाज़ी मियाँ शहीद माने जाते हैं और जेठ के महीने के पहले इतवार को इनका मेला लगता है, सालार गाज़ी के झंडे और अलम चलते हैं और इनकी मज़ार पर बहुत से हिंदू-मुसलमानों का मेला लगता है।

अब हमें देखना है कि क्या १२वी सदी में गज़नी के यामिनियों के हिंदुस्तान पर धावे का कोई और उल्लेख मिलता है। इस संबंध में हम पाठकों का ध्यान बयाना के किले की फतह की ओर दिलाना चाहते हैं। इस किले की फतह के बारे में बयाना में एक दोहा मशहूर है—**अग्यारह सौ तिहत्तरा फाग तीज रविवार, बिजैमंदिर गढ़ लूटा अबू बकर कंधार।** अर्थात् ११७३ संवत्, फागुन त्रितीया रविवार को अबू बक्र कंधारी ने विजयमंदिरगढ़ लूट लिया। यह ज़माना हिजरी ५१२ का होता है। जो बहराम बिन मासूद गज़नवी (१११८–११५२ ईस्वी) के काल में पड़ता है। बहराम के राज्यकाल के

[1] राय, उल्लिखित, पृ० ५३०

[2] शेख इब्न बतूता का सफरनामा, पृ० १८३–१८४, लाहौर १८९८

आरंभ में गज़नी की लश्कर फ़तह के लिये हिंदुस्तान में आयी। श्री मुहम्मद हसन के अनुसार रौज़तुस्सफा में इसका जिक्र है। इनकी राय में सलार मामूद शायद इसी लश्कर के सरदार रहे हों।[१]

उपर्युक्त उल्लेखों से यह पता चलता है कि सालार मासूद ने १११८ ईस्वी के आसपास गोविन्दचन्द्र के राज्य पर चढ़ाई की। उसकी लश्कर बयाना जीत कर आगे बढ़ी और गोविन्दचन्द्र की राजधानी बनारस के इतने पास पहुंच गयी कि शहर को उससे खतरा हो गया। गोविन्दचन्द्र ने इस मुसलमानी फौज का डट कर मुकाबला किया और शायद सालार मासूद इस युद्ध में मारे गये। यामिनियों का यही अंतिम प्रयत्न था और इसके बाद बहुत वर्षों तक मध्यदेश को मुसलमानों से कोई खतरा नहीं रह गया।

गोविन्दचन्द्र की इस विजय के संबंध में एक और मार्के की बात आती है और वह है गाहड़वाल लेखों में तुरुष्कदंड का उल्लेख। महमूद के अत्याचारों से भारतीय प्रजा क्षुब्ध हो गयी थी और प्रतिकार की भावना उसमें हिलोरें मार रही थी। संभवतः इसी भावना से प्रेरित होकर गोविन्दचन्द्र ने महमूद के साथी उन बचे खुचे मुसलमानों पर जो उत्तरप्रदेश में बस गये थे, जज़िया की तरह कर लगाया जिसे तुरुष्कदंड कहते थे। कामिलउत्तवारीख[२] से पता चलता है कि गाहड़वालों के राज्य में पहले से ही कुछ मुसलमान बसे थे। बनारस शहर में अनुश्रुति है कि गाहड़वालों के समय भी मुसलमान बनारस में रहते थे तथा गोविन्दचन्द्र के राज्य में बनारस के एक मुहल्ले गोविन्दपुरा कलाँ को दलेल खाँ ने बसाया। दलेल खाँ के पुत्र हुसैन खाँ ने विजयचन्द्र के राज्य में हुसैनपुरा बसाया, और सैयद तालिब अली ने जयचन्द्र के राज्य में गढ़वासी टोला मुहल्ला बसाया।[३] इस तुरुष्कदंड का अर्थ कुछ विद्वानों ने तुरुष्क अर्थात् एक सुगंधित द्रव्य विशेष पर कर, जज़िया इत्यादि लगाया है[४], पर इन सब प्रमाणों को जाँचते हुए यह कहना ठीक होगा कि यह कर मुसलमानों पर लगता था और जज़िया का हिंदू प्रत्युत्तर था। यह भी संभव है कि तुरुष्कों से लड़ने के लिए किसी विशेष कर की ओर यहाँ संकेत हो।

बनारस के पूर्व में शायद रामपाल (करीब १०८४–१०२६) के मामा की लड़की कुमारदेवी से गोविन्दचन्द्र का विवाह होने से पालों और गाहड़वालों में क्षणिक विराम संधि हो गयी हो। पर राहन ताम्रपट्ट से पता चलता है कि गोविन्दचन्द्र का गौड़ों से युद्ध हुआ और शायद मगध की भूमि पर भी उसका थोड़ा बहुत अधिकार हुआ।[५] पालों के ऊपर गोविन्दचन्द्र का आक्रमण पाल राज्य की अवनति की उस दशा में हुआ होगा जब विजयसेन उसे तंग कर रहे थे। ११२६ ईस्वी के पटना जिले के पश्चिमी भाग से मिले

---

[१] वही, पृ० २३९

[२] ईलियट एंड डाउसन, भा० २, पृ० २५१

[३] बनारस गजेटियर, पृ० १९०

[४] जे० ए० एस० बी०, ५६, भा० १, पृ० ११३

[५] इंडि० एंटि०, १८, पृ० १६, १८, पं० ९

एक ताम्रपत्र से यह पता चलता है कि ११२५ ईस्वी के करीब गोविन्दचन्द्र का मगध तक प्रवेश हो चुका था।[१] इसमें संदेह नहीं कि मगध में उन्होंने अपनी विजय और आगे बढ़ायी क्योंकि मुद्गगिरि (आधुनिक मुंगेर) से उन्होंने ११४६ ईस्वी में एक ब्राह्मण को दानपत्र दिया।[२]

लक्ष्मीधर ने गोविन्दचन्द्र की प्रशस्ति में लिखा है कि उनके द्वारा हँसी खेल में डराये जाकर गौड़ों को भय हो गया।[३] जान पड़ता है, पालों और गाडहवालों की शत्रुता सेनों ने भी विरासत में पायी। शायद विजयसेन (करीब १०९७–११५९) द्वारा नाव-नवारों से गंगा के पश्चिम भाग में घूमने का संबंध गाहडवालों के साथ उसकी शत्रुता हो सकती है।[४]

गोविन्दचन्द्र ने कलचूरियों को भी हराकर दक्षिण में अपना विक्रम बढ़ाया। ११२० ईस्वी के एक ताम्रपत्र से पता चलता है कि यशःकर्ण द्वारा दिये गये एक गाँव को उन्होंने पुनः ठक्कुर वसिष्ठ नाम के एक दूसरे ब्राह्मण को दिया[५], लेकिन जाजल्लदेव के १११४ ईस्वी के एक लेख[६] से ऐसा भासित होता है कि अपने राज्यकाल के आरंभ में कलचूरियों से उनकी मित्रता थी। संभवतः कलचूरियों को हराकर उन्होंने अश्वपति, गजपति इत्यादि जो कलचूरियों के विरुद थे, ग्रहण किये।

गोविन्दचन्द्र, जैसा कि सल्लक्षणवर्मन् के लेख से मालूम पड़ता है[७], चंदेलों के भी संसर्ग में आये। पता चलता है कि कश्मीर के राजा से भी गोविन्दचन्द्र की मित्रता थी (राजतरंगिणी, ८।२४५३)। श्रीकंठचरित (२५।१०२) में इस बात का उल्लेख है कि गोविन्दचन्द्र ने सुहल नामक एक विद्वान् को अलंकार द्वारा आमंत्रित कश्मीरी पंडितों और राजकर्मचारियों की एक सभा में भेजा। इस तरह के सांस्कृतिक आदान प्रदान से कश्मीर और बनारस की मित्रता अवश्य बढ़ी होगी। सिद्धराज जयसिंह से भी उनका राजनीतिक संबंध था। प्रबन्ध-चिन्तामणि के एक उल्लेख[८] से पता चलता है कि पाटण के सिद्धराज जयसिंह ने काशिराज के पास अपना एक दूत भेजा था। यह काशिराज गोविन्दचन्द्र ही थे। जो भी हो, गुजरात के कथा साहित्य में गोविन्दचन्द्र का नाम विख्यात है। कवि आनन्दधर ने अपने माधवानलाख्यान में पुष्पावती अर्थात् बनारस के राजा

---

[१] जे० बी० ओ० आर० एस०, १९१६, पृ० ४४१–४४७

[२] एपि० इंडि०, ७।९८–९९

[३] कृत्य-कल्पतरु, पृ० ४८–४९ श्लोक ४

[४] राय, उल्लिखित, पृ० ५२९

[५] जे० ए० एस० बी०, ३१, पृ० १२४

[६] एपि० इंडि०, १।३५, ३८, श्लोक २१

[७] एपि० इंडि०, १।२०१–२०६ श्लोक ३८

[८] जिनविजय जी द्वारा संपादित, १११,१२१ पृ० ७४

गोविन्दचन्द्र का उल्लेख किया है।[१] तिरुचिरपल्ली जिले के गंगइकोण्ड चोलपुरम् से ११११०–११११ ईस्वी के कुलोत्तुंग के एक लेख से पता चलता है कि चोलों और गाहड़वालों में भी संबंध था।[२]

गोविन्दचन्द्र की कम से कम चार रानियाँ यथा नयनकेलिदेवी, गोसलदेवी, कुमारदेवी और वसंतदेवी थीं। लेखों से इनके तीन पुत्रों के नाम यथा महाराजपुत्र आस्फोटचन्द्र, राज्यपालदेव, और विजयचन्द्र मिलते हैं।

गोविन्दचन्द्र १२ वीं सदी के सब से पराक्रमी राजा थे। अपनी वीरता से उन्होंने उत्तर प्रदेश में धावा बोलने वाली मुसलमानी सेनाओं को दो बार (१११४–१११८ ईस्वी के बीच) मात दी और इस तरह अपने साम्राज्य की रक्षा की। इतना ही नहीं उन्होंने मुसलमानों पर तुरुष्कदंड लगा कर यह भी दिखला दिया कि हिन्दू भी ईंट का जवाब पत्थर से दे सकते थे। अपने विजय पराक्रम से उन्होंने पालों और गौड़ों को हराया और इस तरह अपने राज्य का विस्तार किया। वे परम ब्राह्मण भक्त और कट्टर हिन्दू थे। भट्ट लक्ष्मीधर की प्रशस्ति में उन्हें आत्मजित्, शमभृत्, विजयी इत्यादि विशेषणों से विभूषित किया गया है। लक्ष्मीधर अपनी अलंकारिक भाषा में कहते हैं—असम समर के समारंभ में भेरी की झंकार से द्रवित कर्णज्वर से मानों जिनकी आखें नाच रही हों, जिस भेरी की टंकार दुर्गों पर्वतों से टकराकर पुरों में गूंज रही हो, उसे सुनकर शात्रवेश अपने खजानों को अपने घरो में, करि तुरगों को रास्ते में और में अपने बाँधवों को आधे रास्ते में छोड़ देते थे। लेकिन जैसा लक्ष्मीधर का कहना है गोविन्दचन्द्र केवल पराक्रमी ही नहीं थे, वे तो ज्ञान और पराक्रम दोनों के घर थे (एष ज्ञानपराक्रमैकवसतिः)। माया और अवनीश दोनों से मुक्त होकर वे कुछ दिनों में ही अद्वैत हो गये।[३] प्रशस्ति में हो सकता है गोविन्दचंद्र के ज्ञान और पराक्रम की बढ़ा चढ़ाकर चर्चा की गयी हो, पर इतिहास को देखते हुए यह तो मानना ही पड़ेगा कि गोविन्दचन्द्र पराक्रमी राजा थे और उनके राज्य में गो ब्राह्मणों का प्रतिपालन हुआ।

उक्तिव्यक्ति-प्रकरण के लेखक दामोदर भी गोविन्दचन्द्र की लम्बी चौड़ी प्रशस्ति देते हैं।[४] प्रशस्ति में कहा गया है कि उन्होंने शौर्य से कीर्ति अर्जित की। वे धनवान प्रतापी और बुद्धिमान थे।

भट्ट लक्ष्मीधर

गोविन्दचन्द्र के संधिविग्रहिक भट्टलक्ष्मीधर थे। कम से कम कृत्यकल्पत से तो यही पता चलता है कि अपने समय के राजनीतिज्ञों में वे बड़े पंडित और कुशल व्यक्ति थे।

---

[१] माधवानल कामकंदला प्रबंध, श्री एम० आर० मजूमदार द्वारा संपादित, पृ० ३४१, बड़ोदा १९४१

[२] ए० एस० आर० १९०७–०८, पृ० २२८

[३] लक्ष्मीधर विरचित कृत्य-कल्पतरु, दंडखंड, रंगस्वामी आयंगार द्वारा संपादित बड़ोदा १९४१, पृ० ९–१५

[४] भट्ट दामोदर, उक्तिव्यक्ति प्रकरण, पृ० २५, बंबई १९५३

इनके पिता भट्ट हृदय भी संधिविग्रहिक थे। कृत्यकल्पतरु के प्रत्येक खंड के आरंभिक श्लोकों में वे इस ग्रन्थ को लिखने में अपनी अगाध विद्वत्ता को ही आधार मानते हैं। अपनी ब्रह्मचर्यावस्था में इन्होंने कर्मकांड का अध्ययन किया। वे नित्य प्रति स्नान, यज्ञ और श्राद्ध करते थे। लोकोपकारी कार्यों में इन्होंने तालाब खुदवाये, पेड़ लगवाये और ब्राह्मणों को भेंट में दिये गावों की नींव रक्खी। उनके द्वारा यात्रा पथों पर निर्मित धर्मशालाओं से थके हुए यात्रियों को आराम मिलता था। भट्ट लक्ष्मीधर का तो यहां तक दावा है कि उनकी अच्छी सलाह से ही गोविन्दचन्द्र सत्यमार्ग पर चले और उन्होंने दूसरे राजाओं पर अपना सिक्का जमाया। अपने पांडित्य से वे स्मृतियों की विवेचना में पूर्ण समर्थ थे और इसीलिए सब लोग उनको आदर की दृष्टि से देखते थे। जब संधिविग्रहिक पद से उन्होंने विश्वपालन यज्ञ किया तो प्रजा की बढ़ती हुई और उसे शांति भी मिली। दर्शन और शास्त्रों के अपार ज्ञान से उन्हें शास्त्रों की विवेचना करने की अपूर्व क्षमता मिली। इस तरह माया का नाश करके उन्हें आनंद और मोक्ष का मार्ग मिला।

ऊपर के वर्णन से अलंकारिता हटा कर भी इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि लक्ष्मीधर शायद काशी में एक उच्चकोटि के श्रोत्रिय ब्राह्मण थे और उनके परिवार का भट्ट उपाह्वय था। वे गोविन्दचन्द्र के संधिविग्रहिक थे और उस पद पर वे अपने पिता की जगह आये। संधिविग्रहिक अथवा इसके पहले मुख्य न्यायाधीश के पद पर लक्ष्मीधर को शासन कार्यों में सफलता मिली। उन्होंने शास्त्रविहित अनेक दान दिये थे। उनके अनेक शास्त्रों के पढ़ने की बात कृत्यकल्पतरु से सिद्ध होती है। इस संग्रह ग्रंथ से यह भी पता चलता है कि उनका अधिकार केवल पुराणों और स्मृतियों ही पर नहीं था, वे वेदों में गहरी गति रखने वाले बहुत बड़े मीमांसक भी थे।

लक्ष्मीधर के संरक्षक गोविन्दचन्द्र थे। कृत्यकल्पतरु के आरंभिक श्लोक में गोविन्दचन्द्र की मुसलमानों पर विजय का उल्लेख है। राजधर्म खंड के एक आरंभिक श्लोक में लक्ष्मीधर ने राजधर्म बतलाने में अपनी क्षमता इसलिए मानी है कि गोविन्दचन्द्र का सुखकर राज्य और विजय उनके ही सलाह के फल थे (तत्सर्वं खलु यस्य मंत्रमहिमाश्चार्यं सलक्ष्मीधरः)। कल्पतरु के आरंभिक श्लोकों में यह भी कहा गया है कि उन्होंने समुद्र-वसना पृथ्वी पर गोविन्दचन्द्र का राज्य स्थापित करवाया (पृथ्वीसाधयतः समुद्रवसनां) और उनकी मंत्रणा से शत्रुओं का नाश हुआ। राजा पर प्रभाव के बिना वे ऐसी बातें नहीं लिख सकते थे, क्योंकि कल्पतरु को शायद गोविन्दचन्द्र ने भी देखा होगा। अपने बारे में उन्होंने जो कुछ कहा है उससे पता चलता है कि भट्ट लक्ष्मीधर प्रकांड पंडित ही नहीं थे, वे साथ-साथ एक कुशल सैनिक, शासक और राजनीतिज्ञ भी थे।

विजयचन्द्र

गोविन्दचन्द्र का राज्यकाल ११५४ ईस्वी में समाप्त हो गया और उनके पुत्र विजयचन्द्र, जिन्हें विजयपाल और मल्लदेव भी कहा गया है, गद्दी पर बैठे। विजयचन्द्र का मगध के कुछ भाग पर अधिकार का पता सासाराम से प्राप्त ११६९ ईस्वी के लेख से चलता है।[१]

---

[१] त्रिपाठी, उल्लिखित, पृ० ३१८।

संभवत: उनको किसी मुसलमानी हमले का सामना करना पड़ा।[१] हो सकता है कि आखीरी यामिनी बादशाह खुसरो मलिक ताजुद्दौला (करीब ११६०–८६ ईस्वी) से उनकी मुठभेड़ हुई हो।[२] शाकंभरी के चाहमान राजा विग्रहराज से भी विजयचन्द्र की लड़ाई हुई। फिरोजशाह कोटला के दिल्ली-शिवालिक स्तंभ के ११६४ ईस्वी के एक लेख से पता चलता है कि विग्रहराज ने विंध्य और हिमालय की भूमि जीत ली थी।[३] बिजोहा (मेवाड़) के एक दूसरे लेख से पता चलता है कि उसने दिल्ली भी जीत ली।[४] डा० त्रिपाठी का विचार है कि दिल्ली चन्द्रदेव के राज्य में होने से शायद वह विजयचन्द्र के राज्य में भी थी और उस पर विग्रहराज का दखल होने से विजयचन्द्र और विग्रहपाल की लड़ाई की ओर संकेत है।

जयचन्द्र

विजयचन्द्र के बाद उनके पुत्र जयचन्द्र गद्दी पर आये। उन्हें अपने पिता द्वारा १६ जून, ११६८ ईस्वी को युवराज पद दिया गया[५] और उनका राज्याभिषेक २१ जून, ११७० को हुआ।[६] जयचन्द्र के लेख ११७० से ११८९ ईस्वी तक के बीच के मिलते हैं। उनके पिता के ताराचंडी लेख (११६९ ईस्वी) और उनके निज के बनारस के लेख (११७५ ईस्वी) से पता चलता है कि ११७५ ईस्वी तक तो उसका शासन पटना, गया और शाहाबाद जिलों पर था। पृथिवीराज रासो में कहा गया है कि जयचन्द्र की चंदेलों से दोस्ती थी और उसने चंदेल राजा परर्मादि (करीब ११६७–१२०२ ई०) को पृथ्वीराज द्वितीय (करीब ११७७–११९२ ई०) के विरुद्ध युद्ध में सहायता दी।

पर जयचन्द्र-प्रबंध से[७] तो यह पता चलता है कि परमारों की कभी न कभी जयचन्द्र से अनबन थी। प्रबंधकार का कहना है कि जयचन्द्र ने परमारों के 'कोप कालाग्निरुद्र' 'अवंध्यकोप्रसाद' इत्यादि विरुदों को सुनकर उनके अनजाने एक सेना उनकी राजधानी कल्याण या कल्याणकटक को भेज दिया। सेना नगर को करीब एक साल घेरे पड़ी रही। बाद में परर्मादि ने अपने मंत्री मल्लदेव की राय से उमापतिधर को दूत बनाकर जयचन्द्र के पास भेजा। वहाँ मंत्री विद्याधर की मदद से दोनों में सुलह हुई।

रासो में पृथ्वीराज और संयोगिता की प्रेम कहानी आती है, पर ये सब कहानियाँ अधिकतर कपोलकथा हैं। केवल उनके आधार पर हम यह अवश्य कह सकते हैं कि बारहवीं सदी के चौथे चरण में चंदेल, गाहड़वाल और चाहमान आपस में टुच्ची लड़ाइयाँ

---

[१] इंडि० एंटि०, १५, पृ० ७, ८९ पं० ९; १८, पृ० १३०–१३१
[२] केंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भा० ३, ३७, ६८८
[३] इंडि० एंटि०, १९।२१९
[४] जे० ए० एस० बी०, ५५, १, पृ० ४२, श्लोक २२
[५] एपि० इंडि०, ४।११८–११९
[६] एपि० इंडि०, ४।१२०–२१
[७] प्राचीन-प्रबंध संग्रह, पृ० ९०, कलकत्ता १९३६

लड़ रहे थे। उन्हें क्या पता था कि इन सब का अंत शीघ्र ही मुहम्मद ग़ोरी के हाथों होने वाला था।

जयचन्द्र-प्रबंध में[१] इस बात का भी उल्लेख है कि एक बार यह सुन कर कि लक्ष्मणसेन की राजधानी लक्ष्मणावती अभेद्य थी उन्होंने उसे दखल करने का निश्चय किया। लक्ष्मणसेन को हराकर जयचन्द्र ने उन्हें मुक्त करके उनका देश वापस दे दिया।

शहाबुद्दीन ग़ोरी ने हिंदुस्तान में अपना पैर जमाने के लिये पृथ्वीराज के साथ दो लड़ाइयाँ लड़ीं। पहली लड़ाई में तो वह हार गया लेकिन दूसरी बार वह ११९२ ईस्वी में पुनः लौटा। जयचन्द्र ने पृथ्वीराज की कोई मदद नहीं की और ग़ोरी ने पृथ्वीराज को हराकर ११९३ ईस्वी में दिल्ली दखल कर ली। ११९४ ईस्वी में एक बड़ी भारी फौज के साथ वह जयचन्द्र के विरुद्ध बढ़ा और इटावा के पास चंदावर में जयचन्द्र हारकर मारे गये। शहाबुद्दीन ने यहाँ से आगे बढ़कर असनी फतह किया और वहाँ से बनारस पर धावा बोल कर नगर को उनके मंदिरों सहित मटियामेट कर दिया।

मुस्लिम इतिहासकारों ने इस लड़ाई के कई वर्णन दिये हैं। ताज उलमासिर के लेखक हसन निज़ामी[२] कहते हैं कि ५९० हिजरी यानी ११९४ ईस्वी में जमुना नदी पार करके क़ुतुबुद्दीन ने कोल (आधुनिक अलीगढ़) और बनारस पर चढ़ाई कर दी। कोल का किला जीतने पर उसमें से बहुत सा माल मुस्लिम सेना के हाथ लगा। यहाँ मुहम्मद ग़ोरी कुतुबुद्दीन की सेना से आ मिला और बनारस पर चढ़ाई करने की तैयारी की गयी। फौज के इकट्ठा होने पर पता चला कि उसमें पचास हजार बख्तरबंद सिपाही थे। इस फौज के साथ वे बनारस के राजा के साथ लड़ाई के लिये निकल पड़े। बाद में शाह के हुक्म के मुताबिक कुतुबुद्दीन एक हजार घुड़सवारों के हरौल दस्ते को लेकर आगे बढ़ा और हिन्दुओं पर छापा मार कर उन्हें पूरी तरह से हरा दिया। सिपाहियों के लौटने पर उन्हें खिल्लतें दी गयीं।

बनारस के राजा जयचन्द्र शहाबुद्दीन की फौज को आगे बढ़ता देखकर उससे लड़ने के लिये आगे बढ़े। जयचन्द्र को, जिन्हें अपनी सेना और हाथियों का बड़ा गर्व था. लड़ाई में एक तीर लगा और वे अपनी ऊँची जगह से जमीन पर गिर पड़े। बाद में उनका सिर भाले की नोंक पर रख के मुस्लिम सेनापति के पास ले आया गया। मिनहाज उस् सिराज के तबक़ात-ए नसीरी[३] के अनुसार चंदावर की लड़ाई में जयचन्द्र की सेना में ३०० हाथी थे। इस लड़ाई के एक सेनापति इज्जुद्दीन खरमील थे।[४]

इस लड़ाई के बाद मुस्लिम सेना को अपार धन और सौ हाथी मिले और ग़ोरी की फौज ने असनी का किला, जिसमें जयचन्द्र का खजाना था, दखल कर लिया।

---

[१] वही, पृ० ८८

[२] ईलियट एंड डाउसन, भाग २, पृ० २२२–२२४

[३] ईलियट एंड डाउसन, भा० २, पृ० २९७

[४] ईलियट, भा० २, पृ० ३००

इब्न असीर के अनुसार[१] जयचन्द्र और गोरी के युद्ध का बयान इस प्रकार है । जब जयचन्द्र ने सुना कि गोरी की फौज ११९४ में उसके राज्य में घुस आयी है तो उसकी फौजें आगे बढ़ीं और दोनों की सेनाएँ यमुना पर भिड़ गयीं । जयचन्द्र की सेना में ७०० हाथी और दस लाख आदमी थे । इस युद्ध में भयंकर मारकाट मची और सिवाय औरतों और बच्चों को छोड़कर और दूसरा कोई नहीं छोड़ा गया । राजा जयचन्द्र मार दिये गये । उनकी लाश का भी पता नहीं चलता था, लेकिन उनके दाँतों में सोने के तार लगे रहने के कारण, लाश की पहचान हो गयी ।

असनी से बादशाही फौज बनारस की तरफ बढ़ी । हसन निज़ामी बनारस को भारत का केन्द्र कहते हैं । इनब्असीर अपने कामिलुत्तवारीख़ में कहते हैं कि बनारस का राजा हिंदुस्तान में सबसे बड़ा था और इसके राज्य की सीमा चीन की सीमा से मालवा तक और चौड़ाई में समुद्र से लेकर करीब लाहौर से दस दिन के रास्ते तक फैली थी । हसन निज़ामी के अनुसार बनारस के हज़ार मंदिर जमीनदोज़ कर दिये गये, उनकी कुर्सियों पर मस्जिदें उठा दी गयीं तथा शरायत के कानून जारी कर दिये गये । शहर में दीन की पक्की नींव डाल दी गयी और दीनार और दिरहमों पर बादशाहों के नाम और खुतबे लिखे जाने लगे । हिंदुस्तान के राजे और सरदार अपनी वफादारी का इज़हार करने लगे । बनारस का शासन एक आला अमीर के सुपुर्द कर दिया गया जिससे वह बुतपरस्ती का दमन करके अपने न्याय से लोगों को संतुष्ट कर सके । इब्न असीर का कहना है कि बनारस की फतह के बाद हिंदुओं के भाग जाने पर शहाबुद्दीन नगर में घुसा और बनारस की लूट का माल १४०० ऊंटों पर लाद कर गज़नी रवाना कर दिया । इस युद्ध में जो हाथी मुसलमानों के हाथ लगे उनमें एक सफ़ेद हाथी भी था । जब शहाबुद्दीन के सामने ये हाथी लाये गये और उन्हें बादशाह को सलाम करने का हुक्म हुआ तो सफ़ेद हाथी के सिवा और सब हाथियों ने सलाम किया । जयचन्द्र को उनकी प्रजा भूल गयी थी पर उनका प्यारा हाथी उनको नहीं भूला था ।

यहाँ हम उस अनुश्रुति के बारे में भी कुछ कह देना चाहते हैं जिसका उल्लेख रासो में हुआ है । इसके अनुसार पृथ्वीराज और जयचन्द्र में संयोगिता हरण के कारण घोर शत्रुता उत्पन्न हो गयी थी और उसी के फलस्वरूप जयचन्द्र ने इस देश में मुसलमानों को बुलाया । यह साबित हो चुका है कि रासो की कथाओं में ऐतिहासिक सत्य नगण्य सा है और उन कथाओं से तत्कालीन इतिहास पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है । फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि १२ वी सदी के अंत में गाहड़वालों, चंदेलों और चाहमानों में आपसी वैमनस्य था । लेकिन जयचन्द्र द्वारा मुसलमानों को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए उसकाने का ऐतिहासिक प्रमाण अभी नहीं मिला है । मुस्लिम इतिहासकार इसके बारे में एक शब्द भी नहीं कहते । पर मुसलमानों के प्रति जयचन्द्र की कुछ सहानुभूति का इशारा उसके लेखों से मिलता है, जिनमें तुरुष्कदंड का उल्लेख नहीं मिलता जो उनके मुसलमानों के प्रति सहानुभूति का द्योतक है । डा० डी० आर० भांडारकर[२] का अनुमान है कि

[१] ईलियट, भा० २, पृ० २५०

[२] एनाल्स ऑफ दि भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिटयूट, ११,२(१९३०),१३९

जयचन्द्र की मुसलमानों के प्रति सहानुभूति का कारण संयोगिता-हरण है जिससे चौहानों और गाहड़वालों में जानी दुश्मनी पैदा हो गयी। उसी समय चाहमानों और मुसलमानों में भी शत्रुता बढ़ी और शायद जयचन्द्र ने चाहमानों के सर्वनाश के लिए शहाबुद्दीन से मित्रता करने की कोशिश की होगी। इस मत की इस बात से और भी पुष्टि होती है कि जब शहाबुद्दीन ने भारत पर चढ़ाई की तो जयचन्द्र के अतिरिक्त उत्तर भारत के बहुत से राजाओं ने पृथ्वीराज का साथ दिया। इस बात से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जयचन्द्र ने मुसलमानों द्वारा चाहमानों का पूर्ण पराभव देखने का निश्चय कर लिया था।

मुसलमानों से जयचन्द्र की मित्रता का उल्लेख जयचन्द्र-प्रबन्ध से भी मिलता है।[1] कहानी इस प्रकार है। काशी के राजा जयचन्द्र की कर्पूरदेवी नामक एक प्यारी रानी थी और शालापति की पुत्री सुहागदेवी राजा की रक्षिता। सुहागदेवी देवी के कहने पर जयचन्द्र ने विद्याधर नामक एक काने ज्योतिषी को अपना सर्वमुद्राधिकारी नियुक्त किया। एक समय सुहागदेवी ने राजा से उनके उत्तराधिकारी के बारे में पूछा और अपने पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी बनवाना चाहा। राजा ने उनसे कहा कि कर्पूरदेवी का पुत्र ही उनका कानूनी उत्तराधिकारी हो सकता था और रक्षिता के पुत्र को तो वह स्थान कभी नहीं मिल सकता था। इस बात से क्रुद्ध होकर सुहागदेवी ने शहाबुद्दीन को बुलावा भेजा और उसने पृथ्वीराज को योगिनीपुर में हराया। इसके बाद पुनः सोहागदेवी ने शहाबुद्दीन से आगे बढ़ने को कहा।

प्रबन्ध में आगे चल कर कहा गया है कि पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद जयचन्द्र बहुत प्रसन्न हुआ और उसने नगर में आनन्दोत्सव मनाने की आज्ञा दी। इस अवसर पर जयचन्द्र का मंत्री तीन दिनों तक राज दरबार नहीं गया। चौथे दिन उसने राजदरबार में उपस्थित होकर राजा से आनन्दोत्सव का कारण पूछा। जब उसे कारण का पता चला तो उसने कहा कि पृथ्वीराज की मृत्यु पर मातम मनाने का अवसर था, खुशियाँ मनाने का नहीं। जयचन्द्र ने मंत्री के इस विचार का कारण पूछा तब उसने कहा—"एक दरवाजा है जिसके किवाड़ और ब्योंड़े लोहे के हैं, ब्योड़ेके टूट जाने पर किवाड़ जबर्दस्ती खुलने को बाध्य हो जाते हैं, उसके बाद किले का क्या होगा? राजन्, पृथ्वीराज दरवाजे के ब्योंड़े के समान थे, और उनके पतन पर यह खुशियाँ मनाना ठीक नहीं है। आज पृथ्वीराज पर जो विपत्ति पड़ी है वह शायद कल आप पर भी आ सकती है।" इसके बाद मंत्री ने सुल्तान के पास एक दूत भेजा पर सुहागदेवी ने एक दूसरा दूत भेजकर सुल्तान जहाँ था वहीं ठहरने की प्रार्थना की और राजा से कहा कि सुल्तान अपने देश लौट गया और उसके पास दूत भेजना हास्यास्पद है।

राजा और उसकी रक्षिता के व्यवहार से तंग आकर मंत्री जंगल में चले गये। दो वर्ष बाद सुल्तान लौटा पर उसे जयचन्द्र की सेना से हार खानी पड़ी। सुल्तान की मलका ने जब उससे दुखी होने का कारण पूछा तो उसने स्त्रियों की दगाबाजी का रोना रोया। इस पर मलका ने विजय के लिए मुहम्मद के पुत्र अहमद को सेनापति नियुक्त करने की

[1] पुरातन प्रबंध संग्रह, जिनविजय जी द्वारा संपादित पृ० ८८–९०, कलकत्ता १९३६

सिफारिश की। अहमद बाँयी आँख का काना था। उसने एक बड़ी सेना एकत्र की। जयचन्द्र ने भी सुहागदेवी की दगाबाजी का समाचार सुना पर वह कर ही क्या सकता था। युद्ध में अपनी हार देखकर राजा ने अपना हाथी यमुना में घुसा दिया और इस तरह उनकी मृत्यु हुई। उनके बड़े पुत्र भी इस युद्ध में मारे गये। संवत् १२४८ चैत्रसुदी १० को सुल्तानी सेना बनारस में घुसी। कर्पूरदेवी की तो मृत्यु हो चुकी थी लेकिन सुहागदेवी ने अपने बालक पुत्र के साथ बनारस शहर के फाटक पर खड़ी होकर सुल्तान का स्वागत किया और उसे अपना परिचय दिया, पर सुल्तान ने इसकी परवाह न करते हुए उसे कारागार में ठूंस दिया और उसके पुत्र को मुसलमान बना दिया।

जयचन्द्र-प्रबंध में कोई बात भी ऐसी नहीं है जो उस युग के लिये अस्वाभाविक हो। रासो की तरह इसमें केवल दिमागी उड़ान से काम नहीं लिया गया है। प्रबंध से साफ़ साफ़ पता चलता है कि पृथ्वीराज और जयचन्द्र से शत्रुता थी पर इस शत्रुता का कारण क्या था इसका अभाग्यवश कोई उल्लेख नहीं है। रासो की तरह यह प्रबंध यह भी नहीं लिखता कि पृथ्वीराज को शहाबुद्दीन अंधा बनाकर गज़नी ले गया और वहां उन्होंने अपनी वाण-संधान परीक्षा देते हुए शहाबुद्दीन को मार डाला। प्रबंधकार तो यही लिखता है कि शहाबुद्दीन के साथ युद्ध करते हुए पृथ्वीराज मारे गये। प्रबंधकार का यह कथन कि जयचन्द्र ने एक बार ग़ोरी की सेना को हराया था इतिहास की दृष्टि से ठीक नहीं मालूम पड़ता। शायद ग़ोरी की यह हार जो पृथ्वीराज द्वारा हुई हमारे प्रबंधकार ने जयचन्द्र के माथे लगा दी है। बनारस में मुसलमानी सेना के प्रवेश का भी ठीक संवत् मिती के साथ प्रबंधकार ने दिया है पर उसके अनुसार बनारस में मुसलमानी सेना का प्रवेश ११९१ ई० में हुआ जो ठीक नहीं मालूम पड़ता क्योंकि मुसलमानी इतिहासकारों ने एक स्वर से बनारस विजय का समय ११९४ ईस्वी दिया है। ऐसी भूल क्यों हुई इसका ठीक ठीक पता तो नहीं है पर अंकों के हेरफेर से ऐसा होना संभव है। प्रबंधकार को यह भी पता था कि जयचन्द्र और मुसलमानों की लड़ाई जमुना पर हुई। हमें मुसलमान ऐतिहासिकों से मालूम है कि लड़ाई आगरा और इटावा के बीच यमुना पर स्थित चंदावर (आधुनिक फिरोजाबाद) में हुई। प्रबंध से हमें एक ऐसी बात भी मालूम होती है जिससे कुतबुद्दीन की ऐबक उपाधि पर प्रकाश पड़ता है। प्रबंध में कहा गया है कि जयचन्द्र के विरुद्ध मुसलमानी सेना का प्रधान सेनापति अहमद बिन मुहम्मद था जो शायद कुतुबुद्दीन का पहला नाम था। प्रबंध के अनुसार अहमद काना था। ऐबक के अर्थ चन्द्रमुख भी किये जाते हैं, पर वास्तव में उसका सीधा अर्थ है ऐबी अर्थात् जिसके अंग में कोई ऐब हो। उसे शल यानी ऐबी भी पुकारते थे।[1]

प्रबंध में मुसलमानों को दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए उकसाने का दोष सोहागदेवी के मत्थे मढ़ा गया है पर इसमें सत्य कितना है यह नहीं कहा जा सकता। हो सकता है प्रबंध में आकर्षण बढ़ाने के लिए यह कहानी गढ़ ली गयी हो। पर जैसा कि जयचन्द्र के मंत्री के वन-गमन से पता लगता है मुसलमानों को उभारने में जयचन्द्र और उसकी रक्षिता का हाथ अवश्य था। मंत्री का पृथ्वीराज के हारने और मृत्यु के बाद

---

[1] केंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भा० ३, पृ० ४१

जयचन्द्र को संदेश, भारतीय ऐतिहासिक साहित्य की अमूल्य निधि है। उससे पता चलता है कि उस समय भी ऐसे मंत्री थे जो इस बात को देख रहे थे कि किस तरह उत्तरी भारत का दरवाजा विदेशियों के लिये प्रशस्त होता जा रहा था। उन्होंने इसके रोकने का भी प्रयत्न किया, पर शायद समय और तत्कालीन राजनीतिक अवस्था उनके विरुद्ध थी।

बनारस का साम्राज्य तो ११९४ ईस्वी में ही चकनाचूर हो गया पर उसके ऐश्वर्य की थोड़ी सी झलक कुछ बरसों तक बची रही। जयचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र के ११९७ ईस्वी जौनपुर के पास मछली शहर[1] के लेख से पता चलता है कि ११९४ ईस्वी के बाद भी उनका राज बनारस के आस-पास बना रहा।

राणक विजयकर्ण के मिर्जापुर के लेख से ऐसा भास होता है[2] कि गाहड़वालों का साम्राज्य हरिश्चन्द्र के बाद तक कायम था, गोकि उसमें शासक का नाम न होने के शायद नयी राजनीतिक स्थिति की ओर संकेत है। जान पड़ता है, बनारस से मुईज़ुद्दीन के चले जाने पर ऐबक राजपूतों से कोल की रक्षा करने के लिए बनारस से लौट गये। बाद में उसे चौहानों और चालुक्यों से मोरचा लेना पड़ा। इस बीच में बनारस पुनः स्वतंत्र हो गया। इन सब लड़ाइयों से फुरसत पाकर, ११९७ ईस्वी में क़ुतबुद्दीन ऐबक ने अपना ध्यान गंगा दोआब के ऊपरी हिस्सों की तरफ, जिसमें बहुत से गाहड़वाल अब भी बच गये थे, दिया।

फ़ख़्रे मुदीर के अनुसार उसने दूसरी बार बनारस पर कब्जा किया।[3] इससे यह पता चलता है कि मुईज़ुद्दीन के बनारस से चले जाने के बाद जयचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्रदेव ने पुनः नगर पर कब्जा कर लिया। पर बनारस के अंतिम पतन में अब देर न थी। ११९७ ईस्वी में जान पड़ता है गाहड़वालों का, क़ुतबुद्दीन द्वारा दूसरी बार बनारस जीतने पर, अंत हो गया। बनारस की दूसरी जीत के बाद बनारस और अवध के फौजदार मलिक हुसामुद्दीन बना दिये गये। इन्हीं के मातहत एक सेनानायक इख़्तियारउद्दीन मुहम्मद बख़्तियार ने बिहार और बंगाल फतह किया। फ़ारसी लेखकों के अनुसार १२०६ ईस्वी में सिंध के किनारे खाखरों द्वारा मुईज़ुद्दीन मारा गया। क़ुतबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली के सिंहासन पर बैठकर १२०६ से १२१० ईस्वी तक राज्य किया और संभवतः तब तक शायद बनारस उसी के राज्य में था। १२१० ईस्वी में दिल्ली के तख्त पर इल्तूतमिश आया जिसने १२३६ ईस्वी तक राज्य किया। गंगा की घाटी में उस समय हिंदू अपनी स्वतंत्रता स्थापित करने को जी जान से लड़ रहे थे और संभवतः इसी झगड़े में बनारस पुनः स्वतंत्र हो गया था क्योंकि मिनहाज उस्सिराज के अनुसार इल्तूतमिश को इसे पुनः ११२६ ईस्वी में जीतना पड़ा।[4] नसीरुद्दीन महमूद को अवध के सूबेदार की हैसियत से पूर्वी उत्तर प्रदेश के हिंदू बागियों से, जिन्होंने डेढ़ लाख मुसलमानों को तलवार की धार उतार दिया था, काफी लड़ाई लड़नी पड़ी तब कहीं बनारस के इलाके में शांति आयी।



[1] एपि० इंडि०, १०।९३-९८

[2] जे० ए० एस० बी० (न्यू सीरीज), भा० ७, पृ० ७५७

[3] ए० बी० एम० हबीबुल्ला, फाउन्डेशन्स ऑफ मुस्लिम रूल इन इंडिया, पृ० ६७, लाहौर १९४५

[4] वही, पृ० ६८–६९

[5] वही, पृ० १०२

चौदहवाँ अध्याय

गाहडवाल युग में बनारस का शासन प्रबंध तथा सामाजिक और धार्मिक अवस्था

१. शासन पद्धति

जान पड़ता है गाहडवाल युग में बनारस की शासन-पद्धति दसवीं शताब्दी अथवा उसके पहले की तरह ही बनी रही। गाहडवालों के लेखों से सहकारी कर्मचारियों के नाम की तालिकाएँ तो मिल जाती हैं पर इन कर्मचारियों के कार्य-कलाप पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। फिर भी इन लेखों से जो कुछ विवरण मिलता है वह नीचे दिया जाता है।

राजा—इनका राज्य पर असीम अधिकार होता था। इनके सलाहकार अथवा मंत्री भी होते थे जो अपने विषय के पंडित होते थे। हम देख चुके हैं कि गोविन्दचन्द्र के संधि-विग्रहिक भट्ट लक्ष्मीधर कितने बड़े पंडित, योद्धा और राजनीतिज्ञ थे और उनकी सलाह से गोविन्दचन्द्र को कितना फायदा पहुँचा। लेखों में राजा को महाराजाधिराज, परमभट्टारक परमेश्वर इत्यादि नामों से संबोधन किया गया है। संभव है कलचूरियों को हरा लेने के बाद गाहडवालों ने अश्वपति, गजपति, नरपति, राजत्रयाधिपति और विविधविद्या-विचार वाचस्पति का विरुद धारण किया। राजा के बाद अग्र या पट्टमहिषी और युवराज अथवा महाराजपुत्र का पद था। गाहडवाल लेखों से पता चलता है कि ये स्वयं अपने नाम से दानपत्र दे सकते थे।

राजा के अधिकार में अनेक सामंत भी होते थे जिनको राजा की ओर पंचमहाशब्द[१] और राजपट्ट[२] या पगड़ी उपहार में मिलती थी। लेखों में इनके लिए महासामन्ताधिपति, समधिगतशेष महाशब्द, और महाप्रतिहार शब्दों के प्रयोग मिलते हैं।[३]

ग्रामों में गामगामिक अथवा गाँव का मुखिया और उसके सलाहकार महत्तम और महत्तर, जिन्हें आज दिन भी महतो कहते हैं, होते थे।[४]

गाहडवालों के चन्द्रावती इत्यादि के दानपत्रों[५] में निम्नलिखित पदाधिकारियों के नाम आये हैं :

(१) **मंत्री**—राजा के सलाहकार होते थे।

---

[१] एपि० इंडि०, ९।१ से

[२] एपि० इंडि०, ४।१३०

[३] एपि० इंडि०, ११।६९,१७३

[४] एपि० इंडि०, ३।२६६

[५] एपि० इंडि०, १४।१९२ से

(२) **सेनापति**—राज-सेना के प्रधान संचालक होते थे।

(३) **महापुरोहित या पुरोहित**—ये राजा के धार्मिक कृत्यों के प्रधान अधिकारी होते थे और इनको गहरी दान-दक्षिणा मिलती थी। गोविन्दचन्द्र के कमौली वाले १११४ ईस्वी के दानपत्र[१] में राजा द्वारा पुरोहित जागुशर्मन् को वृहद् वराइच मउअ नाम के गाँव का दान देने का उल्लेख है। ये जागुशर्मन् वील्ह के पुत्र और दीक्षित पुरास् के पौत्र थे। उनका गोत्र बंधुल था और उनके प्रवर बंधुल, अघमर्षण और विश्वामित्र थे। वे वाजसनेयी शाखा को मानने वाले थे। जागुशर्मन् को धूस का गाँव १११६ ईस्वी में[२], सुणाही ? का गाँव १११७ ईस्वी में[३], अछौली का गाँव १११८–९ ईस्वी में,[४] दरवली का गाँव १११९ ईस्वी में[५] और ११४१ ईस्वी में एक गाँव[६] मिले।

(४) **प्रतीहार**—यह राजद्वार के प्रधान रक्षक होते थे।

(५) **अक्षपटलिक**—दफ्तरखाने के प्रधान अफसर होते थे।

(६) **भिषक्-राजवैद्य**—जान पड़ता है गोविन्दचन्द्र के समय प्राणाचार्य भट्ट पंडित खोणशर्मन् प्रधान वैद्य थे। इनका पाराशर गोत्र था और उनके प्रवर कांकायण, कौशिक और धौम्य। ये शांखायन बह्वृच शाखा (ऋग्वेद) के विद्यार्थी थे।[७]

(७) **भांडागारिक**—राजा के कोष्ठागारों के अध्यक्ष।

(८) **नैमित्तिक**—राज-ज्योतिषी राजा के मांगलिक कार्यों के लिये शकुन विचारते थे और सायत निश्चित करते थे।

(९) **अंतःपुरिक**—राजमहलों के अध्यक्ष।

(१०) **दूत**—राजा के पत्रादि को दूसरे राजाओं के पास ले जाने का काम करने वाले कर्मचारी।

(११) **कार्याधिकार पुरुष**—हाथी खाने के प्रधान दारोगा।

(१२) **तुरगाधिकार पुरुष**—अस्तबल के दारोगा।

(१३) **पत्तनाधिकार पुरुष**—शहर के कोतवाल या कोई दूसरे बड़े अधिकारी।

(१४) **आकराधिकार पुरुष**—खानों के महकमे के अध्यक्ष।

(१५) **स्थानाधिकार पुरुष**—थानेदार। जान पड़ता है शहर बहुत से थानों में बँटा था।

(१६) **गोकुलाधिकार पुरुष**—चरागाहों के अध्यक्ष।

---

[१] एपि० इंडि०, ४।१०१–१०३

[२] एपि० इंडि०, ४।१०३–०४

[३] एपि० इंडि०, ४।१०४–०६

[४] एपि० इंडि०, ४।१०५–०७

[५] एपि० इंडि०, ४।१०७–०९

[६] एपि० इंडि०, ४।११४

[७] एपि० इंडि०, ८।१५३ से

(१७) **कायस्थ**—प्रधान लेखक। इनका काम ताम्रपत्र इत्यादि के मस्विदे बनाने का भी था।

(१८) **कोट्टपाल**—कोतवाल।[१]

(१९) **धुरोधिकारी**—सीमाओं को ठीक रखने के प्रधान अधिकारी।[२]

(२०) **व्यवहारी**—दानपत्रों का प्रबन्ध करने वाले प्रधान राजकर्मचारी।[३]

(२१) **सर्वमुद्राध्यक्ष**—प्राचीन-प्रबंध संग्रह (८८,९०) में जयचंद्र द्वारा विद्याधर के सर्वमुद्राध्यक्ष बनाने का उल्लेख है। जान पड़ता है इस कर्मचारी के पास राजा की सब मुद्राएँ रहती थीं।

गाहड़वालों के लेखों से पता चलता है कि बनारस में ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में निम्नलिखित कर चलते थे[४]—

२. कर

(१) **भाग**—खेत की उपज में राजा का निश्चित भाग।

(२) **भोग**—जमीन बंजर पड़ने पर जमींदारों के कुछ अधिकार। यह भी हो सकता है कि इसके माने जमींदारी की लगान हो।

(३) **कर**—लगान रुपये में अथवा अन्न में अदा की जाती थी।

(४) **तुरुष्कदंड**—यह शायद जज़िया का हिंदू प्रत्युत्तर था। इसके बारे में हम पहले काफ़ी कह आये हैं। यह भी संभव है कि तुरुष्कों के विरुद्ध सेना रखने के लिए शायद यह कोई कर-विशेष हो।

(५) **विषयदान**—जान पड़ता है जिले का यह कोई खास कर होता था। इसके अलावा अश्व, नौका, नदी उतराई और सवारियों के आने जाने पर भी कर लगता था।

(६) **प्रपथिकर**—गाँवों में अधिक आदमियों के आने को निरुत्साहित करने के लिए एक विशेष तरह का कर या शायद यह कर सड़कों की मरम्मत के लिये लगता था।[५]

(७) **हिरण्य**—जान पड़ता है यह कर तैयार माल पर लगता था।[६]

(८) **जलकर**—जलयात्रा पर एक तरह का विशेष कर।

(९) **गोकर**—मवेशियों पर चराई के लिये एक खास कर।

(१०) **निधिनिक्षेप**—गड़े हुए धन का स्वामी राजा होता था।

---

[१] त्रिपाठी, उल्लिखित, पृ० ३४०

[२] एपि० इंडि०, ११।५६, १५७, १५९, १६०; त्रिपाठी, वही, पृ० ३४०

[३] एपि० इंडि०, ११।१६–१७

[४] एपि० इंडि०, १४।१९५ से

[५] एपि० इंडि०, ४।१०१, १०३

[६] एपि० इंडि०, ८।१५३

(११) आकर—जान पड़ता है खानों पर कोई खास कर था।

उपर्युक्त करों को देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि मध्ययुग में बनारस की प्रजा पर कर का काफी भार था। एक किसान को ही अपने खेत और चौपायों पर इतना कर देना पड़ता था कि शायद ही उसके पास खाने पीने के बाद कुछ बचता हो। इस भयंकर कर भार का कारण शायद मध्यकालीन राजाओं की विलास-प्रियता और व्यर्थ की लड़ाइयाँ हो सकती हैं।

३. व्यापार

दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक के बनारस के व्यापार के बारे में हमें बहुत कम विवरण मिलता है। फिर भी यह विश्वास करने का कारण है कि उस युग में भी बनारस एक बड़ा व्यापारी शहर था। हमें तारीखुस्सुबुकतिगिन[1] से पता चलता है कि १०३३ ईस्वी में बनारस का बजाजा, जौहरी बाजार और गंधी बाजार बहुत ही समृद्ध थे और इन सबको लूट कर अहमद नियाल तिगिन को बहुत धन मिला। नौका इत्यादि पर कर लगने से भी हम अंदाज कर सकते हैं कि उस समय व्यापार की काफी उन्नति थी। नदी के वास्ते व्यापार होने के सिवाय सड़क भी खूब चलती थी। अलबेरुनी के अनुसार[2] बारी से गंगा के पूर्वी किनारे पर होती हुई एक सड़क अयोध्या (२५ फरसंग), बनारस (२० फरसंग), गोरखपुर, पटना और मुंगेर होती हुई गंगासागर चली जाती थी। रशीदुद्दीन के जामिउत्तवारीख में इस सड़क का कुछ और वर्णन आया है।[3] उसके अनुसार गंगा पर स्थित बारी से चल कर सड़क पूर्व होते हुए अयोध्या पहुँचती थी और फिर वहाँ से बनारस जाती थी। वहाँ से दक्षिण पूर्व ३० फरसंग पर सरजू पार (गोरखपुर) पड़ता था। वहाँ से पाटलिपुत्र १० फरसंग था और वहाँ से मुंगेर १५ फरसंग और चंपा (भागलपुर) ३० फरसंग। चंपा से दमकपुर ५० फरसंग और गंगासागर वहाँ से ३० फरसंग। यह रास्ता बराबर तुर्क सुल्तानों के समय में भी चलता था और इस पर होकर अक्सर दिल्ली के सुल्तान बंगाल या बिहार जाया करते थे। यही वही प्राचीन जनपथ है जिसका उपयोग ताम्रलिप्ति तक जाने में होता था।

३. बनारस की स्थिति

गाहडवाल लेखों के आधार पर हम बनारस जिले का ग्यारहवीं-बारहवीं सदी का एक नक्शा खींच सकते हैं। इन लेखों में बनारस जिले के बहुत से परगनों और गाँवों के नाम आये हैं। इनम से कुछ गाँवों और परगनों की तो अब भी पहचान हो सकती है, बाकी के शायद नाम बदल गये हैं। जो भी हो ऐसा लगता है कि बनारस जिले का आधुनिक नक्शा बारहवीं सदी में प्रायः वैसा ही था जैसा अब है।

---

[1] इलियट ऐंड डाउसन, भा० २, पृ० १२३–१२४

[2] सचाउ, वही, भा० १, पृ० २२

[3] ईलियट, भा० १, पृ० ५६

बनारस शहर के बारे में अभाग्यवश हमें संस्कृत साहित्य और लेखों में कुछ घाटों और मंदिरों के नामों को छोड़कर बहुत कम विवरण मिलता है। पर जो कुछ भी अलबेरुनी इत्यादि से हमें बनारस का विवरण मिलता है उससे पता चलता है कि बनारस उस समय सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भारत का सबसे बड़ा नगर था। महमूद गजनवी के आक्रमणों के बाद तो बनारस की महत्ता इसलिए और बढ़ गयी कि सारे उत्तर भारत से प्राचीन भारतीय संस्कृति के रक्षक और परिवर्धक पंडित भाग भाग कर बनारस में बस गये। अलबेरुनी ने इस ओर इशारा भी किया है।[1] बनारस के बारे में अलबेरुनी का कहना है कि स्मार्त धर्म के लिये नगर प्रसिद्ध था। सारे भारत से साधु-सन्यासी घूमते हुए इस शहर में पहुँचकर मोक्ष के लिए उसी तरह सदा के लिए बस जाते थे जैसे काबा के रहने वाले मक्का में। उस समय यह कहावत थी कि हत्यारे को भी बनारस पहुँचने पर मृत्युदंड नहीं लगता था।[2] जान पड़ता है, इसी धर्माधता से बारहवीं सदी में बनारस ठगों का घर बन गया था। हेमचन्द्र ने अपने कुमारपाल चरित (३।५९) में ठग पर टीका करते हुए उस युग की कहावत यथा, **"वाराणसी ठकानां स्थानं,"** अर्थात् बनारस ठगों का घर है उल्लेख किया है। बनारस का इस कहावत से अब भी पिंड नहीं छूटा है। वास्तव में मध्यकालीन हिंदूधर्म और ठगी का चोलीदामन का सा साथ हो गया था। बनारस में यात्रियों का काम था पूजना और ब्राह्मणों का पुजाना। बस ठगों को तो ऐसे ही अन्धविश्वासी श्रद्धालु चाहिएँ। फिर भी अन्धविश्वास और ठगहारी के रहते हुए भी बनारस सुखी था ऐसा पता चलता है। आनन्दधर ने अपने माधवानलाख्यान में[3] गोविन्दचन्द्र की पुष्पवती नगरी अर्थात् काशी के रहने वालों के बारे में कहा है—**"निरामयानिरातंकः संतुष्टाः परमायुषाः, वर्तंति यत्र पुरुषाः कालाऽज्ञाता इव प्रजाः"** इस नगरी में काल जिनको भूल गया हो जैसे निरामय, निरातंक, संतुष्ट, परमायुष, पुरुष रहते थे। अब भी बनारस का काफी अधःपतन होते हुए भी बनारसियों के चरित्र की ये प्राचीन विशेषताएँ बाकी बच गयी हैं।

गणपति ने १५२८ ईस्वी में माधवानल कामकंदला नामक ग्रंथ लिखा। इस ग्रंथ में भी राजा गोविन्दचन्द्र के समय की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं का सुन्दर खाका है। पुस्तक गोविन्दचन्द्र से चार सौ बरस बाद लिखी गयी, पर इसका मसाला काफी प्राचीन ग्रंथो से लिया गया है और इस दृष्टि से हम इसका उपयोग गोविन्दचन्द्र के राज्यकाल के लिये कर सकते हैं। इसमें राजा की न्याय निष्ठा का जो अपने अपने पुत्रों और दूसरों को, बूढ़ों और बालकों को एक दृष्टि से देखती थी वर्णन किया गया है।[4] उसके अनुसार काशी में चारों वर्ण अहर्निश अपना धर्म पालते थे। कोई झूठ नहीं बोलता था। लोग खेलकूद में मग्न रहते थे। मित्र अपनी मित्रता भरपूर निबाहते थे। कोई कभी कान

[1] सचाऊ, अलबेरुनीज इंडिया भा० १, पृ० २२

[2] सचाऊ, वही, भा० २, पृ० १४६–१४७

[3] मजूमदार, माधवानल कामकंदला, पृ० ३४१

[4] वही, ३।२

से भी कलह की बात नहीं सुनता था, और लोग बड़ों को आदर की दृष्टि से देखते थे।[१] स्त्रियाँ पतिव्रता होती थीं और कुटुंबियों में स्नेह भाव होता था।[२] यहाँ व्यवसायी दगाबाज नहीं होते थे और कठोर वचनों के बिना व्यापार करते थे।[3] नगर में नित्य विवाह बधावे और अनेक तरह के उत्सव होते थे।[४] राजा प्रजा का पालन करते थे। प्रदेश में खूब अन्न होता था कि एक बार बोने से ग्यारह बार काटा जा सकता था।[५] अवश्य ही बनारस की ऐसी स्थिति अतिरंजित है, पर उससे पता चलता है कि देश के सर्व साधारण लोगों में बनारस के प्रति अनुराग था।

४. लेखों में बनारस जिले के कुछ भौगोलिक आधार

गाहडवाल लेखों से पता चलता है कि बनारस जिला आज की तरह परगनों में जिनको पत्तला कहते थे बसा था और हर परगने में बहुत से गाँव होते थे। लेखों में बनारस के निम्नलिखित परगनों के नाम आते हैं।

१—**कटेहली**[६]—इसकी पहचान आधुनिक कटेहर परगने से की जाती है। लेख में इसकी प्राचीन सीमाएँ कोल्लक, नंदिवार, गोमती और भागीरथी बतलाया गया है। कटेहर परगना बनारस तहसील के उत्तर-पूर्व में है। इसके पश्चिम में कोल असला (लेख का कोल्लक), पूर्व में बरह जिसका प्राचीन नाम शायद गोमती की एक सहायक नदी नंद के नाम पर नंदिवार था, और गंगा हैं। उत्तर में परगना सुल्तानीपुर और गोमती नदी जो बनारस जिले को गाजीपुर और जौनपुर से अलग करती है और दक्खिन में इसकी प्राचीन सीमा पर बरना थी।

२—**कोल्लक**[७]—यहाँ बनारस के उत्तर पश्चिम में बनारस के परगना कोल असला का आशय है। इसकी प्राचीन सीमाओं का उल्लेख नहीं मिलता। इस परगने की आधुनिक सीमाएँ निम्नलिखित हैं:—इसके पूर्व में कटेहर, दक्षिण में अठगाँवाँ, पश्चिम में पनरह और उत्तर में जौनपुर की केराकत तहसील हैं।

३—**नंदिवार**[८]—शायद इसका तात्पर्य परगना बरह से है। इसकी प्राचीन सीमाएँ नहीं मिलतीं। चंदौली तहसील का यह ठेठ उत्तरी परगना है। इसके पश्चिम और उत्तर में गंगा है। पश्चिम में गंगा इसे कटेहर से अलग करती है, और दक्षिण में सैदपुर भितरी से। पूर्व में चंदौली का महाइच परगना है और दक्षिण में महुआरी और बढ़वल।

---

[१] वही, ३।२–५

[२] वही, ३।६–८

[3] वही, ३।९

[४] वही, ३।११

[५] वही, ३।१२–१३

[६] एपि० इंडि०, १४।१९३

[७] एपि० इंडि०, १४।१९३ से

[८] एपि० इंडि०, १४।१९३ से

४—**बृहद्‌टहेवंकाण**[1]—इस परगने की भी सीमाएँ नहीं दी गयी हैं पर शायद यह चंदौली तहसील के मध्य भाग में स्थित परगना बढ़वल हो। इसके पश्चिम में महुआरी और धूस परगने हैं, और पूर्व में नरवन, दक्षिण में मझवार और उत्तर में महाइच परगने हैं।

५—**वंकाणइ**[2]—इस पत्तला का ठीक पता नहीं चलता शायद यह कटेहर का प्राचीन काल में कोई भाग रहा हो।

६—**बृहद्‌टवेवरठ पत्तला**[3]—इस पत्तला की भी पहचान ठीक ठीक नहीं हो सकती।

७—**काटी पत्तला**[4]—इसकी पहचान नहीं हो सकती।

८—**बृहद्‌गृहेवरठ पत्तला**[5]—इसका भी ठीक पता नहीं है पर इस पत्तला में धूस ग्राम का नाम आने से हम कह सकते हैं आधुनिक धूस परगने का नाम शायद बृहदगृहेवरठ पत्तला था। इसके पूर्व में मझवार, पश्चिम में राल्हूपुर और मवई, उत्तर में महुआरी और बढ़वल और दक्षिण में मिर्जापुर का भुइली परगना है।

९—**उधंटेरहोतर पत्तला**[6]—इसका भी ठीक ठीक पता नहीं लगता।

१०—**कोठोतकोटिआवर पत्तला**[7]—इस पत्तला की भी पहचान नहीं हो सकी।

११—**नेउलसतार्विसिका पत्तला**[8]—इसका भी पता नहीं है।

१२—**कच्छोह पत्तला**[9]—इसकी पहचान मिर्जापुर के कछवा मझवा से की जा सकती है।

१३—**जंबुकी पत्तलिका**[10]—इसकी पहचान जमुई से की जा सकती है और इसी पत्तला में सारनाथ था। कुमारदेवी के लेख में कहा गया है कि जमुई के लोगों ने कुमारदेवी से धर्मचक्र जिन की मरम्मत के लिये अर्जी दी थी और उसे स्वीकार करके कुमारदेवी ने सारनाथ के मंदिरों की मरम्मत करवा दी।

१४—**जियावइ पत्तला**[11]—इसका भी पता नहीं लगता।

१५—**उनवीस पत्तला**[12]—इसका भी पता नहीं है।

१६—**वजयनिहाच्छासाठ पत्तला**[13]—इसका पता नहीं।

---

[1] एपि० इंडि०, १४।१२३ से
[2] एपि० इंडि०, १४।१९७–२००
[3] वही
[4] एपि इंडि०, ४।१०१–१०३
[5] एपि० इंडि०. ४।१०३–१०४
[6] एपि० इंडि०, ४।१०६–०६
[7] एपि० इंडि०, ४।१०७–०९
[8] एपि० इंडि०, ४।१०९–१११
[9] एपि० इंडि०, ४।११६–१७
[10] एपि० इंडि०, ९।३१९–२८
[11] एपि० इंडि०, ४।११७–१२०
[12] एपि० इंडि०, ४।१२३–१२४
[13] एपि० इंडि०, ४।१२४–१२६

१७—तेमिव पवोत्तर पत्तला—इसका पता नहीं।

१८—अमवली पत्तला—इसका पता नहीं।

उपर्युक्त लेखों से बनारस जिले के ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के गाँवों के नाम मिलते हैं इनमें से कुछ गावों के नामों का पता मिल जाता है और कुछ का नहीं।

इन दान दिये ग्रामों में देवद्विजविकर ग्राम और देवग्राम होते थे। इसका यह अर्थ है कि कुछ गावों में ब्राह्मणों और देवताओं का साझा होता था; ये गाँव माफी होते थे। देवग्राम केवल मंदिरों और देवताओं पर चढ़े होते थे जिन्हें हम आज देवोत्तर संपत्ति कहते हैं।

५. गाहड़वाल युग में बनारस शिक्षा का केन्द्र

गुप्तयुग के बाद भी, जान पड़ता है, बनारस वैदिक शिक्षा का शायद सबसे बड़ा केन्द्र था। अभाग्यवश हमें संस्कृत साहित्य और लेखों से बनारस की पाठशालाओं और गुरुओं के शिक्षा क्रम पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। गाहड़वाल लेखों में तो पाठशालाओं या विद्यार्थियों का कहीं उल्लेख नहीं आया है पर ऐसा जान पड़ता है कि ब्राह्मणों को बहुत से गाँव दान देने से गाहड़वाल राजाओं का उद्देश्य शिक्षा को प्रोत्साहन देना था। बनारस के उपाध्याय न केवल छात्रों को पढ़ाते थे, उन्हें उनके रहने और खाने का भी प्रबंध करना पड़ता था और यह तभी संभव था जब उनके पास किसी तरह का आर्थिक संबल हो। संभवतः गाँवों की आमदनी से और दान दक्षिणा से प्राप्त द्रव्य से ये अपना और अपने छात्रों का काम चलाते थे। चन्द्रदेव के एक लेख में[१] पता चलता है कि गांव दान पाने वाले ब्राह्मणों में बहुधा विद्वान ब्राह्मण होते थे। इस लेख में जाट (नं० २) नामक एक ब्राह्मण को श्री ऋग्वेदचरणे चतुर्वेदिन् कहा गया है, वील्ह (न० १२६) को श्री यजुर्वेदचरणे चतुर्वेदिन् कहा गया है, छीहिल (नं० २२२) अथर्ववेदचरणे द्विवेदिन् थे, तथा देदिग नाम के ब्राह्मण को श्री छान्दोगचरणे त्रिपाठिन् कहा गया है। इससे पता चलता है कि बनारस में चारों वेदों को पढ़ने पढ़ाने वाले पंडित थे। विधिकरणि गंगाधर (नं० ४६८) के नाम से पता लगता है कि वैदिक कर्मकांड के पढ़ने पढ़ाने का भी काशी में प्रचार था।

अलबेरुनी के अनुसार बनारस और काश्मीर ग्यारहवीं सदी में संस्कृत ज्ञान विज्ञान और शिक्षा के केन्द्र थे।[२] बनारस की पाठशालाओं और पंडितों में सिद्धमातृका अक्षर चलते थे। कुछ दिन पहले तक बनारस में संस्कृत ओनामासीधम् कह के आरंभ करते थे। यह ओनामासीधम् ओम् नमः सिद्धम् की दुर्गति है।

सौभाग्यवश मुनि श्री जिनविजय जी को उक्तिव्यक्ति प्रकरण[३] अथवा प्रयोग प्रकाश नाम का एक ग्रंथ मिल गया है जिसमें बनारस और उसके आस पास के प्रदेशों की

---

[१] एपि० इंडि०, १४।१९७–२००

[२] सचाऊ, वही, भा० १, पृ० १७३

[३] दामोदर, उक्तिव्यक्ति प्रकरण (जिनविजय द्वारा संपादित), बम्बई १९५३

बोली के नमूने संगृहीत हैं जिसे डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने प्राचीन कोशली का नाम दिया है। अपने समय में और अपने देश में प्रचलित लोक व्यवहृत अपभ्रंश भाषा का संस्कृत व्याकरण पद्धति से क्या संबंध है और किस प्रकार लोक भाषा की लोकरूढ़ उक्तियों द्वारा संस्कृत व्याकरण का आधारभूत स्थूल ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है इसी बात का विचार दामोदर ने किया है। इस ग्रंथ में उक्ति का प्रयोग बोली के अर्थ में है। प्रासंगिक रूप से इस ग्रंथ में बहुत सी ऐसी बातें आ गयी हैं जिनसे बनारस की शिक्षा, धर्म और सामाजिक व्यवस्था पर काफी प्रकाश पड़ता है। पुस्तक के अंतःसाक्ष्य से यह प्रकट हो जाता है कि पुस्तक के लेखक दामोदर का गोविन्दचन्द्र से निकट संबंध था। दामोदर द्वारा गोविन्दचन्द्र की प्रशस्ति का उल्लेख पहले हो चुका है। एक दूसरी जगह (२१।१४–२०) कहा गया है 'कवण ए छाती तडें राकर सागर ओंड्ह पास खणावन्त आच्छ' कौन यह छतरी ताने ओडकों से राकर सागर (आधुनिक चन्दौली का रायल ताल) खुदवा रहा है? जवाब था सूरपाल नामक राजपुरुष। वहीं कोई धनपाल नामक व्यक्ति एक मंदिर बनवा रहा था। बनारस में ब्राह्मणों को बसाने का श्रेय गोविन्दचन्द्र को दिया गया है। इसी प्रसंग में प्रश्न आता है 'कौन ऐसा है जो कर्णमेरु जैसा मंदिर बनारस में बनवायेगा' उत्तर था कोई राजा ही ऐसा कर सकता था। भाव यह है कि चेदि राज कर्ण द्वारा निर्मित कर्णमेरु जैसा शिव मंदिर गोविन्दचन्द्र देव जैसे राजा ही बनवा सकते थे।

उक्ति-व्यक्ति प्रकरण के लेखक पंडित दामोदर के बारे में इसके सिवा कि वे गोविन्दचन्द्र के समकालीन थे और कुछ नही पता चलता। सौभाग्यवश गोविन्दचन्द्र के समय के तीन ताम्रपत्रों से पता चलता है कि पंडित दामोदर शर्मा की विद्वत्ता से प्रभावित हो कर गोविन्दचन्द्र और उनके दो पुत्रों ने उन्हें कम से कम तीन चार गाँव भेंट किये। बहुत संभव है कि ताम्रपत्रों के पंडित दामोदर शर्मा और उक्ति-व्यक्ति प्रकरण के पंडित दामोदर एक ही व्यक्ति हों।

इन ताम्रपत्रों में सबसे पुराने ताम्रपत्र में जो ११३४ ईस्वी का है इस बात का उल्लेख है कि महाराज पुत्र आस्फोटचन्द्र देव ने अपने पिता की अनुमति से अक्षय तृतीया के दिन गंगा-स्नान करके नंदिनी पत्तला का कनौट ग्राम गुणपाल के प्रपौत्र, लोकपाल के पौत्र तथा मदनपाल के पुत्र पंडित दामोदर शर्मा को दान में दिया। इनका गोत्र कश्यप तथा प्रवर काश्यप, आवत्सर और नैध्रुव थे। वे यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा को मानने वाले, सूर्य भक्त और ज्योतिष के पंच सिद्धान्तों के पंडित थे।[1] ११४६ ईस्वी के एक दूसरे ताम्रपत्र में[2] उल्लेख है कि गोविन्दचन्द्र की अनुमति से महाराज पुत्र राज्यपाल देव ने उत्तरायण मकर संक्रान्ति के दिन राज्यपालपुर (शायद रजवाड़ी) में गंगा स्नान करके हरिचन्दपाली और दो या तीन पाटकों के सहित चमरवामी ग्राम पंडित दामोदर को दान दिया। ११५० ईस्वी के एक तीसरे लेख में[3] स्वयं गोविन्दचन्द्र द्वारा उत्तरायण संक्रान्ति

---

[1] एपि० इंडि०, ८।१५५–१५६

[2] एपि० इंडि०, ८।१५६–५७

[3] एपि० इंडि०, ८।१५८–५९

को वाराणसी में कोटितीर्थ पर स्नान करके उवराल पत्तला में लोरिपु पाडा अथवा लोलिक पाडा का दामोदर शर्मा को दान का उल्लेख है।

आस्फोटचन्द्र और राज्यपाल के दानपत्रों से ऐसी ध्वनि निकलती है कि शायद ये राजकुमार दामोदर के शिष्य रहे हों। उनके दान से उनकी गुरुभक्ति प्रकट होती है। जो कुछ भी हो उक्ति-व्यक्ति प्रकरण से तो इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि दामोदर शर्मा बारहवीं सदी के एक अच्छे शिक्षाशास्त्री थे।

गाहडवाल युग में बनारस की शिक्षा का उद्देश्य था 'वेद पढब, स्मृति अभ्यसवि, पुराण देखब, धर्म करब' (उ० व्य०, १२।१६–१८) अर्थात् हमें वेद पढ़ना चाहिए, स्मृतियों का अभ्यास करना चाहिए, पुराणों को देखना चाहिए और धर्म करना चाहिए। उपर्युक्त उदाहरण से पता चलता है कि बनारस में उस समय वेदों, स्मृतियों और पुराणों के पठन-पाठन पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

उपाध्याय जिन्हें ओझा कहा गया है लड़कों को पढ़ाते थे—'पढ़ाव छात्रहि शास्त्र ओझा' (१३।२८)। विद्यार्थियों को अपना ज्ञान संवर्धन उपाध्याय द्वारा ही करना पड़ता था—'ओझा पासे वीदाले' (१४।१६)। जान पड़ता है छात्र अक्सर अपने गाँवों को जाते थे—'छात्रु गाउँ या' (१६।१२)। गाँव जाने के लिए ये छात्र अपने को सँजोते थे—'गाँउँ चला सँजव' (३९।३०)। सँजोना क्या था 'नंगा नहाय क्या और निचोड़े क्या' की कहावत के अनुसार ये छात्र गाँव जाते वक्त अपनी पोटली सँजोते थे—'गाँउँ जात पोटलि सँजव' (४१।२८)। इस तरह पोटली लेके गंगा पार जाने को तैयार हो जाते थे—'पोटल लै जाण पार' (३८।२७)।

उक्ति-व्यक्ति प्रकरण में कुछ प्रश्नोत्तरियाँ दी हुई हैं जिनसे काशी के विद्यार्थियों की अवस्था पर प्रकाश पड़ता है। 'ईहाँ को पढ़इ?' यहाँ कौन पढ़ता है? उत्तर था—'ब्राह्मण पुत्र' (२१।८)। 'ईहाँ को पढनहार आछ' यहाँ कौन पढ़ने वाला है? उत्तर—'छात्र' (२१।८–९)। उपाध्याय पूछते हैं—'अम्हापास केईं पढ़ब' (२१।९–१०) हमारे यहाँ कौन पढ़ेगा? उत्तर—'द्विज'। इससे ब्राह्मणों की उस प्राचीन संकीर्ण वृत्ति की ओर पता चलता है जिससे शास्त्र पढ़ने का ब्राह्मण ही अधिकारी था, और दूसरा कोई नहीं। आश्चर्य तो इस बात का है कि जैन संस्कृत पढ़ सकते थे, और बौद्धों का भी मध्यकाल में उस भाषा पर पूर्ण अधिकार था, पर हिंदुओं में तो खाली ब्राह्मणों को ही वेद-ज्ञान विहित था। यह संकीर्ण वृत्ति बराबर बनारस में बनी रही। सत्रहवीं सदी में यशोविजय नाम के प्रसिद्ध जैन विद्वान को बनारस में संस्कृत पढ़ने की सूझी पर इसके लिए उन्हें अपना धर्म छिपा कर ब्राह्मण बनने का ढोंग रचना पड़ा। यह प्रवृत्ति काशी में अब तक पुराने पंडितों में है।

एक दूसरी प्रश्नोत्तरी में पढ़ने के एक उद्देश्य पर प्रकाश पड़ता है। प्रश्न है—'राउलें पाहू रांध को आच्छिह'—राजा के पास कौन जाएगा? गुरु जी जवाब देते हैं—'तू'। विद्यार्थी पूछता है—'मोर छेम को करिहें', मेरा क्षेम कौन करेगा? गुरु जी जवाब देते हैं, 'हौं'–मैं (२१।१०–१२)। इससे पता लगता है कि गुरु के पास पढ़ कर विद्यार्थी राजसेवा में भरती होने के लिए भी आतुर रहते थे।

प्रायः विद्यार्थी उपाध्याय के घर जाकर पाठ पढ़ते थे। प्रश्न है—'बेटा काहां ण'—बेटा कहाँ गया, उत्तर है—'ओझाउलु' (२२।१–२)। यह भी पता लगता है कि अधिकतर विद्यार्थी उपाध्याय के साथ ही उनके घर पर रहते थे (२४।२१–३१)। वहाँ रहकर गुरु शुश्रूषा करते हुए वे विद्याध्ययन करते थे (२७।४–१०)। यह भी पता चलता है कि प्राचीनकाल की तरह गाहड़वाल युग में भी बनारस में आश्रम होते थे (२७।१७)। एक जगह इस बात का उल्लेख है कि मठों में भी पढ़ाई होती थी। गाहड़वाल युग में केदार मठ बनारस की प्रसिद्ध शिक्षा संस्थाओं में था (२९।७–२२)। यह भी पता चलता है कि बारहवीं सदी में बनारस (३०।४), कान्यकुब्ज (३०।६) और प्रयाग (३०।१५) अपनी शिक्षा संस्थाओं के लिए प्रसिद्ध थे।

बनारस में यह बात उस समय प्रसिद्ध थी कि केवल घोखने से विद्या नहीं आती। उसके लिए बुद्धि की आवश्यकता होती है। कोई प्रश्न करता है—'छांटे हें काहें विद्या अवड', झट से विद्या कैसे आ जाय? उत्तर है—'प्रज्ञें', केवल बुद्धि से (२२।११)। जान पड़ता है व्याकरण इत्यादि को सरल बनाने के लिए और बालकों में विद्या के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए पहेलियों या विवीक्षकाओं की भी मदद ली जाती थी। पहले प्रश्न पूछे जाते थे और अंत में उनके उत्तर बता दिए जाते थे। इससे बालकों में कुतूहल उत्पन्न होता था और विचार शक्ति और हाजिरजवाबी बढ़ती थी। कुछ ऐसी विवीक्षकाएँ उक्तिव्यक्ति प्रकरण में दी हुई हैं (२२।१३–२१; २३।२५ से)—

'किससे संग्राम संकट में वीर दुर्जय हो जाता है?' खड्ग से।

'साहसी धीर किससे नदी पार करते हैं?' बाहुओं से।

'रात्रि में जगत क्षीर-समुद्र में किससे डूबा हुआ मालूम पड़ता है?' शरद् की चाँदनी से।

'बिना पैर के सहारे रास्ते में किसके सहारे जल्दी से चला जा सकता है?' काठ की घोड़ी से।

'ग्रीष्म संतप्त भूपृष्ठ पर आदमी किसके सहारे चलते हैं?' जूते के।

'किसके सहारे मेघ समय पर विश्व को नया कर देते हैं?' वृष्टि से।

'किसके सहारे कुम्हार मृत्पिण्ड को पात्र बना देते हैं?' चाक के।

'रात दिन होते हुए काम को किनके सहारे लोग देखते हैं?' नेत्रों के।

'अपने दृढ़ व्रत के सहारे बालनृप के राज्य में कौन रहते हैं?' पात्र।

'सेनापति अपने मालिक से कहता है नाथ, किसने शत्रुओं को जीता?' तुमने।

'किसके द्वारा ये नित्य नयी नयी संपत्तियाँ पैदा होती हैं?' मुझसे।

निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी से भी बनारस के विद्यार्थी जीवन पर प्रकाश पड़ता है।

'सखे, तुमने वेद कहाँ पढ़ा?'

देव शर्मा उपाध्याय से।

'ईंधन जलाना कहाँ सीखा ?'

उपाध्याय-पत्नी से ।

'तुम्हें भोजन कहाँ से मिलता है ?'

द्विजवरों के घरों से । (२३।२०–२१)

उपर्युक्त प्रश्नोत्तरी से पता चलता है कि छात्रों को भोजन स्वयं बनाना पड़ता था और उन्हें अन्न द्विजातियों के घरों से मिल जाता था। बेचारे नये छोकड़े गावों से आते थे उन्हें भला भोजन बनाना क्या मालूम ? इसीलिए उपाध्याय पत्नी उन्हें ईंधन जलाने की क्रिया में दीक्षित करती थीं ।

जान पड़ता है बेचारे गुरुदेव अपने पुराने छात्रों से कुछ सहायता की भी आशा रखते थे ।

निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी से इस संबंध पर कुछ प्रकाश पड़ता है। अपने विद्यार्थियों को बहुत दिनों के बाद देखकर गुरु जी उनसे प्रश्न करते हैं (२३।२१–२३)—

'पुत्रो, जानते हो तुमने वेद किससे पढ़ा है ?' आपसे ।

'किससे हमारी पत्नी और पुत्रों की इस वृद्धावस्था में गुजर होगी ?' हम से ।

इस प्रश्नोत्तरी से पता चलता है उपाध्याय अपने पूर्वकृत उपकारों का स्मरण कराके वृद्धावस्था में अपने विद्यार्थियों की सहायता चाहते थे ।

निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी से भी बनारस के विद्यार्थी जीवन पर प्रकाश पड़ता है—

'यह कौन है ?' छात्र ।

'क्या काम करता है ?' पढ़ता है ।

'कहाँ पढ़ता है ?' यहीं ।

'क्या पढ़ता है ?' शास्त्र ।

'किससे ?' पुस्तक से ।

'कैसे पढ़ता है ?' अपने से ।

'कहाँ पढ़ता है ?' उपाध्याय से ।

'कहाँ रह कर पढ़ता है ?' घर में ।

'किसके घर में ?' उपाध्याय के । (२४।२३–३१)

यह प्रश्नोत्तरी भुजंगप्रयात छंद में भी दी हुई है :—

प्रश्न :—**सखे ब्रूहि कस्त्वं चिरं किं च कुर्वन् लिखेत् कः किमत्रेदृशं केन कस्मै,**
कुतः कुत्र कस्येति लोकोक्तिरेषा यदेकत्र वाक्ये दशानां विवक्षा (३१।१८–२१) ।

उत्तर:—**अहं विप्रपुत्रः पठन्नेव शास्त्रं लिखामि स्वयं पाणिनैवात्मने स्यात्**
गुरोः प्राप्य तिष्ठन् गृहेऽस्यैव रम्ये, प्रयोगप्रकाशं जगत्स्वार्थहेतुम् (३१।२२–२५) ।

जान पड़ता है कि बनारस के विद्यार्थियों से ये सवाल इतने लोग पूछते थे कि इसके लिये लोकोक्ति ही बन गयी।

विद्वानों से भी बहुधा ऐसे प्रश्न पूछे जाते थे। ऐसी प्रश्नोत्तरी भी एक श्लोक में दी गयी है :—

विद्वन् भवतः कुत्र निवासः ? वाराणस्यां गंगातीरे।
कस्मिन् ज्ञानम्, कुत्र विवाहः ? द्विजवरवंशे नागरजातौ। (२४।१–२)

हे विद्वन् ? आपका निवास कहाँ है ? वाराणसी में गंगा के तीर पर। किसके यहाँ आपकी शिक्षा हुई है ? आपका विवाह कहाँ हुआ है ? द्विजवर-वंश में मेरी शिक्षा हुई और नागर जाति में मेरा विवाह।

उपर्युक्त श्लोक से यह पता चलता है कि काशी के विद्वान् गंगा के तीर पर रहते थे तथा बारहवीं शताब्दी में भी नागर ब्राह्मण गुजरात से काशी में आ चुके थे।

हमें बारहवीं सदी के काशी के विद्यार्थी की वेषभूषा का भी पता एक उदाहरण से मिलता है। उदाहरण है, 'कोए मुंडें मुंडे दीर्घी चूलीं धोती परिहें ?' (३१।२८–२९) उत्तर है :—विद्यार्थी ! इससे पता चलता है कि बारहवीं सदी के विद्यार्थी सिर घुटाए रहते थे, लंबी चुंदी रखते थे और धोती पहनते थे। आज, आठ सौ बरस के बाद भी, काशी के संस्कृत विद्यार्थियों की वेषभूषा वैसी ही है।

जैसा हम ऊपर कह आए हैं गुरु जी केवल विद्यार्थियों को प्रेम के साथ शिक्षा ही नहीं देते थे, संभवतः काम न करने पर गुरु जी उन्हें पीटते भी थे। एक उदाहरण में आया है—'गुरु सीसन्ह ताड' (३१।१२) अर्थात् गुरु शिष्यों को सजा देते थे। आज भी बनारस में कहावत है चमोटी लागे झमझम, विद्या आवे चमचम। पर शिष्य इसका कभी बुरा नहीं मानते थे। वे गुरु की पूरी इज्जत और पूजा करते थे। एक उदाहरण में कहा गया है—'यो गुरु आंच सो पाप मुंच' (४३।७–८) अर्थात् जो गुरु की सेवा करता है उसके पाप छूट जाते हैं।

६. गाहडवाल युग में बनारस की धार्मिक अवस्था

अगर यह कहा जाय कि गाहडवाल युग में बनारस का आधुनिक हिंदू धर्म अपने चरम विकास को प्राप्त हो चुका था तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। तीर्थ विवेचन खंड से पता चलता है कि शैव धर्म तो अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी का मुख्य धर्म हो गया था। गाहडवाल युग में विश्वनाथ की स्थापना हुई। विश्वनाथ का सर्व प्रथम उल्लेख एक गाहडवाल लेख[१] में आता है पर काशी के प्रधान देव तो अविमुक्तेश्वर ही रहे। काशी में एक दो नहीं सैकड़ों की संख्या में शैव मंदिर गाहडवाल युग में थे। बनारस में शैवों की प्रधानता होते हुए भी यहाँ वैष्णव धर्म का आदर था। सच बात तो यह

[१] जे० ए० एस० बी०, ३१, पृ० १२३

है कि इस युग के हिंदू धर्म में शैव और वैष्णव धर्म में कोई विशेष मत भेद नहीं देख पड़ता। गाहडवालों के मत के बारे में भी हम यह नहीं कह सकते कि वे शैव थे या वैष्णव फिर भी उनका वैष्णव धर्म पर अधिक झुकाव मालूम पड़ता है। उनका वज्रयान से भी कोई विरोध नहीं था। गोविन्दचन्द्र की पत्नी कुमारदेवी तंत्रयानी थीं। जयचन्द्र को भी वज्रयान के प्रति श्रद्धा थी। इन सब बातों से यही पता चलता है कि गाहडवाल युग में पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता थी और जहाँ तक राजाओं का संबंध था वे सब धर्मों को एक ही दृष्टि से देखते थे।

गाहडवाल लेखों से यह पता चलता है कि आदिकेशव घाट पर आदिकेशव के मंदिर की बड़ी ख्याति थी। चन्द्रदेव के चन्द्रावती के एक ताम्रपत्र[1] से पता चलता है कि सन् ११०० ईस्वी में चन्द्रदेव ने वहाँ सोने चाँदी का तुलादान, हजार मुहरों के साथ किया और पाँच सौ ब्राह्मणों को सम्मिलित रूप से बत्तीस गाँव दिये। जयचन्द्र के कमौली वाले ताम्रपत्र से पता चलता है[2] कि ११६८ ईस्वी में अपने पिता विजयचन्द्र की अनुमति से आदिकेश्वर घाट पर नहा कर जयचन्द्र ने कृष्णभक्ति के सेवा की दीक्षा ली और इस अवसर पर एक गाँव प्रहराज शर्मा को दान में दिया। जयचन्द्र के दूसरे ताम्रपत्र[3] से भी पता चलता है कि वे आदिकेशव के भक्त थे।

गोविन्दचन्द्र के एक लेख से[4] गाहडवाल युग के कुछ शैव और वैष्णव मंदिरों का भी पता चलता है। उन्होंने बनारस में गंगा नहा कर महत्तक दायित् शर्मा को बनारस शहर में एक घर दान दिया।

इस घर की चौहद्दी बतलाते हुए निम्नलिखित मंदिरों के नाम आये हैं—अघोरेश्वर, पंचोंकार, लौडेश्वर और इन्द्रमाधव। इनमें पहले तीन तो शैव मंदिर हैं पर चौथा मंदिर विष्णु का है। जयचन्द्र के एक लेख से कृत्तिवासेश्वर के मंदिर का भी पता चलता है।[5] कृत्तिवासेश्वर का १७वीं सदी का मंदिर दारानगर के पास था जिसे तुड़वा कर औरंगजेब ने मस्जिद बनवा दिया।

लोलार्क—गोशल देवी[6] द्वारा लोलार्क के मंदिर के पास स्नान करके एक गाँव दान देने का उल्लेख है। लोलार्क कुंड अब भी अस्सी के पास विद्यमान है पर यहाँ अब किसी मंदिर का पता नहीं चलता। लोलार्क शायद सूर्य की प्रतिमा का नाम था।

गंगा-स्नान और गंगा के भिन्न भिन्न घाटों की महिमाओं का प्रारंभ भी गाहडवाल युग में हो चुका था। उस युग में निम्नलिखित घाटों की विशेष महिमा थी।

---

[1] एपि० इंडि०, १४।१९७–२००

[2] एपि० इंडि०, ४।११७–१२०

[3] एपि० इंडि०, ४।१२३–१२४

[4] एपि० इंडि०, ८।१५२–५३

[5] एपि० इंडि०, ४।१२४–१२६

[6] एपि० इंडि०, ५।११६–११८

आदिकेशव घाट—इसका उल्लेख चन्द्रदेव, मदनपाल, गोविन्दचन्द्र और जयचन्द्र के लेखों में आया है। यह घाट बरना संगम के पास आज भी मौजूद है।[१]

वेदेश्वर घट्ट—यह घाट आदिकेशव घाट के पास ही में है।[२]

कपालमोचन घट्ट—१२वीं सदी में कपालमोचन घाट गंगा पर था।[३] लेकिन अब तो राजघाट के पास कपालमोचन नामक एक तालाब हैं।

कोटितीर्थ—शायद कपिलधारा को ही कोटि तीर्थ कहते थे।[४] इसके पास कोटवा गाँव में एक मंदिर भी है।

त्रिलोचन घट्ट—गाय घाट के पास त्रिलोचन घाट अब भी है।[५]

स्वप्नेश्वर घट्ट—यह घाट केदार घाट के पास है।

गाहड़वाल लेखों से यह भी पता चलता है कि अक्षय तृतीया बनारस का एक महान् पर्व था और चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण के अवसरों पर गाँव इत्यादि दान देने की प्रथा थी।

ब्राह्मणों को दान देना भी महान् पुण्य का कार्य समझा जाता था। उक्ति-व्यक्ति प्रकरण में महत्पर्वों के अवसर पर सद्विप्रों को, जिनके वृद्ध माता पिता हों, स्त्री और बच्चे हों, सजाति और दरिद्रों को दान देने की बात कही गयी है (२३।१–१०)। अब हमें यह देखना चाहिए कि गाहड़वाल युग में साधारण जनता की धर्म के प्रति कितनी अभिरुचि थी। उक्तिव्यक्ति प्रकरण में बहुत सी कहावतें और मुहावरे आये हैं जिनसे जनता की धर्म के प्रति आस्था प्रकट होती है। इन सब कहावतों और सदुक्तियों से पता चलता है कि पौराणिक हिंदू धर्म का बनारस की जनता पर पूरा प्रभाव था। ब्राह्मण पूज्य माने जाते थे। उनकी पूजा करना और उन्हें दान देना तथा गंगास्नान धर्म के प्रधान अंग माने जाते थे। लेकिन इन सब अंधविश्वासों के अतिरिक्त, इन कहावतों से यह भी पता चलता है कि धर्म के मूलतत्त्वों के प्रति लोगों की अनुरक्ति थी। इन धर्म संबंधी वाक्यों से जीवन का एक सच्चा आदर्श टपकता है जो पौराणिक गप्पों के बिलकुल विपरीत है। इनमें हम जनता का वह दर्शन कर सकते हैं जो मूढ़ता से भिन्न है।

हमारे देहाती भाई आज दिन की तरह उस समय भी गंगा माता को बड़ी आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उनकी राय में 'गांग न्हाए धर्मु हो पाप जा' (५।२३–२४) अर्थात् गंगा नहाने पुण्य होता है और पाप भागता है।

धर्म सारे कल्याण का साधन समझा जाता था। लोगों की राय में 'धर्मे बाढ़त, पाप ओहट' (५।२४) अर्थात् धर्म के बढ़ते ही पाप घटने लगता है। 'धर्मे सब

[१] जे० आर० ए०एस०, १८९६, पृ० ७८७; जे० ए० एस० बी०, ५६, पृ० १०८, पंक्ति १९

[२] एपि० इंडि०, ४।११४

[३] एपि० इंडि०, ४।११० पं० १३

[४] एपि० इंडि०, ८।५८–५९

[५] इंडि० एंटि०, १८।११ पं० १२

व्यवहार पअट' (५।२५) अर्थात् धर्म ही सब व्यवहारों का स्त्रोत है। 'जस जस धर्मु बाढ़, तस तस पापु घाट' (३३।७), जैसे जैसे धर्म बढ़ता है पाप घटता है। 'जैसें जैसें धर्मु जाम तैसें तैसें पापु खाम' (३३।१२), 'जेइं जेइं धर्मु पसर, तेइं तेइं पापु ओसर', (३३।१४), 'यैहा यैहा धर्मु वड, तैहा तैहा पापु खस' (३३।१६), 'जाहां जाहां धर्मु नांद, तांहां तांहां पापु मांद' (३३।१९), 'जा किहं धर्म कीज ता किहं पापु खीज' (३३।२१), 'जातौ धर्मु पाविअ, तातौ पापु सामिअ' (३३।२३), 'याकर धर्मु उसस ताकर पापु ओरुस' (३३।२५), इन सब कहावतों का एक ही तात्पर्य है कि धर्म करने से पाप भागता है।

कुछ प्राचीन कहावतों से यह भी पता चलता है कि धर्म के मूलतत्वों से भी लोग अवगत थे। 'सबहिं भूतं दया करु' (९।३०), 'पराई वथु डीव छांडु' दूसरे की वस्तु में लोभ न करो (९।३१), 'कोवु छाड़ि क्षमा भजु' (९।३१), 'संसारु अनित्यु देखउ' (१०।३), 'सबहि उपकारिआ होउ' (१०।४), 'ते गुणै जणि उपजति जे सबहि न उपकरंति' (१०।९–१०), उन गुणों का उपजना ही वृथा है जो सब का उपकार न करें, 'पपु जण करसि' (१०।११), 'सत्तमार्गु जणि छाटसि' (१०।११), 'जो फुटु बोल सो गांग न्हा' (२९।२७)- ऐसे वाक्य प्राचीन मध्यदेश की संस्कृति के अनमोल रत्न हैं। उनसे पता लगता है कि धार्मिक और राजनीतिक अनाचारों के बढ़ते हुए भी जनता के हृदय की वाणी शुद्ध थी पर अभाग्यवश जनता की उस शुद्धता और पवित्रता का उस स्वार्थी युग में कोई उपयोग करने वाला नही था।

पिता के प्रति भी साधारण जन का पूर्ण विश्वास था। इस विश्वास की गूँज इस प्रश्नोत्तरी से मिलती है—'अहो पितर हो को तुम्ह तारिह ?' 'तुहिं', ''मोहितहि के बढ़ाविहंति ?' 'अम्हेइ'-पिता, तुम्हे कौन तारेगा, तुम, हमें कौन बढ़ावेगा, हम, (२१।२०–२२)। लेकिन केवल मानसिक श्रद्धा म ही पितृ खुश होने के नही थे, उन्हें तो हिंदू धर्म के अनुसार श्राद्ध और तर्पण की आवश्यकता थी। हमारे उस युग के भाई पितृ-ऋण चुकाने में इसमें भी पीछे हटने वाले नहीं थे। एक कहावत में कहा गया है 'जब पूतु पाउ परवाल, तब पितरन्हु सर्गु देखाल' (३८।११) अर्थात् जहां लड़के ने ब्राह्मणों का पैर धोया कि पितरों को स्वर्ग दिखने लगा। पितृ-ऋण चुकाने के लिए तर्पण की भी आवश्यकता थी इसमें भी लोग पोछे हटने वाले नही थे। 'पितर तर्प' (४२।८), 'तेइं देउ पितरु तर्प' (५१।२०), से इसका पता चलता है। लेकिन हिंदू धर्म में पितरों को सीधे स्वर्ग पहुँचाने के लिए केवल श्राद्ध तर्पण से ही काम नहीं चलता, इसके लिये गया श्राद्ध परमावश्यक है। गया में पिंडदान (२३।१२–१३) का भी उल्लेख है और हमें एक वाक्य से 'गअवाल तिथिआतिन्हि जुडे' (५१।२८), गयावाल पंडे तीर्थ यात्रियों को जुटाते हैं, पता चलता है कि बारहवीं शताब्दी में भी गयावाल तीर्थ यात्रियों को जोड़ बटोर कर पितरों को स्वर्ग का रास्ता दिखलाने के लिए गया ले जाते थे। शायद बनारस के गंगापुत्र और प्रयाग के प्रयागवाल भी इस युग में पैदा हो गये हों।

जान पड़ता है बनारस में ब्राह्मणों की स्थापना करने में गोविन्दचन्द्र का बहुत बड़ा हाथ था। एक प्रश्नोत्तरी में कहा गया है, 'के ई हांए वाम्हण थापे ?' उत्तर है—

'गोविन्दचन्द्र देवः' (२१।१७–१८)। ब्राह्मणों के प्रति हमारे जनसमाज की पूरी आस्था थी। एक उदाहरण से 'न्हाइ देउ पूजि, बम्हणम्ह दानुदेइ जेंव' (११।११–१२) पता चलता है कि पर्वों पर साधारण जन नहा कर देवपूजा कर के ब्राह्मणों को दान देकर भोजन करते थे। ब्राह्मणों को गोदान देने की प्रथा का 'ब्राह्मण गावि दे' (१४।१८–१९) वाले उदाहरण से पता चलता है। ब्राह्मण भोजन-कराने की प्रथा भी खूब प्रचलित थी। 'पुनवन्तें करें भोज भूखें भूखें बाह्मण अघांति' (३६।३) वाली कहावत से पता चलता है कि पुण्यवानों द्वारा दिये गये भोज में भूखे ब्राह्मण अघा जाते थे। ब्राह्मण रूखे सूखे भोजन से संतुष्ट नहीं होने वाले थे। एक उदाहरण में कहा गया है 'बाह्मणहिं लाडु प्रीतजण' (१४।१९) अर्थात् ब्राह्मणो को लड्डू प्रिय है। घर पर आने पर ब्राह्मणों का काफी आदर होता था। एक वाक्य में कहा गया है 'बाह्मणहि पीढ़ां बइसारि' (५०।२५) अर्थात् ब्राह्मणों को पीढ़ा पर बैठाना चाहिए। आदर सत्कार पाकर, भोजन करके और दान दक्षिणा हथियाकर ब्राह्मण देवता प्रसन्न हो जाते थे और जजमान को असीसते थे—'बहु देवस जीवउ देवदत्त' (९।२६–२७), 'धन पुत्र सपुन हो' (९।२७–२८), जुग जुग जिओ देवदत्त, धन, पुत्र से संपूर्ण हो।

प्रायश्चित्त और छुआछूत का, जो हिंदूधर्म के प्रधान अंग है, मध्यकालीन बनारस में काफ़ी बड़ा गढ़ था। एक उदाहरण में कहा गया है, 'पंचगवें पीएं सूझ' (२।३०) अर्थात् पंचगव्य (गोमूत्र, गोबर, दूध, दही और घृत) पीने से शुद्धि हो जाती है। आज दिन भी प्रायश्चित्त करने का यह साधारण तरीका है।

जन साधारण में मंत्रतंत्र और भूतों पर भी विश्वास था। एक उदाहरण 'समाण वेताल कीड' (३४।२१)-श्मशान में वेताल क्रीड़ा करता है, से पता चलता है कि श्मशान में वेतालों के रहने का लोगों को विश्वास था। एक दूसरे उदाहरण 'मंत्रें खील' (४५।३०) से ज्ञात होता है कि लोगों का मंत्र की कीलन शक्ति पर भरोसा था। मंत्र से शायद मृतकों के जी उठने पर भी लोगों का विश्वास था (४६।२६)।

७. धार्मिक अनाचार

मध्य युग में वाराणसी मुसलमानों के प्रतिरोध का केन्द्र भले ही बन गया हो पर इसमें भी सन्देह नहीं कि हिन्दू धर्म और समाज की कमजोरियों का वह अड्डा भी बन गया था। क्षेमेन्द्र ने हिन्दू धर्म और समाज की जिन बुराइयों की निन्दा की है उन्हीं बुराइयों का कृष्ण मिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय[१] में खुल कर विरोध किया है। प्रबोधचन्द्रोदय और क्षेमेन्द्र रचित ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करने से दो बातों का पता चलता है। पहिली बात तो यह है दोनों ने ही धार्मिक दुराचारों का भंडाफोड़ करते हुए उनसे सावधान रहने को कहा है। दूसरी बात यह है कि कृष्ण मिश्र ने उन दुराचारों से बचने का एक मात्र उपाय विष्णु भक्ति माना है। क्षेमेन्द्र द्वारा, जो जन्मना शैव थे, वैष्णव धर्म स्वीकार किया जाना भी ग्यारहवीं सदी में वैष्णव धर्म की श्रेष्ठता की ओर संकेत करता है।

---

[१] कृष्ण मिश्र, प्रबोधचन्द्रोदय, सांबशिव शास्त्री द्वारा संपादित, त्रिवेन्द्रम् १९३६

प्रबोध-चन्द्रोदय की चरित्र-भूमि वाराणसी है। दूसरे अंक में महामोह ने दम्भ को सूचना दी कि तीर्थों में लोगों को सुधारने के लिए विवेक ने शमदम इत्यादि भेजा था। उसके इस प्रचार को रोकने के लिए दम्भ को मुक्ति क्षेत्र वाराणसी जाना आवश्यक था। वहाँ पहुँच कर दम्भ ने चतुराश्रमों के कर्तव्यों में गड़बड़ी मचा दी। वहाँ दिवाधूर्त, सर्वज्ञ, दीक्षित, अग्निहोत्री, ब्रह्मज्ञ और तापस होने के बहाने से वेश्याओं के घरों में उनके आसव के गन्ध से भरे मुखों का तथा चाँदनी भरी रात में कामोत्सव का मजा उठा कर लोगों को ठगते थे। दम्भ ने वहाँ अभिमान से जलते हुए वाग्जाल से भर्त्सना मानों करते हुए, अपनी प्रज्ञा से मानों हंसी उड़ाते हुए एक जन को देखा। उसे देखते ही दम्भ ने अनुमान किया कि दक्षिण राढ़ से आया हुआ वह अहंकार था। यहाँ बंगाल के पण्डितों पर स्पष्ट रूप से छींटाकशी है। उसने आते ही ललकारा—"न तो लोगों ने प्राभाकर पढ़ा न कौमारिल दर्शन का अभ्यास किया न तो प्रभाकर के शिष्य शालिक के तत्त्वज्ञान की चर्चा ही की, वाचस्पति की तो बात ही क्या। महोदधि के सूक्त ज्ञान से उन्हें मतलब नहीं, न उन्हें माहाव्रत से ही सरोकार है। ऐसे नर-पशुओं के आधार पर सूक्ष्म विचार धारणा कैसे खड़ी रह सकती है।" अहंकार ऐसे लोगों को वेद विदूषक कहता है—ये भिक्षा मात्र के लिए सिर मुँड़ाते है तथा पण्डिताई के अभिमान से वेदान्त छाँटते है। उनकी बात सुनने में भी पाप है। बिना न्याय ज्ञान के पाशुपत पूरे पशु है, उन्हें देखने में भी पाप है। ये त्रिदण्ड पर ही जीवित द्वैत और अद्वैत मार्ग से परिभ्रष्ट है। गंगा तीर शीतला शिला पर गद्दी पर बैठे कुशमण्डित महा दण्डकमंडल वाले, माला के मनके गिनने वाले ये केवल धनियों को लूटते हैं (प्र० च० २१५)।

अहंकार द्वारा आश्रम वर्णन में क्षेमेन्द्र द्वारा कला-विलास में वर्णित दम्भ के रूप का खासा दर्शन हो जाता है। आश्रम के द्वार पर बाँसों पर कपड़े सूख रहे थे, कृष्णाजिन बिछे हुए थे, खलों में समिधा कूटी जा रही थी तथा यज्ञधूम से आकाश भरा था। यहाँ अग्निहोत्री का दर्शन होता है। गंगा कि मिट्टी के तिलक उसके ललाट, भुज, उदर कंठ ओष्ठ, चिबुक और जानु पर लगे थे तथा चूड़ाग्र, कान, कटि और हाथ में दर्भांकुर था (प्र० च० २१६)। अहंकार के अभ्यर्थना करने पर उसने केवल एक हुंकार भरी साथ ही साथ एक आश्रम बटु ने उससे पैर धोकर आश्रम में घुसने को कहा। इस पर अहंकार ने नाराज होकर कहा—"क्या मैं तुर्क देश में हूँ जहाँ गृहस्थ अतिथियों का आसन-पाद्य इत्यादि से स्वागत नहीं करते?" दम्भ ने यह सुनकर बटु को इशारा किया और वह बोल उठा—"आराध्यापाद कहते है कि दूर देश से आये आर्य के कुल-शील का हमें पता नहीं।" अहंकार ने जवाब दिया—"वाह क्या हमारे कुल-शीलादि की परीक्षा चाहिए। सुन, गौड़ राष्ट्र में निरुपम राढापुरी है वहीं भूरिश्रेष्ठि नायक मेरे पिता बसते है। उनके महाकुलीन पुत्रों को सब जानते है पर अपनी प्रज्ञा, शील, विवेक, धैर्य और विनयाचार मे मैं उनमें सबसे उत्तम हूँ" (प्र० चं० २१७)। दम्भ ने फिर बटु की ओर देखा और उसने ताँबे के घड़े से अहंकार को पैर धुलाने का आग्रह किया और उसे वैसा ही करना पड़ा। फिर दाँत मींच कर दम्भ ने बटु की ओर देखा और उसने अहंकार को इसलिए दूर खड़े रहने को कहा क्योंकि उसके पसीने की बूदें हवा के झोंकों से फैल रही थीं। अहंकार ने

आनाकानी की पर बटु ने फटकार बतलायी और अहंकार समझ गया कि दम्भ के सामने उसकी चलने की नहीं थी। जब उसने आसन पर बैठने की इच्छा प्रकट की तो बटु ने यह कहकर उसे रोक दिया कि पूजनीय दम्भ के सामने दूसरा कोई बैठने का अधिकारी नहीं था। इस पर अहंकार अपने कुलीन राढ़ होने की बात कहकर गरज उठा। यह देखकर दम्भ ने अपना मौन तोड़ते हुए कहा—"यह ठीक है, पर आपको मेरी बात का पता नहीं। एक दिन मैं ब्रह्मा के यहाँ पहुँचा। सभा में सारे ऋषि अपने आसन छोड़कर खड़े हो गये। ब्रह्मा ने तब मेरी खुशामद करके अपनी गोद को गोबर से लीप पोत कर मुझे उसमें बैठाया" (प्र० च० १।१०)। कला-विलास के प्रथम सर्ग में दम्भ द्वारा ब्रह्मा को भी पवित्रता का ढोंग दिखलाने की कथा कुछ ऐसी ही है। यह सुन कर अहंकार ने कहा—"अरे, इन्द्र और ब्रह्मा की बात मत कर, उनकी चाल सब जानते हैं। मेरे तपोबल से सैकड़ों इन्द्र हाजिर हो सकते हैं और सैकड़ों ब्रह्मा और मुनि भस्म हो सकते हैं।" अब एक ने दूसरे को पहचाना। अहंकार के यह पूछने पर कि मोह द्वारा वाराणसी घेरने का क्या कारण था दम्भ ने कहा—"विद्या और प्रबोध की जन्म-भूमि ब्रह्मपुरी वाराणसी उसके कुल का नाश कर देना चाहती है, उसी की रोक-थाम के लिए वह उसे लूट-पाट कर खतम कर देना चाहता है" (प्र० चं० २।१२)।

इसके बाद महामोह का प्रवेश होता है और वह आते ही लोगों की बेवकूफ़ी पर हँसता है। देह से अतिरिक्त आत्मा की स्थिति, मृत्यु के बाद कर्मभोग, जो नहीं है उसकी कल्पना, नास्तिकों की हँसी, इत्यादि सब बातें उसमें आ जाती हैं। इसके बाद वह लोकायत धर्म की तारीफ़ करता है जिसमें प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अर्थ और काम ही पुरुषार्थ है, परलोक नहीं है, इत्यादि। इतने में चार्वाक का एक शिष्य के साथ प्रवेश होता है और वह वेद, स्वर्ग, यज्ञ और श्राद्ध का खंडन करता है। शिष्य के यह पूछने पर कि अगर खाने-पीने में ही पुरुषार्थ है तो तीर्थिक क्यों संसार सुखों को त्याग कर मासोपवास, एक सप्ताह का उपवास, तीन दिन के उपवास, तथा उपवास के बाद रात्रिभोजन से अपने शरीर को कष्ट देते हैं चार्वाक ने कहा कि यह धूर्तों द्वारा प्रणीत आगमों का फल था। शिष्य के यह पूछने पर कि तीर्थिक दुःख मिश्रित सांसारिक सुखों को क्यों त्याज्य मानते हैं, चार्वाक ने उत्तर दिया कि विषय सुख जन्मजात होता है उसे दुःख मिश्रित मानकर छोड़ना मूर्खता है। इसके बाद चार्वाक ने कहा कि विष्णु-भक्ति नाम की महायोगिनी ने काली द्वारा रोक ली जाने पर भी उनके काम में अड़चन डाल दी थी। महामोह ने फौरन काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य इत्यादि को विष्णु-भक्ति से मोर्चा लेने की आज्ञा दी। यह समाचार पाकर कि शांति धर्म को फुसला रही थी महामोह ने उसे और उसके साथियों को रोकने के लिए काम की सहायता चाही।

प्रबोध-चन्द्रोदय के तीसरे अंक में अनेक ऐसे पात्र आये हैं जिनका उल्लेख क्षेमेन्द्र ने भी किया है। अपनी माता श्रद्धा से विलग शांति को सांत्वना देती हुई करुणा को एक दिगम्बर भिक्षु दीख पड़ा। उसका शरीर मल-पूर्ण था, केश लुंचित थे तथा मोरपंख की पिच्छिका उसके हाथ में थी। दिगम्बर-सिद्धान्त आकाश-भाषित से अपने मध्य-कालीन विकृत-सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है—"श्रावको, सारे जल से भी मलमय पुद्गल पिण्ड

कैसे शुद्ध हो सकता है। विमल स्वभाव आत्मा को जानने का साधन केवल ऋषि परिचरण है। भिक्षु को देखते ही उसे नमस्कार करके सत्कार करना चाहिए और मीठा भोजन कराना चाहिए। ऋषियों द्वारा स्त्रीगमन देखकर भी ईर्ष्या न करना चाहिए" (प्र० चं० ३।५-६)। अपने अनुरूप श्रद्धा का आवाहन करके उसने हिदायत की—देख, श्रावकों को एक क्षण भी मत छोड़ना।

शांति और करुणा सौगतालय में श्रद्धा की खोज में गयी। वहाँ पुस्तक हाथ में लिए भिक्षुक रूप बौद्धागम का प्रवेश होता है और वह विज्ञानवाद की मोटी-मोटी बातें यथा सर्व क्षणिक, सर्व दुःख, सर्व स्वलक्षण, और सर्व शून्य की बात कहता है [प्र० चं० ३।८] तथा बौद्ध धर्म को सुख और मोक्ष का कारण मानता है। मनोहर लेणों में आवास, अभिप्राय के अनुकूल बनियों की स्त्रियाँ, ठीक समय पर बढ़िया भोजन, गद्दीदार पत्थर की सेज, श्रद्धा पूर्वक उपासिका युवतियों द्वारा अंगदान तथा चाँदनी रात में मौज, ये बातें बौद्ध भिक्षुओं को उपलब्ध हैं (प्र० चं० ३।९)। बौद्ध भिक्षु ने पुस्तक पढ़ते हुए उपासकों को उपदेश दिया—"उपासको और भिक्षुओ, बुद्ध का वाक्यामृत सुनो। मैं दिव्यचक्षु से मनुष्यों की सुगति दुर्गति देखता हूँ, सब संस्कार क्षणिक हैं। आत्मा का अस्तित्व नहीं है इसलिए स्त्रियों से सम्बन्ध रखने वाले भिक्षुओं से ईर्ष्या नहीं करना चाहिए, ईर्ष्या चित्त का मल है।" उसके आवाहन पर तामसी श्रद्धा उपस्थित हो गयी तथा भिक्षुओं और उपासकों को भेंटा। इसके बाद बौद्ध भिक्षु तथा दिगम्बर में बहस छिड़ गयी। जिससे तत्कालीन शास्त्रार्थ पर प्रकाश पड़ता है। दिगम्बर ने पूछा—"क्षणिकवादी होने पर भी तू व्रत क्यों करता है।" उत्तर मिलने पर कि मोक्ष के लिए दिगम्बर ने कहा—"अरे निर्लज्ज, मोक्ष तो किसी मन्वन्तर में मिलेगा फिर इस क्षण के नष्ट होने से क्या फायदा। तुझे इस धर्म का किसने उपदेश दिया ?" उत्तर मिलने पर कि बुद्ध ने, दिगम्बर बोल उठा—"अगर केवल आश्रम प्रमाण से ही बुद्ध सर्वज्ञ हैं तो मैं भी सब जानता हूँ। तेरे सात पुरखे मेरे दास थे।" भिक्षु के नाराज होने पर उसने कहा—"मैंने तो दृष्टांत कहा। अब तू बुद्धानुशासन छोड़कर दिगम्बर बन जा।"

बौद्ध भिक्षु और दिगम्बर के इस बहस मुबाहिसे के बीच वहाँ श्मशानवासी नरास्थि की माला पहने, नर कपाल में भोजन करने वाला तथा योगाञ्जन से सब कुछ देखने वाला (प्र० चं० ३।१२) कापालिक आ उपस्थित हुआ। दिगम्बर के यह पूछने पर कि मोक्ष का साधन क्या है, उसने कहा—"नर मांस से होम, ब्रह्म कपाल से सुरापान तथा गले की नस काट कर बहते हुए रक्त से महाभैरव की पूजा" (प्र० चं० ३।१३)। यह सुनकर भिक्षु और दिगम्बर घबराये। दिगम्बर के यह कहने पर कि कापालिक धर्म पाप था कापालिक ने क्रोध से जलते हुए कहा—"मैं बड़े-बड़े देवताओं को. बुला सकता हूँ।" उसकी शेखी को दिगम्बर द्वारा इन्द्रजाल कहे जाने पर कापालिक ने तलवार खींच ली। बेचारा दिगम्बर अहिंसा की दुहाई देने लगा और भिक्षु ने भी उसे मजाक की बात कह कर टाला। कापालिक का क्रोध शान्त होने पर दिगम्बर ने उससे मोक्ष की कल्पना के बारे में पूछा। जवाब मिला—"बिना विषय भोग के सुख नहीं, जीवन की स्थिति ही मुक्ति है।" बात बढ़ती देख कापालिक ने नरास्थि मंडित श्रद्धा का आवाहन किया तथा उसके

आलिंगन से बौद्ध भिक्षु और दिगम्बर सोम सिद्धान्त और महाभैरव के अनुयायी बन गये। इसके बाद श्रद्धा ने सुरा पात्र कापालिक को दिया और उसने जूठी शराब दिगम्बर और भिक्षु को दे दी। पहले वे दोनों शंकित हुए, इस पर कापालिक ने जूठी शराब कपालवनिता को पिलाकर और यह कहकर कि स्त्री मुखं तु सदा शुचि वही शराब उन दोनों को पिला दी। वे सुख की महिमा गाने लगे तथा कापालिक और कापालिनी को नाचते देख नाचने लगे। दिगम्बर कापालिक को कापालिक, आचार्यराज, कुशाचार्य कह कर संबोधन करने लगा। बाद में सब हाल चाल सुनकर कापालिक ने धर्म और श्रद्धा को पकड़ने के लिए महाभैरवी का आवाहन किया।

चौथे और पाँचवें अंकों में विष्णुभक्ति और उसके साथियों द्वारा महामोह की सेना के परास्त होने का वर्णन आता है। बौद्ध सिंधु, गंधार, पारसीक, मगध, अंग, वंग, कलिंग में भागे तथा पाषंड, दिगम्बर और कापालिक पंचाल, मालव, आभीर, आनर्त और सागरानूप जैसे असंस्कृत प्रदेशों में घुस गये।

कृष्ण मिश्र ने ग्यारहवीं सदी के मध्य में उत्तर भारत की जैसी अवस्था देखी थी, वैसी ही उन्होंने वाराणसी को केन्द्र विंदु मान कर उसका वर्णन कर दिया। क्षेमेन्द्र काशी गये थे अथवा नहीं इसपर तो प्रकाश नहीं पड़ता पर कला-विकास की कथा का क्षेत्र उन्होंने वाराणसी के पड़ोसी पाटलिपुत्र को माना है। जिन ठगहारियों, पाखण्डों और धार्मिक आचारों का वर्णन उन्होंने कला-विलास में किया है उनसे प्रबोध चन्द्रोदय में वर्णित धार्मिक अवस्था का इतना मेल खाता है कि यह मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि क्षेमेन्द्र को उत्तर भारत की धार्मिक और सामाजिक गतिविधियों का पूरा ज्ञान था। इतना ही नहीं देश और विदेश के लोगों के चारित्रिक अवगुणों से भी वे परिचित थे। कला-विलास में एक ऐसा ही प्रकरण आया है। दम्भ की हँसी उड़ाते हुए कहा गया है कि ब्रह्मा का मानस पुत्र दम्भ स्वर्ग से मृत्युलोक में आकर चारों ओर विचरने लगा और अन्त में उसने गौड़ में अपनी विजय पताका फहरा दी। वाह्लीकों के वचन में, प्राच्य और दाक्षिणात्यों के व्रत नियम में, कीर (काँगड़ा) के अधिकार में तथा गौड़ों की सब बातों में वह घुस गया (कला-विलास १।८६-८७)। वाराणसी के बारे में सीधे दो उल्लेख हैं। एक बूढ़ी वेश्या कहती है—"मैं तो वाराणसी चली जाती पर उसमें एक बड़ी तकलीफ है कि वहाँ बिना प्याज के मैं जीऊँगी कैसे!" (देशोपदेश, ३।४५)। एक जगह मृत कायस्थ शिव से कहता है—"स्नान तथा जप में निरत तीर्थ में हवन करते हुए सब शास्त्रों का अध्ययन करके भागीरथी में अपना शरीर छोड़कर मैं आपके पद को प्राप्त हो गया।" इस श्लोक मे काशी में शास्त्रों के अध्ययन व्रत इत्यादि तथा अन्त में भागीरथी में डूबकर प्राण देने की प्रथा का उल्लेख है (कला-विलास, ५।४०)। एक जगह उन धूर्तों का उल्लेख है जो पितरों के तारने के बहाने लोगों से पैसे वसूल कर केवल घूमने-फिरने के लिए काशी और गया की यात्रा करते थे (कला-विलास, ९।६६)।

८. गाहड़वाल युग में बनारस में बौद्ध धर्म

गाहड़वाल युग में, जैसा सारनाथ में मिली बौद्ध प्रतिमाओं से पता चलता है, वज्रयान अंतिम सीढ़ी पर पहुँच चुका था और सच कहा जाय तो बुद्ध के उस धर्म से,

जिसका उन्होंने मृगदाव में प्रचार किया था, वज्रयान के बौद्ध धर्म से कुछ संबंध ही नहीं रह गया था। मद्य, मांस, हठयोग और स्त्री इन चारों को ही वज्रयान ने मुख्य माना तथा निरर्थक मंत्रों से ही लोगों को इस पंथ ने भुलावे में डालने का प्रयत्न किया। इस वज्रयान में हजारों देवी-देवता सम्मिलित हुए, जो बहुधा बहुत ही बीभत्स और भीषण आकारवाले होते थे। इस सब के होते हुए भी उस युग की धार्मिक स्वतंत्रता के अनुसार वज्रयानियों को भी गाहडवालों की ओर से सहायता मिली। गोविन्दचंद्र की पत्नी कुमारदेवी वज्रयानी थीं और उनके सारनाथ के लेख[१] से पता चलता है कि उन्होंने सारनाथ में बौद्ध धर्म अथवा वज्रयान की कितनी सहायता की। लेख के २१ से २३वें श्लोकों में कहा गया है कि जंबुकीपत्तला वालों ने, जिसमें सारनाथ स्थित था, प्रार्थना की कि धर्माशोक द्वारा स्थापित धर्मचक्र जिन के फिर से बनवाने अथवा मरम्मत कराने की आवश्यकता थी। कुमारदेवी ने, जो बनारस के लिये नयी थीं, उनकी प्रार्थना मान ली और बुद्ध से जंबुकी वालों का संबंध होने से उसे सब पत्तलिकाओं के आगे स्थान दिया। साथ ही साथ कुमारदेवी ने या तो जिन की मरम्मत करवायी अथवा एक नये जिन की स्थापना करके उसे वसुधारा के विहार में अथवा एक नये विहार में स्थान दिया।

सारनाथ में मिली एक मुद्रा से भी यह पता चलता है कि धर्मेक्षा स्तूप को, जिसको इस मुद्रा में धमाक कहा गया है, लोग बड़ी आदर की दृष्टि से देखते थे और इसकी पूजा करते थे।[२] बारहवीं सदी में मित्रयोगी अथवा जगन्मित्रानन्द एक बहुत बड़े वज्रयानी योगी हो गये हैं। इनके ग्रंथों में 'चन्द्रराज लेख' मिलता है जिससे पता चलता है कि वह किसी राजा के लिये लिखा गया है और यह अनुमान है कि वह बारहवीं सदी के अंत में उत्तर प्रदेश अथवा विहार का कोई राजा रहा होगा। इस अनुमान की पुष्टि बोध गया के एक शिलालेख[३] से भी होती है जिसमें श्री मित्र को परमावधूत कहा गया है और यह भी बतलाया गया है कि वे काशीश्वर जयच्चन्द्र देव के दीक्षा-गुरु थे। वे अपने समय के बौद्ध-धर्म के कर्णधार भी थे।[४] उपर्युक्त लेख से यह पता चलता है जयचन्द्र की बज्रयान के प्रति भी रुचि थी। पर हम ऊपर कह आये हैं कि जयचन्द्र अपने पिता की आज्ञा से आदिकेशव घाट पर स्नान करके भागवतधर्म में दीक्षित हुए थे, फिर उनका वज्रयान में दीक्षित होना कहाँ तक ठीक माना जा सकता है। पर मध्यकालीन हिन्दू और बौद्ध धर्मों में विशेष अंतर नहीं था और हिन्दू नृपति बौद्ध धर्म को भी उतनी ही श्रद्धा से देखते थे, जितना अपने धर्म को। यह भी संभव है कि शासनाधिरूढ़ होने पर जयचन्द्र ने मित्र योगी के संसर्ग में आकर वज्रयान की भी दीक्षा ग्रहण कर ली हो। जो भी हो यह तो निर्विवाद है कि गाहडवाल युग में बनारस में, विशेषकर सारनाथ में, वज्रयान का प्रचार था। कुमारदेवी के विहार में एक सुरंग होना इस बात को साबित

---

[१] एपि० इंडि०, ९।३१९–३२८

[२] दि जर्नल ऑव दि यू० पी० हिस्टो० सो०, भाग ११, २ दिसंबर १९३८, पृ० २५–२६

[३] इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १९२९, पृ० १४–३०

[४] राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्त्व निबंधावली, पृ० १५८–५९

करता है कि उस काल में विहारों में दुराचार काफी बढ़ गया था। श्री राखालदास बैनर्जी का तो अनुमान था कि इस मार्ग से गुप्त रूप से स्त्रियाँ विहार में दाखिल होती थीं।

उक्तिव्यक्ति प्रकरण के उदाहरणों से बनारस या पूर्वी उत्तर प्रदेश में वज्रयान धर्म के बारे में बहुत कम पता चलता है और इसका स्पष्ट कारण यह है कि यह ग्रंथ एक ब्राह्मण की कृति है। फिर भी एक उदाहरण, 'टोप उचाअ', (४९।२५) स्तूप ऊँचा करने से पता चलता है कि इस युग तक बौद्ध स्तूप बनारस और उसके आस पास बनते रहे होंगे।

हमें सारनाथ, बनारस और उसके आसपास मिली मध्यकालीन जैन मूर्तियों से भी पता चलता है कि गाहड़वाल युग में बनारस में दिगंबर जैनों का भी काफी प्रभाव था, पर इनके इतिहास के बारे में कुछ पता नहीं चलता। उक्तिव्यक्ति प्रकरण के 'नगायरि सूरेहि उतेज' उदाहरण (४०।१०) से पता चलता है कि नग्नाचार्य दिगंबर साधु पूर्वी उत्तर प्रदेश में होते थे।

९. गाहड़वाल युग में बनारस की सामाजिक अवस्था

गाहड़वाल युग के लेखों से बनारस की तत्कालीन सामाजिक अवस्था और जीवन पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। भाग्यवश उक्तिव्यक्ति प्रकरण में कुछ ऐसे वाक्यों और कहावतों का संग्रह है जिससे बनारस के तात्कालिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है, और हमें पता चलता है कि बनारस के आजकल के जीवन से बारहवी सदी के जीवन में कोई विशेष अंतर नहीं था।

गाहड़वाल युग में लोग शहरों में तो शायद अच्छे पक्के मकानों में रहते थे पर ग्रामीणों को तो कच्चे घरों ही का भरोसा था और उसे ठीक ठाक रखने में उन्हें काफी परिश्रम भी करना पड़ता था। एक उदाहरण 'वर्षाकालं भीतिं विसम' (३६।११) से पता चलता है कि बरसात में घरों की भीतों के गिरने का भय रहता था। एक दूसरे उदाहरण 'पुराण लेउ उकिल' (३७।१३) से पता चलता है कि पुराना पलस्तर गिर जाता था। इसे गृहस्थ को बराबर ठीक करते रहना पड़ता था। आज दिन भी बरसात के पहले घर छाना आवश्यक समझा जाता है। बारहवीं सदी के भी गृहस्थ, जैसा दो उदाहरणों 'कुडुम्बि घरू छाअ' (३९।६) और 'घर छाअ' (४२।९) से पता चलता है, अपने घर छाते थे। अपने सादे घरों में सुन्दरता लाने के लिये वे द्वारों को सजाते थे, 'दुआर मांड' (४०।२२), चौक पूरते थे, 'चौकु पूर' (४१।४) और उसकी दीवारों पर चित्र लिखते थे 'चित्रु रच' (४१।१३)।

घर गृहस्थी का सब काम खुद ही करना पड़ता था। इन नित्य के कामों में कुछ पर हमारा ध्यान उक्तिव्यक्ति प्रकरण ने दिलाया है। जैसे सूप से अन्न पछोरना 'सूपे पच्छोड' (३४।२०), खटिया बिछाना 'खाट डास' (४९।२७) इत्यादि। घर का सबसे मुख्य काम तो रसोई बनाना था। खुशहाल घरों में रसोइये इस काम को संभालते थे, साधारण घरों में घर की स्त्रियाँ खाना बनाती थीं, और छुआछूत के झगड़े के कारण विद्यार्थी और पंडित भी खाना बनाना जानते थे।

'काठहू स्यालि ओदन सुआर पच' (१३।२१) से पता चलता है कि रसोइये को भात बनाते समय ईंधन और बटलोही की आवश्यकता पड़ती थी। एक प्रश्नोत्तरी में (२१।१६–१३,२२।१) उस युग के रसोइये का और उसके द्वारा बनाए गये खानों का अच्छा वर्णन है—'अहो काह ए सुआरे बेंटलि किएं रांध', अहो, सिर पर कपड़ा बांधे रसोइया क्या खाना बना रहा है? 'पुप' पूआ। फिर एक स्त्री को खाना बनाते देखकर प्रश्नकर्ता पूछता है, 'ए जोइ काह इहां रांध?', यह युवती यहां क्या भोजन बना रही है? व्यंजन। अब प्रश्नकर्ता की निगाह रसोई घर के कहार पर जाती है—'ए कहार कहा संपाडति' यह कहार क्या काम कर रहा है? 'इंधण पाणि'–वह ईंधन पानी का जोगाड़ कर रहा है। अब प्रश्नकर्ता का ध्यान भोजन करने वालों पर जाता है, 'काह जेंवित आच्छ?' लोग क्या खा रहे हैं? 'घिए सांकरे सेउं सातु? कृस(श)रा वा, पायसं वा,' घी शक्कर के साथ सत्तू, खिचड़ी अथवा खीर।

उक्तिव्यक्ति प्रकरण में भोजन बनाने के इतने उल्लेख आये हैं कि जिनसे पता चलता है कि लोगों का पाकशास्त्र पर पूरा ध्यान था। पर साथ ही साथ छुआछूत का बखेड़ा और ब्राह्मण भोजनों की अधिकता भी थी। एक उदाहरण में कहा गया है—'को ए रांध? यहाँ खाना किस लिए बना रहा है? केइं ताहां जेउंव?' यहाँ कौन जेंवेगा? झट उत्तर मिलता है 'ब्राह्मण' (२१।४–७)।

तत्कालीन रसोई घर का सुंदर वर्णन निम्नलिखित श्लोक में दिया गया है।

सूपकर्ता स्थितः पीठे चुल्ल्यां स्थाल्यां महानसे
ज्वलद् वह्नौ तप्ततोये मध्याह्ने तण्डुलान् पचेत् (२४।३–४)

रसोइया रसोईघर में पीढ़े पर बैठकर चूल्हे में आग जलाकर तसली में गरम पानी करके दोपहर में भात बना रहा है।

आज की तरह उस समय भी लोगों का प्रधान खाद्य चावल था। पूड़ी पर भी लोगों की विशेष रुचि थी। एक उदाहरण में 'पोली पाचं' (१६।६) अर्थात् पूड़ी बनाने की बात कही गयी है। एक दूसरे उदाहरण, 'पोलि उलट पलट' (४३।१९) से पता चलता है कि कढ़ाई में उलट पलट कर पूड़ी उतारी जाती थी। सतुआ भी लोगों का प्रिय खाद्य था। लोग घी शक्कर मिला कर उसे खाते थे। आज की तरह बारहवीं सदी में भी लोग सतुआ सान कर उसका पिंड बना लेते थे (४०।३)। एक कहावत 'सातु वान त पुणि सान' (४५।१५) से पता चलता है कि अगर सत्तू एक बार ठीक से न सने तो उसे पुनः सान लेते थे। लोग खिचड़ी और खीर भी विशेष रूप से पसंद करते थे। चना चबैना भी लोगों का प्रिय खाद्य था। एक उदाहरण 'बहुरी भून' (४७।२५) से पता चलता है कि चबैना पर लोग गुजर कर सकते थे। पर लोगों को मिठाइयाँ प्रिय थीं। एक उदाहरण 'मीठ जेवण मांग' (४२।२७) से पता चलता है कि खाने में अगर मिठाइयाँ मिल जातीं थी तो फिर क्या कहना था। खूब डट कर भोजन करने के बाद, जैसा एक उदाहरण 'अनाजु जेंव, पाणि अचम' (४५।१७) में कहा गया है, लोग पानी कम पीते थे शायद इसलिये कि पानी पीने से पेट में कहीं अन्न के लिये जगह ही न रह जाय।

उक्तिव्यक्ति प्रकरण से यह पता चलता है कि बनारस के लोग केवल साग-पात ही पर गुजर नहीं करते थे मांस का भी उन्हें शौक था। दो उदाहरणों में मांस पकाने की विधि पर प्रकाश पड़ता है। 'आलें लागें पाली ढांकां हांड़ी मांसु चुड' (३८।९) अर्थात् आग लगने पर ढक्कन से हांड़ी ढांक देने पर मांस चुरता है। 'चूकें मांसु चुडाव' (३९।१) से पता लगता है कि चूक देकर मांस पकाने की कोई विधि थी। 'भातं मासं लोण घिउ एतवर्तें केवलें भखागि गलगलाव' (४६।१५) अर्थात् भात, मांस, नमक और घी इनके निवालों से भूख एक दम उद्दीप्त हो उठती है। सीख कबाब का भी लोगों को शौक था। एक उदाहरण 'सलाई मासु गुह' (४९।२०) से पता चलता है कि सलाई में मांस के टुकड़े गूंथ कर सीख कबाब बनता था।

बनारस अथवा पूर्वी उत्तर प्रदेश के उपर्युक्त भोजन पदार्थों से यह न समझ लेना चाहिये कि बारहवीं सदी में उनका भोजन बहुत सादा था। व्यंजनों का अनेक बार उक्तिव्यक्ति प्रकरण में उल्लेख हुआ है। पर उन पकवानों और मिठाइयों के अभाग्य-वश नाम नहीं दिये गये हैं। लोग रोज का भोजन भी अदल-बदल कर के करते थे। एक कहावत 'एकै वथु नित खाजत उबिजा' (३७।३०) से पता चलता है कि एक ही चीज रोज खाने से तबीयत ऊब जाती है।

उक्तिव्यक्ति प्रकरण में आये हुए मुहावरों और कहावतों से तत्कालीन कृषि जीवन पर भी थोड़ा बहुत प्रकाश पड़ता है। खेत की जुताई (४६।१५) तथा फसल होने पर उसकी रखाई (४५।३०) आज की तरह बारहवीं सदी में भी होती थी। 'हालि खेतु पाँस' (३९।१६) से पता लगता है कि हलवाहे खेत पाँसते थे। 'खेतं हंसिएं ब्रीहिं लवितं कमारें' (१३।२२) से पता चलता है कि मजदूर धान के खेत की हँसियों से लवनी करते थे। बैलों को दागने 'बलदहिं कटुं आंक' (४७।२२) की भी बात आती है। जैसा 'राड वलद जोड' (४०।६) से पता चलता है बैलों के रद्दे जोते जाते थे।

उस समय के किसान पानी के लिए कुएँ ओगारते थे—'कूउ गाल,' (४६।१४) और और पोखरियाँ खोदते थे (४९।२२)। इतनी कड़ी मिहनत और सुकाल होने पर खूब अन्न पैदा होता था 'सुकालं अन्नु निफज' (३५।२९)।

गाय पालने का लोगों को शौक था। आज कल की तरह बारहवीं सदी में भी पूर्वी उत्तर प्रदेश में दूध दुहने और गाय पालने का काम ग्वाले बड़ी कुशलता पूर्वक करते थे (५।१४; १३।२७)। अहीर गायों को बागें भी लगाते थे, 'अहिर गोरू वाग मेलव' (३८।२०)। वे गायों को पेन्हाते थे—'गावि पन्हा' (५०।११)। गायें आज कल की तरह खेत भी चर जाती थीं (४५।२२) और तब सब गौ सेवा को ताख पर रख कर लोग उन्हें डंडे से हाँकने में जरा भी आनाकानी नहीं करते थे (१६।२२)।

इस युग में नौकर रखने की प्रथा थी पर उनके साथ काफी कड़ाई का व्यवहार किया जाता था। उक्तिव्यक्ति प्रकरण (२२।३–७) की निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी से स्वामी सेवक के सम्बन्ध पर कुछ प्रकाश पड़ता है: 'पहरे को इहां धरि हृंति राउल ?' तोहिं' पहले यहाँ किसको राउल पकड़ेंगे, तुझको। 'राउलं को धरव,—तुही', आपका पैर

कौन पकड़ेगा—तू । 'विआलि को हउं मागिहउं,' ब्यालू मुझसे कौन माँगेगा—मैं । 'को मै भोजन मागव", मैं किससे भोजन मागूँगा—मुझसे । उपर्युक्त प्रश्नोत्तरी से पता चलता है कि सेवक का कर्त्तव्य हर प्रकार से स्वामी की सेवा करना था और उसे इसके फलस्वरूप भोजन मिलता था । इतना सब करने पर भी 'गीवं धरि पेल' (४६।७) से पता चलता है कि उन्हें अक्सर गरदनियाँ खानी पड़ती थी, और ताड (४८।७) सूत्र के अनुसार सेवक को दण्ड देना स्वामी का कर्त्तव्य माना जाता था ।

दासियाँ घर का काम करती थीं । इनमें मुख्य काम पानी भरना (४९।३१), बरतन माँजना (५०।१५) और बढ़नी से झार बटोर कर कूड़ा फेंकना—'वाढणि वाढ कतवार फेड' (३९।३१) इतना सब काम करने पर भी जब मालकिन नाराज होती थीं तो 'चेडी झोंटे धरि काढ़, (४४।२३) के अनुसार बेचारी की चोटी पकड़ कर निकाल बाहर करती थीं ।

लोग पुत्र जन्म के बड़े इच्छुक होते थे । 'जणे हो सो भाजया जुनु याथि' (१०।७)—वह भार्या किसी काम की नहीं जो पुत्र न जने वाली कहावत से बारहवीं सदी के लोगों की पुत्रोत्पादन की उत्कट अभिलाषा का पता चलता है । एक दूसरी जगह 'घने पूते पाएं सबु को उलस' (३५।१) से पता चलता है कि धन और पुत्र पाने से सबको उल्लास होता था । 'पूतकरें वधावें नाच' (३६।२५) से पता चलता है कि पुत्र जन्म पर बधावे और नाच होते थे । 'जेंम जेंम मा पूतुहि दुलाल, तेंम तेंम दूजणकर हिअ जाल' (३८।१७) वाली कहावत से पता चलता है कि माता अपने पुत्र का बड़ा दुलार करती थी, पर दुष्टों का इससे दिल जलता था । पर इतना सब होते हुए भी एक कहावत 'सो पूतें जणि जाम जो निर्गुणु हो' (१०।८,९) से पता चलता है कि निर्गुणी पुत्रों का पैदा होना लोगों को गवारा नहीं था । 'कुपूतु कुलु लांछ' (४३।११) और 'कुपूतु कुलु पांस' (३९।१६) से भी यही ध्वनि व्यक्त होती है । शायद लड़कियों का पैदा होना लोगों को रुचिकर नहीं था । एक वाक्य 'बहुतु पूत भए; दुइ बेटी भई' (१५।२८,२९) से ऐसी ध्वनि निकलती है । अगर बदकिस्मती से लड़की पैदा हो गयी तो लोग उसे प्यार से रखते थे और सयानी होने पर उसके विवाह की खोज करते थे । अपने पुरोहित जी से वे प्रश्न करते थे, 'ए बेटी काहि देवि' और पण्डित जी झट उत्तर देते थे : "**सजातीयाऽसगोत्राय योग्याय गुणिनेर्ऽथिने, माता पित्रोः पंचसप्तशाखान्तरितजन्मने**" (२२।२७,३०) । वर को सजातीय, असगोत्र, योग्य, गुणी, रईस होना आवश्यक था और माता पिता से उसकी शाखा क्रमशः पाँच और सात पीढ़ी हटकर होनी चाहिये ।

उक्तिव्यक्ति प्रकरण से १२वीं शताब्दी के पूर्वी उत्तरप्रदेश के कुछ आमोद प्रमोदों पर भी प्रकाश पड़ता है । उस समय लोग कहानी कहने और सुनने के शौकीन थे (४१।५) । उस युग में बनारस में कहानी कहने के ढंग का भी एक जगह (१०।१४,१८) रोचक उल्लेख आया है । कहानी इस तरह शुरू होती थी, 'बहुतु राजा एथुं भुइं भय तेहू करिं सभां बहुतु गुणिया भए सूंवति ।' 'तेन्हु मारा कालिदास माघ किरात प्रभृति केतौ एक खाति गए ।' इस पृथ्वी पर बहुत से राजा हुए । उनकी सभाओं में ऐसा

सुना जाता है कि बहुत से गुणी हुए उनमें कालिदास माघ, किरात प्रभृति अनेकों को बड़ी ख्याति मिली। हिन्दी गद्य का यह सबसे पुराना उदाहरण है।

बनारस में आज दिन की तरह भी लोगों को कसरत कुश्ती का काफी शौक था। 'मलाउअ माल अफोड' (३४।१९) और 'माल मालहिं मोड' (३९।२) से पता लगता है कि मल्लयुद्ध में खूब दाँव-पेंच चलते थे। उक्तिव्यक्ति प्रकरण के एक मुहावरे 'गुंदुआ उलाल' (४४।२०) से पता चलता है कि लोग गेंद भी खेलते थे। बच्चों के खेल के बारे में उक्तिव्यक्ति से कुछ अधिक पता नहीं चलता पर उन्हें शायद मिट्टी के बतकों वाले खिलौने विशेष पसंद थे (३४।२५)।

भाँड़ और नक्कालों की भी इस युग में कमी नहीं थी। एक कहावत 'भांडु भंडा अवरहु भंडाव' (४८।४) से पता चलता है कि भांड भंडेरिये किसी की बात मानने वाले नहीं थे। वे कहने से और भी भंडैती दिखलाते थे।

लोगों को तोतों के पालने का भी शौक था और ये तोते मनुष्यों की बातचीत की नकल करते थे। उदाहरण में कहा गया है 'सुआ मणु से जेउ बोल' (५०।२९)।

नचनिएँ-बजनियों की भी कोई कमी न थी। पर इन्हें लोग अच्छी नजर से नहीं देखते थे। एक कहावत में कहा गया है 'नटाव बेटीं नचाव' (५१।६) अर्थात् नट अपनी बेटियों को नचाते हैं। इस कहावत में शायद बनारस के गंधरबों की उस प्राचीन प्रथा की ओर संकेत है, जिसके अनुसार वे अपनी बेटियों से नचाने गाने का काम करवाते हैं, पर पतोहुओं के साथ उनका व्यवहार पूरा गृहस्थों की तरह होता है।

जान पड़ता है उन दिनों बनारस और पूर्वी उत्तरप्रदेश में कठपुतली का तमाशा भी लोगों के मनोरंजन का एक साधन था। 'पुतली खेलाव' (५२।१७) से इसी ओर इशारा जान पड़ता है।

लोगों में जुआ खेलने का भी दुर्व्यसन था। 'जुवआरिहि सउजिण जुआरु' (४५।२४) से बनारस के जुआरियों की ओर संकेत है।

खास बनारस शहर के बारे में तो कुछ अधिक नहीं कहा गया है पर 'संडासी चूडा उनाड' (४९।५) से पता चलता है कि शहर के नलों की गंदगी आज जैसी ही थी।

उक्ति व्यक्ति प्रकरण में आयी कहावतों और मुहावरों से पता चलता है कि बनारस शहर और देहात में चोरों और लुच्चों की कमी कहीं थी। एक सूत्र में सब तरह के चोरों की व्याख्या की गयी है—'वलिअ परा धनु जो (को ?) चोड (र) गांठि छोड़, कांड अच्छोड, पहारी चोरहि लौंडें कूट' (३८।२८-३०) अर्थात् बलवान दूसरे का धन चोरी करता है। चोर लोगों की गांठ काटता है। प्रहरी चोर को लाठी से पीटता है। जान पड़ता है इन बदमाशों से लोगों की रक्षा करने के लिए पहरुए होते थे (२१।२४)। पकड़े जाने पर चोरों को खूब मार पड़ती थी। एक कहावत में कहा गया है 'मारित चोरु निसता', अर्थात् पिटने पर चोर निःसत्त्व हो जाता है (३५।७)। चोर रात में चोरी करते थे—'अंधारी राति चोरु ढूक' (३५।१३)। लुटेरे देश को लूटने के लिये सर्वदा

तैयार रहते थे—'देसु लूड लंबडु' (४०।१८)। इतना ही नहीं वे लोगों को जान से मार कर उनकी लाशें गढ़ों के नीचे दबा देते थे—'गाडं घाति तोप' (४५।१)। धूर्त और लुच्चे देहातियों को तो विशेष तरह से अपना शिकार बनाते थे—'धूतु गमारहि अकल' (४१।८)। इन अनाचारियों का इतना उपद्रव था कि इनसे मूसे जाकर विचारे दुखी जन कांख उठते थे—'चोरें मूठ दुखिआ कांख' (३४।२९)। पर कुछ सफेद-पोश चोर चोरी की रकम से प्रसन्न ही होते थे—'मोंसें पाएं सुखिआ तूस' (३४।३०)। इन चोरों और ठगों की वजह से बनारस का नाम बारहवीं सदी में बदनाम हो चुका था और हेमचन्द्र को 'वाराणसी ठगानां स्थानं' कहना पड़ा था।

बनारस के साधारण जन भी कुछ वैद्यक में दखल रखते थे। जान पड़ता है, नहरुए की बीमारी से अक्सर पीड़ित रहते थे—'नहरुएं खोड' (३४।२७)। खाँसी और बलगम से भी लोग परेशान रहते थे—'सेफें खुह खुह कर' (३६।१)। लोगों को मालूम था कि पारा किसी से सिद्ध नहीं हो सकता था (३६।३१)। लोगों को कुछ घरेलू नुस्खे भी मालूम थे—'मृदकोठहि हरडहि विरेक, तेदूं सो ताहि साङ्क' हूँ (४७।२०), कोमल कोठे वाले को हर्रे से विरेचन होता है उससे भी उन्हें शंका है। सम्भवतः बनारस में चीर-फाड़ करनेवाले भी थे—'सथ वेद कान जोड़' (४०।६) अर्थात् शल्य वैद्य कान जोड़ सकते थे।

१०. व्यवसाय

भारतीय इतिहास के और दूसरे कालों की तरह बारहवीं सदी में भी बनारस शहर में बनियों का बोलबाला था। पैसे की तो इनके पास कभी-कमी होती ही नहीं थी—'वणिएं कर धणु घर' (१४।२०)। बनिया व्यापार में भी गहरी रकम पैदा करता था—'वणिजें धन अर्ज्जे' (४३।१६)। लोग कहते थे 'वणिएं करे कवडा निखेव' (५१।८), बनिये के यहाँ कौड़ी की खोज कितनी मूर्खता है।

किराने के छोटे-छोटे व्यापारियों को 'केण' (क्रयाणक) कहते थे (३९।८) और संभवतः ये मसाला, गल्ला और फुटकर चीजें बेंचते थे—'केणे विकण' (४५।८)।

बनियें देनलेन का काफी खूब जोरों से काम करते थे। इसका एक सुन्दर चित्र हमें इस प्रश्नोत्तरी से मिलता है—'मीत काहां हुंत एतें कालें? ववहरेकरिं कांटीं। कैसें तौ तो छूटेसि? मीत कर लइदेइ (२३।१६–१८)'—मित्र, अब तक तुम कहां थे? महाजन के यहां। तो तुम छूटे कैसे? मित्र से उधार लेकर देने पर। उपर्युक्त प्रश्नोत्तरी से पता चलता है कि लेनदेन में बनियें काफी सख्त होते थे।

गाहडवाल युग में चलने वाले साधारण सिक्के का नाम भी आया है इसे 'गद्याणक' अथवा 'गदिआण' कहते थे (२५।२९)। कौड़ियों की भी छोटे सिक्कों की जगह चलन थी (४१।७)।

बनारस के सुनार चूड़ियाँ बनाने में प्रसिद्ध थे—'उनाड चूडा सोनार' (३८।२४)। ये माणिक्य के जड़ाव का भी काम करते थे—'माणिक जड' (४३।२७)। ये बीज यानी यंत्रों को भी सोने से मढ़ते थे—'बीज सोने मढ' (४४।१२)।

कीमती चीज-वस्तुओं को संजोकर और हिफाजत से रखने वाले कर्मचारी को भंडारी कहते थे। यह बेचारा अपनी पेटियों पर हमेशा ताला चढ़ाए रखता था—'भंडारी पेई ताल' (३९।१७), फिर भी बनारस के बदमाशों से यदा कदा भंडार की लूट हो ही जाती थी—'भंडारू लूस' (४४।११)।

कुछ और व्यवसायों के नाम भी उक्तिव्यक्ति प्रकरण में आये हैं। तेली सरसों का तेल निकालता था—'तेलि सरिसव पेल,' और कभी कभी फूल से बसी हुई तिल्ली से फुलेल भी तैयार करता था—'तिल सोंधे वास' (४०।३१)। माली फूल की मालाएँ गूंथते थे—'फूल गांथ' (४७।१८) और नाऊ बदन की मालिश करता था—'नाउ आंग पीच' (३९।११)। अहेरी जानवरों को उखेड़ता था—'अहेड़ी साउज उखेड' (४३।२५)। शिकार के लिये जाते समय बदन तोड़ना अशुभ माना जाता था—'अहेडें जात बखोड'। (४१।१०) अगर अच्छा शकुन हो गया तो क्या कहना था—'भल सगुनु भल सूच' (४१।९)। केवट नाव चलाने का काम करता था—'केवट नाव घटाव' (३९।७) और उसे पता था कि नाव के थाह में जाने से उसके फंस जाने का डर था—'थाहे नाव उखल' (४६।११)।

बारहवीं सदी बलवानों का जमाना था और जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत उस युग के लिए चरितार्थ होती थी। बलवान जबर्दस्ती गांव बांट लेते थे—'बलाहिर गांउं बांट' (४०।२१)। अगर लोगों ने बहुत जोर मारा तो खेत बंट भी जाता था (४४।१०) और कोई सज्जन मध्यस्थ बनकर चीजों का भी बटवारा कर देते थे—'मधक वथु विभंज' (४१।१६)।

हमें यह पता है कि बनारस बहुत प्राचीन काल से अपने कपड़े के व्यवसाय के लिये प्रसिद्ध था। उक्तिव्यक्ति प्रकरण में आये हुए छिट-पुट उल्लेखों से इस बात की पुष्टि होती है। कपड़ा बेचने वाले यानी बजाज को 'कापडि' (५।१५) यानी कार्पटिक कहते थे। बनारस में पटुए भी होते थे (३९।८)। रुई बनारस में कातने के लिये पींजी और धुनी जाती थी—'रुअ विअहण' (४५।९)। 'कापड झुग' का शायद अर्थ है कपड़ा का ताना फैलाना (४०।१६)। सन की साटी का लोग व्यवहार करते थे (४३-२२)। नये कपड़ों पर माड़ी देने का भी उल्लेख है—'नवकापड गांजु' (४३।१४)। लोगों को घोड़े-हाथियों का शौक था। युक्तिव्यक्ति प्रकरण में बहुत सी ऐसी कहावतों और मुहावरों का प्रयोग है जिनसे घोड़ों की चाल और सजावट पर प्रकाश पड़ता है। 'विडरा घोड उफड' (३४।१७) से पता चलता है कि भागने वाला घोड़ा कभी कभी उखड़ता था और अच्छे घोड़ों की बाग धर का उन्हें सईस चलाते थे—'घोड वागं धरि चाल' (४८।१२)। जान पड़ता है, उत्सवों पर घोड़े-हाथी सजाए भी जाते थे—'घोडे हाथि साज उसज' (४३।९)। हाथी तो खूब ही सजाये जाते थे—'हाथि मांड' (४८।२)।

हमें बारहवीं सदी के बनारसियों की वेष-भूषा के बारे में अधिक नहीं मालूम है पर इतना कहा जा सकता है कि वह सादी रही होगी। युक्तिव्यक्ति प्रकरण से पता चलता है कि स्त्रियाँ चूड़ियाँ और ताटंक पहनती थीं और पत्रच्छेद—'पाताछेद' (४१।१९)

से अपने को विभूषित करतीं थीं। शायद घरों में गूगुल की धूप देने की भी चाल थी (४४।२७)।

११. गाहड़वाल युग का स्थापत्य और साहित्य

इसमें संदेह नहीं है कि गाहड़वाल युग में कला, स्थापत्य और साहित्य की काफी उन्नति हुई। उस युग में संस्कृत साहित्य की क्या प्रगति हुई इसका हमको इतने ही से पता चलता है कि नैषध के रचयिता श्री हर्ष इसी युग में हुए। जान पड़ता है, यह युग संकलन का युग था और इसमें नयी चीजें कम ही लिखी गयीं। भट्ट लक्ष्मीधर के अगाध पांडित्य का प्रमाण उनके कृत्यकल्पतरु से मिलता है, पर इसका सब मसाला पुराणों और स्मृतियों से ही लिया गया है। इसी तरह कला के क्षेत्र में भी गाहड़वाल युग ने कोई नयी चीज नहीं दी पर उसने प्राचीन आदर्शों को बनाये रखने की कोशिश की। इस युग की मुख्य देन है पूर्वी हिंदी का विकास और इसमें साहित्य-रचना। प्राचीन कोशली का गाहड़वालयुग में क्या रूप था यह जानने का अभाग्यवश हमारे पास बहुत कम साधन है पर उक्तिव्यक्ति प्रकरण मिल जाने से इसके बारे में थोड़ा बहुत कहा जा सकता है।

जान पड़ता है, गोविन्दचन्द्र के राज्यकाल में बहुत सी इमारतें बनी होंगी और तालाब खुदे होंगे पर इसमें से अब किसी का पता नहीं है। गोविन्दचन्द्र द्वारा राजसागर तालाब खुदवाने का आँखों देखा वर्णन पंडित दामोदर ने अपने उक्तिव्यक्ति प्रकरण में किया है—'कवण ए छाती तडें राकर सागर ओंडह्न पास खणावन्त आच्छ? सूरपालो नाम राजपुरुषः' (२१।१४–१६)—कौन यह छतरी के नीचे खड़ा होकर ओड़कों से राजसागर खुदवा रहा है? सूरपाल नाम का राजपुरुष। बहुत संभव है कि यह राजसागर चन्दौली तहसील का रायल ताल हो।

गोविन्दचन्द्र देव के समय एक मन्दिर बनने का भी उल्लेख उक्तिव्यक्ति में आया है—'केंहं ए देउलु कराविअ? धनपालेन'—कौन यह मंदिर बनवा रहा है? धनपाल, (२१।१६–१७)। संभवतः धनपाल बनारस का कोई मालदार सेठ रहा होगा। जब उपाध्याय अपने छात्रों के साथ सैर करते हुए अपने छात्रों को राजसागर का खुदना और धनपाल के मंदिर का बनना दिखला रहे थे, उनकी दृष्टि कलचूरि कर्ण द्वारा बनवाये प्रसिद्ध कर्णमेरु पर पड़ी। चेलों ने प्रश्न किया—'हो इह कोउ जो कनमेरुतूलु प्रासादु कराविह? राजा जइ कोउ' (२१।१८–१९), क्या कोई ऐसा होगा जो कर्णमेरु के तुल्य प्रासाद बनवावे? अगर कोई राजा हो। इस प्रश्नोत्तरी से पता लगता है कि कर्णमेरु के समान उस समय बनारस में और दूसरा कोई मंदिर नहीं था और लोगों को यह विश्वास था कि उसके समान दूसरा मंदिर बनवाना कठिन था।

गाहड़वाल अथवा उसके पहले के सब मंदिर बनारस में खत्म हो चुके हैं, पर न मालूम कैसे बनारस शहर में कुछ ही दूर कँदवा का बारहवी सदी का शिवमंदिर पूरी तरह से बच गया है। मंदिर कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर है और इस पर पत्थर में कटी हुई देवताओं की मूर्तियाँ भी आकर्षक हैं।[1]

[1] जे० ए० एस० बी०, ३४, १–१३; ४२, १६३

अलईपुर मुहल्ले के बकरियाकुंड नामक स्थान पर भी गाहड़वाल युग और उसके बहुत पहले के मंदिरों के भग्नावशेष वर्तमान हैं, जिनमें से कुछ को तो मस्जिद का रूप दे दिया गया है। कुंड की उत्तरी ओर एक टीले पर कुछ प्राचीन मंदिरों के पत्थर के बने हुये साज और टूटी फूटी मूर्तियों के भग्नावशेष हैं। उसके पश्चिम में बड़े पत्थरों के एक पीठक पर एक के बाद तीन चबूतरे हैं। सबसे नीचे वाले चबूतरे पर एक मंजिल की बड़े खंभों वाली इमारत है। ऊपरी चबूतरों पर भी इमारतों की नींव दीख पड़ती है। लेकिन उनके नकशे का ठीक ठीक पता नहीं चलता।

गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारदेवी द्वारा बनवाये गये धर्मचक्र-जिन-विहार के भी अवशेष सारनाथ से मिले हैं। इस विहार में एक खुले चौक के तीन ओर कोठरियाँ बनी हुई हैं। चौक के उत्तरी पश्चिमी हिस्से में एक कुआँ है। खुदाई में इस विहार से द्वार शाखा, उतरंग, छज्जे और बहुत से नकाशीदार टुकड़े मिले है जो किसी समय विहार की इमारत में लगे रहे होंगे। इस विहार में उपस्थानभूमि का भी अवशेष मिला है। विहार के अन्दर जाने के लिए चहारदीवारी में फाटक था। इसके कुछ दूर आगे चलकर एक दूसरा फाटक पड़ता था। इन फाटकों पर द्वारपालों के रहने के स्थान भी बने हैं।

गाहड़वाल युग की कला में, जिसके भग्नावशेष से बनारस अब भी भरा पड़ा है, कोई विशेषता न थी। इस काल में निर्मित, शिव-पार्वती, सूर्य, विष्णु, देवी, नवग्रह, गणेश, इत्यादि की मूर्तियाँ हम सारनाथ और भारत कला भवन में देख सकते हैं। इन मूर्तियों को अध्ययन करने से पता चलता है कि कला का व्यावहारिक रूप किस प्रकार हो चला था अर्थात् कला का तात्पर्य केवल धार्मिक जनों के धार्मिक भावों का परितोष ही रह गया था। मंदिरों में देवताओं की स्थापना करके लोग केवल पुण्य लूटना चाहते थे। उन देवताओं में कौन सी आध्यात्मिक शक्तियाँ निहित थी इस पर विचार करने की उन्हें फुरसत नहीं थी। अपने पुरखों को तारना और लोगों में वाहवाही लूटना ही मंदिरों के बनवाने का उद्देश्य रह गया था। इस परिस्थिति में कला का विकास असंभव था। उत्तर भारत में महमूद गज़नवी के आक्रमणों से जो हलचल मची, उसका भी गाहड़वाल कला पर काफी असर पड़ा होगा। मुसलमानों के निरन्तर आक्रमणों के सामने बड़े बड़े मंदिर बनवाने की बात ही नहीं उठती थी। कलाकार भी राज्याश्रय न मिलने से अधिकतर मामूली कामों में लग गये और हजारों की संख्या में ऐसी सस्ती मूर्तियाँ बनाने लगे जिन्हें सभी खरीद सकें। इस प्रवृत्ति से धार्मिक जनों की थोथी धर्मलिप्सा को तो उत्तेजना अवश्य मिली पर कला सर्वदा के लिए निःशेष हो गयी।

१२. गाहड़वाल युग का पूर्वी हिन्दी का साहित्य

उक्तिव्यक्ति प्रकरण से पता चलता है कि प्राचीन कोशली का गाहड़वाल युग में रूप स्थिर हो चुका था पर जान पड़ता है बनारसी भोजपुरी अभी उससे अलग नहीं हुई थी। बनारस के इस प्राचीन लोक साहित्य के बारे में हमें कुछ भी पता नहीं है। भाग्यवश उक्तिव्यक्ति प्रकरण से हमें उस प्राचीन साहित्य की थोड़ी सी झलक मिल जाती है और यह भी पता चल जाता है कि प्राचीन बनारसी साहित्य में लोकोक्तियों का विशेष

स्थान था। ये लोकोक्तियाँ बड़ी सुन्दर स्वाभाविक और कवित्वमय हैं। कभी कभी प्राचीन कोसली की कविताओं की भी एकाध फुटकर पंक्तियाँ आ जाती हैं। इन लोकोक्तियों और कविताओं की पंक्तियों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

सरदं ऋतुं तडसु सोह नदी कर	शरद ऋतु में नदी का तट शोभा पाता है।
यो परहिं वांचु सो पापु सांच	जो दूसरे को ठगता है वही सच्चा पापी है।
दयादु दयादहि झंझाड	रिश्तेदार रिश्तेदार को ही झँझोरता है।
बलिअ दुबलेहि अरोड	बली दुर्बल को सताता है।
बोलत जेंवत जीभ खांड, जमाई आए	खाते समय बोलने से भी जीभ कटती है।
चाउलु कांड	जमाई आने पर चावल कूटना।
भागें बलें बीर पर रहइ	बल भंग होने पर वीर गिर जाता है।
छूट बाछा भमि भमि कूद	छूटा बछड़ा खूब कूदता है।
बडकरी डाल बडरोहि लांब	बड की डाल बड़ी लंबी होती ही है।
पर्वतउ टलथि विसूठुकि बल	बड़े के बल से पर्वत भी टल जाता है।
शिष्ट आपणे बोलेंन चलइ	शिष्ट अपनी बात से हटता नहीं।
मीच्छे बोले काउन रोहइ	झूठ बोलने से कोई नहीं बढ़ता।
जो फुड बोल सो गांग न्हा	साफ बोलना मानों गंगा नहाना है।
जो पूछ सो आच्छ	जो पूछता है वही रहता ह।
अघाण नीचु दर्प	नीच दर्प से अघाता है।
नीचु पर माचे	नीच दूसरे से घृणा करता है।
लोभी अणपावत क्लेसिअ, नित खीज	लोभी बिना पाये क्लेश पाता है और खीजता है।
बिसुठु न चाहा मिलइ	भला आदमी चाहने से नहीं मिलता।
सयाण सबहति व्यापार	सयाने का सब जगह आदर होता है।
जेत जेत पण धनु चोराअ, तेत तेत	जैसे जैसे दूसरे का धन चोरी करता।
आपण पुनु हराव	है वैसे वैसे अपना पुण्य खोता है।
जो पर केंहुं बुरुअ चित सो आपुण केहुं	जो दूसरे को बुरा सोचता है वह।
तैसं मान्त (मन्त ?)*	अपने लिये बुरा सोचता है।
उपरहन्ती काढें तल छड़ पेंदें रह	ऊपर काढ़ने से तलछट पेंदे में रह जाता है।
ओड घरा उबक	गरम घी उफान खाता है।
आगि लागें बांस फूट	आग लगने से बाँस फूटता है।
मर्दे पिएं विसें खाएं ऊणिदे घून	मद पीने विष खाने अथवा निद्रा से उँघाई आती है।
हलुअ वथु पाणि तरंग	हलकी वस्तु पानी पर तैरती है।
चडई पाखे ऊअ बायं उडा	चिड़िया के पर से भी रुई उड़ती है।
ओदे कापडं पाणि गल	गीले कपड़े से पानी चूता है।
निदालुव जात भीति अभिड	निद्रालु चलते हुए भीत से भिड़ जाता है।

जो पूच्छ सो आच्छ	जो पूछता है वही अच्छा है।
घाम घाला उद सुखा	घाम से पानी सूख जाता है।
जोन्हे चकोरे तृप्त हो	चांदनी से चकोर तृप्त होता है।
विचिकित कि मोहिअ	बिदनेवाले को कौन मोह सकता है।
संतुष्टेहि थोडेहि पूज	संतोषी थोड़े में ही तृप्ति हो जाती है।
वारिसं गोवरु ओकिरा	वर्षा से गोबर फैल जाता है।
कांड कवडा उबिड	कानी कौड़ी भी खलती है।
वेदहु खेलणि खेल	चतुर खिलाड़ी खेल खेलता है।
दूजणें सउ सबकाहु तूट	दुर्जन से सब लोग टूट जाते हैं।
नाग लजा	नंगे की लाज।
दुभिखु आघु घटाव, कुआरु नदी ओहटाव	दुर्भिक्ष में पैसा घटता है, कुंवार में नदी घटती है।
हालि खेतु पांस, कुपूत कुलु पांस	खेतिहर खेत पाँसता है और कुपूत कुल।
नइ वाढो काच्छ बोल	नदी बढ़ने से किनारा खिसकता है।
गाउं चला संजव	ठाठ बाट से गाँव चल।
गुडे खरडि हथोली चाट	गुड़ लपेटी हथेली चाटता है।
निलज्जु अगाण वान	निर्ल्लज्ज अपनी बड़ाई करता है।
आपण काज विशेश	अपना ही काम साधना।
पडिआर खांड माअ	म्यान में तलवार डालना।
दूजण सर्बाहि नीद	दुर्जन सबकी निन्दा करता है।
रहसगल कूअऊ लांघ	जल्दबाद कुआं भी लाँघ जाता है।
जिणवे किह सभ्यहि उकोउ	वाद में जीतने के लिए भलेमानस को गाली देना।
कौहावी लट लोंच	क्रोधी बाल नोचता है।
गरुअ तडका कान तोड	भारी कनफूला कान तोड़ देता है।
रूठ पाहुण बहोड	रूठा पाहुन मनाना।
अथिआ समदउ लांघ	अर्थी समुद्र भी लाँघ जाता है।
गढा सीध हुंत माठ	तैयार भोजन मठना।
कलिहारि अंकोस सबहि	कलिहारी जीभ सबको कोसती है।
याचक निकृष्टहि संकोच	याचक निकृष्ट से दूर भागता है।
गिहथहि भीख भिखारि याच	भिखारी गृहस्थ से ही भीख मांगता है।
पइसत निकलत गोरु चोरु चिव	भीतर घुसते और बाहर आते गाय और चोर चूक जाते हैं।
परोटा ईसरहि सोहाव	पर्यस्तक रईस को ही शोभा देता है।
गोडं घरि कूकुर भिति अभेड	गोड़ घर, कुत्ता भीत चढ़ता है।
गोहारि घालि सूत जगा	चिल्लाकर सोते को जगाना।

पन्द्रहवाँ अध्याय

गाहडवाल युग में तीर्थ क्षेत्र वाराणसी

भारतीय जीवन में तीर्थ यात्रा का एक विशेष महत्त्व है। भारतीय तत्वचिंतन का आधार-भूत सिद्धांत है मोक्ष, जिसके फलस्वरूप कर्मक्षय के बाद पुनर्जन्म न होना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शास्त्र विधि के कठिन नियमों का पालन करना आवश्यक है। इनमें पूजा, प्रतिष्ठा और दान इत्यादि आ जाते हैं। पर भारतीय तत्त्वचिंतन और प्रकृति का घनिष्ठ सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से अविछिन्न रूप से चला आ रहा है, जिसके फलस्वरूप ऋषियों ने वन, पर्वत तथा नदियों में ईश्वर का रूप देखा। देवों और मनीषियों की संगति से प्रकृति के उन बाह्य स्वरूपों में एक अजीब आकर्षण आ गया जिससे ऐतिहासिक काल में वे तीर्थरूप में परिणत हो गये। उन स्थानों में मन्दिर बनने लगे, लोक विश्वास में नदियाँ देवियाँ मानी जाने लगीं तथा उनके उद्‌गम दैवी प्रेरणा के द्योतक बन गये। क्रमशः जल न केवल भौतिक शरीर के मलों को ही साफ करने वाला माना गया, उसका सम्बन्ध मानसिक विकारों को दूर करने वाला बतलाया गया तथा नदियों में स्नान पुण्य-संचय तथा कर्मक्षय का प्रतीक बन गया। नदियों तथा ऋष्याश्रमों से निकली हुई ज्योति उनके निकट किये गये कर्मों यथा यज्ञ, श्राद्ध और पिंडदान इत्यादि के फलों को परिपुष्ट करने वाली मानी गयी। हिंदू विश्वास के अनुसार पवित्र नदियाँ संसार को पार करने के लिए घाट के समान है और इसीलिए उनका नाम तीर्थ पड़ा। क्रमशः नदियों का यह फल तीर्थक्षेत्रों और नदियों के किनारे बने देवालयों में भी निहित हुआ तथा देव-दर्शन और नदी-स्नान का पुण्य यज्ञपुण्य के बराबर ही माना गया और वह भी कम खर्च में!

तीर्थयात्रा केवल इस देश में ही नहीं, प्रायः सब देशों और कालों में विद्यमान थी। आधुनिक युग में तीर्थयात्रा का उद्देश्य केवल आध्यात्मिक न होकर ऐहिक-सा होता है। प्राचीन युग में भी कुछ ऐसा ही था और शायद ऐहिकता से मुक्त करने के लिए ही तीर्थ माहात्म्यों की रचना हुई। तीर्थ-यात्रा का फल यज्ञ फल से भी अधिक माना गया क्योंकि यज्ञ में सामग्री और दक्षिणा में काफ़ी खर्च होता था, इसके विपरीत तीर्थयात्रा में कम तथा उसमें शूद्र, स्त्रियाँ, विधवाएँ, चारों आश्रम के लोग, अग्निहोत्री इत्यादि यहाँ तक कि सब धर्मों से वहिष्कृत चण्डाल तथा समाज के सब प्राणी समान भाव से भाग ले सकते थे।

कुछ तीर्थमाहात्म्यों में तो यहाँ तक कहा गया है कि तीर्थों में गम्यागम्य सम्बन्धी नियम दूर हो जाते हैं। प्राचीन काल में तीर्थ-यात्रियों से कोई कर वसूल नहीं किया जाता था तथा उनकी मदद के लिए लोग धर्मशालाएँ तथा घाट बनवाकर, रास्तों में वृक्षा-रोपण करके तथा अन्नसत्र चलाकर उनके पुण्य में भागी होते थे।

पुण्य-स्थल होने से पापी पुण्यात्मा सभी को समान रूप से तीर्थयात्रा विहित थी। इसके फलस्वरूप तीर्थयात्रा अपराधियों के अड्डे बन गये जैसा कि वाराणसी के इतिहास से

पता चलता है। तीर्थयात्रियों के वेष में गुप्तचर तीर्थों में इसलिए भेजे जाते थे कि वहाँ जाकर वे विद्रोहियों, शत्रुओं और चोरों का पता लगावें। सड़कों पर तीर्थयात्रियों की रक्षा में भी राज्य का काफी खर्च होता था पर उस खर्च का कुछ हिस्सा तीर्थों के व्यापारियों पर लगने वाले कर से वसूल हो जाता था। तीर्थयात्री ताम्र मुद्रा, ताम्र कंकण तथा काषायवस्त्र से भूषित होते थे। पर यह वेष बहुधा ठग भी धारण कर लेते थे। वायु-पुराण के अनुसार अश्रद्धालु, पापी, नास्तिक, छिन्नसंशय और हेतुनिष्ठ तीर्थफल के भागी हो सकते थे।

तीर्थफल का पुण्य यज्ञपुण्य के समान ही माना गया है पर यह पुण्य तीर्थों की महिमा के अनुसार कुछ कम अथवा कुछ अधिक होता था। एक मत से यज्ञकर्म ही इहलोक और परलोक को साधने वाला माना गया है पर दूसरे मत के अनुसार वह बिना श्रद्धा के संभव नहीं था। उसी तरह तीर्थयात्रा भी बिना श्रद्धा के फलदायक नहीं हो सकती, उसके लिये दृढ़ संकल्प की आवश्यकता थी तथा रास्ते की कठिनाइयाँ, जैसे पैदल यात्रा, उपवास इत्यादि केवल उस संकल्प की द्योतक थीं। तीर्थस्नान इत्यादि तो तीर्थ यात्रा के बाह्य उपकरण मात्र थे। परमानन्द की प्राप्ति तो यात्रियों का आत्मचिंतन और निर्विकार भाव था। इसीलिए मन तथा सात्त्विक गुणों को भी तीर्थ माना गया है। बिना मनःशुद्धि के तीर्थ यात्रा बेकार है। हृदय से शुद्ध तथा ज्ञानपूत व्यक्ति को ही परमगति प्राप्त होती है। गोविन्दचन्द्र देव के मन्त्री लक्ष्मीधर ने कृत्य कल्पतरु के तीर्थ विवेचन खंड[1] में तीर्थयात्रा सम्बन्धी इसी मत की संपुष्टि की है।

तीर्थयात्रा की फलश्रुतियों से तो ऐसा पता चलता है कि तीर्थ मानो ऐसे जादू हैं जिनसे मनुष्य तुरत भवबन्धन से छूट जाता है, पर बात ऐसी नहीं है। इन्द्रिय-निग्रह, योग, तप, शुद्धाहार, ब्रह्मचर्य, व्रत-नियम इत्यादि पुराणों के अनुसार मुक्ति के साधन माने गये हैं तथा मनःशुद्धि के लिए श्रवण, मनन और ध्यान। तीर्थयात्रा भी इन्हीं नियमों के मानने से फलदायिनी हो सकती है। पुराणकारों का यह विश्वास था कि क्रियाओं में दृढ़ विश्वास ही ऐहिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति का साधन है। तीर्थों में देवऋण पितृऋण और ऋषिऋण से मुक्ति मिलती है। वहाँ होम, पूजा, यज्ञ, ऋषितर्पण, पितृतर्पण, वेदोच्चार, पिंडदान और श्राद्ध का विशेष महत्त्व शायद इसीलिए माना गया है कि ये कर्म तीर्थों में घर की अपेक्षा अधिक निश्चिन्तता पूर्वक और श्रद्धा पूर्वक किये जा सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि लोक विश्वासों के फलस्वरूप तीर्थयात्रा की महिमा वास्तविकता छोड़कर आकाश में पहुँच गयी पर भट्ट लक्ष्मीधर के पौराणिक उद्धरणों से तो पता चलता है कि तीर्थफल उन्हें ही मिलता है जो नित्य भौम और मानसी तीर्थों में अवगाहन करते हैं। एक दूसरे उद्धरण से पता चलता है कि जो यात्री काम, क्रोध और लोभ को त्याग कर तीर्थयात्रा पूरी करता है, उसके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं। जो तीर्थ अगम्य और विषम हैं वे ध्यान मात्र से उपलब्ध हो जाते हैं। तीर्थों में केवल शुद्धात्माओं को मुक्ति मिलती है, ढोंगी और पापियों को नहीं।

---

[1] तीर्थ कल्पतरु, तीर्थ विवेचन खंड, बड़ोदा, १९४२

भारतीय विचारधारा में तीर्थों की परम्परा काफी प्राचीन मालूम पड़ती है और इसका आरम्भ वैदिक काल से होता है, जिसमें जल को पवित्र और जीवनदायिनी शक्ति युक्त माना गया है। ऋग्वेद काल से ही नदियाँ देवतुल्य मानी जाने लगीं। एकांत स्थान होने से उनके सान्निध्य में तप और ध्यान करने की सुगमता पर विशेष ध्यान देने पर जोर दिया गया। गौतम (१९।१५) ने नदियों के सम्बन्ध में तीर्थ शब्द का प्रयोग किया है तथा कुछ नदियों और ह्रदों के जल में पूतदायिनी शक्ति माना है (गौतम, २०।१०)। विष्णु स्मृति (३०।६) में तीर्थयात्रा का फल अश्वमेध यज्ञ के समान माना गया है तथा एक दूसरी जगह (विष्णु, ५।१३१) पुष्करादि तीर्थों में यज्ञ, तप, पिंड और श्राद्ध की महत्ता बतलायी गयी है तथा गंगा जल (विष्णु, ५३।१७) की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार की गयी है। गंगा में अस्थि प्रवाह पुण्यदायक माना गया है। विष्णुस्मृति (१९।१०।१२) में गंगा तथा कुरुक्षेत्र की यात्रा पुण्यदायिनी कही गयी है। बृहस्पति स्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति ने गया श्राद्ध के महत्त्व पर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। आश्वलायन (१२।६) और लाटयायन (१०।१५ इत्यादि) श्रौतसूत्रों में सरस्वती के किनारे यजन-याजन का महत्त्व बतलाया गया है तथा कात्यायन श्रौतसूत्र (२४।१०) के अनुसार सत्र समाप्ति के बाद यमुना अथवा कारपचा में स्नान फलदायक बतलाया गया है।

रामायण तथा महाभारत में भी तीर्थयात्रा पर प्रकाश डाला गया है। रामायण में मध्यदेश की नदियों तथा जिन नदियों के किनारे राम पहुँचे, तथा सेतुबंध के तैर्थिक महत्त्व का उल्लेख है। महाभारत में बलराम, पांडव और अर्जुन तीर्थयात्रा करते हैं तथा पुलस्त्य, लोमश, धौम्य और अंगिरस् तीर्थयात्रा-फल वर्णन करते हैं। वनपर्व (अध्याय, ७८-१५८) का नाम ही तीर्थ-यात्रा पर्व है।

पुराण और उपपुराण तो तीर्थस्थल और क्षेत्र माहात्म्यों से भरे पड़े हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि लक्ष्मीधर अग्नि, भागवत, गरुड़, कूर्म, नारदीय, शिव और सौर पुराणों का उल्लेख नही करते। वे अपने विचार अधिकतर आदित्य, देवी, कालिका और नारसिंह उपपुराणों के आधार पर प्रकट करते हैं। श्री आयंगर[1] की राय में वे कुछ तीर्थों का वर्णन करते हैं और बाकी को छोड़ देते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि वे कुछ तीर्थों को अधिक पवित्र मानते थे और बाकी को नहीं। यह भी संभव है कि पुराणों के जो पाठ उनके सामने थे उनमें वह सामग्री नहीं थी जो अब मिलती है।

तीर्थ-प्रकरण में तो वाराणसी तीर्थयात्रा सम्बन्धी सामग्री भरी पड़ी है जिसकी जाँच-पड़ताल से यह पता चल जाता है कि पुराणों के आधुनिक संस्करणों में कौन-सी बात परवर्ती है। उदाहरण के लिए बनारस की पंचक्रोशी का लक्ष्मीधर ने कहीं उल्लेख नहीं किया है पर स्कंदपुराण के पिछले सौ बरस के कई संस्करणों में उसका उल्लेख मिलता है।

निबंध के रूप में तीर्थयात्रा सम्बन्धी उल्लेखों का चयन सबसे पहले लक्ष्मीधर ने किया। ऐसा जान पड़ता है कि गाहडवाल युग में पौराणिक हिंदू-धर्म और अधिक मजबूत हो गया। गोविन्दचन्द्र की राज्य-सीमा में ही अधिकतर तीर्थ थे, इसलिए एक ऐसे

[1] कृत्यकल्पतरु, तीर्थ विवेचनखंड, पृ० ४३

निबन्ध की आवश्यकता पड़ी जो उन तीर्थों के धार्मिक महत्व लोगों के सामने रख सके। हर एक तीर्थ में स्नान, संकल्प, प्रार्थना, दान, जप, पूजा तथा पिंडदान, तर्पण तथा श्राद्ध फलदायक माने गये। गंगाजल और मृत्तिका में अलौकिक गुणों की कल्पना की गयी तथा काशी की गलियों में झाड़ू लगाना पुण्य-कर्म माना गया। गंगाजल में अस्थि-प्रवाह मृत व्यक्ति के मोक्षका कारण बना। काशी में आजन्म प्रवास मुक्ति दायक था। यह विश्वास यहाँ तक बढ़ा कि पुराणों के अनुसार पत्थर से पैर तुड़वाकर काशी में बस जाना चाहिए। पुराणों ने आत्मघात को महापातक माना है पर सती, प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम पर डूब मरना, रोगग्रस्त तथा वृद्ध शरीर का उपवास, डूबने, पर्वत और अग्निपात से आत्मघात, ये महापातक की श्रेणी में नहीं आते।

लक्ष्मीधर के निबन्ध में तीर्थों में काशी का स्थान प्रथम माना गया है इसका यही कारण नहीं है कि यह गाहड़वालों की राजधानी थी क्योंकि बारहवीं सदी तक तो काशी भारत का प्रधान तीर्थ बन चुकी थी। अल् बेरुनी के अनुसार ग्यारहवीं सदी के आरम्भ में भारत के सब भाग से यहाँ साधु इकट्ठा होते थे। कुट्टनीमत के अनुसार आठवी सदी में भी वाराणसी का वही रूप था जैसा कि बारहवीं में। राजघाट से मिली गुप्तयुग की मृण्मुद्राएँ भी काशी के तीर्थरूप को प्रकट करती है। गाहड़वाल सम्राट् अपने को काशी का अधिपति मानने में गौरव मानते थे। वैष्णव होते हुए भी उनके अनेक दानपत्र शैव मन्दिरों से जैसे देवेश्वर, त्रिलोचनेश्वर, अघोरेश्वर, कृत्तिवासेश्वर, इन्द्रेश्वर, ओंकारेश्वर इत्यादि सम्बन्धित हैं। दसवीं सदी के दक्षिण भारतीय शिला लेखों से पता चलता है कि काशी में गो-ब्राह्मण वध से बढ़ कर कोई दूसरा पाप नहीं था।

काशी अथवा वाराणसी कब से पवित्र क्षेत्र मानी गयी इसका तो ठीक पता नहीं चलता क्योंकि बौद्ध साहित्य में तो इसके राजनीतिक और व्यापारिक पहलुओं पर तथा काशी प्रदेश में प्रचलित यक्ष और नागपूजा के ही विशेष उल्लेख हैं। काशी की व्युत्पत्ति मनु के पौत्र पुरुरवा से सातवीं पीढ़ी में उत्पन्न काश से मानी जाती है। इसी वंश में वैद्यक शास्त्र के अधिष्ठाता धन्वन्तरि हुए। कौशीतकी उपनिषद् में (एस० बी० ई०, १।३००-७ १५,१००-५) काशी के दार्शनिक राजा अजातशत्रु का उल्लेख है। हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र (२।७।१०।७) में विष्णु, रुद्र, स्कन्द और ज्वर के साथ-साथ काशीश्वर की पूजा का भी उल्लेख है। इस उल्लेख के आधार पर शायद कहा जा सकता है कि ईस्वी पूर्व पाँचवीं सदी में बनारस में शिवपूजा प्रारम्भ हो चुकी थी। ज्वर की पूजा से हमारा ध्यान अथर्ववेद (पैप्पलाद शाखा, ५।२२।१४) के उस उल्लेख की ओर आकृष्ट होता है, जिसमें काशी, मगध और गंधार में मलेरिया के चले जाने की बात आयी है। लगता है उस युग में वे प्रदेश मलेरिया से पीड़ित रहते थे। मनु (२।२१) के अनुसार मध्यदेश प्रयाग ही तक सीमित था तथा काशी उस प्रदेश के बाहर पड़ जाती थी। महाभारत (वनपर्व, ८१) के एक ही श्लोक में काशी का उल्लेख आया है। इसके अनुसार यात्री कोटितीर्थ से वाराणसी पहुँचते थे और वहाँ शिवपूजा करके कपिलह्रद में स्नान करके अश्वमेध का पुण्य लूटते थे। उसके बाद वे गंगा-गोमती के संगम पर स्थित मार्कण्डेय तीर्थ की यात्रा करते थे।

पर इसमें सन्देह नहीं कि पौराणिक धर्म की अभिवृद्धि और शैव धर्म के प्रसार से काशी की महत्ता का प्रचार हुआ।

गाहड़वाल युग में वाराणसी राजधानी हो गयी; फलस्वरूप काशी की धार्मिक महत्ता और भी बढ़ी। लक्ष्मीधर ने अपने निबन्ध में इसी महत्ता को और बढ़ाचढ़ा कर दिखलाया है तथा बनारस के करीब तीन सौ चालीस मन्दिरों का उल्लेख किया है। जो मन्दिर बारहवीं सदी के बाद बने उनके उल्लेख नारायण भट्ट और मित्र मिश्र ने किये हैं। शिव की राजधानी में शिव परिवार का भी होना आवश्यक है, इसीलिए इसमें अनेक नामों वाली पार्वती, नन्दी, विनायक और भैरव आ गये हैं। लक्ष्मीधर जिस प्राचीन लिंगपुराण को उद्धृत करते हैं उसके अनुसार देवताओं, देवियों, नागों, असुरों और ऋषियों में काशी में शिव मन्दिर स्थापित करने की होड़-सी लगी थी। समयान्तर में उन मन्दिरों में स्थापकों की पूजा भी होने लगी।

लक्ष्मीधर द्वारा उद्धृत लिंगपुराण के विवरणों की बाद के पौराणिक विवरणों (काशी खंड, ब्रह्मवैवर्त) से तुलना करने पर यह बात साफ हो जाती है कि १६ वीं सदी के लेखकों ने किस तरह प्राचीन मन्दिरों के नये उद्देश्य दिखलाने के प्रयत्न किये। इसके दो कारण थे। पहला कारण यह है कि बनारस के प्रति ममता होने से तथा लोगों के सुदूर तीर्थों में जाने की अरुचि के कारण पुराणकारों ने बनारस में ही उन तीर्थों के पर्याय-वाची तीर्थ ढूढ़ निकाले। उदाहरणार्थ अस्सी संगम पर गाहड़वाल युग में लोलार्केश्वर शिव का मन्दिर था। काशीखण्ड ने इस कल्पना को प्रस्तारित करके काशी में द्वादश आदित्यों की कल्पना कर ली। उसी तरह जहाँ लिंगपुराण में पाँच विनायकों का उल्लेख है काशीखण्ड में उनकी संख्या छप्पन तक पहुँच गयी है। देवमन्दिरों की संख्या किस तरह बढ़ रही थी इसका पता इसी बात से चलता है कि लक्ष्मीधर के समय में इनकी संख्या तीन सौ पचास थी, प्रिंसेप के समय इनकी संख्या एक हजार हो गयी, और १८६८ ईस्वी में जब शेरिंग ने अपनी पुस्तक लिखी इनकी संख्या सोलह सौ चौवन तक पहुँच गयी।

लक्ष्मीधर के तीर्थविवेचन खण्ड और १५ वी से १७ वीं सदी तक के तीर्थ माहात्म्यों के तुलनात्मक अध्ययन से कुछ विशिष्ट तथ्यों का पता चलता है। लक्ष्मीधर के उद्धरणों में काशी का नाम एक बार आया है और वह भी अविमुक्त और वाराणसी के संबंध में। काशीखण्ड इत्यादि में विश्वेश्वर को ही बनारस का प्रधान देव माना है। अविमुक्त की दो व्युत्पत्तियाँ दी गयी हैं। लिंगपुराण के अनुसार पाप (अवि) मुक्त होने से ही नगरी का नाम अविमुक्त क्षेत्र पड़ा। मत्स्य के अनुसार इस क्षेत्र से शिव के कभी अलग न होने से ही उसका नाम अविमुक्त पड़ा। आधुनिक संकल्पों में आनन्दवन का नाम आता है पर लक्ष्मीधर ने इसका उल्लेख नहीं किया है। बनारस में आज दिन पंचतीर्थी की स्नान विधि है पर लक्ष्मीधर के समय में पंचतीर्थी की तरतीब दूसरी ही थी।

प्राचीन साहित्य और अभिलेखों में काशी में अविमुक्तेश्वर शिव की ही प्रधानता थी पर मुगल युग और उसके कुछ पहले ही यह नाम बदल कर विश्वेश्वर हो गया। लक्ष्मीधर

(पृ० १२१–१२३) के समय में विश्वेश्वर का मंदिर अवश्य था पर उसमें कोई विशेषता नहीं थी। उस समय प्रधानता तो अविमुक्तेश्वर के स्वयंभू लिंग की थी (पृ० ४१)। विश्वेश्वर का दो बार उल्लेख हुआ है। एक जगह वह अविमुक्तेश्वर का विशेषण है (पृ० २०) और दूसरी जगह उसकी गणना साधारण लिंगों में की गयी है (पृ० ९३)। वाचस्पति मिश्र के समय (१५ वीं सदी) विश्वेश्वर और अविमुक्तेश्वर का एकत्व मान लिया गया था। तीर्थ चिंतामणि (पृ० ३६०) में कहा गया है कि अविमुक्तेश्वर ही लोक में विश्वनाथ नाम से प्रसिद्ध हुए, पर नारायण भट्ट और मित्र मिश्र दोनों ही वाचस्पति के मत से सहमत नहीं। उनके अनुसार पद्म पुराण, ब्रह्मवैवर्त और काशीखंड में दोनों लिंग पृथक् माने गये हैं; तथा अविमुक्तेश्वर को आदि लिंग माना गया है। नारायण भट्ट और मित्र मिश्र दोनों ही स्वयंभू लिंग को विश्वेश्वर मानते हैं। दोनों ही के मत से मुसलमानों द्वारा काशीध्वंस होने पर वह लिंग नष्ट हो गया। साधारणतः स्वयंभू लिंग के स्थान पर साधारण लिंग की पूजा विहित नही है, पर शिष्टों द्वारा नया लिंग गृहीत हो जाने पर वह पूजा जाने लगा। इसमें भी संदेह नही कि आज दिन जहाँ विश्वनाथ का मंदिर है वहाँ कभी भी अविमुक्तेश्वर अथवा विश्वेश्वर का मंदिर नहीं था क्योंकि तीर्थ विवेचन के अनुसार अविमुक्त का स्थान बनारस के उत्तर में था।

लक्ष्मीधर ने मणिकर्णिका कुंड का उल्लेख किया है पर उसमें स्नान आज कल की तरह किसी विशेष पवित्रता का द्योतक नहीं था। दशाश्वमेध को तीर्थ और मंदिर दोनों ही माना गया है। लक्ष्मीधर ने पंचक्रोशी का कहीं उल्लेख नहीं किया है। लगता है बारहवीं सदी के बहुत बाद इस कल्पना का उदय हुआ होगा। लक्ष्मीधर ने मुक्तिमंडप, शृंगारमंडप, ऐश्वर्यमंडप, ज्ञानमंडप, ज्ञानवापी, मंगलागौरी, भवानी, शूलटंक तथा विदार, लक्ष्मीनरसिंह, गोपीगोविंद और किणोवराह के वैष्णव मंदिरों का उल्लेख नहीं किया है। कालभैरव मठ का कहीं उल्लेख नहीं है पर भैरव चित्रपट की पूजा करके जल मरने की बात का उल्लेख है। विशालाक्षी को शिव की रानी कहा गया है तथा मुखप्रेक्षणी ललिता के एक मंदिर का भी उल्लेख है।

लक्ष्मीधर द्वारा उद्धृत पुराणो में काशी में अनशन से, डूबकर तथा अग्निपात से आत्मघात की बात आयी है। पर इस क्षेत्र में इसकी कोई आवश्यकता नही मानी गयी है क्योंकि पौराणिक विश्वास था कि अंत समय स्वयं शिव मुमूर्षु को तारक मंत्र का ज्ञान देते हैं जिसके फलस्वरूप मुक्त होकर प्राणी पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता पर ऐसी मुक्ति केवल नगर के भीतर ही उपलब्ध है, उसके बाहर नही।

कृत्यकल्पतरु के तीर्थ विवेचन खंड का आरंभ मत्स्य पुराण के उद्धरणों (पृ० १२–३०) से होता है। शिव पार्वती से कहते हैं—वाराणसी मेरी प्रिय नगरी है। यहाँ पापी भी मोक्ष पाते हैं तथा सब प्राणियों को मुक्ति मिलती है। यहाँ सिद्ध, नाना तरह के संन्यासी और योगी रहते है। मेरे इस नगरी को न छोड़ने से ही इसे अविमुक्त कहा गया है। स्नानादि से जो मोक्ष नैमिषारण्य, कुरुक्षेत्र, हरिद्वार और पुष्कर में नहीं मिलता, वह यहाँ सुलभ है। यहाँ प्रयाग, महाकाल, कायावरोहण, तथा कालंजर से भी मोक्ष कहीं अधिक सुकर है। मेरे भक्तों में कुबेर, संवर्त, व्यास, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र इत्यादि यहाँ बसते

हैं। इस 'अलर्क की पुरी' में गृहस्थ और सन्यासी दोनों ही मुक्ति पाते हैं। अविमुक्त में आने वाले सब पूर्वसंचित पाप नष्ट हो जाते हैं। यहाँ अग्निपात श्रेयस्कर है। पत्थर से पैर तुड़ा कर भी यहाँ रहना पड़े तो अच्छा। यहाँ ब्रह्महत्या ऐसे पातक तथा संसार बंधन से छुटकारा मिलता है। यहाँ देव सदा भक्तों पर दया करके उनकी मनोकामनाएँ पूरा करते हैं। यहाँ स्वयं शिव अंतकाल में कर्णजाप देते हैं जिससे सब पाप नष्ट हो जाते है। विघ्नों के होते हुए भी जो अविमुक्त क्षेत्र नहीं छोड़ता उसे जन्म, जरा और मृत्यु से छुटकारा मिलता है और उसे शिवसायुज्य मिलता है। जो यहाँ यज्ञ में दान करता है और शिव की पूजा करता है उसे स्वर्ग मिलता है तथा कठिन ज्वरों से उसे छुटकारा मिलता है। यहाँ शाकपर्णाशियों, एक दिन छोड़ कर खाने वालों, मरीचियों, दन्तोलूखलियों तथा अश्मकुट्ट व्रतधारियों, हर महीने कुशाग्र से जल ग्रहण करने वालों, वृक्षमूल में रहने वालों, शिला पर ही सोने वालों तथा और भी व्रत करने वालों को मुक्ति मिलती है। इस क्षेत्र में धर्म के मूर्तिमान स्थित रहने से चारों वर्गों को परम गति मिलती है। जो मनुष्य यहाँ सोने से मढ़ी सींगों वाली, चाँदी से मढ़ी खुरों वाली तथा गले में कपड़े से मंडित गाय का दान वेदपारग ब्राह्मण को करता है उसकी सात पीढ़ियाँ तर जाती हैं। यहाँ ब्राह्मणों को सुवर्ण, रजत, वस्त्र और अन्नदान का महत्त्व है। यहाँ गंगा स्नान से दस अश्वमेध यज्ञों का फल मिलता है। जो यहाँ उपवास करके ब्राह्मण भोजन कराता है उसे सौत्रामणि यज्ञ का फल मिलता है। जो यहाँ एकाहार से एक महीना बिताता है उसका जीवन भर का पाप एक ही महीने में नष्ट हो जाता है। यहाँ जो विधानपूर्वक अग्नि-प्रवेश करता है अथवा अनशन से प्राण देता है उसे पुनर्जन्म से छुटकारा मिलता है। धूप और गंध के साथ अविमुक्त में जो दस सुवर्ण दान करता है उसे अग्निहोत्र का फल मिलता है। भूमि-दान, सम्मार्जन, अनुलेपन तथा माल्य दान का यहाँ विशेष महत्व है। यहाँ का श्मशान भद्र है। यहाँ शिवभक्त, विष्णुभक्त, सूर्यभक्त सभी शिवसायुज्य पाते हैं। यहाँ रहने वाले संन्यासियों को आठ महीने विहार तथा चार मास एक स्थान पर रहने की आवश्यकता नहीं। यहाँ पतिव्रता और भोगपरायणा कामचारिणी दोनों ही तरह की स्त्रियों को मुक्ति मिलती है। यहाँ शतरुद्री के पाठ का फल है।

ब्रह्मपुराण (पृ० ३०-३२) में अविमुक्त क्षेत्र के भौगोलिक वर्णन के बाद कपालमोचन तीर्थ में पिंडदान और श्राद्ध की महिमा बतलायी गयी है। वहां गंगास्नान, पूजा, जप, होम, गोदान चान्द्रायण व्रत इत्यादि की महत्ता का उल्लेख है।

लक्ष्मीधर द्वारा उद्धृत लिंगपुराण (पृ० ३२ से) में वाराणसी के मंदिरों की बहुत बड़ी तालिका दी हुई है तथा पौराणिक ढंग से उसे मुक्तिदायक माना गया है। शुष्क नदी अर्थात अस्सी पर लोलार्क की स्थिति मानी गयी है। वरणा पर केशव की तथा मत्स्योदरी पर संक्रान्ति की महिमा बतलायी गयी है। कहा गया है कि भक्तों के सिद्धदायक लिंगरूप में यहां सात करोड़ रुद्र बसते हैं। यहां हमें बनारसी कहावत, "काशी के कंकड़ शिवशंकर समान" की याद आ जाती है।

लक्ष्मीधर द्वारा उद्धृत स्कंद पुराण में काशी के पर्वों का उल्लेख है। कृष्ण और शुक्लपक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी, चन्द्र और सूर्यग्रहण विशेषकर कार्तिक में तथा संक्रान्तियों

में सब तीर्थ गंगा पर आ जाते हैं। केदारलिंग, महालयलिंग, मध्यमेश्वर, पशुपतीश्वर, शंकुकर्णेश्वर, गोकर्ण के दो लिंग, दृमिचंडेश्वर, भद्रेश्वर, स्थानेश्वर, एकाम्रेश्वर, कामेश्वर, अजेश्वर, भैरवेश्वर, ईशानेश्वर (कायावरोहण तीर्थ पर) इत्यादि पुण्यतीर्थ भी पर्व दिनों में काशी में आ जाते हैं।

आगे चलकर लिंगपुराणोक्त लिंगों, ह्रदों, कूपों तथा सरोवरों के नाम उनके स्थापकों के नाम के साथ दिये गये हैं। उनमें से अधिकतर की स्थापना देवों, सिद्धों और ऋषियों द्वारा करने का उल्लेख है। लिंग, कूप, कुंड इत्यादि नगरी के किन भागों में अवस्थित थे इनका भी उल्लेख है।

अविमुक्तेश्वर—अविमुक्त क्षेत्र में सिद्धों और पाशुपतों के रहने का तथा उनकी शिवभक्तिपरायणता का उल्लेख है। अविमुक्तेश्वर का स्वयंभू लिंग नगरी के पूर्वोत्तर भाग में स्थित था। उससे लगा हुआ महादेव कूप था जिसके स्पर्श मात्र से लोगों को वागीश्वरी गति मिलती थी। वहीं कूप के पश्चिम में वाराणसी देवी की मूर्ति थी जिनके प्रसाद से लोगों को घर मिलते थे।

गोप्रेक्ष—महादेव के पूर्व इस देव मंदिर की स्थिति थी। इतके दर्शन से सब कल्मष नाश होते थे।

अनसूयेश्वर—अनसूया द्वारा स्थापित यह लिंग गोप्रेक्ष के उत्तर में था। इनके दर्शन से परागति मिलती थी।

गणेश्वर—अनसूयेश्वर के आगे यह मंदिर पड़ता था।

हिरण्यकशिपु—यह लिंग गणेश्वर के पश्चिम में हिरण्यकशिपु द्वारा एक कूप के पास स्थापित किया गया था।

सिद्धेश्वर—हिरण्यकशिपु मंदिर के पश्चिम में पड़ता था और वह सर्वसिद्धि प्रदायक माना जाता था।

वृषभेश्वर—इस लिंग की स्थिति सिद्धेश्वर के पूर्व तथा गोप्रेक्ष के दक्षिण पश्चिम में थी।

दधीचेश्वर—गोप्रेक्ष के दक्षिण में सर्वकामफलद यह लिंग था।

अत्रीश्वर—अत्रि द्वारा स्थापित यह लिंग दधीचेश्वर के पास दक्षिण में पड़ता था।

मधुकैटभेश्वर—मधुकैटभ द्वारा संस्थापित लिंग अत्रीश्वर के दक्षिण में पूर्वाभिमुख था। मंदिर के पूर्व में कैटभ द्वारा स्थापित लिंग था।

बालकेश्वर—गोप्रेक्ष के पूर्व में स्थित था।

विज्वरेश्वर—बालकेश्वर के समीप। इसके दर्शन से ज्वर का तुरत नाश होता था।

देवेश्वर—विज्वरेश्वर के पूर्व में स्थित शिव लिंग।

वेदेश्वर—देवेश्वर के ईशान में स्थित चतुर्मुख लिंग जिसके दर्शन से ब्राह्मण चतुर्वेदी हो जाते थे।

केशव—वेदेश्वर के उत्तर में स्वयं केशव का मंदिर था।

संगमेश्वर—इसकी स्थिति केशव के मंदिर के पास ही थी तथा इनके दर्शन से शिष्टों से समागम होने का फल था। स्कंदपुराण के अनुसार बरना और गंगा के संगम पर स्थित संगमेश्वर की स्थापना ब्रह्मा ने की थी। संगम पर स्नान करके लोग लिंग का दर्शन करते थे।

प्रयागेश्वर—संगमेश्वर के पूर्व में ब्रह्मा द्वारा स्थापित लिंग जिसके दर्शन से ब्रह्मपद मिलता था।

शांकरीदेवी—प्रयागेश्वर के मंदिर में वटवृक्ष पर शांकरीदेवी का आवास था जो सब तीर्थवासियों को शांति प्रदान करती थी।

गंगावरणासंगम—श्रावण द्वादशी को यदि बुधवार पड़े तो संगम पर स्नान तथा श्राद्ध बड़ा ही फलदायक तथा श्राद्ध करनेवाले को विष्णुलोक देने वाला था। मत्स्यपुराण ने वहां विधिपूर्वक अन्नदान को श्रेयस्कर माना है।

कुंभीश्वर—वरणा के पूर्वी तट पर स्थित शिवलिंग।

कालेश्वर—कुंभेश्वर के पूर्व में स्थित शिवलिंग।

कपिलह्रद—आधुनिक कपिलधारा। इसकी स्थिति कालेश्वर के उत्तर में थी। इसमें स्नान के बाद शिवदर्शन से राजसूय यज्ञ का पुण्य मिलता था, नरक में पड़े पितरगण तर जाते थे तथा वहां श्राद्ध करना गया श्राद्ध से भी बढ़कर था।

स्कंदेश्वर—महादेव के पश्चिम में स्कंद द्वारा स्थापित लिंग। वहीं पर शाख, विशाख और नैगमीयों द्वारा स्थापित अनेक लिंग थे।

बलभद्रेश्वर—स्कंदेश्वर के उत्तर में बलभद्र द्वारा स्थापित लिंग।

नंदीश्वर—स्कंदेश्वर के दक्षिण में नंदी द्वारा स्थापित लिंग।

शिलाक्षेश्वर—नंदीश्वर के पश्चिम में नंदी के पिता द्वारा स्थापित तथा वंदित लिंग।

हिरण्याक्षेश्वर—शिलाक्षेश्वर के पास हिरण्याक्ष द्वारा स्थापित शिव लिंग। उसके पास ही देवों द्वारा स्थापित हजारों लिंग थे।

अट्टहास—हिरण्याक्षेश्वर के दक्षिण में अट्टहास का पश्चिमाभिमुख लिंग था जिसके दर्शन से ईशान लोक की प्राप्ति होती थी।

मित्रावरुणेश्वर—अट्टहास के पास ही पश्चिम में मित्रावरुण द्वारा स्थापित शिवलिंग के द्वार पर था।

वसिष्ठेश्वर—मित्रावरुणेश्वर के मंदिर में ही स्थापित लिंग।

याज्ञवल्क्येश्वर—मित्रावरुणेश्वर के मंदिर में ही याज्ञवल्क्य द्वारा स्थापित चतुर्मुख लिंग।

मैत्रेय्येश्वर—याज्ञवल्क्येश्वर के पास ही मैत्रेयी द्वारा स्थापित शिवलिंग।

प्रह्लादेश्वर—याज्ञवल्क्येश्वर के पश्चिम में पश्चिमाभिमुख लिंग।

स्वर्लीनेश्वर—प्रह्लादेश्वर के आगे। ज्ञान विज्ञान में निष्ठ तथा परमानंद के इच्छुकों को यह लिंग मुक्तिदायक था।

वैरोचनेश्वर—स्वर्लीनेश्वर के आगे वैरोचन द्वारा स्थापित लिंग।

बाणेश्वर—वैरोचनेश्वर के उत्तर में शिवभक्त बलि द्वारा स्थापित लिंग इसे बाणेश्वर भी कहते थे।

शालकटंकटेश्वर—बाणेश्वर के उत्तर में राक्षसी शालकटंकटा द्वारा स्थापित शिव लिंग।

हिरण्यगर्भ—शालकण्टकटेश्वर के मन्दिर में एक शिव लिंग।

मोक्षेश्वर—शालकण्टकटेश्वर के मन्दिर में ही एक शिव लिंग।

स्वर्गेश्वर—शालकण्टकटेश्वर के मन्दिर में ही एक शिवलिंग।

वासुकीश्वर—शालकण्टकटेश्वर के उत्तर चतुर्मुख लिंग। **वासुकी तीर्थ**—वासुकीश्वर के पूर्व खण्ड से एक तीर्थ जिसमें स्नान करने से मनुष्य रोग रहित हो जाता था।

चन्द्रेश्वर—वासुकी तीर्थ के पास चन्द्र द्वारा स्थापित शिवलिंग।

विद्येश्वर—चन्द्रेश्वर के पूर्व में। इसके दर्शन से विद्याधर लोक मिलता था।

वीरेश्वर—नगर के उत्तर में। इसकी स्थापना के सम्बन्ध में एक लम्बी कथा दी गयी है।

सगरेश्वर—वीरेश्वर के वायव्य भाग में सगर द्वारा स्थापित।

बालीश्वर—सगरेश्वर के आगे उसी जगह बालि द्वारा स्थापित चतुर्मुख लिंग।

सुग्रीवेश्वर—बालीश्वर के उत्तर में सुग्रीव द्वारा स्थापित।

हनुमतेश्वर—सुग्रीवेश्वर के पास हनुमान द्वारा स्थापित लिंग।

अश्विनी कुमारों द्वारा स्थापित शिवलिंग सगरेश्वर के उत्तर में था।

भद्रदोहतीर्थ—अश्विनी मन्दिर के उत्तर पार्श्व में स्थित इस तीर्थ में पूर्वभाद्रपद पौर्णमासी को स्नान करने से हजार गोदान का पुण्य मिलता था।

भद्रेश्वर—भद्रदोह तीर्थ के पश्चिमी किनारे पर स्थित शिवलिंग।

उपशांतशिव—भद्रेश्वर के नैऋत्य में स्थित शिवलिंग।

चक्रेश्वर—उपशांत के उत्तर में स्थित शिवलिंग। उसके आगे एक पश्चिमाभिमुख ह्रद था जिसमें स्नान करने से शिव लोक की प्राप्ति होती थी।

शूलेश्वर—चक्रेश्वर के पश्चिम में। यहाँ शिव के शूल से उत्पन्न ह्रद में स्नान करने से रुद्रलोक को प्राप्ति होती थी।

नारदेश्वर—शूलेश्वर के पूर्व में नारद द्वारा स्थापित कुंडाभिमुखी शिवलिंग।

धर्मेश्वर—नारदेश्वर के पूर्व में कुंडाभिमुखी शिवलिंग।

विनायक कुण्ड—धर्मेश्वर के वायव्य दिशा में स्थित इस कुंड में स्नान करके यात्री सब विघ्नों से विमुक्त होकर अविमुक्त क्षेत्र में बस सकता था।

अमरक ह्रद—विनायक से उत्तर की ओर सटा हुआ कुंड।

अमरकेश्वर—अमरक के दक्षिण में स्थित शिव लिंग। इसके दर्शन से भूल से भी किये गये दुष्कर्म का फल नष्ट हो जाता था।

वरणेश्वर—अमरकेश्वर के उत्तर में थोड़ी ही दूर वरणा के तट पर पश्चिमाभिमुख शिवलिंग। कहा गया है कि पाशुपत सिद्ध अश्वपाद को यहाँ शाश्वत सिद्धि मिली। इसके दर्शन से गंधर्वत्व मिलने की बात कही गयी है।

शैलेश्वर—वरणेश्वर के पश्चिम में स्थित शिवलिंग।

कोटीश्वर—शैलेश्वर के दक्षिण में स्थित शिवलिंग।

भीष्मचण्डिका—कोटीश्वर के पास ही भीष्मचण्डिका की श्मशानवासिनी मूर्ति होने से बीभत्स थी।

कोटीश्वर तीर्थ—इसमें स्नान करने से एक करोड़ गोदान का पुण्य मिलता था। ऋषिसंघ द्वारा स्थापित शिवलिंग कोटीश्वर के उत्तर में था।

श्मशान स्तम्भ—कोटितीर्थ के दक्षिण पूर्व में स्थित इस स्तम्भ में स्वयं शिव का निवास माना जाता था। उसकी पूजा करने से मनुष्यों की सब पापों से विनिर्मुक्ति होती थी।

कपालमोचन—स्नान करते समय शिव के अंग से एक कपाल वहाँ गिर जाने से उसका नामकरण हुआ। यहाँ स्नान करने से ब्रह्महत्या जैसे पाप से छुटकारा मिलने की बात कही गयी है।

कपालेश्वर—कपाल मोचन पर स्थित शिवलिंग।

ऋणमोचनक तीर्थ—कपालेश्वर के उत्तर पार्श्व में स्थित एक तीर्थ जिसमें स्नान करने से तथा तीन शिवलिंगों के दर्शन से त्रिविध ऋण का परिशोध हो जाता था।

अंगारेश्वर (मंगलेश्वर)—ऋणमोचन तीर्थ के दक्षिण में कुंड के सामने पश्चिमाभिमुख शिवलिंग। चतुर्थी या अष्टमी को यदि मंगलवार पड़े तो वहाँ स्नान और दर्शन से रोग विनिर्मुक्ति होती थी।

विश्वकर्मेश्वर—अंगारेश्वर के पास ही पश्चिमाभिमुख शिवलिंग।

बुधेश्वर—विश्वकर्मेश्वर के पास ही स्थित शिवलिंग।

महामुण्डेश्वर—बुधेश्वर के दक्षिण में महामुण्डेश्वर का शिवलिंग था। उसके सामने ही एक कूप था जिसमें स्नान करते समय शिव की मुण्डमाला उसमें गिर जाने से लिंग का नामकरण पड़ा।

खट्वांगेश्वर—महामुण्डेश्वर के अहाते में ही एक शिवलिंग और कूप। कथा है कि शिव ने कूप में स्नान के लिये यहाँ अपना खट्वांग कूप में डाला था।

भुवनेश्वर—महामुंडेश्वर के पास ही एक कुंड के दक्षिण तट पर उत्तराभिमुख लिंग।

विमलेश—भुवनेश्वर के दक्षिण में एक कुंड था उसके पूर्व में विमलेश की स्थिति थी। यहीं से पाशुपतसिद्धि त्र्यंबक सशरीर रुद्रलोक पहुँचे।

भृग्वेश्वर—अंगारक कुंड के दक्षिण में भृगु द्वारा स्थापित बड़ा शिव मंदिर।

नंदीश्वर—भृग्वेश्वर के दक्षिण में नन्दीश्वर का शिवलिंग था जिसके दर्शनमात्र से ही पाशुपत व्रत में सिद्धि मिल जाती थी। यहीं पर तपस्वी कपिल ने गुहावास करके शिव की एक हजार वर्ष तक पूजा की जिसके फलस्वरूप वे सांख्यवेत्ता हुए। वह गुहा कपिलेश्वर के नीचे थी। शायद यहाँ राजघाट के करारे की अनेक गुफाओं में से एक गुफा की ओर संकेत है।

कपिलेश्वर—पार्वती द्वारा यह प्रश्न करने पर कि कपिलेश्वर का नाम ओंकारेश्वर कैसे पड़ा शिव ने बताया कि ओंकार के अकार में पंचायतन विष्णु, उकार में ब्रह्मा और नकार में नंदीश्वर रूप में स्वयं शिव हैं।

मत्स्योदरी—मत्योदरी के उत्तर कूल पर उसी तरह नंदीश्वर का मंदिर स्थित था जिस तरह ओंकार के उत्तर में नकार। इस जगह वामदेव, सावर्णि, अघोर और कपिल ने पाशुपत व्रत से सिद्धि पायी। कभी-कभी गंगा इस देव के दर्शनार्थ मत्स्योदरी में आ मिलती थीं। कपिलेश्वर के नीचे दक्षिण में मत्स्योदरी बहती थी। कपिलेश्वर के पश्चिम गंगा और मत्स्योदरी का संगम था जहाँ अष्टमी और चतुर्दशी को स्नान का विशेष महत्व था। वहाँ पाशुपतों का अड्डा था तथा यह मंदिर काफी बड़ा था।

उद्दालकेश्वर तथा दूसरे शिव लिंग कपिलेश्वर के आगे पश्चान्मुख लिंग थे। यहाँ उद्दालक ऋषि ने परम सिद्धि पायी। पास ही उत्तर में एक दूसरे शिव लिंग से पराशर मुनि को सिद्धि मिली। उसी लिंग से सटे आयतन में पश्चान्मुख बाष्कलिमुनि रहते थे। उसी के पास पूर्वामुख होकर पाशुपत भाव सिद्ध रहते थे और पश्चिम में एक मुख लिंग था जिसके सान्निध्य में अरुणि ने सिद्धि पायी। अरुणीश के पश्चिम में एक शिवलिंग था जहाँ पाशुपताचार्य योग सिद्ध का निवास था। उसी के दक्षिण में एक शिवलिङ्ग के सान्निध्य में कौस्तुभ नामक ऋषि को सिद्धि प्राप्त हुई तथा उसके दक्षिण में एक लिंग के पास सावर्णि नामक एक पाशुपत रहते थे। उसके आगे एक महद् लिंग था जिसमें ओंकार रूप में स्वयं शिव का निवास था। उसी के नीचे श्रीमुखी नामक एक गुहा थी जिसमें शिवार्चन में रत पाशुपत रहते थे। उसी महालिंग के द्वार पर इसी शरीर से अघोर मुनि रुद्रत्व को प्राप्त हुए और इसीलिए उसका नाम अघोरेश्वर पड़ा। वहाँ यात्री को त्रिरात्रि बिताने का आदेश था।

श्रीकंठ—जान पड़ता है कि मत्स्योदरी के किनारे बहुत से शिवमंदिर थे, जिनमें शांत, दांत, जितक्रोध और ब्रह्मचारी पाशुपत पूजा करते थे। कपिलेश्वर के दक्षिण में श्रीकंठ के मंदिर में पाशुपत ऋतुध्वज रहते थे। उसके आगे एक पूर्वमुख लिंग के सान्निध्य में जावाल को सिद्धि मिली। उसके दक्षिण में ओंकारेश्वर की मूर्ति थी। उसके दक्षिण में दूसरे लिंग के पास कालिकवृक्षिय सिद्ध हुए। उस लिंग के भी दक्षिण एक पश्चान्मुख

शिवलिंग के पास गार्ग्य सिद्ध हुए। इन पाँचों को पंचायतन कहते थे और इनके दर्शन का विशेष महत्व माना गया है। इस पंचायतन के समीप एक कूप था।

रुद्रवास—यह मंदिर श्रीकंठ के दक्षिण में स्थित था। उसके उत्तर पार्श्व में एक कुंड था जिसमें आर्द्रा नक्षत्र संयुक्त चतुर्दशी को स्नान का महत्त्व था। वहीं स्थित रुद्रलिंग और उसके आस-पास बहुत से लिंग थे।

रुद्रमहालय—रुद्र के नैऋत भाग में। वहाँ स्वयं पार्वती का वास माना जाता था। उसके आगे एक कूप था जहाँ पितरों और देवों का निवास माना जाता था। वहाँ श्राद्ध और पिंडदान की विधि थी तथा पिंड कूप में डाल दिये जाते थे। वहीं पर वैतरणी नामक एक बावड़ी थी जिसमें स्नान से नरक से परित्राण मिलता था। रुद्रमहालय के उत्तर में बहुत से लिंग थे।

बृहस्पतीश्वर—रुद्रकुंड के पश्चिम में बृहस्पति द्वारा स्थापित लिंग।

पितरों द्वारा स्थापित लिंग—रुद्रकूप के दक्षिण भाग में था।

कामेश्वर—रुद्रवास के दक्षिण में। यहाँ काम के तप स्वरूप एक कुंड उत्पन्न हुआ। उसके उत्तर तट पर कामेश्वर लिंग था जिसकी पूजा से सभी मनचाही बातें मिलती थी। कुंड में चैत्र शुक्ल १३ को स्नान विधि थी।

पंचालकेश्वर—कामेश्वर के पूर्व में इस लिंग की कुबेर के पुत्र ने आराधना की। इसकी पूजा से धन प्राप्ति की बात मानी गयी है।

पंचकेश्वर—कामेश्वर के अहाते में पूर्वमुख मुखलिंग। इसके आगे एक कूप था।

अघोरेश—कामेश्वर कूप के पास। यहाँ किन्नरों ने नौ लिंग स्थापित किए।

दिवाकर-निशाकर द्वारा स्थापित लिंग—पंचकेश्वर के पूर्व में।

अंधकेश्वर—अघोरेश के दक्षिण में अंधक द्वारा स्थापित लिंग।

वैवेश्वर—अंधकेश्वर के पश्चिम और काम कुंड के दक्षिण में, वहीं पर भीमेश्वर, सिद्धेश्वर, गंगेश्वर, यमुनेश्वर और ऊर्वशी लिंग थे।

शांतेश्वर—शांत द्वारा स्थापित मंडलेश्वर के पास शिवलिंग।

बालखिल्येश्वर—शांतेश्वर के वायव्य दिशा में द्रोणेश्वर के पास काम कुंड के पश्चिम में।

वाल्मीकेश्वर—बालखिल्येश्वर के आगे मुख लिंग।

च्यवनेश्वर—काम कुंड के तट पर च्यवन द्वारा स्थापित लिंग।

वातेश्वर—वायु द्वारा स्थापित बालखिल्येश्वर के दक्षिण में। वहीं अग्नीश्वर, भरतेश, और सनकेश्वर के लिंग थे। वातेश्वर के दक्षिण में धर्मेश्वर का मंदिर था। सनकेश्वर के उत्तर में गरुड़ेश्वर थे और बगल में सनंदनेश्वर थे। सनकेश्वर के दक्षिण असुरीश्वर, पंचशिखि लिंग तथा शनैश्चरेश्वर थे। शनैश्चरेश्वर के दर्शन से रोग-मुक्ति मानी जाती थी।

मार्कंडेश्वर—उस लिंग के आगे मार्कंडेय ह्रद था जिसमें स्नान दान, जप होम श्राद्ध और पितृतर्पण की विधि थी। मार्कंडेश्वर के उत्तर में एक कूप था और उसके उत्तर में एक कुंड के बीच कुंडेश्वर का मंदिर था। कुंड के पश्चिम में स्कंद द्वारा स्थापित एक लिंग था। मार्कंडेश्वर के बहुत शांडिल्येश्वर का मुखलिंग और दक्षिण पार्श्व में भद्रेश्वर थे।

श्रीकुंड—कपालीश के दक्षिण में। इसमें स्नान करके लोग श्रीदेवी का दर्शन करते थे। श्रीदेवी के उत्तर पार्श्व में महालक्ष्मी द्वारा स्थापित शिवलिंग था। इनके दर्शन से धन-धान्य मिलने का फल था।

दधीचेश्वर—महालक्ष्मी द्वारा स्थापित शिवलिंग के पश्चिम में उसके दक्षिण में गायत्री द्वारा स्थापित और उसके दक्षिण में सावित्री द्वारा स्थापित पश्चान्मुख लिंग थे।

सत्पतयेश्वर—दधीचेश्वर के पूर्व में मत्स्योदरी के तट पर स्थित।

उग्रेश्वर—लक्ष्मी लिंग के पास। उसके दक्षिण में एक बड़ा कुंड था।

धनदेश्वर—दधीचेश्वर के पश्चिम में। यहां कुबेर का बनवाया एक कुंड था जिसमें स्नान करने से कुबेर का सान्निध्य प्राप्त होता था। वहाँ और भी बहुत से लिंग थे।

करवीरक—धनदेश के पश्चिम में। उसके वायव्य कोण में मारीचेश्वर थे और आगे एक कुंड था। मारीचेश्वर के पश्चिम में कुंड के तट पर इन्द्रेश्वर विराजमान थे।

कर्कोटकेश्वर—इन्द्रेश्वर के दक्षिण में नाग राज कर्कोटक की एक वापी और कर्कोटकेश्वर का मंदिर।

दूमिचंडेश्वर—कर्कोटकेश्वर के पास ही दक्षिण की ओर। इनके दर्शन से ब्रह्महत्या छूटती थी। यहां कौथुमि नाम के पाशुपत सिद्ध ज्ञान प्राप्त करके रुद्रलोक गये। यह पश्चिमाभिमुख लिंग कुंड के उत्तर में था।

अग्नीश्वर—दूमिचंडेश्वर के पूर्व एक दीर्घिका के किनारे स्थित।

आम्रातकेश्वर—अग्नीश्वर के पूर्व में, उसके पास ही दक्षिण में एक कुंड पर उर्वशीश्वर स्थित थे।

तालकर्णेश्वर—उर्वशीश्वर के पास, वहां और भी बहुत से लिंग थे। मंदिर के पूर्व में एक कूप था।

चित्रेश्वर—चण्डेश्वर के पूर्व।

कालेश्वर—चित्रेश्वर के समीप। यहां पिंगाक्ष नामक पशुपत रहते थे जिन्होंने काल को भी ठग लिया। यहाँ कालोदक नामक एक कूप भी था। लगता है यहां शिवभक्त त्रिशूल का दाग लेते थे। यहाँ पूजा, जप होम, दीप प्रदान, धूपदान, तथा जागरण की विधि थी। कालेश्वर के पास दक्षिण में मृत्यु द्वारा स्थापित सर्व-रोग-विनाशक एक लिंग था तथा कूप से उत्तर भाग में दक्षेश्वर और शच्येश्वर के मंदिर थे।

महाकाल—दक्षेश्वर के पूर्व। यहां एक कुंड था जिसके किनारे अंतकेश्वर का मंदिर था तथा उसी के पास शक्रेश्वर का। उसके दक्षिण में मातलीश्वर थे। उसके आगे एक कुंड पर हस्तिपालेश्वर का मंदिर था। हस्तीश्वर के पूर्व में विजयेश्वर का मंदिर था।

बलिकुंड—महाकाल कुंड के उत्तर में। यहां बलि ने शिव की आराधना की थी।

कृत्तिवासेश्वर—काशी के प्रधान शिव-लिंगों में एक। कहानी है कि एक दैत्य हाथी का रूप धारण करके शिव से लड़ा। उसे मार कर और उसका चमड़ा उधेड़ कर शिव ने ओढ़ लिया इसी से उनका नाम कृत्तिवास पड़ा। लिंग पश्चिमाभिमुख था। उसके उत्तर में शङ्केश्वर, दक्षिण में मातलीश्वर तथा पूर्व में एक कूप था। वहां बहुत से पाशुपत रहते थे। फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को फल, पुष्प, भक्ष्य, दूध, मधु तथा सरसों के साथ जल तथा हुडुंकार, नमस्कार, नृत्यगीत, मुखवाद्य स्तोत्र और मंत्र से उनकी पूजा होती थी। वर्ष के दूसरे महीने की चतुर्दशी को भी उनकी पूजा विहित थी।

भृंगीशेश्वर—इस लिंग की स्थापना का श्रेय काशिराज धन्वंतरि को दिया गया है। एक मंदिर के आगे एक कूप था जिसमें वैद्यराज ने सब औषधियां फेंक दी थीं इसी से इस कूएँ का नाम वैद्यनाथ पड़ा। विश्वास था कि इसका पानी पीने से सब व्याधियां नष्ट हो जाती थीं। कूप के उत्तर भाग में हरिकेश्वर लिंग था जिसके दर्शन से भी रोग मुक्ति की बात कही गयी है।

शिवेश्वर—तुंगे के पास दक्षिण में शिवतड़ाग था जिसके पश्चिम तट पर शिवेश्वर का मंदिर था।

जमदग्नि लिंग—विश्वेश्वर के पास ही दक्षिण में।

भैरवेश्वर—जमदग्नि लिंग के पास ही पश्चिम में। लिंग के पास ही नाचती हुई दुर्गा की मूर्ति थी उसके उत्तर में एक कूप था जिसके पश्चिम भाग में शुक्केश्वर का मन्दिर तथा उत्तर में एक तालाब था। नैर्ऋत्य कोण में व्यासेश्वर का मन्दिर और घंटाकर्णह्रद; उसी के पास उत्तर में पंचचूड़ा ह्रद था। उसके उत्तर में विलोक नाम अशोक वन में स्थित एक कुंड था। उसके पास ही मन्दाकिनी थी।

मध्यमेश्वर—मन्दाकिनी में स्नान करके मध्यमेश्वर के दर्शन से रुद्रलोक की प्राप्ति होती थी यहाँ ब्राह्मणों, पाशुपतों तथा यतियों को भोजन कराना तथा स्नान, दान, तप, होम, स्वाध्याय, तर्पण, श्राद्ध और पिंडदान फलदायक थे। मन्दिर के दक्षिण भू-भाग में विश्वदेव द्वारा स्थापित एक पूर्वाभिमुख लिंग था तथा पश्चिम में वीरभद्र द्वारा प्रतिष्ठित शिवलिंग। उन दोनों के दक्षिण में भद्रकाली ह्रद था जिसके पश्चिम तीर पर शौनक द्वारा स्थापित पतङ्गेश्वर थे। उसी के वायव्य कोण में मनुष्यों द्वारा स्थापित अनेक लिंग थे तथा दक्षिण में जयन्त द्वारा स्थापित शिवलिंग था।

सिद्धकूट और सिद्धेश्वर—जयन्तेश्वर के दक्षिण में सिद्धकूट था। यहाँ शिवपूजा में निरत सिद्ध और पाशुपत रहते थे। उनमें से कुछ ध्यान रत रहते थे, कुछ जप करते थे, कुछ स्वाध्याय करते थे और कुछ तप। कुछ आकाश शयन करते थे तो कुछ अधोमुख होकर धूम्रपान करते थे। कुछ प्रदक्षिणा करते थे और कुछ ने काष्ठ-मौन ले रखा था। कुछ पूजा के लिए गण्डूक पुष्प चुनते थे। सबके सब पूर्वाभिमुख सिद्धेश्वर की पूजा में निरत रहते थे। लिंग के पश्चिम भाग में एक वापी थी।

व्याघ्रेश्वर—सिद्धकूट के पूर्व में।

स्वयम्भू—व्याघ्रेश्वर के दक्षिण में स्वयम्भू लिंग था। तथा उसके पूर्व ज्येष्ठ स्थान था जहाँ एक लिंग था उसके पश्चिम में पंचचूड़ा द्वारा स्थापित एक लिंग था, दक्षिण में प्रहसितेश्वर थे और उत्तर में निवासेश्वर। वहीं चतुःसमुद्र नामक एक कूप था।

दण्डीश्वर—चतुःसमुद्र कूप के उत्तर में तथा व्याघ्रेश के दक्षिण में। उसके उत्तर में दण्डखात नामक एक तालाब था जिसमें स्नान करने से पितृगण तर जाते थे। उसी अहाते में जैगीषव्येश्वर का मन्दिर था। उसके पश्चिम में सिद्धकूप, पूर्व में देवल और शतकाल द्वारा प्रतिष्ठित लिंग तथा पश्चिम में शातातपेश्वर थे।

हेतुकेश्वर—शातातपेश्वर के पश्चिम में। उसके दक्षिण भाग में कणाद द्वारा स्थापित कणादेश्वर नामक पश्चिमाभिमुख लिंग था तथा एक वापी। कणादेश्वर के दक्षिण में भूतीश का पश्चिमाभिमुख लिंग था। उसके पश्चिम में आषाढ़ नामक पश्चान्मुख चतुर्मुख लिंग तथा और भी बहुत से लिंग थे। उसके पूर्व में दैत्येश्वर थे जिनके दर्शन से पुत्रलाभ होता था। उसके दक्षिण में भारभूतेश्वर थे।

पाराशरेश्वर—व्यासेश्वर के पूर्व में। उसके सामने अत्रि द्वारा स्थापित एक लिंग था।

शंख-लिखित—व्यासेश्वर के पूर्व में शंख और लिखित द्वारा स्थापित दो शिव मन्दिर।

विश्वेश्वर—इनके दर्शन तथा पाशुपत व्रत से फल मिलता था। उस मन्दिर के पूर्वोत्तर में अवधूत तीर्थ था।

पशुपतीश्वर—अवधूत तीर्थ से लगा हुआ पूर्व में पश्चिमाभिमुख चतुर्मुख लिंग। उसके दक्षिण भू-भाग में गोभिल ऋषि द्वारा स्थापित पंचमुख शिवलिंग था तथा पश्चिम में विद्याधरपति जीमूतवाहन द्वारा स्थापित शिवलिंग।

गभस्तीश्वर—सूर्य द्वारा स्थापित पश्चान्मुख लिंग। उसके दक्षिण में दधिकर्णह्रद तथा उत्तर में एक कूप जिस पर दधिकर्णेश्वर का मन्दिर था।

ललिता—गभस्तीश्वर के उत्तर में उत्तराभिमुखी देवी। यहाँ लोग जागरण करते थे, घर बनवाते थे, मूर्ति के आगे दीपदान करते थे, झाड़ू लगाते थे तथा ब्राह्मणों और ब्राह्मणियों को भोजन कराते थे। वहीं मुखप्रेक्षणिका की मूर्ति थी जिसकी माघ मास की चतुर्थी को उपवास रख कर पूजा होती थी।

वृत्रत्वाष्ट्रेश्वर—मुखप्रेक्षा के उत्तर में। यहाँ त्रिरात्रि का फल था।

चर्चिका—ललिता के उत्तर में। उसके आगे रेवन्त द्वारा स्थापित पूर्वाभिमुख लिंग था। उसके आगे पश्चान्मुख पंचनदीश्वर थे। ललिता से लगा पूर्व में एक कूप था और उसके दक्षिण में पंचनद तीर्थ था। यहीं पर उपमन्यु द्वारा स्थापित अनेक मुखोंवाला लिंग था। उसी के पास पश्चिम में व्याघ्रपाद द्वारा प्रतिष्ठित लिंग था।

विश्वकर्म और दूसरे लिंग—गभस्तीश्वर के आगे।

शशांकेश्वर—गभस्तीश्वर के दक्षिण में। वहीं पर गन्धर्व चित्रेश्वर द्वारा स्थापित चित्रेश्वर थे।

जैमिनीश—चित्रेश्वर के पश्चिम में जैमिनि द्वारा स्थापित। उसके आगे समन्त तथा और ऋषियों द्वारा स्थापित लिंग थे। उनके दक्षिण कोने में बुधेश्वर का पश्चान्मुख लिंग था। बुधेश्वर के वायव्य कोण में पास ही में रावणेश्वर लिंग था। उसके पूर्व में एक चतुर्मुख लिंग था।

वराहेश्वर—रावणेश के दक्षिण में पूर्वाभिमुख लिंग। उसके दक्षिण में भी एक पूर्वाभिमुख लिंग था। उसके दक्षिण में दक्षिणाभिमुख गालवेश्वर का लिंग था। उसी के पास आयोगसिद्धि लिंग था।

वातेश्वर—आयोगसिद्धि के दक्षिण में। उसी के आगे सोमेश्वर का पश्चान्मुख लिंग था। उसी के नैऋत भाग में अंगारेश्वर का पूर्वमुख लिंग था। उसके पूर्व में कुक्कुटेश्वर तथा उसके उत्तर में पांडवों द्वारा स्थापित पाँच लिंग थे। उन्हीं के बीच संवर्तेश्वर थे।

श्वेतेश्वर—संवर्तेश्वर के पश्चिम में पूर्वाभिमुख लिंग।

कलशेश्वर—श्वेतेश्वर के पश्चिम में कलश से उत्थित लिंग। इसकी उत्पत्ति श्वेत मुनि के कलश से बतलायी गयी है। इसके दर्शन से जन्म जरा और मृत्यु से मुक्ति मानी गयी है।

चित्रगुप्तेश्वर—कलशेश्वर के उत्तर में चित्रगुप्त द्वारा स्थापित लिंग। उसके पश्चिम में छाया द्वारा तथा विनायक द्वारा स्थापित लिंग थे। विनायक के पूर्व में एक कुंड था जहाँ विरूपाक्ष का पश्चान्मुख लिंग था। उसके दक्षिण में एक कूप था।

गुहेश्वर—कलशेश के दक्षिण में। उसके दक्षिण पार्श्व में उत्तमेश्वर और वामदेव थे। उसके पश्चिम में कंबलाश्वतराक्ष गंधर्व द्वारा स्थापित लिंग था। नलकूबरेश्वर भी वहीं थे।

मणिकर्णी देवी—नलकूबरेश्वर के दक्षिण में। उसके आगे एक कुंड में मणिकर्णीश्वर का मंदिर था। उसके उत्तर में परमेश्वर थे और उसके पास ही धर्मराज द्वारा स्थापित लिंग। उसके पश्चिम में निर्जरेश्वर थे जिनके दर्शन से सब व्याधियाँ नष्ट हो जाती थीं। निर्जरेश्वर के नैऋत्त कोण में नदीश्वर थे जहाँ पिंडदान का महत्व था।

बाणेश्वर—नदीश्वर के दक्षिण में। उसके दक्षिण दैत्यराज बाण द्वारा स्थापित लिंग था।

कूष्मांडेश्वर—बाणेश्वर के दक्षिण में। उसके पूर्व में राक्षस द्वारा प्रतिष्ठित शिवलिंग तथा दक्षिण में गंगा द्वारा स्थापित गंगेश्वर थे।

गंगातीर के लिंग—गंगेश्वर के उत्तर में वैवस्वतेश्वर, उसके पश्चिम में आदित्यों द्वारा स्थापित लिंग, उसके आगे वज्रेश्वर, कनकेश्वर का छाया लिंग उसके आगे तारकेश्वर और कनकेश्वर थे।

मनुजेश्वर—कनकेश्वर के उत्तर में मुखलिंग था, और उसके आगे इन्द्र द्वारा स्थापित लिंग। इन्द्रेश्वर के दक्षिण में रंभा द्वारा स्थापित शिव लिंग, तथा उत्तर में शची द्वारा स्थापित लिंग थे। शचीश्वर के उत्तर भाग में लोकपाल, देव, असुर, मरुद्, यक्ष, नाग, गंधर्व, किन्नर, तथा अप्सराओं द्वारा स्थापित लिंग थे। दक्षिण में फाल्गुनेश्वर तथा महापाशुपतेश्वर थे।

समुद्रेश्वर—महापाशुपतेश्वर के दक्षिण में समुद्र द्वारा स्थापित लिंग। दक्षिण में ईशान, पूर्व में लांगलि थे। वहीं नकुलीश का पूर्वाभिमुख लिंग चार पुरुषों से युक्त था।

देवदेव—इस लिंग के बारे में एक कथा दी हुई है। एक समय जब देवदेव का लिंग राक्षस आकाश मार्ग से ले जा रहे थे। बिचारा लिंग सोचने लगा कि बिना अविमुक्त के उसकी गति संभव नहीं थी। इतने में उस प्रदेश से कुकड़ूँ कूँ की आवाज आयी, जिसे सुनकर राक्षस लिंग छोड़ कर भागे और इसका नाम अविमुक्त पड़ा। उन दिनों भी उस मंदिर में कुक्कुटों की पूजा होती थी। मंदिर के दक्षिण भाग में एक वापी थी उसके जल की पश्चिम में दंडपाणि रक्षा करते थे। पूर्व में तारक उत्तर में नदीश और दक्षिण में महाकाल थे।

प्रीतकेश्वर—अविमुक्तेश्वर के आगे पश्चान्मुख लिंग। अविमुक्त के उत्तर में मोक्षेश्वर थे। उसके उत्तर में वरुणेश्वर का चतुर्मुख लिंग था।

सुवर्णाक्षेश्वर—वरुणेश्वर के पूर्व में मुखलिंग, उसके उत्तर में गौरी, दक्षिण में निकुंभ तथा पश्चिम में विनायक थे।

विजयास्य—निकुंभ के पूर्व में। इसके दक्षिण में शुक्रेश्वर, उत्तर में देवयानी द्वारा स्थापित लिंग। उसके आगे कच द्वारा स्थापित लिंग जिसके पास ही एक कूप था। पूर्व में अनर्केश्वर और गणेश्वर थे।

रामेश्वर—उसके दक्षिण में त्रिपुरान्तक और दत्तात्रेय द्वारा प्रतिष्ठित लिंग, पश्चिम में हरिकेशेश्वर और गोकर्णेश्वर थे। उत्तर में एक तड़ाग था जिसके पश्चिम तट पर देवेश्वर थे और उनके सामने एक कुंड।

पिशाचेश्वर—देवेश्वर के उत्तर में; उसके आगे ध्रुवेश का मुख-लिंग; उसके पश्चिम में एक कुंड पर वैद्यनाथ। नैर्ऋत भाग में मनु द्वारा स्थापित एक लिंग, पश्चिम में मुचुकुंदेश्वर तथा दक्षिण में गौतमेश और विभांडेश्वर।

ऋष्यशृंगेश्वर—विभांडेश्वर के दक्षिण में; उसके पूर्व में ब्रह्मेश्वर तथा पश्चिम में पर्जन्येश्वर।

नहुषेश्वर—पर्जन्येश्वर के पूर्व में; उसके पूर्व में विशालाक्षी; दक्षिण में जरासंधेश्वर का चतुर्मुख लिंग और ललितका देवी।

हिरण्याक्षेश्वर—जरासंधेश्वर के आगे मुखलिंग; उसके दक्षिण में ययातीश्वर का मुख लिंग था; उसके पश्चिम ब्रह्मेश के पास अगस्त्येश्वर; उसी के पास विश्वावसु द्वारा स्थापित लिंग।

मुंडेरा—अगस्त्येश्वर के पूर्व में उसके दक्षिण में; दशाश्वमेधिक लिंग और उसके उत्तर में नवमातृकाओं का मंदिर और कुंड ।

पुलस्त्येश्वर—अगस्त्येश्वर के दक्षिण में, उसके दक्षिण में पुष्पदंतेश्वर और बहुत से लिंग थे। उसके पूर्व में सिद्धेश्वर जिनकी पंचोपचार पूजा से सिद्धि मिलती थी।

हरिश्चंद्रेश्वर—पूर्व में ऋतेश्वर, दक्षिण में अंगिरेश और क्षेमेश्वर, कालंजर और लोलार्क ।

दुर्गादेवी—लोलार्क के पश्चिम में ।

असितेश्वर—दुर्गा के पश्चिम में, वहीं अस्सी (शुष्कनदी) के नाम से शुष्केश्वर का मंदिर था। उसके पश्चिम में जनकेश्वर, उत्तर में शंकुकर्णेश्वर तथा एक कुंड पर स्थित सिद्धेश्वर।

मांडव्येश्वर—शंकुकर्णेश्वर के वायव्य भाग में। उसके उत्तर में छागलेश्वर, पश्चिम में कपर्दीश्वर, पूर्व में हरितेश्वर, दक्षिण में कात्यायनेश्वर तथा अंगारेश्वर थे। अंगारेश्वर पर एक कुंड था और उसके दक्षिण में मुकुरेश्वर। कुंड के बगल में छागलेश्वर का मंदिर था।

वाराणसी के लिंगों की इतनी विशद व्याख्या के बाद लिंग पुराण का कहना है कि वहाँ असंख्य लिंग थे जिनका वर्णन असंभव था, केवल इतने ही सिद्ध लिंगों, कूपों, ह्रदों, वापियों, नदियों का वर्णन कर दिया गया जिनके स्पर्श से ही मुक्ति मिलती थी।

चतुर्दशीआयतन—यात्री वरणा में स्नान करके पहले शैलेश का दर्शन करता था। संगम पर स्नान और संगमेश्वर का दर्शन, स्वर्लीन में स्नान और स्वर्लीनेश्वर का दर्शन, गंगा में स्नान और मध्यमेश्वर का दर्शन, हिरण्यगर्भ में स्नान और ईश्वर का दर्शन, मणिकर्णी में स्नान और ईशानमीश्वर का दर्शन, कूप जल स्पर्श करके गोप्रेक्षमीश्वर का दर्शन, कपिलह्रद में स्नान करके वृषभध्वज का दर्शन, उसके बाद उपशांत के कूप का जल स्पर्श, पंचचूड़ाह्रद में स्नान तथा ज्येष्ठ-स्थान का अर्चन, चतुःसमुद्रकूप में स्नान, देव की पूजा तथा उसके आगे के कूप का जल स्पर्श तथा शुद्धेश्वर का दर्शन, दंडखात में स्नान तथा व्याडेश की पूजा, शौनकेश्वर कुंड में स्नान तथा जंबुकेश्वर की पूजा कृष्ण चतुर्दशी से लेकर प्रतिपदा तक होती थी।

अष्टायतन—लांगलीश, आषाढ़ीश, भारतभूत, त्रिपुरांतक, नकुलीश, त्र्यंबक, अविमुक्त, देवदेव ।

पंचायतन—शिव का कहना है उन्हें पंचातन जो वाराणसी के उत्तर में स्थित था बहुत प्रिय था। यहां भस्मनिष्ठ एकांतवासी ब्राह्मण रहते थे। इनमें ओंकार की मूर्ति दव्य थी। अविमुक्त स्वर्लीन और मध्यमेश्वर को त्रिकंटक कहा गया है। ईश्वर के षडंग माने गये हैं। यथा—

चैत्रमास में कामकुंड में स्नान और पूजन, वैशाख मास में विमलेश्वर कुंड में स्नान और पूजन, ज्येष्ठ मास में रुद्रवास कुंड में स्नान और पूजन, आषाढ़ में श्री कुंड में स्नान

और पूजन, श्रावण में लक्ष्मीकुंड में स्नान और पूजन, आश्विन में कपिलह्रद और मार्कंडेयह्रद में स्नान और पूजन, मार्गशीर्ष में कपालमोचन में स्नान और पूजन, पौष में गुह्यकों की यात्रा, माघ में धनदेश्वर कुंड तथा कोटितीर्थ में स्नान और पूजन। फाल्गुन १४ को पिशाची चतुर्दशी पड़ती थी। यात्रा में मिष्टान्न सहित उदकभांड के दान का आदेश था।

गौरी पूजा—फाल्गुन शुक्ल पक्ष तृतीया के दिन स्नान के बाद गोप्रेक्ष का दर्शन उसके बाद कालिका देवी की पूजा, ज्येष्ठ स्थान में गौरी और ललिता की पूजा। ललिता के स्थान में ब्राह्मण भोजन, वस्त्र तथा दक्षिणा।

विनायक—पहले ढुंढि फिर क्रमशः कोण विनायक, देवढि विनायक, गोप्रेक्ष के हस्ति-विनायक और सिंदूर विनायक के दर्शन। यहाँ ब्राह्मणों को लड्डू देने की विधि थी।

क्षेत्ररक्षित चंडिकाएँ—दक्षिण में दुर्गा, नैर्ऋत में उत्तरेश्वरी, पश्चिम में अंगारेशी, वायव्य में भद्रकाली, उत्तर में भीष्मचंडी, तथा महामुंडा। ऊर्ध्वकेशी और शांकरी सब जगह थीं तथा चित्रघंटा मध्य में।

वाराणसी में शिवलिंगों के उपर्युक्त वर्णन में तीर्थ माहात्म्य के सिवा और भी बातें आयी हैं जिनसे तत्कालीन वाराणसी के शैवधर्म पर प्रकाश पड़ता है। लिंगों की स्थापना का श्रेय तो अधिकतर देवी देवताओं, किन्नरों, राक्षसों, अप्सराओं ऋषियों इत्यादि को दिया गया है पर लिंगपुराण में अनेक ऐसे उल्लेख हैं जिनसे वाराणसी के पाशुपत सिद्धों के नाम आये हैं। वरणेश्वर के मंदिर में पाशुपत अश्वपाद को सिद्धि मिली (पृ० ५३), तथा विमलीश के सान्निध्य में (पृ० ५६) पाशुपत सिद्ध त्र्यंबक को (पृ० ५६)। कपिलेश्वर के नीचे एक गुहा थी जिसमें संभवतः पाशुपत गण तप करते थे (पृ० ५७)। उद्दालकेश्वर के आस-पास बाष्कलि और पाशुपत भाव सिद्ध रहते थे (पृ० ५९–६०) तथा अरुणीश के पास योग सिद्ध (पृ० ६०)। पाशुपतों की दृष्टि से कपिलेश्वर का मंदिर विशेष महत्त्व का था। कपिलेश्वर के आस-पास कौस्तुभ, और सावर्णि को सिद्धि मिली। उसी के नीचे श्रीमुखी नाम की गुहा थी जिसमें पाशुपत रहते थे। यहाँ पाशुपत अघोर को सिद्धि मिली (पृ० ६०–६१)। दमिचंडेश्वर के सान्निध्य में पाशुपत कौथुमि को ज्ञान प्राप्त हुआ। कालेश्वर के पास पिंगाक्ष नामक पाशुपत रहते थे (पृ० ७२)। कृत्तिवासेश्वर पाशुपतों का अड्डा (पृ० ७७) था। सिद्धकूट में पाशुपत जप-तप में निरत रहते थे।

कुछ अजीब शैव क्रियाओं का भी उल्लेख आया है। कोटीश्वर के आग्नेय दिशा में श्मशान स्तम्भ था जहाँ मनुष्य अपने दुष्कृतों को तज देते थे (पृ० ५४)। कालेश्वर में शिवभक्त त्रिशूल का दाग लेते थे तथा देवदेव के मन्दिर में कुक्कुटों की पूजा होती थी (पृ० १०९)। वाराणसी में अग्निपात का तो अनेक बार उल्लेख हुआ है। १९ वी सदी तक यह क्रिया वाराणसी में विद्यमान थी। लक्ष्मीधर ने इस अग्निपात का विधि पूर्वक वर्णन किया है (पृ० २५८ से)। वायु पुराण के अनुसार जो ब्राह्मण निम्न लिखित मन्त्र का ध्यान करके अग्नि प्रवेश करता था उसे रुद्रलोक की प्राप्ति होती थी—

त्वमग्ने रुद्रस्त्वं सुधामहोदधिस्त्व, सर्वे मारुताः शिप्रमीयिरे,
त्वं वातैर्याससिगरी यस्त्वं प्रस्थिमायीरुषः पालयन् माम्।

देवी पुराण के अनुसार अग्निपात के पहले शिवरूप भैरव की पूजा होती थी तथा भैरव का पटचित्र बनाया जाता था। उनकी पचीस भुजाएँ होती थीं जिनमें खड्ग, खेटक, शूल, चक्र, गजचर्म, खट्वांग, वज्र तथा डमरू होते थे। वे दन्तुर और त्रिलोचन होते थे और नाना शिव और शिवाओं से घिरे होते थे। नागराज छुरी की जगह, वासुकी उपवीत की जगह, जटाबन्ध में कुटिल तथा कंकण की जगह शंखपाल होते थे। तक्षक और पद्मराग केयूर का काम देते थे और पद्म और कर्कोटक नूपुर का। इनके दोनों ओर गजमुख और हस्तिमुख वाले शूलधारी पुरुष होते थे और दो आयुध पुरुषों में एक के हाथ में कपाल और शूल और दूसरे के हाथ में उत्पल और अंकुश होते थे। ब्रह्मा और विष्णु उनके सेवक होते थे और उनका रूप अंधकासुर जैसा होता था। उसकी पूजा करने के बाद वीर आठ प्रकार से अपने को अग्नि में होम देता था—(१) **पतंगपात**—इसमें पतिंगे की तरह वीर आग में गिरता था। (२) **हंसपात**—हंस की तरह दोनों बगलें सिकोड़ कर अग्निपात। (३) **मृगपात**—मृग जैसे समपाद होकर अंधे गढ़े को पार करता है। (४) **मुसल**—जैसे ओखल में मूसल गिरता है। (५) **शाखापात**। (६) **विमानपात**। (७) वृष की तरह हुंकारते हुए अग्निपात। (८) **सिंहपात**—जैसे सिंह गजेन्द्र को मार कर तनता है, उसी तरह तनकर अग्निपात। स्त्रियों को भी अग्निपात का अधिकार था। यह भी कहा गया है कि भैरव वैष्णव के अस्थि की माला तथा शांभव कंचुक धारण करते थे। इनकी प्रतिमाएँ चित्रित होती थीं अथवा धातु काष्ठ अथवा रत्नों से बनी होती थीं। इनकी पूजा घर, पर्वत, नदी और विंध्याचल के सान्निध्य में विहित थी। इनके लिये मठ, कूप और आराम बनवाये जाते थे।

● ●

द्वितीय खण्ड

प्रथम अध्याय

१२१० से १५१६ ईस्वी तक बनारस का इतिहास

१. इतिहास

क़ुतुबुद्दीन ऐबक और शहाबुद्दीन ग़ोरी ने ११९४ ईस्वी में बनारस को फ़तह किया और बनारस की हुकूमत उन्हों ने अपने एक बड़े आला अफसर के हाथ सुपुर्द किया, जिसने बनारस से मूर्तिपूजा हटाने का पूरा प्रयत्न किया।[१] बनारस की अनुश्रुतिओं के अनुसार इस सूबेदार का नाम सैयद जमालुद्दीन था और मशहूर है कि उसी ने बनारस का जमालुद्दीन पुरा मुहल्ला बसाया। पर बनारस कुछ ही दिनों के बाद मुसलमानों के हाथ से निकल गया और उसे क़ुतुबुद्दीन को ११९७ ईस्वी में दोबारा फतह करना पड़ा। बनारस की अनुश्रुति के अनुसार क़ुतुबुद्दीन के राज्य काल में बनारस का सूबेदार मुहम्मद बाकर था। क़ुतुबुद्दीन के बाद शम्सुद्दीन इल्तूतमिश (१२११-१२२६ ईस्वी) दिल्ली के तख्त पर बैठा। गद्दीनशीन होते ही इल्तूतमिश को जो अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उनमें अवध और बनारस के सूबों की बग़ावत भी थी।[२] पर इन सब बग़ावतो को उसने कुचल डाला और बनारस पर उसका अधिकार काफी सुदृढ़ हो गया।[३] गुलाम सल्तनत १२३६ ईस्वी तक चलती रही पर उसके इतिहास में बनारस के बारे में कोई विवरण नहीं मिलता।

हम पहले ही कह आये हैं कि गोरी और क़ुतुबुद्दीन की फौजों ने बनारस में काफी तबाही मचा दी और प्रायः सब मन्दिर जमीन्दोज़ कर दिये। गुलाम वंश के सुल्तानों के समय में, जान पड़ता है, बनारस में कई मस्जिदें, हिन्दू मन्दिरों के अमलों से बनवायी गयीं। इनमें से मुख्य दारानगर से हनुमान फाटक की सड़क पर अढ़ाई कंगूरे की मस्जिद है। इस मस्जिद का गुंबद दर्शनीय है। मस्जिद का निचला भाग हिन्दू मन्दिरों के अमले से बना है। इसके दूसरे मंजिल में ११९० ईस्वी का संस्कृत एक लेख है जिसमें कुछ मन्दिरों और इमारतों के बनने का उल्लेख है।[४] इससे ज्ञात होता है कि यह मस्जिद बारहवीं सदी के अन्त अथवा तेरहवीं सदी के आरम्भ में बनी होगी। चौखम्भा मुहल्ले की चौबीस खम्भों वाली मस्जिद भी इसी युग की मालूम पड़ती है। गुलजार मुहल्ले में मकदूम साहब नाम की कब्रगाह के उत्तर और पश्चिम की ओर वाली दालानें भी हिन्दू मन्दिरों के स्तम्भों से बनी हैं। भदऊँ[५] मुहल्ले की भी मस्जिद हिन्दू मन्दिरों के सामान से

---

[१] ईलियट, भाग २, २२२-२२४

[२] कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग ३, ५-५८

[३] ईलियट, भाग २, पृ० ३२४

[४] बनारस गजेटियर, पृ० २५७

[५] भारत कला भवन में राजघाट से प्राप्त एक ताम्र-पत्र में यह भाद्रय के नाम से उल्लिखित है। उक्त ताम्रपत्र गाहडवाल गोविन्दचन्द्र देव का है।

बनी है। राजघाट पर एक मस्जिद में एक दालान १५० फुट लम्बी और २५ फुट चौड़ी है। उसके खंभे गाहड़वाल युग के या इसके और पहले के हैं। राजघाट पर ही पलंग शहीद के पास एक ढूहे पर चार खम्भों वाली एक इमारत है जिसकी छत पर मूर्तियाँ बनी हैं। जान पड़ता है ये सब मस्जिदें तेरहवीं सदी के आरम्भ में बनीं।[1]

गुलाम सुल्तानों के समय हिन्दुओं की बनारस में क्या अवस्था थी, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। जान पड़ता है कि उन्हें कठोर शासन के अन्दर रहना पड़ा होगा। पर बनारस के हिन्दू अपने धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में ऐसे ही हार मान लेने वाले नहीं थे। बनारस के ११९४ ईस्वी में पतन के साथ ही अविमुक्तेश्वर का मन्दिर भी गिरा दिया गया होगा। पर ऐसा पता चलता है कि इल्तुतमिश के राज्य काल में पुनः श्री विश्वेश्वर का मन्दिर बना। इस युग में गुजरात के प्रसिद्ध दानी सेठ वस्तुपाल द्वारा बनारस में विश्वनाथ की पूजा के लिये एक लाख रुपये भेजने का उल्लेख हमें मिलता है।[2]

गुलाम सुल्तानों के बाद दिल्ली के तख्त पर ग़यासुद्दीन बल्बन बैठे। इन्होंने १२६६ से १२८७ ईस्वी तक राज्य किया। इनके राज्य काल में भी बनारस के इतिहास के विषय में कुछ विशेष पता नहीं चलता। स्थानिक अनुश्रुति है कि इनके समय में बनारस के सूबेदार जलालुद्दीन अहमद थे और इन्होने जलालुद्दीनपुरा नाम का मुहल्ला बसाया।

१२८७ से लेकर १२९६ ईस्वी तक हमें बनारस के इतिहास के बारे में कुछ नहीं मिलता। १२९० ईस्वी में खलजियों ने दिल्ली पर अपनी सल्तनत कायम की और इस वंश में सबसे प्रतापी बादशाह अलाउद्दीन हुआ (१२९६–१३१६)। इसके बारे में प्रसिद्ध है कि उसने हिंदुओं को मटियामेट करने की पूरी कोशिश की और वह मूर्तिपूजा का कट्टर शत्रु था। उसके राज्य में बनारस की क्या हालत थी, इसका कुछ पता नहीं चलता पर यह एक विचित्र बात है कि इसके राज्य से प्रथम वर्ष में ही बनारस में पद्मेश्वर का मंदिर बना। इस बात का पता जौनपुर के लाल दरवाजा मस्जिद से मिले एक लेख से लगता है।[3] लाल दरवाजा मस्जिद १४४७ ईस्वी में बनी, इससे पता चलता है कि १२९६ से शायद १४४७ ईस्वी तक पद्मेश्वर का मंदिर बनारस में बना रहा। लेख निम्नलिखित है—

तस्यात्मजः शुचिर्धीरः पद्मसाधुरयं भुवि, काश्यां विश्वेश्वरद्वारि हिमाद्रिशिखरोपमं।
पद्मेश्वरस्य देवस्य प्रकारमकरोत्सुधी, ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे द्वादश्याम्बुधवासरे ॥

लिखिते मे सदा याति प्रशस्ति प्लववत्सरे संवत् १३५३।

अर्थात् पद्मसाधु ने काशी विश्वनाथ के मंदिर के सामने १२९६ ईस्वी में पद्मेश्वर का मंदिर बनवाया। इस लेख से दो बातों का पता चलता है एक तो यह कि १२९६ ईस्वी तक काशी में विश्वेश्वर का मंदिर था और दूसरा यह कि उस समय तक भी नये मंदिर बनारस में बन सकते थे। हिंदुओं को इस धार्मिक स्वतंत्रता देने के दो कारण

---

[1] बनारस गजेटियर, पृ २५२, २५४-५५

[2] प्रबंध कोश, परिशिष्ट १, पृ० १३२, कलकत्ता १९३५

[3] फ़ुहरर, दि शर्की आर्किटेक्चर ऑफ जौनपुर, पृ० ५१

हो सकते हैं। एक तो यह कि बनारस की तरफ सुल्तानों का विशेष ध्यान नहीं था और दूसरे यह कि बनारस के प्रांतीय शासक अपने मालिकों की भाँति कट्टर नहीं थे।

बनारस से मिले हुए एक दूसरे लेख से पता चलता है कि वीरेश्वर नाम के किसी व्यक्ति ने मणिकर्णकेश्वर के मंदिर की स्थापना की। लेख का समय संवत् १३५९ आषाढ़ बदि ११ भौमवार (मंगलवार २४ अप्रैल १३०२) है।[१] जैसा श्री नागर का अनुमान है शायद मणिकर्णिका घाट के पास ही यह मंदिर रहा हो। इस मंदिर के बनने से इस बात की भी पुष्टि होती है कि किसी रोक टोक के बिना अलाउद्दीन के आरंभिक राज्य काल तक बनारस में बराबर मंदिर बनते रहे। शायद मणिकर्णिकेश्वर का मंदिर बनवाने वाले वीरेश्वर के नाम पर ही काशी के वीरेश्वर घाट का नाम पड़ा।

१३२० ईस्वी में दिल्ली के तख्त पर तुग़लक वंश की स्थापना हुई। इस वंश का सबसे प्रतापी राजा मुहम्मद तुग़लक (१३२५–१३५१ ई०) हुआ। भाग्यवश इसके राज्य काल में बनारस की अवस्था पर जिनप्रभ सूरिकृति विविध तीर्थकल्प से काफी प्रकाश पड़ता है। जिनप्रभ सूरि एक प्रसिद्ध श्वेतांबर जैन आचार्य थे और अनुश्रुति यह है कि उनका मुहम्मद तुग़लक पर प्रभाव था। जो भी हो जिनप्रभसूरि ने तमाम जैनतीर्थों की, जिनमें काशी भी थी, यात्रा की और इन सब तीर्थों का विवरण उन्होंने अपनी पुस्तक विविधतीर्थ-कल्प में एकत्र किया। विविधतीर्थ कल्प से पता चलता है कि जिनप्रभ का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था और वे तीर्थों का वर्णन करते हुए हिंदू पुराणों की तरह केवल ग्रंथों का ही सहारा नहीं लेते थे। उनके बनारस के वर्णन से बनारस की भौगोलिक स्थिति, बनारस संबंधी किंवदंतियाँ, बनारस की धार्मिक स्थिति, विद्या इत्यादि सभी अंगों पर प्रकाश पड़ता है।[२]

वाराणसी के बारे में विविधतीर्थ कल्प का कहना है कि सुवर्ण रत्नों से समृद्ध उत्तरवाहिनी गंगा से घिरी हुई उस नगरी में बड़े अद्भुत लोग रहते थे तथा वरणा और असी नाम की दो नदियों के इस नगरी में प्रवेश करने से ही नैरुक्तों द्वारा इसका नामकरण हुआ।

काशी के संबंध में भी जिनप्रभ ने निम्नलिखित जैन अनुश्रुतियों का उल्लेख किया है—

१—यहां सातवें जिन सुपार्श्वनाथ का पृथ्वी देवी के कोख से जन्म हुआ। अपने राज्य का भोग करके खूब दान देने के बाद वे सम्मेतगिरि गये और वहां उन्हें मोक्ष मिला।

२—तेइसवें जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ का भी यहीं जन्म हुआ। इनके पिता का नाम अश्वसेन और माता का नाम वामा था। अपनी जवानी बनारस में बिताकर ये सम्मेतगिरि पर केवली हुए। इनके संबंध में कहानी है कि बचपन में मणिकर्णिका पर कमठ के पंचाग्नि

---

[१] जर्नल यू० पी० हि० सो०, भा० ९, एप्रिल १९३६, पृ० २१ से

[२] विविधतीर्थ कल्प, जिन विजय द्वारा संपादित, पृ० ७२-७४, शांति निकेतन, १९३४

यज्ञ की एक लकड़ी से एक जलते हुए सर्प को निकालकर इन्होंने यज्ञादि कर्मों से लोगों को विरत किया।

३—इस नगरी में वेद और कर्मकांड के प्रकांड पण्डित जयघोष और विजयघोष नाम के दो भाई रहते थे। एक समय जयघोष ने गंगा में स्नान करते हुए पृदाकुण द्वारा भेक को पकड़े जाते एवं कुशल द्वारा एक सर्प को पकड़े जाते और जमीन पर उसे गिरा कर खाये जाते देखा। इन दृश्यों से उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ। साधु होने के दूसरे दिन वे बनारस आये और ब्राह्मण-यज्ञशाला में प्रवेश करना चाहा पर ऐसा करने से उन्हें दान के इच्छुक ब्राह्मणों ने रोका। बाद में उन्होंने अपने उपदेशों से उन्हें अपनी ओर झुका लिया। कुछ दिनों के बाद उनके भ्राता विजयघोष ने संसारी जीवन का त्याग किया।

४—यहाँ पर संवाहन नाम के राजा की हजार कन्याओं की लालच से एक दूसरे राजा द्वारा नगरी घेरे जाने पर गर्भस्थ होते हुए भी अंगवीर ने राजलक्ष्मी की रक्षा की।

५—मृतगंगा के किनारे पैदा हुए मातंग ऋषि बल एक समय वाराणसी में तिंदुक नाम के एक उपवन में ठहरे। यहाँ अपने आचार से उन्होंने गंडी तिंदुक नामक यक्ष का ध्यान आकर्षित किया। कौसल-राज की कन्या भद्रा ने इस गंदे ऋषि को देखकर उस पर थूक दिया। इस पर यक्ष भद्रा के सिर पर सवार हो गया और उसे ऋषि से विवाह करना पड़ा। बाद में ऋषि ने उसे छोड़ दिया और उसने रुद्रदेव से अपना विवाह कर लिया। एक समय भिक्षा माँगते हुए मातंग ऋषि पर ब्राह्मण हँसे और उनकी बेइज्जती की लेकिन वहाँ भद्रा ने उन्हें पहचान लिया। बाद में उन्होंने ब्राह्मणों को क्षमा कर दिया।

६—इस नगरी में भद्रसेन नाम के एक वृद्ध श्रेष्ठि रहते थे। उनकी पत्नी का नाम नंदा और पुत्री का नाम नंदश्री था। एक समय पार्श्वनाथ ने उनके निजी मन्दिर में अपना समय बिताया। उसी समय नंदश्री साध्वी हो गयी और उसे पार्श्वनाथ ने आर्या गोपालि के नियंत्रण में रक्खा।

७—इस नगरी में धर्मघोष और धर्मयशस् नाम के दो तपस्वी रहते थे। एक समय हेमंत में गंगा पार करते हुए उन्हें प्यास लगी, लेकिन वे गंगा का पानी पी नहीं सकते थे। इस पर देवताओं ने दही लाकर दी पर उसे भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। देवताओं ने गर्मी से इन तपस्वियों की रक्षा करने के लिए आकाश में बादल कर दिये। गाँव लौटने पर उञ्छवृत्ति से ग्रहण किये गये अन्न से उन्होंने अपनी भूख मिटायी।

८—अयोध्या के राजा त्रिशंकु के पुत्र हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी सुतारा और पुत्र रोहिताश्व के साथ सुख से कालयापन कर रहे थे। उनकी कीर्ति गाथा सुन कर चन्द्रचूड और मणिप्रभ नाम के दो देवता पृथ्वी पर अवतरित हुए और जंगली सूअर का रूप धर के अयोध्या के पास शक्रावतार नामक उपवन को नष्ट करने लगे। हरिश्चन्द्र ने तो इन सूअरों को तो तीर से मार डाला पर ऐसा करने में एक सूअर के बदन से तीर निकल कर एक गर्भिणी हिरनी को लगा और वह चल बसी। अपने पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए राजा कुलपति के पास पहुँचे। कुलपति और उनकी कन्या दोनों ही राजा पर बहुत

अप्रसन्न हुए। उनको प्रसन्न करने के लिए राजा ने अपना पूरा राज्य तो उन्हें दे ही दिया पर उसके साथ एक लाख सुवर्ण मुद्राएँ भी देने का वादा किया। ऋषि कौटल्य के साथ राजा अपने नगर वापस आये और कोषाध्यक्ष को मुहरें लाने को कहा। इस पर ऋषि ने राजा को बेवकूफ बनाते हुए कहा कि अपना सब दान देने पर उन्हें उस द्रव्य पर कोई अधिकार नहीं था। जब राजा के मंत्री वसुभूति और उनके मित्र कुंतल ने बीच बचाव करना चाहा तो ऋषि ने शाप देकर एक को तोता और दूसरे को सियार बना दिया। एक महीने में कर्ज उतारने का वादा करके अपने पुत्र और पत्नी के साथ राजा काशी में आये और वहाँ उन्होंने उन दोनों को वज्रहृदय नामक ब्राह्मण के हाथ छह हजार मुहरों पर बेंच डाला। सुतारा को ब्राह्मण के यहाँ दासी का काम करना पड़ता था और रोहिताश्व को ब्राह्मण के लिए ईंधन और फल-फूल इकट्ठा करना पड़ता था। इसी बीच में कुलपति अपना कर्ज राजा से वसूलने को आ धमके और राजा ने उन्हें छह हजार मुहरें भेंट कर दी। बाकी रुपये के लिये कुलपति ने हरिश्चन्द्र को काशिराज से भीख माँगने की सलाह दी पर राजा ने उसे नहीं माना और अपने आप को एक चांडाल के हाथ बेंच दिया। इस चांडाल ने राजा को श्मशान भूमि की देख-रेख पर नियुक्त किया। देवताओं ने राजा के सत्य की और घोर परीक्षा के लिए नगर में महामारी का प्रकोप फैलाया। इसका दोष सुतारा के सिर मढ़ा गया और उसे गधे पर चढ़ाकर शहर से निकाल कर एक बरगद के पेड़ के साथ बाँध दिया गया। उस कष्ट से हरिश्चन्द्र ने उसका उद्धार किया। इसी बीच में फूल चुनते हुए रोहिताश्व को एक साँप ने डस लिया और उससे उसकी मृत्यु हो गयी। जब उसका शव दाह के लिए श्मशान में लाया गया तो हरिश्चन्द्र ने श्मशान का कर माँगा। इसी समय देवता प्रकट हुए और उन्होंने हरिश्चन्द्र को उनकी पूर्वावस्था पर पहुँचा दिया।[१]

काशी माहात्म्य में इस बात की चर्चा है कि कलियुग को काशी में स्थान नहीं है। यहां कीट पतंग और घोर पाप करने वालों को भी शिव का परम पद मिलता है।

यहां धातुवाद, रसवाद, खन्यवाद तथा मंत्रविद्या से निपुण लोग रहते थे। शब्दानुशासन, तर्क, नाटक, अलंकार और ज्योतिष के सिरे के पंडित भी इस नगरी में वास करते थे। निमित्तशास्त्र और साहित्यादि विद्याओं के निपुणों की भी यहां कमी नहीं थी। यहां के रहने वाले परिव्राजकों, जटाधारियों, योगियों तथा ब्राह्मणों की समभाव से सेवा करते थे। चारों दिशाओं और देशान्तर के निवासी यहाँ रहते थे और कला कुतूहल में अपना समय व्यतीत करते थे।

वाराणसी इस समय चार भागों में विभक्त थी—यथा देव वाराणसी जहाँ विश्वनाथ का मंदिर था। इस देव वाराणसी में जैन चतुर्विंशति पट्ट की उस समय भी पूजा होती थी। दूसरी राजधानी वाराणसी में यवन रहते थे। तीसरी मदन वाराणसी थी और चौथी विजय वाराणसी। इस नगरी में लौकिक तीर्थों की गणना में कौन समर्थ था?

---

[१] वही, पृ० ७३–७४

यहां अनेक अन्तर्वण, दन्तखात, निकषा और तालाब थे। श्री पार्श्वनाथ का चैत्य अनेक प्रतिमाओं से विभूषित था। यहां की पुष्कारिणियों में नाना जाति के कमल खिलते थे जिनके अमल परिमल से भ्रमरकुल आकृष्ट होते थे।

इस नगरी में बिना भय के बंदर इधर उधर कूदा करते थे, पशु भी बेधड़क घूमा करते थे और धूर्त भी निःसंकोच टहलते रहते थे।

वाराणसी से तीन कोस पर धर्मेक्षा नाम का सन्निवेश था जहां बोधिसत्त्व का ऊँचा गगनचुंबी आयतन था।

यहां से अढ़ाई योजन पर चन्द्रावती नाम नगरी थी जहां श्री चन्द्रप्रभु ने जन्म ग्रहण करके अखिल भुवन के लोगों को तुष्ट किया।

गंगोदक और दो जिनों के जन्मस्थान से प्रकाशित काशी नगरी किसे प्यारी नहीं होगी।

काशी के चौदहवी सदी के मध्य के वर्णन से यह पता चलता है कि मुसलमानों के अनेक अत्याचारों के होते हुए भी काशी ने अडिग भाव से धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में अपना नाम जीवित रक्खा। इस युग में भी बनारस शिक्षा का प्रधान केन्द्र बना रहा और यहां वेद-वेदांगों तथा व्याकरण की शिक्षा के अतिरिक्त धातुवाद, रसवाद और खन्यवाद जैसे वैज्ञानिक विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। मंत्रशास्त्र, ज्योतिष और निमित्त शास्त्र के भी निष्णात इस नगरी में रहते थे। साथ ही साथ नाटक, अलंकार और साहित्य का भी यहाँ पठन-पाठन चलता रहता था।

जिनप्रभ से हमें यह भी मालूम पड़ता है कि उस समय भी विश्वनाथ का मंदिर देववाराणसी में स्थित था। जैनों का भी काशी उस समय तीर्थ क्षेत्र बन चुका था। चौदहवीं सदी में वहाँ पार्श्वनाथ का एक मंदिर था, शायद वह मंदिर भेलूपुर में रहा हो जहां अब भी पार्श्वनाथ का मंदिर है। चन्द्रावती भी जैनों का आजकल की तरह ही पवित्र स्थान था। सारनाथ का धमेख स्तूप भी ज्यों का त्यों खड़ा था और लोग चौदहवीं सदी तक यह नही भूले थे कि वह बोधिसत्त्व का परमपवित्र स्थान है। बनारस से धमेख और चन्द्रावती की जो दूरियां दी गयीं है वह भी ठीक हैं और उससे यह पता लगता है कि जिनप्रभ ने सुनी-सुनाई बात नहीं लिखी है, वे उन जगहों की यात्रा के लिए स्वयं अवश्य गये होंगे।

जिनप्रभ के काशी वर्णन से भी पता चलता है कि चौदहवीं सदी में भी परिव्राजकों, जटाधारियों और योगियों का आज की तरह ही बनारस अड्डा था और लोग उनका आदर करते थे।

बनारस शहर का भी उन्होंने स्वाभाविक वर्णन किया है। उससे पता चलता है कि शहर में बहुत से तालाब और पोखरियां थीं जिनमें तरह-तरह के कमल खिला करते थे। आज की ही तरह बन्दर इधर-उधर उछल-कूद मचाया करते थे और निर्द्वन्द्व

भाव से साँड़ इधर-उधर टहला करते थे। धूर्त और बदमाशों की भी चौदहवीं सदी के बनारस में कमी नहीं थी।

नगर को जिनप्रभ ने चार वाराणसियों में बाँटा है। पहली है देव वाराणसी। शायद इस वाराणसी से दक्षिण की ओर बसे बनारस की ओर संकेत है। जान पड़ता है, देव मन्दिर चौदहवीं सदी में इसी ओर बने थे और विश्वनाथ का भी मन्दिर यहीं था। अगर हमारा अनुमान सत्य है तो चौदहवीं सदी का विश्वनाथ मन्दिर आज कल के पुराने विश्वनाथ के आस-पास रहा होगा। दूसरी वाराणसी राजधानी वाराणसी थी और यहाँ मुसलमान राजकर्मचारी रहते थे। निश्चय ही इस राजधानी वाराणसी का संकेत शहर के आदमपुर और जैतपुर हल्कों से है। तीसरी वाराणसी को मदन वाराणसी कहा गया है। यह वाराणसी खास बनारस शहर का एक भाग न होकर गाजीपुर की जमानियाँ तहसील में थी। सोलहवीं सदी के आरम्भ में जैसा तुजुक ए बाबरी[1] में कहा गया है बाबर ने मदन बनारस में अपना डेरा डाला था। अकबर के राज्यकाल में अलीकुली खान-खान ए-जमां ने इसका नाम जमानियाँ में बदल दिया और तभी से मदन बनारस का नाम जमानियाँ चला आता है। जान पड़ता है कि मदन-बनारस को बसाने का श्रेय गाहड़वाल मदनचन्द्र को है। चौथा बनारस, विजय-वाराणसी भी खास बनारस शहर का भाग नहीं मालूम पड़ता। सम्भव है कि मिर्जापुर के विजयगढ़ का नाम विजय-वाराणसी रहा हो और इसे गोविन्दचन्द्र के पुत्र विजयचन्द्र ने बसाया हो।

फ़ीरोज़ तुग़लक (१३५१–१३८८ ईस्वी) कट्टर मुसलमान था और उसके द्वारा मन्दिर तोड़ने और ब्राह्मणों के सताये जाने के अनेक उल्लेख इतिहास में आये हैं। जान पड़ता है फ़ीरोज़ तुग़लक के समय तक ब्राह्मणों को शायद हिन्दू अफसरों की मदद से जज़िया से माफी थी। लेकिन इस्लाम के अनुसार तो सब काफ़िरों पर जज़िया लगना चाहिए। फ़ीरोज़ ने देखा कि हिन्दुओं में से खास एक फ़िर्के का ओर उस फ़िर्के का, जो धर्म का ठीकेदार था, इस तरह जज़िया से निकल भागना इस्लाम की अवहेलना थी। इसलिए फ़ीरोज़ ने निश्चय किया कि जज़िया सब हिन्दुओं से वसूला जाय। इस पर ब्राह्मणों ने बड़ा बावेला मचाया। वे राज महल के चारों ओर इकट्ठे होकर दुहाइयाँ देने लगे और जल मरने की धमकी दी। इस पर फ़ीरोज़ ने इनसे खुशी से जल मरने को कहा, पर जल मरना कोई मामूली बात तो थी नहीं। तब ब्राह्मणों ने भूखे रह कर महल पर धरना देना आरम्भ किया। इसका असर बादशाह पर तो न पड़ा इतर वर्ण के बेचारे हिन्दुओं पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा और उन्होंने ब्राह्मणों पर लगी जज़िया का भार भी उठाया।[2] बनारस में ब्राह्मणों पर जज़िया लगने का क्या प्रभाव पड़ा इसका पता नहीं है पर दिल्ली के अन्य वर्ण के हिन्दुओं की तरह बनारस के सेठ साहूकारों ने भी अपने धर्म गुरुओं का यह भार उठाया होगा।

बनारस में फ़ीरोज़ तुग़लक की कट्टरता का संकेत शायद बकरिया कुंड की एक मस्जिद से मिलता है। यह मस्जिद हिन्दू मन्दिरों के अमले से बनी है और इसमें पाँच-पाँच

[1] तुजुक ए बाबरी (बेवरिज का अनुवाद), भाग २, पृ० ६५८, लंडन १९२२

[2] कैंब्रिज हिस्ट्री, भाग ३, पृ० १८८

खंभों की तीन लड़ें लगी हैं। मस्जिद पर एक लेख से पता चलता है कि ज़िया अहमद नाम के किसी व्यक्ति ने १३७४ ईस्वी में फ़ीरोज के राज्यकाल में मस्जिद, तालाब की सीढ़ियाँ और फखरुद्दीन अलावी की दरगाह की दीवाल बनवायी।[1] जान पड़ता है बनारस के मन्दिरों पर पुनः विपत्ति के बादल घहराने लगे थे। बनारस का दिल्ली के सुल्तानों के हुकूमत में बच रहने का एक कारण दिल्ली से पूरब की ओर जाने वाले रास्ते से बनारस अलग पड़ जाना है। यह रास्ता कन्नौज, अयोध्या, जौनपुर और गाजीपुर होकर निकल जाता था और इसीलिए कम से कम फौजियों से तो बनारस की रक्षा हो ही जाती थी।

१३९४ ईस्वी से बनारस के इतिहास में एक दूसरा दौर शुरू होता है और अस्सी साल से कुछ अधिक काल तक के लिए बनारस जौनपुर से शर्की सुल्तानों के हाथ में चला जाता है। जौनपुर को १३५९–६० ईस्वी में फ़ीरोज शाह तुग़लक ने बसाया। १३९३ ईस्वी में ख्वाजा जहाँ मलिक सरवर ने दिल्ली से तुग़लक सुल्तान नसीरुद्दीन मुहम्मद तुग़लक से अपना सम्बन्ध तोड़कर जौनपुर में अपना स्वतन्त्र राज्य कायम किया। इसने अवध, दोआब में कोइल तक और पूरब में तिरहुत और बिहार तक अपना अधिकार बढ़ाया। ख्वाजा जहाँ की मृत्यु १३९९ ईस्वी में हुई। इनके और इनके वंशधरों यानी मलिक करनफूल मुबारक शाह (१३९९–१४०२ ईस्वी) और शम्सुद्दीन इब्राहीम शाह (१४०२–१४३६ ईस्वी) के समय तक बनारस की क्या अवस्था थी इसका कुछ पता नहीं लगता। पर महमूद शाह शर्क़ी (१४३६–१४५८ ईस्वी) के समय में लगता है बनारस के मन्दिरों की तोड़-फोड़ फिर से आरम्भ हो गयी। जौनपुर की लाल दरवाजा मस्जिद १४४७ ईस्वी में बनी और इसमें बनारस के पद्मेश्वर के १२९६ईस्वी के लेख के मिलने से यह पता चलता है कि १४४७ईस्वी के आस पास ही बनारस का यह मन्दिर टूटा। विश्वनाथ के मन्दिर की भी यही गति हुई होगी इसमें सन्देह नहीं। हुसेन शाह शर्क़ी १४५८ ईस्वी में जौनपुर की गद्दी पर आये। दिल्ली के लोदी बादशाह बहलोल (१४५१-१४८९ईस्वी) से इनकी लड़ाइयाँ इतिहास प्रसिद्ध हैं। अन्त में १४७९ ईस्वी में हुसेन शाह को बहलोल से हार खाकर बंगाल भाग जाना पड़ा और जौनपुर पुनः दिल्ली के अधीन हो गया। बनारस में अनुश्रुति है हुसेन शाह के समय बनारस के फ़ौजदार ग़ुलाम अमीना थे जिन्होंने अमीन मण्डई मुहल्ला बसाया। लोदियों और शर्क़ियों के इस कशमकश में बनारस को और उसके मन्दिरों को काफी नुकसान पहुँचा होगा, इसमें सन्देह नहीं।

सिकन्दर लोदी (१४८९–१५१७ ईस्वी) के समय पुनः बनारस के इतिहास की थोड़ी सी झलक मिलती है। हम कह आये हैं कि १४७८ ईस्वी में जौनपुर पुनः दिल्ली की सल्तनत में मिला लिया गया। बहलोल ने जौनपुर की सूबेदारी हाथ में ले ली। सिकन्दर लोदी के गद्दी पर आते ही पुनः टंटा उठ खड़ा हुआ। सिकन्दर लोदी ने अपने भाई बारबक से समझौता करना चाहा। पर बारबक को हुसेन शाह, जो बिहार में पड़ा था, बराबर इस उम्मीद में भड़काता रहा कि दोनों भाइयों की लड़ाई में उसका उल्लू सीधा होगा। इसका नतीजा यह हुआ कि बारबक को कन्नौज के पास सिकन्दर से हार खानी पड़ी। सिकन्दर ने उसके साथ भलमंसी का व्यवहार किया और पुनः उसे

---

[1] जे० ए० एस० बी०, २४, १; ४२, १६३

जौनपुर का शासक नियुक्त कर दिया पर साथ ही साथ उसके हाथ से प्रायः सब अधिकार ले लिये। इतने से ही मामला खतम नहीं हुआ। कुछ ही दिनों में सुल्तान के पास खबर पहुँची कि हिन्दू जमींदारों ने बलवा कर दिया है। बारबक शाह ने अपने को कुछ करने में असमर्थ पाया पर सिकन्दर फौरन उसकी मदद को आ पहुँचा। जमींदारों को हार खानी पड़ी और जौनपुर में पुनः बारबक आ बिराजे और सिकन्दर शिकार खेलने के लिए अवध की तरफ चले गये पर बलवा न रुका और बारबक बलवाइयों को शह देने लगे। यह सुनकर सिकन्दर ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया और फाफामऊ के राजा भील को मात दी। अक्टूबर १४९४ ईस्वी में राजा लखमीचन्द को, जो फाफामऊ के राजा भील के पुत्र थे, हुसैन शाह ने सिकन्दर पर हमला करने को ललकारा। सिकन्दर हुसैन शाह से लड़ने को आगे बढ़ा। वह थोड़ी सी फौज चुनार में रखकर बनारस की ओर चला और बनारस शहर से करीब २५ मील पर उसे हराकर पटने तक खदेड़ दिया।[१] बनारस में अनुश्रुति है कि रघुवंशी राजा डोमनदेव को सिकन्दर लोदी की इस लड़ाई में मदद करने से कटेहर का परगना मिला।[२]

सिकन्दर कट्टर मुसलमान था। मुसलमान इतिहासकार उसे सच्चा ग़ाजी मानते थे। मन्दिरों के नष्ट करने में और ब्राह्मणों का वध करने में तो वह एक था। बनारस पर भी इसके राज्य काल में बुरी ही गुजरी होगी और शायद उसके राज्यकाल में बनारस का एक भी मन्दिर न बचा हो। पर बनारस में जल्दी से अपनी प्राचीनता पर लौट आने की एक बहुत बड़ी शक्ति थी और सुल्तान युग के लाख अत्याचार भी बनारस को मिटाने में असमर्थ रहे। जौनपुर की हिन्दुओं की बग़ावत हुसैन शर्क़ी के भड़काने से मानी जाती है, पर इसमें हिन्दुओं पर सिकन्दर लोदी द्वारा किए गये अत्याचार भी एक कारण हो सकते हैं।

२. सल्तनत युग में बनारस की धार्मिक स्थिति

क़ुतुबुद्दीन द्वारा बनारस दखल हो जाने पर एक बार तो बनारस के धार्मिक विश्वासों को गहरा धक्का लगा। ब्राह्मणों की धार्मिक सत्ता जाती रही और हिंदू धर्म के प्रतीक प्रायः सब मंदिर ढहा दिये गये। पर बनारस में लाख अत्याचार होने पर भी अपनी पूर्ववत अवस्था पर पहुँच जाने का एक विलक्षण गुण है। बनारस के दखल होने के कुछ ही वर्षों के अन्दर, इल्तुतमिश के काल में विश्वनाथ का मंदिर पुनः बन गया और गुजरात ऐसे सुदूर प्रांत से भी वहाँ दान दक्षिणा आने लगी। १२९६ ईस्वी तक जो, जैसा पद्म साधु के पद्मेश्वर वाले लेख से पता चलता है, बनारस में फिर से मंदिर भी बनने लगे। चौदहवी सदी के प्रथम चरण में तो पुनः बनारस अपनी पूर्वावस्था पर आ पहुँचा था। हजारों की संख्या में लौकिक तीर्थ बन चुके थे और बाहर से भी लोग बनारस में आ आ कर बसने लगे थे। अपने कौशल से ब्राह्मणों ने अपने ऊपर से जजिया भी माफ करवा ली होगी, और शायद सेठों के रुपयों के बल से, जिसमें से बहुत कुछ मुसलमान

---

[१] ईलियट, भाग ५, पृ० ९५

[२] बनारस गजेटियर, पृ० १९१–९२

अमलदारों की जेब में भी जाता होगा, बनारस में पूर्ववत् धार्मिक और सामाजिक व्यवहार चलने लगे होंगे। पर बनारस का यह धार्मिक पुनरुत्थान क्षणिक था। फ़ीरोज़ तुग़लक के गद्दी पर आते ही पुनः हिंदुओं पर तबाही आ गयी और बनारस भी उससे न बच सका। जौनपुर के शर्क़ी सुल्तानों के अधिकार में भी बनारस के हिंदू सुखी नहीं थे। पर बनारस को सबको गहरा धक्का सिकन्दर लोदी के समय लगा। सिकन्दर अपनी धार्मिक कट्टरता के लिए प्रसिद्ध था और उसने बनारस के हिंदुओं को अच्छी तरह कुचल डाला। इस भयंकर धक्के से करीब सौ साल बाद ही बनारस सँभल सका।

बनारस का धार्मिक विश्वास सुल्तानी युग में भी पहले की तरह ही था। बाबा विश्वनाथ सर्वमान्य देवता थे, पर लौकिक देवताओं की संख्या, जैसा जिनप्रभ ने कहा है, असंख्य थी। गंगास्नान, व्रत, देव पूजा, उपवास, ब्राह्मण भोजन और पूजा पहले ही की तरह जारी थी। छुआछूत इत्यादि भी पहले जैसी ही थी। जिनप्रभ से हमें मालूम पड़ता है कि संन्यासी, परिव्राजक, जटाधारी साधू और योगी बनारस में विशेष तरह से बसते थे। और भी कितने ही मतमतांतर बनारस में रहे होंगे, जिनका पता नहीं। मंत्रशास्त्र का भी बनारस में काफी प्रचार होने से यह पता चलता है कि यहाँ तांत्रिकों की भी कमी नहीं थी।

उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि ब्राह्मण धर्म वही पुरानी लीक पकड़ रक्खी थी। पर भारत में इस्लाम के आगमन ने प्राचीन हिन्दू धर्म और सामाजिक व्यवस्था को बुरी तरह झकझोर डाला था। अब तक तो हिंदू धर्म की यह विशेषता थी कि जो भी मतमतांतर बाहर से आये या भीतर से प्रकट हुए उन्हें उसने अपने विशाल धर्म में स्थान दे दिया और उसके पूजकों और मानने वालों को इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता दे दी कि वे जिस देवता को चाहे पूजा करें और जो उनके धार्मिक विश्वास हैं उन्हें मानें। इस तरह हिन्दू धर्म किसी खास धर्म या मजहब का प्रतीक न होकर बहुत से विश्वासों और धर्मों का एक ढीलाढाला पुंज बना रहा। पर इस्लाम एक संघटित धर्म था। इस्लाम की शरण में एक बार आ जाने वाले को यह स्वतंत्रता नहीं थी कि वह अपने पहले धार्मिक विश्वासों पर भी आस्था रख सके। हिंदू धर्म अलग अलग जातियों का समुदाय है, पर इसके विपरीत इस्लाम व्यक्तियों को एक वृहत् समूह का अंग बना देता है। हिंदू धर्म चरित्र की शुद्धता पर जोर देता है और इस्लाम मत पर। हिन्दू धर्म मत की विभिन्नताएँ होते हुए भी सबको परब्रह्म से मिलने का अधिकारी मानता है, पर इस्लाम के मत से मुसलमानों के अतिरिक्त और सब काफ़िर दोजख के अधिकारी हैं। भारत का ऐसे मत से पाला नहीं पड़ा था जो दूसरे की सुने ही नहीं, अपनी जबर्दस्ती चलाये। इसलिए कुछ दिनों तक तो हिंदू धर्म के होश हवाश उड़े रहे पर धीरे धीरे उसने इस नये वातावरण में अपने को संभालने का प्रयत्न किया, कुछ अपने प्राचीन रूप में एक व्यवस्था लाकर और कुछ नये विचारों को प्रश्रय देकर।

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी[१] का मत है कि इस्लाम का सामना करने के लिये विशाल हिंदू धर्म के जंगल से एक पथ निकालने का प्रयत्न कुछ स्मार्त पंडितों ने किया, जिससे हिंदुओं में श्राद्ध विवाहादि की एक रीति नीति प्रचलित हो सके। पर केवल आचार पर

[१] कबीर, पृ० १७२ से

ही जोर देने से काम नहीं चलने का था उससे तो केवल जड़ता बढ़ी और हिंदू जप तप स्नान होम पर ही जुट गये।

पर इन कट्टर पंथी हिंदुओं के सिवा भी बनारस के आस पास और बिहार में नाथ पंथी योगियों का बहुत जोर था। जिनप्रभ सूरि ने मुहम्मद तुग़लक के समय में काशी के जिन तीन चार संप्रदायों के नाम गिनाये हैं उनमें योगी भी हैं। ये योगी स्मार्त मत और प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता) को नहीं मानते थे। ये गुणातीत शिव या निर्गुण तत्त्व के उपासक थे और इनकी साधना ध्यान और उपासना द्वारा होती थी। इनमें सिद्ध साधक और अवधूत तो गृहस्थ नहीं होते थे पर इनके शिष्यों में बहुत से आश्रम-भ्रष्ट गृहस्थ थे जो योगी जाति का रूप ग्रहण कर चुके थे। हिंदू तो इन्हें पतित मानते थे पर वे तब तक मुसलमान नहीं हुए थे।

इस तरह जब इस ह्रास काल में चारों ओर निराशा की लहर दौड़ रही थी बनारस में रामानंद और उनके शिष्य हुए, जिन्होंने मूढ़ धार्मिक विश्वासों के ऊपर उठकर प्रेम और भक्ति का एक नया रास्ता दिखलाया, जिसमें ऊँच नीच, जांत-पांत, यज्ञ, जप, होम इत्यादि धर्म के बाह्याडंबरों को छोड़कर मनुष्य की एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इस नयी धार्मिक विचार धारा का आरंभ बनारस से उस समय हुआ जबकि हिंदुओं की आँखें निरंतर पिटते रहने पर भी नहीं खुल रहीं थीं। इस बगावत अथवा पुनरुत्थान की ओर पहला कदम बढ़ाने वाले रामानंद थे।

रामानंद रामानुजी संप्रदाय के थे। एक अनुश्रुति के अनुसार १२९९ ईस्वी में उनका जन्म प्रयाग के एक ब्राह्मण कुल में हुआ और बारह वर्ष की अवस्था में वे बनारस में शिक्षा के लिये आये। यहां पहले तो उन्होंने शांकर वेदांत का अध्ययन किया पर बाद में श्री वैष्णव मत के आचार्य राघवानंद के शिष्य होकर विशिष्टाद्वैतवादी हो गये। कुछ समय बाद रामानंद तीर्थयात्रा पर गये और जान पड़ता है इस यात्रा में उन्हें भिन्न जातियों के हिंदुओं से साबका पड़ने पर उनकी संकुचित दृष्टि विकसित हुई। रामानुज की शिक्षा तो केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित थी और छुआछूत खान-पान के भेद के ऊपर वे नहीं उठ सके थे। अनुश्रुति है कि यात्रा से बनारस लौटने पर रामानंद के मठवालों ने उन्हें प्रायश्चित्त के बिना लेने से इन्कार कर दिया पर रामानंद की तो आँखें खुल चुकी थीं। उन्होंने तुरत रामानुजी संप्रदाय का त्याग कर दिया और अपना स्वतंत्र मत चलाया और इस सिद्धान्त का दृढ़ता के साथ प्रतिपादन किया कि राम की शुद्ध मन से उपासना करने वाले बिना किसी जाति भेद के एक साथ खा पी सकते थे। जातिवाद पर आश्रित हिंदू समाज के लिए तो यह बिलकुल नयी बात थी। रामानद ने जाति की फौलादी दीवारों की प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ डालने को कहा। पर वे केवल सिद्धांत ही प्रतिपादित करके नहीं रह गये। उन्होंने छोटों को ऊपर उठाया और उनको सामाजिक और धार्मिक एकता दी। उन्होंने यह भी देखा कि नये मत के प्रचार के लिए संस्कृत से काम नहीं चलने का था। झट उन्होंने और उनके चेलों ने जनता की भाषा को अपनाया। उनके शिष्यों में एक ब्राह्मण, एक चमार, एक राजपूत और यहाँ तक की एक स्त्री भी थी। जुलाहा कबीर मुसलमान थे। इन मस्त

फकीरों ने गांव-गांव घूमते हुए इस नये मत का प्रचार किया। रामानंद की मृत्यु शायद १४१० ईस्वी में एक सौ पन्द्रह वर्ष की उमर में हुई।

रामानंद के संप्रदाय में कबीर का बहुत बड़ा स्थान है। मुसलमान होते हुए भी उन्हें हिंदू धर्म का अच्छा ज्ञान था और जैसा श्री हजारी प्रसाद का अनुमान है उनका जन्म शायद ऐसे मुस्लिम कुल में हुआ था जो थोड़े ही दिन पहले जोगियों का पंथ छोड़कर मुसलमान हो गया था। अनुश्रुति के अनुसार कबीर रामानंद के शिष्य थे लेकिन रामानंद की मृत्यु १४१० ईस्वी में हुई और कबीर की मृत्यु १५१८ ईस्वी में। इसलिये यह मानना कठिन है कि कबीर रामानंद के शिष्य थे। फिर भी कुछ विद्वानों ने रामानंद का समय कुछ आगे लाकर कबीर का उन्हें शिष्य दिखलाने का प्रयत्न किया है। जो भी हो, यह तो निश्चय है की कबीर को रामानंदी संप्रदाय से बहुत बड़ी स्फूर्ति मिली।

बनारस में कबीर अपने कुटुंब के साथ रहते थे और जुलाहे का अपना काम काज भी चलाते थे। धार्मिक असहिष्णुता और निरर्थक आचारों के विरोधी होने के कारण कबीर ने बनारस के पंडितों और संन्यासियों की काफी खबर ली। कुछ दिनों तक वे प्रयाग और मानिकपुर में भी रहे। प्रयाग के उस पार झूसी में रहते हुए शेख तक़ी नाम के एक सूफी संत से उनकी मुलाकात हुई। ये कबीर संबंधी एक मुसलमानी अनुश्रुति के अनुसार कबीर के पीर थे। कहावत है कि हिंदू मुसलमानों में भेद-भाव मिटाने के प्रयत्न में सफलता के लिए कबीर को शेख तक़ी का आशीर्वाद मिला। लेकिन इस विरोध भावना में उन्हें सफलता मिलनी तो दूर रही मुसलमान इनसे बिगड़ खड़े हुए और उन्हें कैफ़ियत देने के लिए सुल्तान सिकंदर लोदी ने १४९५ ईस्वी में जौनपुर बुलाया। पर किसी तरह इस कट्टर मुसलमान बादशाह से भी वे बच गये।

कबीरदास का क्या मत था इसके बारे में यहां अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। वे बाह्याचारों के, चाहे वे हिंदू हों अथवा मुस्लिम, घोर विरोधी थे। वे प्रेम को समस्त बाह्याचारों से बहुत ऊपर समझते थे। इस प्रेम के सामने मंदिर-मस्जिद, वेद-कुरान, व्रत, जप, तप, तीर्थ सब बेकार और भुलावे के साधन थे। पर केवल अस्वीकारात्मक भावना से ही रूढ़ियां नहीं नष्ट होती। उसके लिये प्रेम के साथ लड़ते रहने की जरूरत है। कबीर ने ऐसा ही किया। प्रेम मार्ग के इस पथिक को अनेक कष्ट उठाने पड़े, पर उन्होंने पीछे हटने का नाम नहीं लिया।

प्राय: कबीरदास हिंदू मुसलमान धर्मों के समन्वयकारी माने जाते हैं पर यह बात कुछ समझ में नहीं आती। वे तो सब बाह्याचारों के, चाहे वे हिंदू हों अथवा मुसलमान, घोर शत्रु थे। समझौता उनका रास्ता नहीं था। वे तो उन जातिगत, कुलगत, संस्कारगत और संप्रदायगत भावों को तोड़ कर एक ऐसे समाज की स्थापना का स्वप्न देखते थे जिसमें मनुष्य एक था और प्रेम का मार्ग ही असल मार्ग था। कबीर की यह आवाज उसी बनारस से निकली जहाँ कबीर से दो हजार बरस पहले भगवान् बुद्ध ने सर्वजन हित कामना का प्रचार किया था। बुद्ध को अपने संदेश में इसलिये सफलता मिली कि उनका रास्ता

बीच का था, पर कबीर तो लड़ाकू थे। उन्हें सुलह पसन्द नहीं थी और शायद इसीलिये उनके मत का इतना प्रसार नहीं हो सका। पर इसमें संदेह नहीं कि रामानन्द और कबीर ने उन अछूतों और हिंदू समाज से प्रताड़ित जनों में एक आशा और भरोसे की नींव डाली जिसके बिना उनमें से अधिकतर अवश्य मुसलमान हो जाते।

जिस समय बनारस में कबीर अपने विरोधियों को ललकार रहे थे और उन्हें निर्गुण प्रेम का सबक सिखा रहे थे, उसी समय काशी में एक नये महात्मा वल्लभाचार्य का प्रादुर्भाव हुआ। वल्लभाचार्य के माता पिता तैलंग ब्राह्मण थे। अनुश्रुति है कि जिस समय ये काशी-यात्रा को आये हुए थे उसी समय शहर में भारी गड़बड़ मची और ये भाग कर चंपारण्य अर्थात् मध्यप्रांत के राजिम नामक स्थान में चले गये। वहीं १४७९ ईस्वी में वल्लभाचार्य का जन्म हुआ। बाद में उनके माता पिता मथुरा में बस गये और वहीं वल्लभाचार्य की शिक्षा दीक्षा हुई। पिता की मृत्यु के बाद ग्यारह वर्ष की अवस्था में वल्लभाचार्य ने उत्तरभारत की यात्रा की और उससे लौट कर वे बनारस में बस गये। यहाँ उन्होंने अपना विवाह किया और यहीं रह कर उन्होंने बादरायण के ब्रह्मसूत्र और भगवद्-गीता पर भाष्य लिखे। पर बनारस से वे बहुधा गोकुल जाकर वहाँ काफी दिनों तक ठहरा करते थे और वहीं उन्होंने १५२० ईस्वी में श्रीनाथ जी की मूर्ति स्थापित की जिसे औरंगज़ेब के समय उदयपुर के पास नाथद्वारा में ले जाना पड़ा।

वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित मत शुद्धाद्वैतवाद कहलाया। इसने एक ओर रामानुज का विशिष्टाद्वैत और दूसरी ओर शंकर का मायावाद अस्वीकृत किया। इस मत में भक्ति ही सब कुछ है; वह साध्य और साधन दोनों ही है। ईश्वर की दया के लिये इस मत में पुष्टि शब्द का व्यवहार किया गया है और इसीलिए वल्लभाचार्य के नये मत का नाम पुष्टि-मार्ग पड़ा इस पुष्टि-मार्ग में कृष्ण ही सत् चित् आनन्द हैं। मुक्त होकर जीव आनंद स्वरूप हो जाता है और कृष्ण से एकाकार होकर रहता है। वृन्दावन ही, जहाँ राधाकृष्ण विहार करते हैं, भक्तों का आधार और लक्ष्य है।

रामानंद, कबीर और वल्लभाचार्य के सिवा बनारस में कितने ही संत, महात्मा और धर्म प्रवर्तक चौदहवी, पंद्रहवी और सोलहवी शताब्दियों में हुए होंगे, इसका हमें पता नहीं है। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि बनारस इस युग में हिन्दुओं का प्रधान केंद्र था। चैतन्य और नानक भी काशी में आये और भारत के कोने कोने से कितने ही साधु महात्मा और श्रद्धालु इस नगरी में रास्ते के घोर कष्ट उठाकर आते रहे होंगे। काशी के पंडितों को शास्त्रार्थ में हराकर अपने मत का प्रतिपादन करना एक बड़ी बात मानी जाती थी और इसमें सन्देह नही कि समय समय पर इसमें बहुत से पंडित और धर्माचार्य भाग लेते रहे होंगे।

इस तरह हम देख सकते हैं कि चौदहवीं-पंद्रहवीं सदी के अपने परीक्षण काल में भी जब मुसलमानी सल्तनत की तलवार बराबर इसके सिर पर तनी रहती थी और जब हिंदू धर्म काफी जीर्ण हो चुका था, बनारस ने नयी आवाज लगाने में कोर कसर बाकी नहीं रक्खी।

रामानंद और कबीर ने तो हिंदू धर्म के उन मूल व्यवस्थाओं और विश्वासों पर ही आघात किया जिसने हिंदुओं को इतना कमजोर बना दिया था। पर जात-पाँत के भेदों में लिपटी हुई हिंदू जनता उनके पथ पर बहुत आगे न बढ़ सकी। उनको तो ऐसे आचार्य की जरूरत थी जो वर्ण व्यवस्था के सीमित दायरे के अंदर ही भगवद् भक्ति का उपदेश दे। वल्लभाचार्य ऐसे आचार्य थे और इसी लिये उनका मत आगे बढ़ा। बाद में तुलसीदास ने भी रामभक्ति के आदर्शों को ब्राह्मणधर्म के अनुकूल ही रक्खा। अगर वल्लभाचार्य और तुलसीदास मध्यकालीन भक्ति में अपना मध्यम मार्ग नहीं निकालते तो उन्हें अधिक सफलता नहीं मिलती। ● ●

दूसरा अध्याय

मुगल कालीन बनारस

१. इतिहास

मुग़ल वंश के संस्थापक बादशाह बाबर ने इब्राहीम लोदी को पानीपत के मैदान में १५२६ में हरा दिया और इस तरह दिल्ली पर मुग़लों का अधिकार हो गया। पर अभी पूरे उत्तरी हिन्दुस्तान पर बाबर का कब्जा न हुआ था। लोदी साम्राज्य के पूर्वी सूबों पर अफ़ग़ान सरदारों का दखल था। लोदियों ने दरिया खाँ को मुहम्मद सुल्तान के नाम से उन सूबों का बादशाह बना दिया। फिर भी १५२७ में हुमायूँ ने गाजीपुर तक मुल्क दखल कर लिया[1] पर जैसे ही हुमायूँ वापस हुआ कि अफ़ग़ानों ने पुनः उस भाग पर अपना कब्जा कर लिया और बाबर को पुनः १५२८ और १५२९ में अवध को फ़तह करना पड़ा। बाबर की इस लड़ाई में बनारस एक मुख्य केन्द्र बन गया। बाबर ने बनारस जीत कर ९३४ हिजरी में वहाँ जलालुद्दीन खाँ शर्क़ी को कुछ सेना के साथ रख दिया। १५२८ में गंगा के उस पार जब बाबर अपनी सेना सहित डेरा डाले हुए था तब उसे समाचार मिला कि सुल्तान महमूद लोदी ने दस हजार अफ़ग़ानों को इकट्ठा करके शेख बयाज़ीद और बीबन के मातहत एक बड़ी सेना सरवार (गोरखपुर) की ओर रवाना कर दी थी और वह खुद फ़तह खाँ सरवानी के साथ नदी के किनारे किनारे चुनार की ओर बढ़ रहा था। बाबर को यह भी ज्ञात हुआ कि शेर खाँ सूर जिसे १५२७ में बाबर ने कई परगने उपहार में दिये थे और जिसके अधिकार में पूरा प्रदेश छोड़ दिया था, अफ़ग़ानों से मिल गया था और अफ़ग़ानों ने उसे अमीर की खिल्लत भी दे दी थी। शेर खां ने नदी पार करके बनारस पर धावा बोल दिया और जलालुद्दीन के सहायक बनारस नगर को बचाने में अपनी असमर्थता देख कर भाग खड़े हुए। जलालुद्दीन ने बाबर के पास जो खबर भेजी उसमें तो यह कहा गया था कि वह बनारस के किले में अपने आदमियों को छोड़कर खुद महमूद के साथ लड़ने के लिये आगे बढ़ गया था।[2] शेर खाँ का बनारस पर यह धावा शाहाबाद की ओर से चौसा पार करके हुआ था। थोड़े ही दिनों बाद बाबर को खबर मिली कि बाग़ियों ने चुनार पहुँच कर किले पर घेरा डाल दिया था। थोड़ी सी लड़ाई भी हुई पर बाबर के आगे बढ़ने का समाचार सुनकर बाग़ी अस्तव्यस्त दशा में भागे और गंगा पार कर बनारस की ओर जाते हुए अफ़ग़ान सिपाही भी एक दम भाग खड़े हुए। ५ मार्च १५२९ को बनारस पुनः बाबर के हाथ में आ गया।

२३ मार्च १५२९ को बाबर ने चुनार पहुँचकर किले से दो मील आगे डेरा डाला। किसी ने बाबर को खबर दी कि चुनार के पास गंगा के मोड़ पर घने जंगल में शेर और गेंड़े दीख पड़े थे। दूसरे दिन बादशाह की आज्ञा से हाँका हुआ पर जंगल में शेर

---

[1] ईलियट, भाग ४, पृ० २६६

[2] बाबरनामा, भाग २, पृ० ६५१–५२

और गेंड़ा का पता न लगा। यहाँ अंधड़ के कारण बाबर को बड़ी तकलीफ़ हुई और नाव पर सवार होकर वह अपने खेमें में, जो बनारस से ५ मील ऊपर था, पहुँच गया।[1] अफगानों को पटना के पास करारी हार देने के बाद बाबर दिल्ली लौट गया जहाँ १५३० में उसकी मृत्यु हो गयी।

१५३० ईस्वी में हुमायूँ दिल्ली के तख्त पर बैठा और उसने जौनपुर को, जहाँ अफ़ग़ानों ने बिहार खाँ के नाम से एक नये सुल्तान को कायम किया था, पुन: जीतने का प्रयत्न किया। बिहार खाँ और शेर खाँ ने शाहाबाद और बनारस जिले का परगना बरह, जिसे उस समय हाँडा कहते थे, बाँट रखा था।[2] बाद में शेर खाँ पूरे बिहार का शासक बन बैठा और चुनार के किले पर भी उसने अधिकार कर लिया। शेर खाँ मुगलों से दुरंगी चाल चल रहा था और इसी के अनुसार १५३० में अपनी फौज को हटाकर उसने लखनऊ के पास मुग़लों की जीत हो लेने दी। जीत के बाद हुमायूँ ने चुनार का किला वापस मांगा पर शेर खाँ ने इससे इनकार कर दिया। बाद में हुमायूँ और शेर खाँ में इस शर्त पर सुलह हुई कि चुनार का किला शेर खाँ के ही कब्जे में रहेगा।[3] लेकिन दूसरे ही साल हुमायूँ ने चुनार के किले पर कब्जा कर लिया। पर उसी बीच शेर खाँ ने रोहतास और गौड़ पर अधिकार कर अपने को और अधिक शक्तिशाली बना लिया। चुनार का किला फ़तह करके हुमायूँ ने बनारस में डेरा डाल दिया। लगता है अपने बनारस के इसी मुक़ाम में एक दिन हुमायूँ सारनाथ का चौखंडी स्तूप देखने गये। इस घटना की यादगार कायम रखने के लिये राजा टोडरमल के पुत्र गोबरधन ने चौखंडी स्तूप पर ९९६ हिजरी में एक एक अठपहला गुबद बनवा दिया।[4] बनारस से हुमायूँ ने शेरशाह के पास एक दूत भेजकर बिहार पर अपने स्वत्व की बात उठाई। शेर खाँ इस शर्त पर बिहार देने को राजी हो गया कि हुमायूँ बंगाल उसके पास रहने दे; इसकेलिए उसने दस लाख रुपये सालाना मालगुजारी देने का भी वायदा किया। दोनों में यह बातचीत पक्की हो गयी पर तीन ही दिन बाद बंगाल के सुल्तान महमूद ने हुमायूँ के पास एक दूत भेजकर उन्हें सलाह दी कि शेरशाह द्वारा अपने अधिकारों के मजबूत करने के पहले ही बादशाह को उसे कुचल देना चाहिए।[5] महमूद की यह सलाह मान कर हुमायूँ झट बंगाल की तरफ रवाना हो गये।

हुमायूँ जब बंगाल की राजधानी गौड़ में आराम की जिन्दगी बिता रहे थे तो शेर शाह १५३८ में बनारस पर चढ़ आये। इस समय बनारस का फ़ौजदार मीर फ़ज़ली था।[6] बनारस पर घेरा डालकर शेरशाह ने खवास खाँ को मुंगेर से खानखाना यूसुफ़ खेल

[1] वही, भाग २, पृ० ६५७

[2] ईलियट, भाग ४, पृ० ३१०–३२९

[3] ईलियट, भाग ४, पृ० २५०

[4] ए० एस० आर० १९०४–०५; जर्नल यू० पी० हि० सो० १५, ५५–६४

[5] ईलियट, भाग ४, पृ० ३६२–३६३

[6] ईलियट, भाग ६, पृ० १९

को कैद कर लाने का हुक्म दिया और इस काम में खवास खाँ को सफलता भी मिली। इसके कुछ ही दिनों बाद बनारस फ़तह हुआ और शेर खां के हुक्म से मुग़ल सिपाहियों में से अधिकतर कत्ल कर दिये गये तथा मीर फ़जली भी मारा गया।[1] श्री क़ानूनगो के अनुसार मुग़लों के इस कत्ल का कारण यह था कि शेर शाह ने चुनार के किले में अपने तोपचियों पर मुग़लों द्वारा किये गये अत्याचार का बदला लिया।[2] बनारस के पतन के बाद शेर खाँ की फौजों ने कन्नौज तक अपना अधिकार बढ़ा लिया। इन घटनाओं से हुमायूँ घबराकर गौड़ से आगे बढ़कर शेर खाँ से लड़ने के लिए रवाना हुआ। चौसाके पास हुमायूँ और शेर शाह की लड़ाई हुई जिसमें हुमायूँ को करारी हार खानी पड़ी। इस लड़ाई के बाद शेर खाँ ने शाह की पदवी धारण की और हुमायूँ को कन्नौज के पास हराने के बाद सारा उत्तर भारत इसके कब्जे में आ गया। बनारस शहर और जिला शेर शाह (१५३८–१५४५) और उसके पुत्र इस्लाम शाह (१५४५–१५५४) के कब्जे में रहा। पर इस्लाम शाह की मृत्यु के बाद काफी गड़बड़ी मची।

इसके बाद वाले काल में आदिल शाह (१५५४–१५५६) के कब्जे में चुनार कुछ दिनों तक रहा पर गंगा के उत्तर में आदिल शाह की संप्रभुता के बारे में संदेह है। आदिल शाह को अपने रिश्तेदारों से ही नहीं वरन् लड़ाकू अफ़ग़ान सरदारों से भी लड़ना पड़ा। इन अफ़ग़ान सरदारों में ताज खाँ नाम के एक सरदार के कब्जे में इस जिले की पुरानी जागीर हांडा और दूसरे परगने थे। ताज खां को आदिल शाह ने हराया[3] तथा इब्राहीम सूरी और बंगाल के मुहम्मद शाह को भी हरा कर अंत में १५५६ में खिज्र खां से लड़ते हुए वह मुंगेर के पास मारा गया। इसी बीच में हुमायूँ पुनः हिंदुस्तान लौटा और उसने १५५५ में दिल्ली वापस लिया, पर जल्दी ही उसकी मृत्यु हो गयी। आदिल शाह सूर के बहादुर सेनापति हेमू ने पहले तो मुग़लों को मात दी पर बाद में पानीपत की लड़ाई में १५५६ में वह मारा गया। इस तरह मुग़लों और पठानों की लड़ाई में आखीरी फतह मुग़लों के हाथ लगी।

खान ज़माँ की १५५९ की लड़ाई के पहले बनारस मुगल साम्राज्य में सम्मिलित नहीं था।[4] इसके बाद भी उस प्रदेश में पूर्ण शांति स्थापित नहीं हो सकी। चुनार १५६४ तक आदिल शाह के अनुयायियों के हाथ में था। इन गड़बड़ियों के बीच अकबर को खान ज़माँ की बगावत का भी सामना करना पड़ा। पर १५६५ में अकबर के बनारस आने पर उस प्रदेश में शांति स्थापित हुई।[5] पर यह शांति स्थायी न हुई, अकबर के लौटते ही खान ज़माँ ने पुनः विद्रोह कर दिया पर वह शीघ्र ही पूर्वी प्रदेश से निकाल

[1] ईलियट, भाग ४, पृ० २७८
[2] कानूनगो, शेरशाह, पृ० १७५, कलकत्ता १९२१
[3] ईलियट, भाग ४, पृ० ५०७
[4] ईलियट, भाग ५, पृ० २६०
[5] ईलियट, भाग ५, पृ० ३०६

बाहर किया गया और १५६७ में मार भी डाला गया। बादशाह अकबर स्वयं बनारस गये और वहाँ के बाशिंदों की बग़ावत की वजह से उन्होंने शहर लूट लेने की आज्ञा दी। बाद में पूरा सूबा मुनीम खाँ खानखाना के सुपुर्द कर दिया गया।[१] मुंतखाबउत्तवारीख[२] में बदायूनी लिखता है कि अकबर ने मुनीम खां खानखाना को आगरे से बुलाकर बहादुर खाँ और खान ज़माँ की जागीरें सुपुर्द कर दीं। ये जागीरें जौनपुर, बनारस, गाजीपुर, जमानियाँ और चुनार के किले तक फैली हुई थीं।

१५७४ में बंगाल में अफ़ग़ान राज्य को समाप्त करने की दृष्टि से अकबर स्वयं सेना लेकर आगे बढ़े। सेना नावनवारे पर थी और आगरे से चलकर २५ रबी उल अव्वल को वह बनारस जिले में पहुँची। वहाँ से अकबर ने शेर बेग़ तवाची को एक नाव पर रवानाकर मुनीम खां को बादशाह की अवाई की खबर देने के लिए भेजा। इस अवसर पर बादशाह विश्राम लेने के लिए शहर में तीन दिनों तक रहे।[३] बंगाल फ़तह हो जाने पर मुनीम खाँ वहां के सूबेदार नियुक्त कर दिये गये। जौनपुर, बनारस और चुनार का प्रबंध स्वयं अकबर ने सँभाल लिया और उनके सहकारी मिर्ज़ा मीरक रज़वी और शेर इब्राहीम सीकरीवाल नियुक्त हुए।[४] १५७६ में बनारस के सूबेदार मुहम्मद मासूम खाँ फ़रनखुदी थे।[५] इनके बाद तरसुम मुहम्मद खाँ आये और १५८९ में मिर्ज़ा अब्दुल रहीम खाँ खानखाना शायद थोड़े दिनों के लिए जौनपुर के सूबेदार बनकर आये।[६]

अकबर के राज्यकाल में राजा टोडरमल का बनारस से काफी संबंध रहा। हम आगे देखेंगे कि विश्वनाथ का मंदिर उन्हीं की मदद से १५८५ के करीब नारायण भट्ट ने बनवाया और १५८९ में उन्होंने द्रौपदी कुंड की स्थापना की। टोडरमल का बनारस से कभी सीधा संबंध नहीं था और जो कुछ भी धार्मिक कार्य उनके द्वारा हुए उनका श्रेय उनके पुत्र गोबरधन, गोबरधनधारी अथवा धरू को है। गोबरधन के इतिहास की अधिकतर सामग्री श्रीयुत जंगीरसिंह ने इकट्ठा की है[७] और उसी के आधार पर हम उसका बनारस से संबंध निश्चित कर सकते हैं। हमें अकबरनामा से पता चलता है कि १५७७ में गुजरात की लड़ाई में गोबरधन अपने पिता के साथ-साथ मिर्ज़ा मुज़फ्फ़र हुसेन और मीर अली से वीरतापूर्वक लड़ा। इसके बाद हम पुनः उसका नाम १५८४ में सुनते हैं। इस बार बादशाह की आज्ञा से टोडरमल ने उसे अरब बहादुर को दंड देने के लिए भेजा। अरब बहादुर को खान आज़म ने बिहार में तिरहुत और चंपारन के बीच हराया, पर वह

---

१ ईलियट, भाग ५, पृ० ३२२

२ मुंतखाबउत्तवारीख (लो द्वारा अनूदित), भाग २, पृ० १०४

३ ईलियट, भाग ५, पृ० ३७५

४ बदायूनी, भाग २, पृ० १८५

५ वही, पृ० २९०—९१

६ वही, पृ० ३८४

७ राजा टोडरमल्स सन्स, ज० यू० पी० हि० सो० १५, अंक १ (१९४२), पृ० ५५ स

हार न मानकर जौनपुर की तरफ चढ़ आया। यह कहना मुश्किल है कि बरू सीधे आगरे से जौनपुर भेजा गया अथवा वह जौनपुर का उस समय भी फ़ौजदार था। अगर विश्वनाथ मंदिर की १५८५ में टोडरमल द्वारा पुनः स्थापना हुई तो यह मानना पड़ेगा कि शायद एक दो बरस पहले से ही उसका लड़का गोबरधन जौनपुर में था। अकबर-नामा में एक उल्लेख से पता चलता है कि अकबर के २४ वें राज्यवर्ष में शमशेर खाँ बिहार के बागियों को हराने के लिये बनारस के राजा टोडरमल के साथ उस समय आगरे में थे और इसलिये यह संभव है कि उनका पुत्र गोबरधन बनारस अथवा जौनपुर में कुछ काल के लिए या पक्की तौर से किसी सरकारी पद पर नियुक्त था। सन् १५८९ के अंत में तो अपनी पिता की मृत्यु के बाद वह जौनपुर से ही सीधा आगरा गया। इस बात के बहुत से प्रमाण हैं कि अकबर के राज्यकाल के २८ वें से ३३ वें वर्ष तक गोबरधन बराबर जौनपुर में रहा। इन सब बातों से श्री जंगीरसिंह इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि गोबरधन जौनपुर सरकार में जागीरदार था।

जौनपुर में रहते हुए बनारस आने के गोबरधन को बहुत से मौके पड़े होंगे और टोडरमल के नाम से जो मन्दिर या बावलियाँ बनारस में बनी उन्हें गोबरधन ने ही बनवाई होंगी। सन् १५८५ और १५८९ के बीच में विश्वेश्वर की पूजा के उपलक्ष्य में शेष कृष्ण द्वारा लिखित कंसवध नाटक का प्रणयन हुआ[1] और गोवर्धन इस नाटक में स्वयं उपस्थित थे। नाटक के आरम्भ में एक श्लोक आता है जिससे गोबरधन के सम्बन्ध में कुछ विवरण प्राप्त होता है।

तस्यास्ति तंडनकुलामलमंडनस्य, श्रीतोडरक्षितिपतेस्तनयो नयज्ञः।
नानाकलाकुलगृहं स विदग्धगोष्ठीं एकोऽधितिष्ठति गुरुर्गिरिधारिनामा॥

इस श्लोक से यह पता चलता है कि गुरु गिरधारी टंडन कुल में उत्पन्न राजा टोडरमल के पुत्र थे। उन्हें कलाओं से बड़ा प्रेम था और विद्वद्गोष्ठी उन्हें बड़ी प्रिय थी।

इस श्लोक के पहले वाले स्थल में भी राजा टोडरमल के पुत्र 'साम्राज्य-धुरन्धर गोवर्धन-धारि-राज' के नाम से वर्णित हैं। श्लोक से पता लगता है कि इस नाटक के अवसर पर गोवर्धन ने गुरु का काम किया। पर श्लोक में जो 'गिरिधारि' आया है उससे कुछ लोगों ने वल्लभाचार्य के पौत्र गिरिधारि का अर्थ निकाला है और यह माना है कि वे गोवर्धन के गुरु थे। पर केवल उपर्युक्त श्लोक के आधार पर यह मान लेना ठीक न होगा। इस प्रसंग में बनारस की एक प्रसिद्ध कहावत की ओर ध्यान दिला देना चाहते हैं। कहावत है 'सबके गुरू गोबरधन दास', अर्थात् गोबरधन दास सबके गुरु हैं अर्थात् सब धार्मिक कार्यों में सबके अग्रणी हैं। हो सकता है यह कहावत गोबरधन के लिए ही बनारस में चली थी और इसी गुरु के अल्ल की प्रतिध्वनि हम कंसवध के श्लोक में पाते हैं।

अपने पिता की मृत्यु के बाद १५८९ ईस्वी के अन्त में गोबरधन आगरे गये। वहां

[1] एगेलिंग, इंडिया आफिस कैटलाग ऑव संस्कृत मैनस्क्रप्ट्स्, पार्ट ५-७, पृ० १५९१, ए एण्ड बी० मैनस्क्रप्ट नं० ४१७५

से १५९० ईस्वी में अब्दुर्रहीम खानखाना के साथ मुल्तान गये, सिन्ध में मिर्ज़ा जानीबेग तर्खान के साथ लड़े और १५९२ में मारे गये।

बनारस में टोडरमल के नाम के दो इमारतों के नाम आते हैं और दोनों से लगता है गोबरधन ने अपने पिता के नाम पर बनवायीं। उन्होंने शायद १५८५ के करीब विश्वनाथ का मन्दिर रुपये लगाकर नारायण भट्ट द्वारा बनवाया। शिवपुर में द्रौपदी कुण्ड संवत् १६४६ या १५८९ ईस्वी में बना।[1] इस लेख से पता चलता है कि राजा टोडरमल के आदेश से गोविन्द दास ने यह कुंड बनवाया। शायद गोविन्द दास गोबरधन का ही नाम हो, पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। गोबरधन ने १५८९ ईस्वी में सारनाथ के चौखंडी स्तूप पर एक गुम्बद बादशाह हुमायूँ के एक दिन चौखंडी पर ठहरने की यादगार में भी बनवाया।[2]

बनारस के एक मौजी मुसलमान जिनका नाम गोसाला खाँ बनारसी था १००४ हिजरी में दीन इलाही में शामिल हो गये और उन्होंने अपनी दाढ़ी और सर के बाल सफाचट करवा दिये। यह गोसाला खाँ अबुल फ़ज्ल की कृपा से शाहंशाह की सेवा में दाखिल किये गये। आदमी चलते पुरजे थे, किसी तरह बनारस के करोड़ी बन गये। बदायूनी का कहना है[3] कि आप एक रण्डी पर फिदा थे और आगरा से रवाना होने के पहले आपने उसे काफी रुपया दिया और एक सरपुरस्त भी मुकर्रर कर दिया। जब रण्डियों के दारोग़ा ने इस बात की शिकायत शाहंशाह से की तब गोसाला बनारस से पकड़ मँगाये गये। इसके बाद उन पर क्या गुजरी इसका पता नहीं, पर बनारसी हथकण्डे दिखाकर वे निकल भागे होंगे, इसमें शक नहीं।

१५८४ ईस्वी में इलाहाबाद का किला बना और तब से सूबे की राजधानी जौनपुर से उठकर वहाँ चली गयी। बनारस इलाहाबाद सूबे का एक सरकार या जिला बन गया। बनारस का सबसे पहला फ़ौजदार मिर्ज़ा चीन किलीच खाँ था। कहा जाता है कि मिर्ज़ा किलीच १५९९ ईस्वी तक बनारस के सूबेदार रहे। इनके आगरा वापस चले जाने के बाद इनके पुत्र चीन किलीच जौनपुर के सूबेदार बने।

नवाब किलीच का रुख उस समय के व्यापारियों के प्रति बहुत कड़ा था। बनारसी दास अपने अर्धकथानक[4] में लिखते हैं कि १५९८ ईस्वी में जौनपुर के सूबेदार नवाब किलीच खां ने वहां के सब जौहरियों को पकड़ कर इसलिए बंद कर दिया कि वह जो वस्तु उनसे चाहता था वे उनके पास नहीं थीं। एक दिन उसने जौहरियों को बांधकर चोरों की तरह अपने सामने खड़ा किया और उन्हें कटीले कोड़ों से पिटवाकर छोड़ दिया। बिचारे जौहरी इस अत्याचार से परीशान होकर अपने मालमते के साथ चारों ओर भागने लगे।

---

[1] टोडरमल्स इंसक्रिप्शन एट द्रौपदी कुंड, इतिहास संग्रह, नवंबर १९०८, पृ २०

[2] ए० एस० आर०, १९०४–०५, पृ० ७५

[3] बदायूनी, भा० २, पृ० ४१८–१९

[4] अर्धकथानक (नाथूराम प्रेमी द्वारा संपादित), पृ० ११० से, बंबई १९४३

इसके बाद जब जौहरियों ने यह सुना कि १५९९ ईस्वी में किलीच खाँ आगरे चले गये तब वे पुन: जौनपुर लौट कर अपने काम में लग गये।

बनारस जिले की अकबर के समय क्या अवस्था थी, इसका थोड़ा सा हाल हमें आईन अकबरी से मिलता है। उस समय चंदौली चुनार सरकार में थी। बनारस के परगने आज जैसे ही थे सिवा इसके कि बरह का नाम टाँडा था; लेकिन इनकी सीमाओं में अंतर है। इस जिले में उपजाऊ जमीन का रकबा कुल ४६,४४८ बीघा (२७,८७० एकड़) और इसकी लगान २५,१९,०३७ दाम थे, इसके अलावा ५०,४३२ दाम सुयूरग़ल के लगते थे। कुल मिलाकर लगान ६४,२३७ रुपये होती थी जो रुपये की उस समय की कीमत देखते हुए काफी ऊँची थी। प्राय: पूरा सरकार बनारस आज कल के बनारस जिले में आ जाता था, पर उस समय का परगना बयालसी अब जौनपुर में है और गंगा और कसवार के दक्खिन के बीच की कुछ जमीन अब मिर्जापुर में है। महल हवेली बनारस में देहात अमानत, जाल्हूपुर और शिवपुर थे। यहाँ ब्राह्मणों की जमींदारी थी। वे ३१,६५७ बीघे पर १,७३४,७७१ दाम लगान देते थे और उन्हें सैनिक उपयोग के लिए ५० घोड़े और १००० पैदल देने पड़ते थे। कटेहर में, जिसका प्रधान कस्बा चन्द्रावती था, कटेहर और सुल्तानीपुर थे। यह रघुवंशियों की जमीदारी थी। इन्हें पाँच सौ सवार और ४००० पैदल देने पड़ते थे। ३०,४९६ बीघे जुते खेत पर इन्हें १८,७४,२३० दाम लगान देनी पड़ती थी। पंद्रह या टाँडा ब्राह्मणों की जमीदारी थी। इसमें कुल जुते खेत का रकबा ४६११ बीघा था और इसकी लगान ७१३,४२६ दाम, १३०९६ बीघों पर होती थी। यहां से ३०० पैदल सैनिक लिये जाते थे। कसवार ४१,१८१ बीघे का बड़ा महाल था। इसकी लगान २,२९०,१६० दाम होती थी और इसे ५० घुड़सवार और २००० पैदल देन पड़ते थे। अफ़ाद कसवार, देहात अमानत और कटेहर में फुटकर जमीनों का महाल था। इसमें १०, ६५५ बीघे जमीन थी जिसकी लगान ८,५३,२२६ दाम थी और यहाँ के राजपूतों और ब्राह्मणों को ४०० पैदल सिपाही देने पड़ते थे। कोल असला, जिसे उस समय कोला करते थे, जौनपुर सरकार में था। यह राजपूत महाल था। इसमें २८,३३१ बीघे जुते खेत पर ३६,३,३३२ दाम लगान लगती थी और इसे १० सवार और ३०० पैदल सिपाही देने पड़ते थे। इस तरह बनारस और आधुनिक गंगापुर तहसीलों में कुल मिलाकर पैदावार खेत का रकबा ९३,५६० एकड़ था, २०९,४१२ दाम सुयूरग़ल के लेकर लगान २,४७,०६८ रुपये थी। इससे पता लगता है कि लगान की रकम बहुत भारी थी पर यह बात पक्की तरह से नहीं कही जा सकती क्यों कि आईन की प्राचीन प्रतियों में अलग अलग संख्याएँ आयी हैं और यह निश्चित नहीं है कि उनमें से कौन ठीक हैं।[१]

जहाँगीर (१६०२-२७) के राज्यकाल में काशी के इतिहास की कुछ बातों का पता बनारसीदास के अर्धकथानक से चलता है। जहांगीरकालीन इतिहास में बनारस का नाम केवल एक बार १६२४ ईस्वी में खुर्रम की बग़ावत के संबंध में आता है। जब

[१] बनारस गज़ेटियर, पृ० १९४-१९६

उसे शाही फौज के सामने इलाहाबाद से हटकर बनारस भागना पड़ा तो दक्खिन जाने के पहले यहीं उसने अपनी फौज इकट्ठी की। १६२३ ईस्वी में बनारस में गहरा प्लेग फैला; जनश्रुति के अनुसार उसी में तुलसीदास का देहांत हुआ।

संवत् १६५६ (१५९९ ईस्वी) में ही जौनपुर में एक और घटना घटी जिसका बनारस के इतिहास से अवश्य ही संबंध रहा होगा। यह घटना शाहजादा सलीम की बग़ावत थी। बनारसीदास ने अर्धकथानक में[3] इस घटना का उल्लेख किया है। शाहजादा सलीम कोल्हूबन में जिस समय शिकार खेलने गया उस समय जौनपुर के सूबेदार नवाब किलीच खाँ के पुत्र चीन किलीच खाँ थे। इनको अकबर ने आज्ञा दी कि वे शाहजादा सलीम को कोल्हूबन में शिकार खेलने से रोक दे। फौजदार ने लड़ाई की तैयारी करनी शुरू कर दी। सब रास्ते छेंक दिये गये। गोमती के घाट बंद हो गये और पुल के दरवाजे लगा दिये गये। पैदल और सवारों की चारों ओर तैनाती कर दी गयी और कोट के कंगूरों पर तोपें चढ़ा दी गयीं। गढ़ में लड़ाई के लिये अन्न, वस्त्र ओर हथियार, गोला बारूद भी इकट्ठा होने लगे। लड़ाई की तैयारी से जौनपुर की प्रजा घबड़ा उठी और चारों ओर भागने लगी। जौनपुर के सब जौहरी इकट्ठा होकर चीन किलीच खाँ के पास पहुँचे और उसने जौनपुर में रहने अथवा भागने के संबंध में आदेश चाहा। किलीच खाँ ने इसे जौहरियों की इच्छा पर ही छोड़ दिया कि वे वहां पर रहें अथवा भागें। यः पलायति स जीवति के सिद्धान्त के अनुसार जौहरियों ने भागने में ही अपनी सलामती समझी। उसी बीच शाहजादा सलीम गोमती तीर आये और इन्होंने अपने मीर लाल बेग को वकील बनाकर चीन किलीच खाँ के पास भेजा। यह वकील चीन किलीच को समझा बुझाकर सलीम के पास ले गया और उन्होंने उसे क्षमा कर दिया। जब जौहरियों ने यह समाचार सुना तो वे पुनः जौनपुर आ गये।

इस युग में नवाब चीन किलीच खां, जो जौनपुर और बनारस के सूबेदार थे, काफी विद्याव्यसनी थे। बनारसीदास के अर्ध-कथानक से पता चलता है कि वे चार हजारी मंसबदार थे।[2] १५८४ ईस्वी में उन्होंने बनारसीदास को सिरोपाव बख्शा। बनारसीदास और चीन किलीच खां के बीच गहरी मित्रता हो गयी। चीन किलीच उनसे अनेक ग्रंथ पढ़ते थे। इन चीन किलीच खां की मृत्यु संवत् १६७२ (सन् १६१६) में जौनपुर में हो गयी।

बनारस और जौनपुर पर १६१५ ईस्वी में एक और बड़ी विपत्ति आयी।[3] इस साल जहाँगीर बादशाह ने आग़ा नूर नाम के एक उमराव को सिरोपाव देकर जौनपुर की ओर भेजा। उसके आने की खबर सुनते ही लोग इधर उधर भागने लगे। आग़ा नूर ने बनारस और जौनपुर के बीच बड़े अत्याचार किए। जड़िया, कोठीवाल हुंडीवाल, सर्राफ, जौहरी और दलालों को पकड़ कर उसने कोड़े लगवाये और बेड़ियाँ लगवाकर जेलों में बंद करा

---

[1] अर्धकथानक, १५० से

[2] वही, ५४८ से

[3] वही, ४६१ से

दिया। इस प्रकार लूट पाट करके दो चार धनियों को पकड़ कर आग़ा नूर आगरे ले गया और तब बनारस और जौनपुर के महाजन और व्यापारी अपने घरों को लौट आये।

२. राल्फ फ़िच (१५८३-९१) की बनारस यात्रा

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि अकबर और जहाँगीर काल में हमें बनारस के इतिहास की बहुत कम सामग्री उपलब्ध है। जान पड़ता है १५६७ ईस्वी तक तो अकबर भी इस नगर से नाराज़ रहे लेकिन बाद में अकबर की धार्मिक उदारता और टोडरमल और मानसिंह के प्रयत्नों से बनारस पुनः एक बार चमक उठा। भाग्यवश अकबर के राज्यकाल में बनारस की सैर करने सर्व प्रथम अंग्रेजी यात्री राल्फ फ़िच आया। फ़िच का यात्रा वर्णन १६ वीं सदी के अंत के बनारस का जीता जागता नक़्शा खड़ा कर देता है। फ़िच ने प्रायः बनारसी जीवन के हर अंगों पर प्रकाश डाला है, जिससे पता चलता है कि आरंभिक सोलहवीं सदी की गड़बड़ से बनारस उबर चुका था और पुनः धार्मिक जीवन में निःशंक होकर जुट गया था। फ़िच के अनुसार इस युग में बनारस में कपड़े का व्यापार भी उन्नति पर था और शहर बंगाल के व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र था।[1] उसने बनारस के अन्ध विश्वासों और धार्मिक कृत्यों का भी अच्छा खाका खींचा है। आइये हम भी फ़िच के साथ १६ वीं सदी के अंत के बनारस की सैर करें।

"इस शहर में हिंदू ही रहते थे आज भी पुराने शहर या 'पक्के महाल' में हिंदू ही रहते हैं, मुसलमानों के मुहल्ले उक्त पुराने शहर के बाहर हैं। जिन मूर्तिपूजकों को मैंने देखा है उनमें वे सबसे बड़े मूर्ति पूजक हैं। इस शहर में दूर दूर से यात्री यात्रा करने आते हैं।" इसके बाद वह बनारस के घाटों मंदिरों और मूर्तियों का वर्णन देता है। हिन्दू मूर्तियाँ फिच को अजीब सी लगीं, "मूर्तियाँ कुछ बाघों-सी हैं, कुछ चीतों-सी और कुछ बंदरों-सी। कुछ मूर्तियाँ स्त्री-पुरुषों और मोरों जैसी हैं और कुछ चार हाथों वाले शैतानों जैसी। मूर्तियाँ पालथी मार कर बैठी हैं और उनमें हर एक के हाथों में भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं।"[2] कलाहीन मुगल कालीन हिन्दू मूर्तियों को देखकर फ़िच घबरा सा उठा। वे काली और बदसूरत थी और उनके चेहरे भयंकर थे। उनके कान मुलम्मेदार और रत्नजटित थे और उनके दाँत और आँख सोने चाँदी और शीशों की थी। मंदिरों में कोई जूते पहन कर नही घुस सकता था। बनारसी हिंदू मूर्तियों के सम्मुख सदा दीपक जलाते थे। मूर्तियाँ बहुधा खड़ी हुई होती थीं। गरमी में उन पर पंखा किया जाता था। जब कभी हिंदू उधर से जाते थे पुजारी घंटा बजाते थे और यात्री उन्हें दान दक्षिणा देते थे। फ़िच बनारस में एक अडा ? (आद्या) नाम की मूर्तियों का उल्लेख करता है, "और बहुत सी जगहों में एक तरह की मूर्तियाँ खड़ी रहती हैं, जिसे उनकी भाषा में अडा कहते हैं। इस अडा को चार हाथ और पंजे होते हैं। वहाँ बहुत से कटे और नकाशीदार पत्थर भी हैं जिन पर वे जल अक्षत, गेहूँ, जौ और दूसरी चीजें चढ़ाते हैं"।

---

[1] विलियम फास्टर, अर्ली ट्रावेल्स इन इंडिया, पृ० १७६, लंडन १९२१

[2] वही, पृ० २० से २३

बनारस नगर के स्त्री पुरुष गंगा स्नान करते थे और वहाँ मिट्टी के चबूतरों पर बैठे वृद्ध पुरुष स्नानार्थियों के हाथों में नहाने के पहले दो तीन कुशा दे देते थे जो नहाने के पहले वे अपनी अँगुलियों के बीच में रख लेते थे। कुछ मस्तक पर तिलक लगाने के लिए बैठ जाते थे। इसके बाद एक पोटली से थोड़ा सा चावल, जौ और पैसे निकाल कर वे वृद्धों को देते थे। नहाने के बाद यात्री मंदिरों में आकर पूजा करते थे और पुजारियों का आशीर्वाद प्राप्त करते थे।

उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि गंगा में स्नान करते हुए यात्री कुश हाथ में लेकर तर्पण करते थे। घाटियों की प्रथा उस समय भी थी, पर संभवत: घाट पक्के नहीं थे और घाटिये कच्चे चबूतरों पर बैठते थे। दान दक्षिणा देने और सिर पर तिलक लगाने की प्रथा भी ठीक वैसी ही थी जैसी आजकल है।

फ़िच के अनुसार कुछ हिंदू अपने शरीर की लंबाई जितनी जगह धोकर, उस पर अपने हाथ पैर पसार कर और लम्बे लेटकर ऊपर उठते हुए और फिर लेटते हुए और इस तरह कम से कम बीस बार बिना दाहिना पैर उठाए हुए और फिर लेटते हुए जमीन चूमते हुए पूजा करते थे। यहाँ दंडवत से मतलब है।

अपनी पूजा में कुछ लोग हर तरह के १५-१६ छोटे बड़े पात्र व्यवहार में लाते थे। वे बीच में घंटे बजाया करते थे और पात्रों के चारों ओर जल का मंडल बनाते थे। फिर मंत्रोच्चार के बाद नैवेद्य देवताओं को अर्पण करते थे और बैठे हुए लोगों के सिर पर तिलक कर दिया जाता था। यहाँ फ़िच, लगता है, किसी पार्वण श्राद्ध का वर्णन कर रहा है।

फ़िच एक कुएँ अथवा वापी का उल्लेख करता है जो पत्थर की बनी थी और जिसमें नीचे जाने के लिये सीढ़ियाँ लगी थीं। इसका पानी सर्वदा फूल फेंके जाने के कारण बड़ा ही गंदा और बदबूदार था। इस वापी पर हमेशा लोगों की भीड़ जमा रहती थी और लोगों का विश्वास था कि वहाँ स्नान करने से सब पाप धुल जाते हैं क्योंकि वहाँ स्वयं ईश्वर ने स्नान किया था। उसके तल से वे बालू निकाला करते थे और यह बालू बड़ा ही पवित्र माना जाता था। यात्री जल ही में प्रार्थना करते थे। जल में डुबकी मार कर ये अँजुली से तर्पण करते थे और इसके बाद घूम कर और तीन बार आचमन करने के बाद वे मंदिरों में दर्शन करने जाते थे। इस कुंड का नाम तो नहीं दिया गया है पर शायद यहाँ मणिकर्णिका कुंड से मतलब है।

"बहुत से देवताओं में से एक हैं जिनका हिन्दू बहुत आदर करते हैं। उनके अनुसार वे सारे संसार को खाना कपड़ा देते हैं। इनकी मूर्ति के पास बैठकर एक आदमी हमेशा पंखा किया करता है।" विश्वेश्वर के इस वर्णन से यह पता चलता है कि इनका मन्दिर फ़िच की बनारस यात्रा के पहले बन चुका था।

"कुछ हिन्दू जला दिये जाते थे, कुछ मुरदे अर्ध दग्धावस्था में ही पानी में फेंक दिये जाते थे। स्त्रियाँ अपने मृत पतियों के साथ सती हो जाती थीं, अन्यथा उनके सिर मूंड दिये जाते थे और बाद में उसकी कोई पूछ नहीं होती थी।"

"मुमूर्षु स्त्री या पुरुष इस आशा से कि उनका अन्त जल्दी हो जायगा, इष्टदेव के सामने डाल दिये जाते थे। अगर उस पर भी मृत्यु न हुई तो दूसरे दिन मुमूर्षु के मित्र और उसके सम्बन्धी पास में बैठ कर थोड़ा-सा रोने कलपने के बाद उसे नदी किनारे ले जाते थे और उसे नरकट के एक बेड़े पर चढ़ाकर नदी के बहाव पर प्रवाह कर देते थे।"

"विवाह के बाद दुलहा-दुलहिन गंगा के किनारे आते थे। उनके साथ एक गाय, बछड़ा और ब्राह्मण देवता होते थे। पहुँचने के बाद दुलहा-दुलहिन, ब्राह्मण देवता और गाय बछड़े सभी पानी के अन्दर घुस जाते थे। जल के अन्दर से वे ब्राह्मण देवता को एक चार गज लम्बा सफ़ेद कपड़ा और चीजों से भरी एक पिटारी देते थे। ब्राह्मण कपड़ा गाय के पीठ पर रख देते थे और उसकी पूंछ पकड़ कर मन्त्र पढ़ते थे। दुलहिन के हाथ में एक ताम्रपात्र होता था। इसके बाद दुलहा-दुलहिन और ब्राह्मण एक साथ गाय की पूंछ पकड़ते थे और ताम्रपात्र से पानी बराबर उनके हाथों में गिरता रहता था। इसके बाद ब्राह्मण देवता दुलहा-दुलहिन की गाँठ जोड़ देते थे और वे दोनों गाय और बछड़े की फेरी देते थे। अन्त में ये मन्दिर के दर्शन के लिये जाते थे और पैसा चढ़ा कर और दण्डवत कर अपने घर लौट जाते थे।" यहाँ गोदान का फ़िच ने सुन्दर चित्र खींचा है। जहाँ तक हमें पता है, अब गंगा तीर पर ब्याह के बाद गोदान की प्रथा उठ गयी है और उसकी जगह गंगा पुजैया होती है।

"धोती पहनने के अतिरिक्त बनारस के लोग अधिकतर नंगे रहते थे। उनकी स्त्रियों के गले, भुजाओं और कानों में चाँदी, तांबे और रांगे की हँसली, जोशन और तरकियाँ होती थीं। चूड़ियाँ हाथीदाँत की होती थीं और उनपर अम्बर और अकीक के नग जड़े होते थे। स्त्रियों के माथों पर गोल सिन्दूर के टीके होते थे और माँग सिन्दूर से भरी होती थी। यह माँग कई तरह से भरी जाती थी। जाड़े के दिनों में आदमी रुई भरी रजाइयाँ या दुलाइयाँ ओढ़ते थे और उनके कान और सिर कंटोप से ढंके होते थे।"

फ़िच के अनसार बनारस एक बहुत बड़ा शहर था और वहाँ सूती कपड़े का बहुत बड़ा व्यवसाय था। मुगलों के लिये वहाँ बड़ी संख्या में पगड़ियाँ भी बनती थीं।

३. वरदराज और ढुण्ढिराज का बनारस

हम देख आये हैं कि फ़िच के अनुसार उस समय बनारस में बहुत से कच्चे घाट थे, पर इन घाटों के नाम फ़िच ने नहीं दिये हैं। सौभाग्यवश इन घाटों और कुछ मुहल्लों के नाम हमें वरदराज (१६००–१६६०) की गीवार्ण-पद-मंजरी में मिलते हैं।[१] गीर्वाण-पद-मंजरी की हस्तलिखित प्रति में घाटों और कुछ ब्राह्मणों के मुहल्लों के नाम आते हैं। प्रश्न कर्ता पूछता है—आप कहाँ रहते हैं? उत्तर मिलता है—मैं काशी में रहता हूँ?

---

[१] श्री के० गोडे०, वरदराज ए प्यूपिल आफ भट्टोजी, ए वालुम इन स्टडीज इन इंडोलाजी प्रेजेंटेड टु प्रो० पी० वी० काणे, पृ० १८८ से पूना, १९४१; देखिए उमाकान्त शाह, गीर्वाण-पद मंजरी तथा वाङमंजरी, जर्नल गायकवाड ओ० इं०, जून १९५९

फिर प्रश्न होता है—काशी में आप कहाँ रहते हैं ? उत्तर मिलता है राजघाट पर। इसके बाद निम्नलिखित घाटों और मुहल्लों के नाम आते हैं।

राजघाट—प्राचीन बनारस यहीं बसा था और यहीं पर बनारस की सबसे पुरानी बस्ती है।

ब्रह्मा घट्ट—पंचगंगा के बगल में आजकल का ब्रह्मा घाट।

दुर्गा घाट—पंचगंगा के पास आजकल का दुर्गाघाट।

बिंदुमाधव घट्ट—पंचगंगा पर माधोराय के धरहरे का नीचे वाला घाट।

मंगलागौरी घट्ट—यह घाट भी राम घाट के बगल में है।

राम घट्ट—आज दिन भी पंचगंगा के पास राम घाट विद्यमान है।

त्रिलोचन घट्ट—गाय घाट के पास वाला त्रिलोचन घाट।

अग्नीश्वर घट्ट—राम घाट के पास।

नागेश्वर घट्ट—इसका पता नहीं।

वीरेश्वर घट्ट—मणिकर्णिका घाट से सटा हुआ घाट।

सिद्ध विनायक—बनारस का सिद्ध विनायक मुहल्ला।

स्वर्गद्वार प्रवेश—इसका पता नहीं।

मोक्षद्वार प्रवेश—इसका पता नहीं।

गंगाकेशव पार्श्व—शायद इसका तात्पर्य आदिकेशव घाट से है।

जरासंध घट्ट—दशाश्वमेध घाट के पास मीर घाट का प्राचीन नाम।

वृद्धादित्य घट्ट—इसका पता नहीं।

सोमेश्वर घट्ट—इसका पता नहीं।

रामेश्वर—पंचक्रोशी यात्रा में रामेश्वर नाम का तीर्थ स्थान।

लोलार्क—अस्सी के पास लोलार्क कुंड। शायद अकबर-जहाँगीर युग में इस नाम का कोई मुहल्ला भी था।

अस्सी संगम—आधुनिक अस्सी घाट।

वरुणा संगम—बरना संगम-राजघाट के आगे जहाँ बरना गंगा से मिलती हैं।

लक्ष्मीनृसिंह—यह मुहल्ला अथवा मंदिर बिंदुमाधव घाट के ऊपर था।

पंचगंगेश्वर—इनका भी मंदिर बिंदुमाधव घाट पर था।

दक्षेश्वर—इसका पता नहीं।

दुग्ध विनायक—आजकल का दूध विनायक मुहल्ला।

कालभैरव—आज का भैरवनाथ मुहल्ला।

दशाश्वमेध घट्ट—आजकल का सुप्रसिद्ध दशाश्वमेध घाट।

चतुःषष्टियोगिनी घट्ट—दशाश्वमेध घाट के पास आधुनिक चौसट्ठी घाट।

सर्वेश्वर घट्ट—इसका पता नहीं।

मानसरोवर—आजकल का मानसरोवर घाट। इस मुहल्ले को अंबर-नरेश मानसिंह ने बनवाया।

आदि विश्वेश्वर—इनका मंदिर भी गीर्वाण पद मंजरी के अनुसार बिंदुमाधव घाट पर था। आधुनिक आदि विश्वेश्वर बांस के फाटक मुहल्ले में है।

केदारेश्वर घट्ट—आधुनिक केदार घाट।

४. हिंदू सामंत और बनारस

अकबर और जहांगीर के राज्यकाल में राजा मानसिंह ने भी बनारस में कई घाट और बहुत से मंदिर बनवाये। बनारस में अनुश्रुति है कि राजा मानसिंह ने एक दिन में १००० मंदिर बनवाने का निश्चय किया। फिर क्या था बहुत से गढ़े पत्थरों पर मंदिरों के नक्शे खोद दिये गये और इस तरह राजा मानसिंह का प्रण पूरा हुआ। शेरिंग के समय तक मानसिंह के बनवाये हुए मंदिर बनारस में मिलते थे।[1] मानसिंह के बनवाये घाटों में सबसे प्रसिद्ध घाट मानमंदिर घाट है। इसे राजा मानसिंह ने बनवाया बाद में जयसिंह ने इसमें वेधशाला बनवायी।

बूंदी नरेशों का भी बनारस से संबंध था। टाड के अनुसार[2] अकबर ने राव दुर्लभ के साथ संधिपत्र में उन्हें बनारस में एक महल दिया। राजमंदिर और शीतला घाट के बीच में टूटी फूटी हालत में यह महल अब भी मौजूद है।

बनारस के मुग़लकालीन धार्मिक इतिहास में सबसे प्रसिद्ध घटना अकबर के राज्यकाल में विश्वनाथ के मंदिर की पुनः रचना है। विश्वनाथ का मंदिर शर्क़ियों अथवा सिकंदर लोदी के समय तोड़ दिया गया। ऐसा जान पड़ता है कि अकबर के राज्यकाल तक वह फिर नहीं बन सका था। विश्वनाथ के मंदिर का पुनः पुनः गिराये जाने का उल्लेख नारायण भट्ट ने अपने त्रिस्थली केतु (रचनाकाल करीब १५८५, पृ० २०८) में किया है। उनका कहना है कि लिंग बहुधा हटा दिये जाने से नये स्थापित लिंग की पूजा करनी चाहिए। म्लेच्छों द्वारा अगर मंदिर नष्ट कर दिया गया हो तो खाली जगह की ही पूजा की जा सकती थी।

प्रसिद्ध दक्षिणी विद्वान नारायण भट्ट का समय १५१४ से १५९५ ईस्वी तक है और ऐसा जान पड़ता है कि उनके जीवन के अधिक भाग में बनारस में विश्वनाथ का कोई मंदिर नहीं था। ऐसा भी पता चलता है कि औरंगजेब के पहले विश्वनाथ के १५वीं सदी के मंदिर के स्थान पर कोई मस्जिद नहीं बनी थी। ज्ञानवापी मस्जिद का १२५ × १८ फुट नाप का पूरब की ओर का चबूतरा शायद चौदहवीं सदी के विश्वनाथ मंदिर का बचा भाग है।

---

[1] शेरिंग, दि सेक्रेड सिटी ऑफ बनारस, पृ० ४२-४३

[2] टाड, एनाल्स एंड एंटिक्विटीज ऑफ राजस्थान, १४८३, लंडन १९५२

अकबर के राज्यकाल में विश्वनाथ का मंदिर बनाने का श्रेय टोडरमल और नारायण भट्ट को है। दिवाकर भट्ट ने अपनी दानहारावली में कहा[1] भी है—**श्री रामेश्वरसूरि-सूनुरभवन्नारायणाख्यो महान्। येनाकार्यविमुक्तकैः सुविधिना विश्वेश्वरस्थापना**—अर्थात् रामेश्वरभट्ट के पुत्र नारायण भट्ट ने अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी में विधिपूर्वक विश्वेश्वर की स्थापना की। डा० आल्तेकर का अनुमान है कि टोडरमल की सहायता से नारायण भट्ट ने १५८५ ईस्वी के करीब यह कार्य संपादित किया। संभव है कि नारायण भट्ट ने टोडरमल को १५८० ईस्वी में मुंगेर की विजय के बाद विश्वनाथ मंदिर बनवाने की सलाह दी तथा बनाने वालों ने १५ वीं सदी के विश्वनाथ मंदिर का नक्शा अपने सामने रक्खा।

प्राचीन मंदिर में पांच मंडप थे। इनमें से पूर्व की ओर पांचवें मंडप की नाप १२५×३५ फुट थी, यह रंग मंडप था और यहाँ धार्मिक उपदेश होते थे। टोडरमल ने केवल मंडप की मरम्मत करा दी। मंदिर की कुरसी ७ फुट और ऊंची उठा कर सड़क के बराबर कर दी गयी। मुसलमानों के डर से मंदिर में मूर्तियां नहीं खोदी गयी।

१६ वीं सदी का विश्वनाथ मंदिर चौखूटा था और उसकी प्रत्येक भुजा १२४ फुट की थी। मुख्य मंदिर बीच में ३२ फुट के मुरब्बे में जलधरी के अंदर था। गर्भगृह से जुटे हुए १६×१० फुट के चार अंतर्गृह थे। इनके बाद १२×८ के छोटे अंतर्गृह थे जो चार मंडपों में जाते थे। पूर्वी और पश्चिमी मंडपों में दंडपाणि और द्वारपालों के मंदिर थे; शायद इनकी मूर्तियां आलों पर स्थित थीं।

मंदिर के चारों कोनों पर १२ फुट के उपमंदिर थे। नंदीमंडप मंदिर के बाहर था। मंदिर की ऊंचाई शायद १२८ फुट थी। मंडपों और मंदिरों पर शिखर थे जिनकी अनुमानतः ऊंचाई ६४ फुट और ४८ फुट थी। मंदिर के चारों ओर प्रदक्षिणा पथ था जिसमें अनगिनत देवी देवताओं के मंदिर थे।

टोडरमल की सहायता से विश्वेश्वर के मंदिर के बनाये जाने की बात हम ऊपर कह आये हैं, पर इसके सिवा टोडरमल ने शिवपुर में प्रसिद्ध द्रौपदी कुंड सीढ़ी सहित १५८९ ईस्वी में बनवाया जैसा उनके एक लेख से प्रकट होता है।[2]

५. तुलसीदास के समय की काशी

अकबर-जहाँगीर युग के बनारस के इतिहास की सबसे बड़ी घटना गोस्वामी तुलसीदास का प्रादुर्भाव है। विनयपत्रिका में हम काशी के अकबर-जहाँगीर युग की काशी की एक झलक पाते हैं। उनकी काशी-स्तुति से हमें काशी संबंधी तत्कालीन विश्वासों और मंदिरों इत्यादि का अच्छा पता लगता है। मरण पर्यन्त काशी में रहना श्रेयस्कर माना जाता था। काशी दुःख, क्लेश, पाप और रोग का नाश करने वाली मानी जाती थी। काशी का मध्य भाग जिसे अंतर्गृही कहते थे नगरी का सब से पवित्र भाग था। वैदिक धर्म में पूर्ण विश्वास करने वालों की यहाँ बस्ती थी। दंडपाणि भैरव का वहाँ

---

[1] एगेलिंग, इंडिया ऑफिस केटलाग ऑफ संस्कृत मेनस्क्रिप्ट्स्, भाग १, पृ० ५४७

[2] इतिहास संग्रह, नंबर १९०८, पृ. २०

स्थान था। लोलार्क कुंड और त्रिलोचन घाट काशी के नेत्र समान थे। कर्णघंटा का यहां मंदिर था। मणिकर्णिका तीर्थ काशी का सबसे प्रसिद्ध तीर्थ था। सांसारिक और पारलौकिक सुखों को देने वाली पंचक्रोशी यात्रा का भी धार्मिक महत्त्व था।[२] विश्वनाथ और पार्वती की यह नगरी थी।[१]

काशी के उपर्युक्त विवरण से कई बातों का पता चलता है। एक तो यह कि जिस समय विनय-पत्रिका का यह पद लिखा गया उस समय विश्वनाथ का मंदिर बन चुका था और दूसरे यह कि पंचक्रोशी यात्रा काशी में धार्मिक क्रियाओं का एक अंग मान ली गयी थी। पंचक्रोशी की सड़क काशी की पवित्र भूमि की चौहद्दी बांधती है और इस सड़क के ठीक पूर्वी नोक पर बनारस की स्थिति है। इस सड़क की लंबाई करीब पचास मील है। गंगा से आरंभ होकर दक्षिण में शहर को छोड़ती हुई यह सड़क नगर से पाँच कोस से दूरी पर कभी नहीं जाती। इस पर निम्नलिखित पड़ाव हैं—(१) मणिकर्णिका से अस्सी, (२) धूपचंडी, (३) रामेश्वर, (४) शिवपुर, (५) कपिल धारा और (६) बरना संगम।

हम ऊपर कह आये हैं कि पंद्रहवीं सदी में कुछ मुसलमान बादशाहों की वजह से बनारस की संस्कृति को काफी धक्का पहुंचा, पर अकबर के राज्यकाल में बनारस पुन: पूरी तौर से संभल गया और अपनी पुरानी परंपरा में चल पड़ा। वही हजारों देवी देवताओं की पूजा, गंगास्नान, जप, तप, आराधना, ब्राह्मणों को दान देना इत्यादि फिर से चालू हो गये और पुन: देश के सब भागों से यात्री काशी में जुटने लगे। पर बनारस का वैदिक धर्म इतना रूढ़िगत हो गया था कि उसमें किसी तरह के सुधार की ओर लोगों का ध्यान तक नहीं जाता था। सच तो यह है कि तत्कालीन काशी में वैदिक धर्म ने लोगों की विचार शक्ति को कुचल सा दिया था और जनता के मन में एक विचित्र तरह का सूनापन आ गया था। कबीर ने इन बाह्याडंबरों को छोड़ कर प्रेम का संदेसा गाया पर उसे सुनने वाले, कम से कम भद्रश्रेणी के लोग जो संस्कृति के प्रवर्तक और धार्मिक क्षेत्र के अगुआ थे, नहीं के बराबर थे। कबीर ने हिंदू धर्म तथा इस्लाम दोनों को आड़े हाथों लिया पर हिंदुओं की नसों में सनातन धर्म इस बुरी तरह से घुस गया था कि उसे छोड़ने अथवा उसमें किसी तरह का अदल बदल करने की वे बात तक नहीं सोचते थे। ऐसे ही समय गोस्वामी तुलसी दास ने काशी से सगुणभक्ति की एक बुलंद आवाज़ उठाई। इस सगुण भक्ति की खान रामायण का लेखन अयोध्या से १५७४ ईस्वी में आरंभ हुआ पर बहुत बरसों बाद उसकी समाप्ति काशी में हुई। अनुश्रुति तो यह है कि भदैनी के पास बाबा तुलसी दास ने रामायण समाप्त किया और गोपाल मंदिर के बाग में विनय-पत्रिका।

इसमें संदेह नही कि बनारस के तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक वातावरण से गोस्वामी तुलसीदास बड़े क्षुब्ध थे। विनयपत्रिका में तो एक जगह उन्होंने जी खोलकर उस अवस्था का वर्णन भी किया है वे कहते हैं—हे दीन दयालु रामजी, पाप दारिद्र्य और दु:ख इन तीन दारुण तापों से दुनियाँ जली जा रही है। सभी प्रकार का सुख चला गया

[१] विनय पत्रिका (वियोगी हरि द्वारा संपादित), पृ० १०३-०४ काशी, सं० १९९२

[२] वही, पृ० ३४०-४१

है। ब्राह्मण जिनकी पवित्रता वेद सम्मत है, उनकी बुद्धि को भी क्रोध, राग, मोह, अहंकार और लोभ ने निगल लिया है। वे समता, संतोष, दया, धर्म आदि को छोड़कर कामी, क्रोधी, मूढ़ और लोभी हो गये हैं। क्षत्रिय भी नित नये पापों की चालें चल रहे हैं। नास्तिकता ने राजनीति, धर्मशास्त्र, श्रद्धा, भक्ति और कुल मर्यादा की प्रतिष्ठा को चौपट कर दिया है। संसार में न तो आश्रम-धर्म है और न वर्ण-धर्म-ही। लोक और वेद दोनों की मर्यादा नष्ट होती जा रही है। न कोई लोकाचार मानता है, न वैदिक धर्म ही। पाप में सनकर प्रजा का ह्रास हो रहा है, लोग अपने अपने रंग में मस्त हैं, कोई किसी की सुनता नहीं। शांति, सत्य और सुमार्ग शून्य हो गये हैं और दुराचार और छल कपट की बढ़ती हो रही है। सज्जन कष्ट पाते हैं पर दुर्जन मौज करते हैं। धर्म के नाम पर लोग पेट पालने लगे हैं। साधन निष्फल होने लगे हैं और सिद्धियाँ भी झूठी पड़ गयी हैं।

हिंदू धर्म की इस दुरवस्था को देखते हुए भी गोस्वामी तुलसी दास ने रामचरित मानस में पुराण सम्मत हिंदू धर्म के विरोध में अपनी आवाज नहीं उठायी। अगर वे तत्कालीन वर्णाश्रम धर्म की सत्ता पर व्याघात करते तो शायद उन्हें भी वही नतीजा मिलता जो रामानंद और कबीर को मिला और जनता उनकी सुनती ही नहीं। उन्होंने तो राम की कथा को भक्ति से सराबोर करके जनता के सामने रख दिया और उसे बताया कि सगुण की भक्तिपूर्वक आराधना ही मुक्ति मिलने का सबसे सुगम मार्ग है। श्रुति, स्मृति कर्मफल, पुनर्जन्म और अवतारवाद पर उनकी पूर्ण आस्था थी। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता भी उन्होंने स्वीकार करली थी। सारे अवगुणों से भरा भी ब्राह्मण हमारी पूजा का पात्र है, पर पढ़ा लिखा भी शूद्र हमारे आदर का भाजन नहीं हो सकता। पवित्र नदियों में स्नान का फल परमेश्वर की आज्ञा उद्घोष करती हुई आकाशवाणियाँ, और घोर तपस्या द्वारा चमत्कारपूर्ण फलों की प्राप्ति की ओर भी मानसकार की श्रद्धा है। मानस में अनेक देवता भी मनुष्यों की तरह अनेक ऐंद्रिय साधनों के लिये व्यग्र दिखलायी देते हैं और ब्रह्मा और शिव भी राम द्वारा मुक्ति के अभिलाषी हैं। परंतु इन सब पौराणिक कथा-वार्ताओं के होते हुए भी रामायण में राम की वीरता, सीता के प्रति प्रेम, भरत और लक्ष्मण का भ्रातृप्रेम, हनुमान का दृढ़ सेवक धर्म तथा सब के ऊपर भक्ति का ऐसा सुंदर संदेश है जिसने करोड़ों आदमियों को एक जीवित आदर्श देकर उन्हें गिरने से बचाया।

रामायण भक्ति का एक अटूट भंडार है। तुलसीदास के राम कुलीनता, धन, पुरुषार्थ, गुण, और कर्मकांड की परवाह न करके केवल भक्ति के भूखे हैं। भक्ति ईश्वरदत्त है। भक्त सारी दुनिया को राममय देखता है, और किसी उदात्त अथवा अनुदात्त भाव के बिना राम में भरोसा रखता है। पाप-भार से दबे प्राणी की रक्षा ज्ञान, योग या तप से नहीं हो सकती, उसके लिये तो अचल भक्ति की आवश्यकता है। सब गुणों में चरित्र की निर्मलता को गोसाईंजी सब के ऊपर मानते हैं। वे कहते हैं कि अपने शरीर को पूजनीय मानो क्योंकि परमपिता ने भी इसमें एक बार जन्म लिया था। इसीलिए यह सिद्ध है कि राम का मनुष्य देह लेना ही उनका सब प्राणियों के प्रति प्रेम है। इसी प्रेम के वशीभूत होकर राम ने शबरी के जूठे बैर तक चखे, निषाद को अपनी छाती से लगाया और राक्षस विभीषण तक को शरण दी।

तुलसीदास ने जो भक्ति और आदर्श की धारा बहाई, उसने मुगलकालीन भारत में हिंदुओं की रक्षा कर ली नहीं तो वे घोर अंधकार के गड्ढे में बराबर गिरते ही जाते। अनेक अत्याचारों को झेलते हुए भी हिंदुओं के सामने तुलसीदास के राम का एक ऐसा आदर्श था जो उनके सूने जीवन में एक भक्ति की लहर दौड़ाकर उन्हें अपने भीतरी और बाहरी कष्टों से मुकाबला करने के लिये तैयार करता था। रामभक्ति ने कर्मकांडमय हिंदू धर्म की शुष्कता दूर करके उसमें रस बहाया। इसमें शक नहीं कि समाज के प्रताड़ितों के प्रति तो तुलसीदास के भाव श्रुति-सम्मत ही थे, और अनिष्टकारी जाति-वाद का भी उन्होंने समर्थन किया है। पर यह सब तो उनके निजी संस्कार और परिस्थितियों के फल हैं। उनके राम को इन सामाजिक बाह्यांडबरों से कुछ मतलब नहीं है; उनके लिये तो भक्ति ही साध्य और साधन सब कुछ है।

मुगलकालीन बनारस में और दूसरे शहरों में भी शैवधर्म का प्राबल्य था ओर इसी लिये तुलसीदास ने बराबर शिव की वंदना की है, पर ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों राम के आधीन हैं और उन्हें जिस तरह चाहते हैं दारुयोषित की तरह नचाते हे। राम की बरात में शिव और ब्रह्मा राम के परम भक्त माने गये हैं और वे अपने को राम के पादपद्मों का अभिलाषी मानते है। फिर भी शिव-पार्वती की ओर राम-जानकी की श्रद्धा व्यक्त की गयी है और यह श्रद्धा इस बात का उदाहरण है कि तुलसीदास का शैवों से किसी प्रकार का द्वेष-भाव नहीं था।

जन-श्रुतियों में तुलसीदास और अब्दुल रहीम खाँ खान खाना की मित्रता की ओर संकेत है। १५८९ से १५९१ तक जब खान खाना जौनपुर के सूबेदार थे संभवतः तब उनकी तुलसीदास के से भेंट होती रही होगी। संभव है कि खान खाना का हिंदी-प्रेम तुलसीदास संसर्ग से ही बढ़ा हो।

अकबर के राज्यकाल में बनारस में केदारघाट पर कुमारस्वामी के मठ की भी स्थापना हुई। कुमारस्वामी का जन्म सोलहवीं सदी के आरम्भ में तिनेवली जिले के वैकुंठग्राम में हुआ। ये कार्तिकेय के परमभक्त थे। गुरु की खोज में यात्रा करते हुए मदुरा नरेश से इन्हे काफी द्रव्य प्राप्त हुआ। कावेरी के किनारे धर्मपुर नामक स्थान पर इनकी गुरु से भेंट हुई और उन्हीं की आज्ञा से वे काशी की ओर रवाना हुए। किंवदन्ती है कि काशी से वे दिल्ली पहुँचे और अकबर से बनारस में मठ स्थापित करने का फ़रमान प्राप्त किया। काशी में उन्होंने केदार घाट पर मठ स्थापित किया और वहाँ दक्षिण भारत के यात्री बेरोकटोक आने लगे। कुमारस्वामी के छठे गद्दीदार के समय में फौजदार के अत्याचार के कारण तिल्लैनायक स्वामी ने अपने एक गुरुभाई को नियुक्त कर दिया और स्वयं बहुत सा द्रव्य लेकर दक्षिण चले गये और वहाँ जाकर त्रिपनैवल (तंजोर) में अपना घर बनाया और १७२० ईस्वी में जमीदारी खरीदी। काशी में ब्राह्मण भोजन कराने के लिए लोग इनकी गद्दी में रकम जमा कर देते थे। दोनों गद्दियाँ अपनी हुंडियाँ चलाती थीं। केदारेश्वर का मंदिर इन्हीं के प्रबंध में है।[1]



[1] हंस का काशी अंक, पृ० १४१ से

तीसरा अध्याय

शाहजहाँ–औरंगजेब कालीन बनारस

(१६२७–१७०७ ईस्वी)

१. इतिहास

शाहजहाँ (१६२७–१६५८ ईस्वी) के राज्यकाल में बनारस के राजनीतिक इतिहास के बारे में तो कुछ पता नहीं चलता। जान पड़ता है कि ऐसी कोई विशेष घटना घटी ही नहीं जिसका उल्लेख इतिहासकार कर सकें। पर शाहजहाँ कट्टर मुसलमान था और अपने राज्यकाल के कुछ ही दिनों बाद उसने नये बने मन्दिरों को तोड़ने की आज्ञा दी और इस हुक्म का असर बनारस पर भी पड़ना लाज़मी था। बादशाहनामा[१] के अनुसार यह हुक्म १६३२ ईस्वी में शाया हुआ। इतिहासकार के शब्दों में शाहंशाह के सामने यह बात लायी गयी कि जहाँगीर के राज्यकाल में बनारस में, जो बुतपरस्तों का प्रधान अड्डा था, बहुत से मन्दिर बनने आरंभ हुए थे पर वे पूरे नहीं हो सके थे। बुतपरस्त उन मन्दिरों को पूरा करने के इच्छुक थे। इसलिए दीन के संरक्षक शाहंशाह ने हुक्म जारी किया कि बनारस और उनके साम्राज्य में और भी दूसरी जगहों में अधबने मन्दिर गिरा दिये जायँ। इस हुक्म के बाद इलाहाबाद के सूबे से खबर मिली कि केवल बनारस सरकार में ही ७६ अधबने मन्दिर गिरा दिये गये। शाहजहाँ के इस तानाशाही हुक्म को बनारसियों ने यों ही नहीं मान लिया इस बात के गवाह प्रसिद्ध अंग्रेज यात्री पीटर मंडी हैं।[२] ३ दिसम्बर १६३२ को मुगलसराय जाते हुए मंडी ने एक आदमी को पेड़ से फाँसी लटकता हुआ देखा। पूछताछ करने पर उसे इस आदमी की फाँसी के कारण का पता चला। बात यह थी कि शाहजहाँ के फरमान के मुताबिक़ इलाहाबाद के सूबेदार हैदर बेग ने अपने चचाजाद भाई को बनारस के नये मन्दिर तोड़ने भेजा। एक राजपूत रास्ते में छिप गया और उसने अपनी कमठी से सूबेदार के चचेरे भाई और उसके तीन चार साथियों को मार डाला। वह बराबर अंत तक लड़ता रहा और मरते-मरते भी उसने अपने जमधर से दो तीन आदमियों को मार गिराया। पर अन्त में वह मारा गया और उसकी लाश पेड़ से लटका दी गयी। वीरता का यह अपूर्व उदाहरण है। यह अनामा राजपूत मन्दिरों को तो ढहने से न बचा सका पर यह उसने जरूर साबित कर दिया कि हिन्दुओं के उस ह्रास पूर्ण युग में भी ऐसे वीर थे जो अपने धर्म के लिये लड़ते लड़ते मर जाने को तैयार थे।

मंडी आगरा से पटना जाते हुए ३ सितम्बर १६३२ को बनारस पहुँचा। बनारस के रंगबिरंगे नागरिकों, अच्छी इमारतों और फर्शदार पतली और घुमावदार सड़कों को

---

[१] ईलियट, भाग ७, पृ० ७०

[२] दि ट्रावेल्स आफ पीटर मंडी (टेंपिल द्वारा संपादित), भाग २, पृ० १७८, लंडन १९१४

देखकर वह बड़ा प्रभावित हुआ। बनारस पहुँचने के दूसरे दिन भी मंडी को इसलिए ठहर जाना पड़ा कि बनारस के फ़ौजदार मुजफ़्फ़र बेग ने कुलीज खाँ की औरतों और घर-गृहस्थी को इलाहाबाद से मुल्तान पहुँचाने के लिए उसकी गाड़ियाँ जबर्दस्ती ले ली थीं। पर मंडी पूरा उस्ताद था, उसने झट घूस देकर अपनी गाड़ियाँ छुड़वा लीं और आगे बढ़ गया।[1]

मंडी के अनुसार बनारस में "खत्री ब्राह्मण और बनियों की बस्ती है और वहां दूर दूर से लोग देवताओं की पूजा करने आते हैं। इनमें काशी विश्वेश्वर महादेव का मंदिर सबसे प्रसिद्ध है। मैं उसके अंदर गया। उसके बीच में एक ऊँची जगह पर एक लंबोतरा सादा (बिना नकाशी का) पत्थर है। उस पर लोग नदी का पानी, फूल, अक्षत और पिघला घी चढ़ाते हैं। पूजा के समय ब्राह्मण कुछ पढ़ते रहते हैं, पर उसे गँवार समझते नहीं। लिंग के ऊपर एक रेशमी चँदवा है जिसके सहारे कई बत्तियाँ जलती रहती हैं। उस सादी थोथी मूरत का मतलब एक सादे गँवार के ठेठ शब्दों में महादेव का लिंग था। अगर ऐसी बात है तो जान पड़ता है इसीसे स्त्रियाँ अपने छोटे बच्चों को निरोग करवाने लाती हैं। शायद इस लिंग में प्रजनन और रक्षण, दोनों भाव निहित हैं"।[2] विश्वनाथ के मंदिर का यह आँखों देखा सर्वप्रथम वर्णन है।

विश्वनाथ के मंदिर के सिवाय मंडी ने गणेश, चतुर्भुज, और देवी के मंदिर भी देखे। मंदिरों के द्वार पर अक्सर नन्दी होते थे। वह मंदिरों के सभा मंडपों का भी वर्णन करता है जहाँ उसने कुछ सुन्दर मूर्तियाँ देखीं। इसके पहले तक तो उसकी यात्रा में केवल बदसूरत मूर्तियाँ ही मिली थीं।

पटने से लौटते हुए मण्डी मुगलसराय २९ नवम्बर १६३२ को पहुँचा। वहाँ उसे खबर लगी कि बनारस में एक बढ़ी भयंकर बीमारी फैली हुई थी और शहर के ९० प्रतिशत आदमी या तो मर गये थे या भाग गये थे। उसे अपनी गाड़ियों की मरम्मत के लिये बनारस में दो दिन ठहरना जरूरी था। एक दिन वह स्मशान देखने चला गया। वहाँ चालीस मुर्दे जल रहे थे और कुछ अर्धमृत मनुष्य पानी में स्वर्ग-प्राप्ति के लिये उतार दिये गये थे।[3]

मंडी ने बनारस में साधुओं और फ़क़ीरों का भारी हुंगामा भी देखा। इनमें हिन्दू, मुसलमान, जोगी और नागे थे जो लोगों के दान धर्म पर अपनी जीविका चलाते थे। इनमें से कुछ सड़कों पर बैठे थे, और कुछ मकबरों में, जहाँ हरे भरे वृक्ष कुएँ, छावन और मट्टी की चौतरियां थीं, उसकी साधुओं के एक अखाड़े से भी भेंट हुई। अखाड़े का मुखिया घोड़े पर सवार होकर झंडा लेकर चल रहा था और कुछ साथियों के हाथ में लम्बे बांसों में बंधी चौरियाँ थीं। एक सिंघा बजा रहा था। वे अधिकतर मोरछल लिये,

---

[1] पीटर मंडी, वही, पृ० १२२

[2] वही, पृ० १२२–२३

[3] वही, पृ० १७५

जमातों में चलते थे। कुछ के हाथों में बैठने के लिये व्याघ्र चर्म थे। जोगी गेरुए कपड़े पहने थे। कुछ साधुओं के कमर में सिक्कड़ थे, जिनमें उनकी गुप्तेन्द्रियों पर काम निरोध के लिये तवे बंधे थे। अधिकतर साधू जटाजूटधारी थे। कुछ साधू बिना बोले लोगों के सामने खड़े हो जाते थे और तब तक नहीं हटते थे जब तक उनसे हटने को न कहा जाय। इनमें से कुछ साधुओं को वैद्यक का भी ज्ञान था पर उनमें अधिकतर तो अपनी पवित्रता के लिये ही प्रसिद्ध थे।[१]

२. दारा शुकोह और बनारस

दारा शुकोह की धार्मिक सहिष्णुता इतिहास में प्रसिद्ध है। उन्होंने यहूदियों और क्रिस्तानों के धर्म ग्रन्थ भी पढ़े थे पर उपनिषदों से उन्हें विशेष शान्ति मिली। दारा इलाहाबाद के सूबेदार थे और इसीलिए बनारस उनके क्षेत्र में था। उपनिषदों के अनुवाद सिर्र उल-असरार अथवा सिर्र अकबर के दीबाचा में वे कहते हैं कि उन्होंने १६५६ में बनारस के बहुत से पण्डित और सन्यासी इकट्ठे किये और उनकी मदद से उपनिषदों का फ़ारसी में स्वतः अनुवाद किया।[२] दारा द्वारा षट्भूमिक नामक एक संस्कृत ग्रन्थ के अनुवाद की बात मिलती है।[3] एक जगह दारा कहते हैं कि उन्होंने सूफ़ी मत ग्रहण किया था और हिन्दू फ़क़ीरों के संसर्ग से यह पता लगने पर दोनों मतों में केवल शाब्दिक भेद है, उन्होंने मजमूअउल-बहरैन १६५८ में लिखा जिससे दोनों मजहबों का समन्वय हो सके। पता नहीं कि दारा स्वतः बनारस आये थे या नहीं, पर बनारस में तो अनुश्रुति है कि वे यहाँ आये थे।

शाहजहाँ के राज्यकाल में बनारस में एक और घटना घटी और वह थी कवीन्द्राचार्य (१६२७–७०) द्वारा यत्रियों पर जकात का कर उठवाना। कवीन्द्राचार्य गोदावरी नदी के तीर पुण्य-भूमि नामक स्थान के निवासी थे। वेद, वेदान्त, और अन्य शास्त्रों का अध्ययन करके वे सन्यासी हो कर बनारस में रहने लगे तथा पण्डितों के अग्रणी बने। उनके हस्तलिखित पुस्तकों के अद्भुत संग्रह (कवीन्द्राचार्य सूची पत्र, गायकवाड ओरियन्टल सीरीज १९२१) से उनके अगाध पाण्डित्य और विद्याव्यसन का पता चलता है। अनुश्रुति है कि शाहजहाँ ने उन्हें सर्वविद्यानिधान की पदवी दी थी। कवीन्द्राचार्य का सर्वश्रेष्ठ कार्य शाहजहाँ द्वारा काशी और प्रयाग के यात्रियों पर से यात्री कर उठवाना था। यात्रियों पर जकात का वर्णन मुस्लिम इतिहासकारों में नहीं मिलता इसका कारण यही हो सकता है कि मुस्लिम इतिहासकार भला कैसे इस घटना का अंकन करते जिसमें बादशाह द्वारा काफ़िरों पर से एक कर उठ जाने की बात हो। सम्भव है, इस कर के उठवाने में दारा शुकोह का हाथ रहा हो।[४]

---

[१] वही, पृ० १७६–७७

[२] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा० ४७।२, पृ० १८०

[३] जर्नल गंगा नाथ झा रिसर्च इ.स्टट्यूट, फरवरी १९४४, पृ० १९३ से

[४] एच० डी० शर्मा और एम० एम० पाटकर, कवीन्द्र चन्द्रोदय, पृ० १–४

कर उठ आने पर हिंदू जगत और विशेष कर बनारस के पंडितवर्ग में आनंद की लहर आ गयी। चारों ओर कवींद्राचार्य की प्रशंसा होने लगी और उन्हें लोगों ने विद्यानिधान और आचार्य पदवियों से विभूषित किया। उन्हें बनारस के अनेक पंडितों ने कविताबद्ध मानपत्र भी समर्पण किये, जिनका संग्रह श्रीकृष्ण उपाध्याय ने कवीन्द्र-चन्द्रोदय नाम के ग्रंथ में किया है। अभाग्यवश इन मानपत्रों में केवल कवीन्द्राचार्य की स्तुति मात्र की गयी है, ऐतिहासिक सामग्री तो इसमें नहीं-सी है।

३. औरंगजेब और बनारस

१६५८ ईस्वी में जब शाहजहाँ सख्त बीमार पड़े तो उनके पुत्रों में तख्त के लिये लड़ाई छिड़ गयी। बंगाल के सूबेदार और शाहजहाँ के द्वितीय पुत्र शुजा ने अपने पिता की बीमारी का हाल सुना[१] तब उसने अपने को हिन्दुस्तान का बादशाह घोषित कर दिया और एक बड़ी सेना, तोपखाने और नवारे के साथ वह बंगाल से दिल्ली की ओर चला और करीब १४ जनवरी १६५८ को बनारस पहुँच गया। इस बीच दारा ने शुजा के मुक़ाबिले के लिये बीस हजार घुड़सवार, दो हजार बंदूकची और २०० बरकंदाज, जिनके साथ काफी रुपये और हाथी थे, रवाना कर दिये। इस सेना के नाम के सिपहसालार सुलेमान शुकोह थे लेकिन सब करने धरने वाले राजा जयसिंह और दिलेर खाँ रुहेला थे। दोनों फौजों का बनारस से उत्तर पूर्व पाँच मील दूरी पर बहादुरपुर में २५ जनवरी को मुक़ाबिला हुआ। पहले तो मामूली सी झड़पें और गोलेबाजी होती रही, लेकिन १४ फरवरी १६५८ को बादशाही फौजों ने धावा बोल दिया। उस झटके से शुजा की फौज बिखर गयी और उसका पड़ाव लूट लिया गया। भागती हुई फौज की आवाज़ से मसहरी के अंदर लेटे हुए शुजा की नींद खुल गयी। हाथी पर सवार होकर वह फौरन बाहर आया लेकिन लड़ाई तो तब तक समाप्त हो चुकी थी, दुश्मन उसका पड़ाव लूट रहे थे और शुजा के अफसर इस बात की परवाह किये बिना कि उनके मालिक का क्या हुआ सिर पर पैर रखकर भाग रहे थे। थोड़े आदमी मुकाबला कर रहे थे, सो भी इसलिये कि किसी तरह बच कर निकल जा सकें। शुजा के करीब तीन हजार सिपाहियों ने तो अपने हथियार डाल दिये। हाथी पर सवार शुजा के ऊपर तीर बरस रहे थे। फिर भी उसने अपनी फौज को जमा करने की बहुतेरी कोशिशें की पर उसका कोई नतीजा नहीं निकला। शुजा के बच निकलने का केवल एक ही रास्ता बच गया था और वह था नदी किनारे का रास्ता जिसकी रक्षा नवारे की तोपें कर रहीं थी, लेकिन वहाँ तक पहुँचना भी आसान नहीं था। किसी तरह कुछ वफ़ादार साथियों की मदद से शुजा नवारे तक पहुँच गया। उसके भागते ही उसके पड़ाव में ऐसी लूट मची कि शुजा और उसके साथियों का कम से कम दो करोड़ का नुकसान हुआ।

शुजा ने फौरन अपने नवारे का लंगर उठवा दिया और जल्दी से नदी के बहाव की ओर भागा। जल्दी इतनी थी दस मील तक तो नवारा रुका ही नहीं। जब वह रुका तो मिर्ज़ा जान बेग, जो लड़ाई के मैदान से केवल ४०० सिपाहियों के साथ भाग सके

---

[१] सरकार, औरंगजेब, भा० १-२, पृ० ४६६ से

थे, नावों पर सवार हो सके। इस गड़बड़ी और घबराहट का सबूत इसी बात से मिल जाता है कि मिर्ज़ा जान बेग ने अपने मालिक को अपनी जान बचाने पर बधाइयाँ दी क्योंकि उस भयंकर मारकाट से बच निकलना ही हजारों फ़तह के समान था। पर शुजा की ज्यादातर फौज को जमीन के रास्ते से भागना पड़ा और इस भागाभाग में बदमाश गांववालों ने सिपाहियों के कपड़े तक उतरवा लिये। हारे हुए वीरों की संख्या पन्द्रह हजार थी और वे जिरह बख्तरों से लैस और घोड़ों पर सवार भी थे, फिर भी भीगी बिल्ली की तरह उन्होंने उन बदमाशों से अपने को लुट जाने दिया। कुछ ने और भी बहादुरी का प्रदर्शन किया। उन्होंने तो अपने साजसामान और रुपये इसलिये फेंक दिये कि भागने में सुभीता हो सके। गाँव की औरतें इन सिपाहियों को पानी की लालच से फँसाकर एक ओर ले जाती थीं और इनके साज सामान लूट लेती थीं। इन वीरों को चींचपड़ तक करने की भी हिम्मत न होती थी।

इस लड़ाई के बाद रोते गाते शुजा किसी तरह मुंगेर जा पहुँचे। वहाँ सुलेमान के साथ उनकी संधि हुई और सुलेमान ७ मई १६४८ को आगरा लौट गया।

औरंगजेब द्वारा हराये जाने पर दारा को अपनी प्राण रक्षा के लिये पंजाब में भागने और औरंगजेब द्वारा उसका पीछा करने का समाचार सुनकर शुजा की राजेच्छा पुनः जाग्रत हुई और उसने दिल्ली की ओर कूच करने की ठान ली। अक्टूबर १६५८ के अन्त में २५००० घुड़सवार, तोपखाना और भारी नवारे के साथ बंगाल की सेना ने पटने से कूच बोल दी। रोहतास, चुनार और बनारस ने शुजा के लिये अपने दरवाजे खोल दिये। इलाहाबाद के सूबेदार ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। गंगा के उत्तर में भेजे गये एक फौजी दस्ते ने जौनपुर भी दखल कर लिया। बनारस में शुजा की खाली पेटियाँ बनारस के हिंदू मुसलमान महाजनों और रईसों से जबर्दस्ती वसूल किये गये तीन लाख रुपयों से भर गयीं। इस तरह शुजा की फौज २३ दिसम्बर को इलाहाबाद जा पहुँची। यहाँ सुल्तान मुहम्मद की फौज ने उसका मुकाबला किया और अंत में इलाहाबाद से तीन मंजिल दूर खजवा पर औरंगज़ेब ने उसे पूरी तौर से हरा दिया।

बनारस में औरंगज़ेब का नाम उसकी धार्मिक असहिष्णुता के कारण आज तक लिया जाता है। औरंगज़ेब कट्टर मुसलमान था और उसके जीवन का यह ध्येय था कि हिंदू किसी तरह आगे न बढ़ने पावे। उसने पुनः हिन्दुओं पर जज़िया लगवाया मंदिर तोड़े और जहाँ तक उससे बन पड़ा हिंदुओं की सांस्कृतिक संस्थाओं को नष्ट किया। औरंगज़ेब का बनारस के हिंदुओं के प्रति रुख दो प्रकार का जान पड़ता है—पहला तो वह जिसे उसने तख्त पर बैठते ही हिन्दुओं के बारे में अख्तियार किया और दूसरा वह जब गद्दी पर जमकर अधिकार करने के बाद उसने हिंदुओं के प्रति अख्तियार किया।

अनेक भयंकर लड़ाइयाँ लड़ने के बाद और अपने भाइयों के खून से हाथ रंग कर औरंगज़ेब दिल्ली के तख्त पर बैठा। जनता में उसकी इस क्रूरता का कारण एक घृणा का भाव था और इसीलिए फौरन गद्दी पर बैठते ही औरंगज़ेब कोई ऐसी बात नहीं करना चाहता था जिससे उसके प्रति लोगों में असंतोष और विद्रोह की आग भड़के। औरंगज़ेब

की हिंदुओं के प्रति इस नीति का पता हमें बनारस के २८ फरवरी १६५९ के एक फ़रमान से लगता है ।[१] फ़रमान का मजमून यह है—"हमारे शरायत कानून के लिहाज से यह निश्चित किया गया है कि पुराने मंदिर न गिराये जायँ, लेकिन कोई नया मंदिर न बनने दिया जाय। दरबार में खबर पहुँची है कि कुछ लोगों ने बनारस और उसके आस पास रहने वाले हिंदुओं को और कुछ ब्राह्मणों को जिनको बनारस के प्राचीन मंदिरों में पूजा करने का अधिकार है तंग किया है। वे चाहते हैं कि इन ब्राह्मणों को पूजा करने के मौरूसी हक से भी हटा दिया जाय। इसलिये मैं यह फ़रमान जारी करता हूँ कि तुम भविष्य में ऐसा प्रबंध करो कि कोई भी गैरकानूनी तरीकों से ब्राह्मणों तथा उस जगह के रहनेवाले हिंदुओं के कार्यों और हक़ों में दस्तन्दाजी न कर सकें।' औरंगजेब का यह फ़रमान शाहजादा मुहम्मद सुल्तान के बीच बचाव से अबुल हसन के नाम जारी किया गया था।

पर औरंगज़ेब के हिंदुओं के प्रति आरंभिक बर्ताव से यह न समझ लेना चाहिए कि बनारस में सब कुशल मंगल था क्योंकि वृद्धकाल के पास आलमगीरी मस्जिद कृत्तिवासेश्वर के मंदिर को तोड़कर १६५९ ईस्वी में बनी।

१६६६ ईस्वी में बनारस के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी। छत्रपति शिवाजी औरंगज़ेब के बुलाने पर दिल्ली गये, पर वहाँ उनका अपमान किया गया और उन्हें कैद कर लिया गया। वहाँ से वे बड़े ही कौशल से निकल भागे और बनारस जा पहुँचे, पर यहाँ से बहुत दिनों तक नहीं रह सके। साधु-वेश में वे यहाँ से दक्षिण की ओर चले गये। शायद उनके बनारस जाने और छिपे रहने से औरंगज़ेब का बनारस पर क्रोध और बढ़ा होगा।

जो भी हो दिल्ली के तख्त पर मजबूती से पैर जम जाने के बाद औरंगज़ेब ने बुतपरस्तों से बदला लेने की सोची। साकी मुस्तइद खाँ ने मासिर-ए-आलमगीरी[२] में इसका पूरा पूरा वर्णन दिया है। उन्हीं के शब्दों में "१७ जिलकदां, हिजरी १०७९ (१८ अप्रैल १६६९) के दिन दीन (धर्म) के रक्षक बादशाह सलामत के कानों में खबर पहुंची कि ठट्ठा और मुल्तान के सूबों में और विशेष कर बनारस में बेवकूफ ब्राह्मण अपनी रद्दी किताबें अपनी पाठशालाओं में पढ़ाते और समझाते हैं और उनमें दूर दूर से हिंदू और मुसलमान विद्यार्थी और जिज्ञासु उनके बादमाशी भरे ज्ञान विज्ञानों को पढ़ने की दृष्टि से जाते हैं। धर्म-संचालक बादशाह ने यह सुनने के बाद सब सूबेदारों के नाम यह फ़रमान जारी किया कि वे अपनी इच्छा से काफ़िरों के तमाम मंदिर और पाठशालाएँ गिरा दें। उन्हें इस बात की भी सख्त ताकीद की गयी कि वे सब प्रकार के मूर्ति-पूजा संबंधी शास्त्रों का पठन पाठन, और मूर्तिपूजा भी बंद कर दें। १५ रब-उल-आखिर (२ सितंबर, १६६९) को दीन प्रतिपालक बादशाह को खबर मिली कि उनकी आज्ञा के अनुसार उनके अमलों ने बनारस में विश्वनाथ का मंदिर गिरा दिया।" मंदिर केवल गिराया ही नहीं गया उस पर

[१] जे० ए० एस० बी०, १९, ११; सरकार, औरंगज़ेब, भा० ३, पृ० २८१

[२] ईलियट, भाग ७, पृ० १८३-८४

ज्ञानवापी की मस्जिद भी उठा दी गयी। मस्जिद बनाने वालों ने पुराने मंदिर की पश्चिमी दीवार गिरा दी और छोटे मंदिरों को जमींदोज कर दिया। पश्चिमी उत्तरी और दक्षिणी द्वार भी बंद कर दिये गये, द्वारों पर उठे शिखर गिरा दिये गये और उनकी जगह गुंबद खड़े कर दिये गये। गर्भगृह मस्जिद के मुख्य दालान में परिणित हो गया। चारों अंतरगृह बचा लिये गये और उन्हें मंडपों से मिलाकर २४ फुट मुरब्बे में दालानें निकाल दी गयीं। मंदिर का पूर्वी भाग तोड़कर एक बरामदे में परिणत कर दिया गया। इसमें अब भी पुराने खंभे लगे हैं। मंदिर के पूर्वी मंडप में जो १२५ X ३५ फुट का था पत्थर के चौके बैठा कर उसे एक लंबे चौक में परिणत कर दिया गया।

इसी झपेटे में बिंदुमाधव का मंदिर भी आ गया। बिंदुमाधव के मंदिर को तुड़वाकर वहां मस्जिद बनवायी गयी। हम आगे चल कर देखेंगे कि तावेर्नियें के अनुसार बिंदुमाधव का मंदिर पंचगंगा से रामघाट तक फैला हुआ था और इसके अहाते के अंदर श्री राम, और मंगलागौरी के मंदिर और पुजारियों के रहने के लिये बहुत से मकान थे। मस्जिद की बनावट में खास तो खूबसूरती नहीं हैं, लेकिन उसके धरहरे जो अब गिर चुके हैं बहुत ख्यात हैं। इन धरहरों की चौड़ाई जमीन पर ८। फुट थी और सिर पर ७।। फुट, इनकी उंचाई १४७ फुट २ इंच है। मस्जिद की कुरसी गंगा से करीब ८० फुट ऊँचे पर है। बिंदुमाधव का मंदिर किसने बनवाया था यह तो ठीक नहीं कहा जा सकता, पर तुलसीदास के समय शायद वह था और हो सकता है अंबर के राजा मानसिंह ने इसे बनवाया हो। जिस पुश्ते पर जामा मस्जिद है उसकी दक्षिण दिशा वाली दीवार में पंचगंगा घाट वाली सीढ़ियों के ऊपर एक लेख है जिससे पता लगता है कि महाराज जयसिंह ने १६४२ में यहां अपनी यात्रा सुफल की (हंस का काशी अंक, पृ० १२५)। इस लेख से कुछ लोगों की धारणा है कि धरहरा १६४२ में बना जो ठीक नहीं मालूम पड़ता।

४. बनारस और औरंगजेब कालीन कुछ विदेशी यात्री :

इस युग में बनारस की हालत का पता संस्कृत साहित्य से कम चलता है। संस्कृत लेखकों को तो धर्म कर्म छोड़कर दुनियावी बातों की ओर ध्यान देने की फुरसत नहीं थी और मुसलमानों को काफ़िरों से कोई सरोकार ही नहीं था। भाग्यवश दो प्रसिद्ध फरासीसी यात्री बर्नियर और तावेर्नियें १६६० और १६६५ के बीच बनारस आये और उनके बयानों से हमारे सामने १६६० और १६६५ के बीच के बनारस का चित्र खड़ा हो जाता है। जब ये यात्री वहाँ आये तब तक बनारस औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता का शिकार नहीं बन पाया था। विश्वनाथ और बिंदुमाधव के मंदिर तब तक खड़े थे और बनारस में पठन-पाठन का कार्य भी उसी तरह से चल रहा था।

१६६५ ईस्वी में तावेर्नियें इलाहाबाद से बनारस के लिये रवाना हुआ।[1] गंगा पार करने के बाद सूबेदार के दस्तक के लिये उसे दो पहर तक रुकना पड़ा। ऐसा करना ज़रूरी

[1] ट्रावेल्स इन इंडिया बाइ जें बापतीस्त तावेरनियें, अनु० बी०, बॉल, भा० १, पृ० ११८-११९, लंदन, १८८९

था क्योंकि बिना सूबेदार के आज्ञा पत्र के वह आगे नहीं बढ़ सकता था। जान पड़ता है इस नियम का सख्ती के साथ पालन किया जाता था। तावेर्नियें का कहना है कि गंगा के इस पार और उस पार एक एक दो दारोगा होता था जो बिना दस्तक के किसी को आगे नहीं बढ़ने देता था। दस्तक देखकर वह साथ वाली व्यापारिक वस्तुओं की भी चिट्ठी तैयार करता था और हर गाड़ी से चार रुपये और रथ से एक रुपये कर वसूल करता था; नाव का महसूल और किराया अलग से चुकाना पड़ता था। नाव पर सवार होने के पहले सूबेदार का दस्तक देखा जाता था और ज़कात वसूल करने वाले असबाब की खूब जांच पड़ताल करते थे। निजी असबाब पर तो कोई महसूल नही लगता था लेकिन व्यापारिक माल पर ज़कात देनी पड़ती थी।

बनारस का शहर गंगा के उत्तर में बसा था और गंगा पूरे शहरपनाह से सटकर बहती थी। बनारस को तावेर्नियें ने बड़े फिते से बना हुआ शहर पाया उसमें मकान अधिकतर ईंट पत्थर के थे और वे इतने ऊंचे थे कि उतने ऊंचे मकान तावेर्नियें ने हिंदुस्तान में कहीं नही देखे थे। लेकिन बनारस की सँकरी और तक़लीफ़देह गलियों की वह निंदा करता है। बनारस शहर में कई कारवाँ सराएँ थी। उनमें एक बहुत बड़ी और बड़े किते से बनी हुई थी। एक सरायँ के चौक में दो दालानें थी जहाँ रेशमी, तथा सूती कपड़ों और बहुत सी दूसरी चीजों का सौदा होता था। बेचनेवालों में अधिकतर कारीगर होते थे जो थान बनाकर खुद बेंचते थे और इस तरह ग्राहकों को, बिना बिचवइयों के, कारीगरों से माल सीधा मिल जाता था। इन कारीगरो को अपना माल दिखाने के पहले ठीकेदार से रेशमी और सूती माल पर बादशाही मुहर लगवानी पड़ती थी। ऐसा न करने पर उन्हें कोड़ों की सजा मिलती थी।

उपर्युक्त वर्णन से पता चलता है कि मुग़ल काल मे भी बनारसी बाने का काम नगर में बहुत जोरों से चलता था और व्यापारियों को माल दिखलाने कारीगर सरायों मे ले जाया करते थे। आधुनिक बनारस में तो कारीगर पहले माल महाजनों को बेचते हैं और बाद में उनसे व्यापारी माल लेते हैं। थानों पर बादशाही मुहर लगवाने का अब कोई प्रश्न ही नहीं उठता और न बनारसी बाने पर किसी तरह का निर्यात कर ही है। अभाग्यवश तावेर्नियें यह नही बतलाता कि बनारस में सूती और रेशमी कपड़ों में कौन-कौन-सी किस्में थीं, पर मनुच्ची[१] के अनुसार सोने चाँदी के तारबाने के काम बहुत बनते थे। यहाँ से वे दुनियाँ भर में जाते थे। हमें खुलासात-उत्तवारीख (१७२०)[२] से पता चलता है कि बनारसी कपड़ों में झूना और मिहुगुल मुख्य थे।

तावेर्नियें के अनुसार शहर से करीब पाँच सौ कदम पर उत्तरी भाग की ओर एक मस्जिद के अहाते में कई बहुत सुन्दर नक्शों वाली दरगाहें थीं। इनमें से सबसे खूबसूरत दरगाहों में से हर एक दरगाह के चारों ओर दीवारों से घिरे बगीचे थे। दरगाहों के

---

[१] स्तोरिया दो मोगोर, भाग २, पृ० ८३

[२] जे० सरकार, इंडिया ऑफ औरंगजेब टाइम्स, पृ० ४७ कलकत्ता १९०१

पास से गुजरनेवाले दीवालों में बने मोखों से अन्दर झाँक सकते थे। इसमें सन्देह नहीं कि तावेर्नियें यहाँ लाटभैरों पर की मस्जिद की बात कर रहा है। १९ वीं सदी के आरम्भ में एक हिन्दू मुस्लिम दंगे के बीच यह मस्जिद ढहा दी गयी और सब दरगाहें भी जमीनदोज कर दी गयीं।

इन मुसलमानी इमारतों के बीच तावेर्नियें ने तथाकथित अशोक की प्रसिद्ध लाट देखी, जो १८०९ में हिन्दू मुस्लिम दंगे में तोड़ दी गयी। यह लाट एक चौखूटे चबूतरे पर बीच में स्थित थी। लाट ३२ से ३४ फुट तक ऊँची थी और इतनी मोटी थी कि तीन आदमी हाथ मिलाकर मुश्किल से इसे घेर सकते थे। लाट बहुत कड़े चुनारी पत्थर की बनी थी और वह इतनी सख्त थी कि तावेर्नियें के छुरी से भी उसे खरोंच नहीं सका। इस लाट का शीर्षक पिरामिड के आकार का था। उसके नोक पर एक गोला था और गोले के नीचे कंठा था। तावेर्नियें के अनुसार इस स्तम्भ के चारों ओर पशुओं की उभार दार नक्काशियाँ बनी थीं। उसे दरगाहों के रक्षकों से यह भी पता चला कि स्तम्भ धँस रहा था और करीब पचास साल में वह जमीन के नीचे तीस फुट से अधिक धँस गया था।

तावेर्नियें के अनुसार[१] विन्दुमाधव के मन्दिर की ख्याति सारे हिन्दुस्तान में जगन्नाथ के मन्दिर की तरह थी। मन्दिर के प्रवेश द्वार से गंगा तक सीढ़ियाँ थीं और उनके बीच बीच में अंधेरी मढ़ियाँ। इनमें से कुछ में तो ब्राह्मण रहते और कुछ में वे अपना भोजन बनाते थे। ब्राह्मण गङ्गास्नान और पूजा-पाठ के बाद भोजन बनाने में अलग अगल जुट पड़ते थे और उन्हें सदा यह भय लगा रहता था कि कहीं कोई अपवित्र आदमी उन्हें छू न ले। हिन्दुओं को गङ्गाजल पान का बड़ा शौक था। उनका विश्वास था कि गङ्गाजल पीते ही पाप कट जाते हैं। नित्य प्रति बहुत से ब्राह्मण नदी के साफ भाग से घड़ों में पानी भर कर लाते थे। इन घड़ों और झारियों को वे अपने प्रधान के पास ले जाते थे और और वह उनके मुँह केसरिया कपड़ों से बँधवाकर उनपर अपनी मुहर मार देते थे। ब्राह्मण बहँगियों पर लाद कर इन घड़ों को बाहर ले जाते थे। कन्धा बदलते हुए ब्राह्मण इन घड़ों को तीन चार सौ कोस तक ले जाते थे और खास जगहों में ले जाकर या तो वे उन्हें बेच देते थे या उन्हें किसी को भेंट कर देते थे। पर भेंट पाने वाले को काफी मालदार होना आवश्यक था जिससे ब्राह्मण देवताओं को भरपूर दक्षिणा वसूल हो सके।

कुछ ऐसे हिन्दू भी थे जो काफी कीमत देकर अपने बच्चों की शादी के समय गङ्गाजल पीते थे। जैसे भोजन के बाद यूरोप में हाइपोक्रास या मस्कट पिया जाता था उसी प्रकार यजमान की हैसियत के अनुसार एक या दो कटोरा गङ्गाजल प्रत्येक अतिथि को भोजनोपरान्त मिलता था। गङ्गाजल का इतना अधिक मान इसलिए था कि लोगों का विश्वास था कि न तो यह खराब होता था और न इसमें कीड़े पड़ते थे। लेकिन तावेर्नियें को इस बात पर इसलिए विश्वास नहीं हुआ कि गङ्गा में सैकड़ों मुर्दे फेंके जाने से ऐसा संभव नहीं था।

---

[१] वही, भाग २, पृ० २३०–३७

बिंदुमाधव का मंदिर स्वस्तिक अथवा क्रास की शक्ल में था। इसकी चारों भुजाएँ समान थीं। एक गुंबद के ऊपर अनेक पहलों वाला नोकदार शिखर था। क्रास के हर एक बाहुओं के अंत पर भी धरहरे थे जिन पर चढ़ने के लिये बाहर से सीढ़ियाँ थीं। धरहरों के सिरे पर पहुंचने तक कई अंबारियाँ और ताखे भी तर हवा आने के लिये थे। धरहरे भद्दे अर्धचित्रों से भरे थे। गुंबद के नीचे और मंदिर के ठीक बीच में ७ से ८ फुट तक लंबी और ५ से ६ फुट तक चौड़ी एक वेदिका थी जिसमें दो दंडे सीढ़ियाँ पादपीठ तक पहुंचने के लिये थीं। समय अथवा उत्सवों के अनुसार इन पादपीठों पर रेशमी वस्त्र अथवा किंखाब बिछे होते थे। वेदिका पर भी सोनहले अथवा रुपहले काम अथवा कामदार आस्तरण होते थे। मंदिर के बाहर से मूर्तियाँ सीधी दिखलायी देती थीं। स्त्रियाँ और लड़कियाँ सिर्फ एक कौम की स्त्रियों को छोड़ कर बाहर ही से देवदर्शन कर सकती थीं। इस वेदिका पर की मूर्तियों में से एक मूर्ति ५ या ६ फुट की थी। इसका सर और गला छोड़कर और कुछ नहीं दीख पड़ता था क्योंकि मूर्ति का बागा पूरे अंग को ढके रहता था। कभी कभी मूर्ति के गले में सोने अथवा मानिक, मोती अथवा पन्ने की माला दीख पड़ती थी। वेदिका के बायीं ओर गरुड़ की मूर्ति थी जिसे ब्राह्मणों को छोड़कर और कोई नहीं छू सकता था। कहावत थी कि इस पर चढ़कर भगवान संसार की सैर करते थे और देखते थे कि कहीं कोई अपने काम में ढिलाई तो नही कर रहा है अथवा कोई किसी को नुकसान तो नही पहुँचा रहा है। मंदिर के प्रवेशद्वार और प्रधान द्वार के बीच में एक दूसरी वेदिका पर संगमरमर की पालथी मारे हुए एक मूर्ति थी। तावेर्नियें ने वहां प्रधान पुजारी के लड़के को पूजार्थियों द्वारा फेंके गये ताफ़ता और किंखाब के रुमालों को लोकते हुए और उन्हें देवता से छुलाकर उन्हें लौटाते हुए देखा। दूसरे पूजार्थी उसकी ओर रुद्राक्ष अथवा तुलसी की मालाएँ और कुछ लोग मूंगे, पीले अंबर और फूल की मालाएँ तथा फल-फूल भी फेंकते थे। पुजारी इन सबको देवता का भोग लगाकर लोगों को लौटा देता था। इस देवता का नाम तावेर्नियें मुरलीराम देता है।

मंदिर के मुख्य प्रवेश द्वार पर मदिर का मुख्य पुजारी सामने चंदन का थाल रखे बैठा रहता था। पूजार्थी एक के बाद एक उसके सामने आते थे और वह उनके मस्तक और छाती पर चंदन पोत देता था। तावेर्नियें के अनुसार भिन्न-भिन्न जातियों के लोग भिन्न रंगों के तिलक लगाते थे। चंदन का तिलक लगाने वाले श्रेष्ठ जाति के लोग माने जाते थे।

जयपुर के राजा द्वारा बनवायी पाठशाला के बायीं ओर (इस इमारत को अब कंगन वाली हवेली कहते हैं) राम मंदिर था जिसे शायद जयसिंह ने बनवाया था। उस मंदिर के सामने एक सभा मंडप था जिसमें बहुत से आदमी, औरतें और बच्चे बड़े सबेरे दर्शन के लिये इकट्ठे होते थे। तावेर्नियें भी दर्शन के लिये बड़े सबेरे पहुँचा। उसने चार चार ब्राह्मणों के दो दलों को आरती लिये और बाजे बजाते पाया। दो ब्राह्मण भजन कर रहे थे और उनके सुर में सुर मिला कर दरसनिया भी गा रहे थे। इन दोनों के हाथों में मोरछल और चँवर थे जिनका प्रयोजन यह था कि मंदिर खुलने पर देवता को भक्तों से तकलीफ़ न हो। यह हो हल्ला काफी देर होता रहा। अंत में दो ब्राह्मणों ने बड़े बड़े

घंटे बजाना आरंभ किया। फिर एक मुंगरी से मंदिर का दरवाजा खटखटाया और फौरन ही भीतर से छह ब्राह्मणों ने मंदिर का दरवाजा खोल दिया। दरवाजे से ६-७ फुट की दूरी की वेदी पर उसने मंगलागौरी और सीता-राम की मूर्तियाँ देखीं। टेरा हटा दिया गया और लोगों ने दर्शन करके तीन बार दंडवत की। बाद में लोगों ने पुजारियों को पुष्पमालाएँ चढ़ाने को दीं जो देवता को छुला कर लौटा दी गयीं। एक बूढ़े ब्राह्मण ने इसके बाद आरती करना शुरू किया। इन सब कामों में काफी समय लगा और इसके बाद मंदिर बंद हो गया और लोग अपने घरों को वापिस चले गये। लोगों ने बहुत सा सीधा सामान, घी, तेल, दूध इत्यादि देवताओं को भेंट किया और ब्राह्मणों ने उसमें से कुछ नहीं छोड़ा। तावेर्नियें के समय में मंगलागौरी स्त्रियों की प्रधान देवी मानी जाती थी और इसीलिये मंदिर में स्त्रियों और बच्चों की भारी भीड़ रहती थी।

राजा को मंदिर बनवाने में और बिंदुमाधव के मंदिर से मूर्ति लाने के करीब पांच लाख रुपये ब्राह्मणों और भिखमंगों को दान दक्षिणा में देने पड़े।

कंगनवाली हवेली की गली की दूसरी ओर रणछोड़दास जी का मंदिर था और उसी मंदिर में गोपालदास (लाल) की मूर्ति थी। ये मूर्तियाँ शायद पत्थर की थीं।

तावेर्नियें और बर्नियर दोनों ने ही बनारस के शिक्षालयों पर प्रकाश डाला है। तावेर्नियें ने तो केवल बिंदुमाधव के मंदिर के पास कंगन वाली हवेली में जयसिंह की निजी पाठशाला को, जो उन्होंने अच्छे घरानों के लड़कों को पढ़ाने के लिए खोल रक्खी थी देखा, पर बर्नियर बनारस की शिक्षा पद्धति पर काफी प्रकाश डालता है।

तावेर्नियें जयसिंह की पाठशाला में स्वयं गया और उसने देखा कि कई ब्राह्मण बच्चों को एक ऐसी भाषा (संस्कृत) में, जो बोल चाल की न थी, पढ़ना लिखना सिखा रहे थे। पाठशाला के चौक से पहले खंड की दालान में उसने दो राजकुमारों को छोटे सरदारों और ब्राह्मणों के साथ बैठे देखा। ये विद्यार्थी जमीन पर खड़ी से कुछ अंक लिख रहे थे। तावेर्नियें को देख कर उन्होंने उसका परिचय पूछा और यह पता चलने पर कि वह फ़िरंगी था, उन्होंने उसको ऊपर बुला लिया और उससे यूरोप और खास कर फ्रांस के बारे में बहुत सी बातें पूछीं। एक ब्राह्मण के हाथ में एक डच द्वारा भेंट किये गये दो ग्लोब थे। उन पर तावेर्नियें ने फ्रांस का स्थान दिखलाया। कुछ देर बातचीत करने के बाद पान देकर, तावेर्नियें बिदा किया गया।

बर्नियर शायद १६६० के करीब बनारस गया।[१] वह शहर के आस पास के देहातों की सुंदरता और पैदावार की तारीफ करता है। बर्नियर के अनुसार पूरा नगर हिंदुओं का विद्यालय था। भारत के उस एथेंस में केवल ब्राह्मण और दूसरे भक्त पठन में अपना समय व्यतीत करते थे। काशी में उस समय कोई विद्यालय जैसी संस्था जहाँ क्रमबद्ध पढ़ाई

[१] फ्रांकोआ बर्नियर, ट्रावेल्स इन दि मोगुल एंपायर, ए. डी. १६५६-१६६८ (अनुवाद) ए. कांस्टेबल, लंडन १८९१

होती नहीं थी। गुरुगण शहर के भिन्न भिन्न भागों में अपने घरों में और खास कर रईसों की अनुमति से उनके बगीचों में रहते थे। कुछ गुरुओं के पास चार शिष्य होते थे और कुछ के पास छह-सात। विख्यात गुरुओं के पास भी दस-पंद्रह से अधिक विद्यार्थी नहीं होते थे। प्रायः विद्यार्थी अपने गुरुओं के पास दस से पंद्रह वर्षों तक रहते थे और धीरे-धीरे विद्याभ्यास करते थे। बर्नियर का कहना है कि अधिकतर विद्यार्थी सुस्त होते थे और शायद उनकी सुस्ती का कारण गरमी और उनका भोजन था। विद्यार्थी अपनी पढ़ाई धीरे-धीरे इसलिए चलाते थे कि उनमें प्रतिस्पर्धा की भावना न थी और विद्वत्ता दिखलाने पर किसी मान मर्यादा बढ़ने अथवा इनाम की आशा न थी। वे खिचड़ी खाते थे, जो महाजनों की कृपा से उन्हें मिल जाती थी।[1]

पाठ्यक्रम में पहले तो विद्यार्थी व्याकरण की सहायता से संस्कृत सीखते थे, बाद में पुराण पढ़ते थे और आगे चलकर दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष इत्यादि अपने इच्छित विषय का अध्ययन करते थे।[2]

बनारस में बर्नियर ने एक प्रसिद्ध पुस्तकालय भी देखा जो संभवतः कवीन्द्राचार्य का पुस्तकालय था।

गंगा के बहाव के साथ यात्रा करते हुए बर्नियर काशी के पंडितों के प्रधान से मिला जो शायद संन्यासी कवीन्द्राचार्य थे।[3] बर्नियर के अनुसार शाहजहाँ ने उनकी विद्वत्ता से अथवा यों कहिए हिन्दू राजाओं को खुश करने के लिये दो हजार रुपये सालाने की वृत्ति बाँध दी थी। बर्नियर का कहना है कि कवीन्द्राचार्य मोटे ताजे आदमी थे और जब बर्नियर उनसे मिला तब उन्होंने सफेद रेशमी धोती और लाल चादर पहन रखी थी। बर्नियर अक्सर उनसे इसी वेषभूषा में दिल्ली में मिला करता था। उनसे इनकी भेंट उमराओं की सभा में अथवा शाहजहाँ के दरबार में होती थी। कभी कभी वे सड़क में पैदल या पालकी पर भी मिल जाते थे। एक साल तक वे बर्नियर के आग्रा दानिशमंद खाँ के पास बराबर इसलिए आया करते थे कि वे औरंगजेब से कह सुन कर उनकी वृत्ति फिर से जारी करा दें। बर्नियर की कवीन्द्राचार्य से मुलाकात उनके पुस्तकालय में हुई। वहाँ और भी छह पंडित थे। बर्नियर और पंडितों में मूर्तिपूजा पर बहस चल पड़ी। पंडितों ने मूर्तिपूजा का आधार मूर्ति की पूजा नहीं, बल्कि उसके द्वारा देवता विशेष की आराधना बतलायी। उनके अनुसार मूर्तियाँ प्रार्थना में अधिक लगने के लिये केवल आधार भूत थीं पर इन सब बातों से बर्नियर का संतोष नहीं हुआ।

५. औरंगजेब के समय बनारस की धार्मिक स्थिति

१६६९ ईस्वी तक बनारस की धार्मिक अवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। विश्वनाथ काशी के प्रधान देवता थे ही पर बिन्दुमाधव की पूजा का भी

[1] वही, पृ० ३३५

[2] वही, पृ० ३३५–३४०

[3] गोडे, कवींद्राचार्य सरस्वती एट दि मुगल कोर्ट, एनाल्स आफ श्री वेंकटेश्वर इंस्टिट्यूट, दिसंबर १९४०

बड़ा जोर था। काशी में संस्कृत का पठन पाठन भी उसी जोर से चल रहा था। एक और भी विचित्र बात है कि कम से कम युरोपियन लोग बेखटके हिन्दुओं के मन्दिरों में जा सकते थे, लेकिन इसमें सन्देह है कि तथाकथित अछूत भी ऐसा कर सकते थे। जो भी हो इतना तो पता लगता है कि परिस्थिति के अनुकूल हिन्दू धर्म ने अपनी कुछ असहिष्णुता को दूर करने का प्रयत्न किया। औरंगज़ेब के फ़रमान से यह भी पता चलता है कि कुछ मुसलमात भी हिन्दू धर्म की ओर आकृष्ट हो रहे थे। यह बात बहुत दिनों तक नहीं चलने पायी। औरंगज़ेब ने १६६९ ईस्वी में बनारस के मन्दिरों को तुड़वा देने और पाठशालाओं को बन्दकर देने की आज्ञा निकाल कर इस सद्भावना को सदा के लिये समाप्त कर दिया।

इस युग में बनारस के पंडे पुजारियों और गंगापुत्रों के बारे में तो हमें अधिक पता नहीं चलता, पर इसमें कोई शक नहीं कि बनारस में ठगों की काफी संख्या थी। इसी तरह की एक ठगी काशी करवत भी थी। काशी करवत का कुँआ आज दिन भी आदि विश्वेश्वर के पूर्व की ओर है। इसमें पानी तक पहुँचने का एक रास्ता है जो अब बन्द कर दिया गया है। मन्दिर भी हफ्ते में केवल एक बार खुलता है। कहावत है कि बनारस में आकर बहुत से मूर्ख यात्री काशी करवत लेते थे, यानी आरे से कटकर या तलवार पर कूद कर मुक्ति के लिये अपनी जान दे देते थे। बाद में तो बदमाश पुजारी भोलेभाले यात्रियों को यहाँ लाकर मार डालते थे और उनको लूटकर उनकी लाशें काशी करवत के कुएँ में फेंक देते थे। काशी करवत वास्तव में बनारस में था, इसमें कोई संशय नहीं। यह अकबर या उससे भी पहले यहाँ रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि शेरशाह के समकालीन मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने पदमावत में लिखा है 'करवट तपा होहिं जिमि चूरू।' अलेकजेंडर हेमिल्टन (१७४४) भी अपने यात्रा विवरण में[१] कहता है कि काशी में कुछ धर्मांध पंडे अपना नाम कमाने के इच्छुक कुछ बेवकूफों को पकड़ कर ऊँचे बुर्ज पर चढ़ा देते थे और वहाँ से वे बेवकूफ उस जगह कूदते थे जहाँ बहुत सी छुरियाँ जमीन में गड़ी होती थीं, जिन पर गिर कर वे सीधे स्वर्ग पधारते थे। हेमिल्टन के अनुसार औरंगज़ेब ने यह सब कारवाइयों को बंद कर दिया। चहार गुलशन और खुलासउत्तवारीख[२] के अनुसार आत्महत्या या आत्म बलिदान करने की यह प्रथा प्रयाग में भी थी। अक्षयवट के पास एक आरा था जिसके नीचे अकसर मोक्ष प्राप्त करने के लिए भक्त लोग अपनी गरदन कटवा लिया करते थे। शाहजहाँ ने यह प्रथा बन्द करवा दी।

संभवतः बहुत प्राचीन काल से शैव धर्म में आत्म बलिदान द्वारा मोक्ष साधन की प्रथा थी। मत्स्यपुराण (१८३।७७) में एक जगह कहा गया है कि काशी में आग में जल मरने से मनुष्य सीधा शिव के मुख में प्रवेश करता था। काशी में गङ्गा में मुक्ति के लिए डूब मरने की प्रथा अंग्रेजों ने बन्द की। शैव धर्म तपःप्रधान धर्म था और इस

---

[१] ए न्यू एकाउंट ऑफ दि ईस्ट इंडीज़, भाग २, पृ. २१-२२, लंडन १९४४

[२] सरकार, इंडिया ऑफ औरंगज़ेब, पृ० ४६

तरह के बलिदान इस धर्म के लिए स्वाभाविक भी थे। इन सब प्रथाओं से यह भी पता चलता है कि शैव धर्म में दार्शनिकता का प्रवेश होते हुए भी उसमें बहुत सी आदिम युग की प्रथाएँ बच रही थीं।

शैव धर्म के संग आत्मबलि की प्रथाओं का अवशेष अब तक बंगाल के चड़क उत्सव में बच गया है।[१] इस शैव उत्सव में, जो कई दिनों तक चलता है, भक्तगण आग पर झूलते हैं, काँटों पर कूदते हैं और तीर से अपने को बेधते हैं। चैत्र पूर्णिमा को वे केले के खंभे में लगी हुई छुरियों पर जय शिव कह कर कूदते हैं। जान पड़ता है, इसी प्रथा को किसी ने स्थिर रूप देकर काशी करवत की कल्पना की और कुछ दिनों में वह लूट और बदमाशी का साधन बन गया।

६. सत्रहवीं सदी की काशी के ब्राह्मण जीवन की झाँकियाँ

बनारस की महत्ता अधिकतर उसके धार्मिक जीवन पर अवलंबित है। पूजा-पाठ तीर्थयात्रा तथा अध्ययन-अध्यापन इस जीवन की विशेषताएँ हैं। बनारस के इस जीवन का प्रतीक आज कल की तरह सत्रहवी सदी में भी ब्राह्मण थे। वरदराज कृत गीर्वाण पद मंजरी (१६०० से १६५० ईस्वी के बीच रचित) तथा ढुंढिराज कृत गीर्वाण वाङमंजरी[२] (१७०२–१७०४ ईस्वी के बीच) में ब्राह्मणों के विशेषकर दक्षिणी ब्राह्मणों के, दैनिक जीवन का सुन्दर चित्र है। वरदराज भट्टोजी दीक्षित के शिष्य थे और उन्हें बनारस शहर का पूरा ज्ञान था। ढुंढिराज की गीर्वाण वाङमंजरी गीर्वाण पदमंजरी पर ही आधारित है पर साहित्यिक दृष्टि से वह एक उच्चकोटि की रचना है। गीर्वाण वाङमंजरी में तो ऐसा जान पड़ता है कि चालू बनारसी बोली का संस्कृत में अनुवाद कर दिया गया हो। गीर्वाण पदमंजरी में सन्यासी के अपने गुरु केवल यह कह देने पर कि उसने जजमान के यहाँ केवल विहित भोजन किया कथा समाप्त हो जाती है, पर गीर्वाण वाङ मंजरी में भोजनोपरांत संन्यासी के विदा हो जाने पर जजमान और उसकी पत्नी का समागम होने पर कथा का अंत शृंगार रस में होता है ढुंढिराज के ऐसा कहने पर भी कि उसकी पुस्तक बालकों के ज्ञानवर्धन के लिए हैं।

गीवार्ण पदमंजरी के आरंभ में ब्राह्मण अपनी पत्नी से कहता है—"मुझे स्नान के लिए जाना है।" उत्तर मिलता है—"जल्दी जाइए, भोजन तैयार है।" वह कहता है—"कितने ब्राह्मण भोजन के लिए लाऊँ?" उत्तर मिलता है—"केवल एक।" वह कहता है—"स्नान सामग्री दे—जलपात्र, कुश, तिल, खड्ग पात्र (गैंड़े की खाल का बना तर्पण पात्र), तिलक का सामान, शुद्ध वस्त्र और उत्तरीय।" इन सामान को लेकर ब्राह्मण मणिकर्णिका पहुँचा और वहाँ यथाविधि स्नान करके संन्यासी के पास पहुँच कर उन्हें दण्ड-प्रणाम करके प्रार्थना की—"स्वामी जी, मेरे यहाँ भिक्षा के लिए पधारें।"

---

[१] जे० ए० एस० बी० (१९३५), पृ० ३९७ से

[२] उमाकांत शाह, जर्नल ऑफ दि आरियंटल इंस्टिट्यूट बड़ोदा, भाग ७, ४, पृ० १–३८, भा० १, २, ३

उन्होंने कहा—"कितने संन्यासी चाहिएँ—और कौन से—द्राविड़, आंध्र, कर्णाटक, महाराष्ट्र अजमेरा (पुष्करणा ब्राह्मण), गौर्जर, गौड़, मैथिल, औत्कल, कान्यकुब्ज, अथवा सारस्वत।" ब्राह्मण ने कहा—"केवल एक कार्णाटक।" प्रश्न हुआ—"तुम कहाँ रहते हो।" काशी में।" प्रश्न हुआ—"काशी में कहाँ—राजघाट में, गौघाट में, त्रिलोचन घाट में, ब्रह्माघाट में, दुर्गाघाट में, मंगलाघाट में, रामघाट में, अग्नीश्वर घाट में नागेश्वर घाट में, वीरेश्वर घाट में, सिद्धिविनायक घाट में, स्वर्गद्वार प्रवेश में, मोक्षद्वार प्रवेश में, गंगाकेशव पार्श्व में जरासंध घाट में, वृद्धादित्य घाट में, सोमेश्वर घाट में, चतुःषष्टि योगिनी घाट में, सर्वेश्वर घाट में, मानसरोवर घाट में, केदारेश्वर घाट में, रामेश्वर में, लोलार्क में, असी संगम पर अथवा वरुणा संगम पर?" जवाब मिला—"मैं विंदुमाधव घाट पर रहता हूँ।" तुरंत प्रश्न हुआ—"विन्दुमाधव घाट पर भी कहाँ रहते हो—लक्ष्मीनृसिंह के पास, पंच गंगेश्वर के पास, आदिविश्वेश्वर के पास दक्षेश्वर के पास, दुग्धविनायक के पास अथवा काल भैरव के पास?" उत्तर मिला—"दुग्धविनायक के पास।" पर संन्यासी कब रुकने के थे, पूछा—"दुग्धविनायक के पास किसके घर में—तिम्मा भट्ट के घर में, राम भट्ट के घर में, शिव भट्ट के घर में, लक्ष्मण भट्ट के घर में, कृष्ण भट्ट के घर में, नारायण भट्ट के घर में अथवा भैरव भट्ट के घर में?" बेचारे ब्राह्मण ने उत्तर दिया—"शिव भट्ट के घर में।" संन्यासी ने पीछा न छोड़ा, बोले—"उसके घर में कहाँ—पूर्व शाला में दक्षिण शाला में, पश्चिमशाला में उत्तरशाला में अथवा प्रासाद में?" जवाब मिला—"उत्तर शाला में।" अब प्रश्न का रुख बदला, पूछा गया—"लोग तुम्हे किस नाम से जानते हैं?" जवाब मिला—"मेरा नाम अलर्षियुग्मखजपुरंदरगरुडध्वज वाजपेयी है।" इतना बड़ा नाम सुनकर स्वामी जी ठंडे पड़ गये, बोले—"तेरा इतना बड़ा नाम—अच्छा, तूने क्या क्या पढ़ा है?" अब बात बनारस की शिक्षा पर चल पड़ी। वाजपेयी जी बोले—"मैंने सांगपूर्वक चारों वेद, तथा सांग षट् दर्शन पढ़े हैं।" संन्यासी जी बोले—"उनके नाम बता।" जवाब मिला, "ऋग्, यजुस्, साम और अथर्व। उनके अंग हैं शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस्, और ज्योतिष। दर्शन के षडङ्ग हैं, वैशेषिक, तर्क, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त।" संन्यासी और आगे बढ़े, पूछा—"अंगों और उपांगों के स्थान कौन-कौन से है?" जवाब मिला—"वेद का मुख व्याकरण है, ज्योतिष उनका नेत्र है, निरुक्त कान है और छन्दस् विचिति, शिक्षा घ्राण है, कल्प उसके हाथ हैं, न्यायशास्त्र गुदा है, वैशेषिक लिंग है, मीमांसा रीढ़ है, सांख्य और योग बगलें हैं, तथा वेदान्त ब्रह्मरंध्र है।" इतनी लम्बी बात से भी संतुष्ट न होकर संन्यासी ने पूछा—"और भी कुछ पढ़ा है?" ब्राह्मण ने दिया—"काव्य, नाटक, अलंकार और स्मृति भी पढ़े है।" संन्यासी अब संतुष्ट हुए—"क्या खूब, तू श्रोत्रिय है? यह त्रिविक्रम तेरे यहाँ भिक्षा ग्रहण करेगा। इसे तेरे घर का पता नहीं, इसे साथ ले जा।"

इसी प्रकरण को लेकर गीर्वाण वाङ्मंजरी में ढुंढिराज ने अच्छा प्रसार किया है। कथा यों प्रारंभ होती है। किसी ब्राह्मण ने उषःकाल में सोकर उठने के बाद प्रातः स्तोत्र इत्यादि पढ़ते हुए अपनी स्त्री से कहा—"अरी, मुझे निपटने जाना है जल्दी से पानी और हाथ पैर धोने के लिए मिट्टी दे।" उसके इतना कहते ही पत्नी ने झट से पानी भरा लोटा उसे

दे दिया और हाथ पैर धोने के लिए मिट्टी भी। शौचादि से निबट कर वह पीढ़े पर बैठ गया, हाथ पैर धोये, दातन की फिर अपनी स्त्री से बोला—"अरी सुनती है, आज मुझे मणिकर्णिका नहाने जाना है। जल्दी से स्नान सामग्री तैयार कर दे। कमंडलु, अर्घ्यपात्र, रुद्राक्ष की सुमिरनी, भभूत की बटिया, देवतापूजा की पेटी, तिल, नारियल और चंदन दे दे। ये सब चीजें जल्दी से ला।" फिर ललकारा—"अरी देर क्यों करती है ?" जवाब मिला—"यहाँ दिया नहीं है, अंधेरे घर में कुछ दिखलायी नहीं देता जल्दी कैसे हो सकती है।" पंडित बिगड़ कर बोले—"अरी रांड़ क्या करती है, मेरे नहाने और संध्या का समय बीता जा रहा है।" "जल्दी तो कर रही हूं और क्या करूं"—यह कहकर उसने उसे सब वस्तुएँ दे दीं। पंडित जी फिर अपनी स्त्री से बोले—"अरी, आज बड़ा भारी पर्व है, आज कुछ ब्राह्मणों को निमंत्रण देना चाहिये। तेरा जमाई तो आवेगा ही, अपने भाई को भी बुला ले और साथ ही उसके बच्चे भी। अपनी पतोहू के बुलाने के लिए अपनी कन्या जल्दी से भेज।" उसके इतना कहने पर पत्नी ने कहा—"आप अपने भाई के बच्चे को भी बुला लीजिए।" जवाब मिला—"अरे, उस बच्चे का क्या। उनके लिए कोई खास चीज़ करने की जरूरत नहीं। सारी मंडली में वह भी समा जायेगा।" उसने जवाब दिया—"अरे, बूंद बूंद से तो तालाब भर जाता है। उस बच्चे की गिनती कैसे नहीं होगी। अच्छा आज भोजन क्या बनेगा ?" जवाब मिला—"जो मन में आवे बना।" उसने कहा—"तो सीधा सामान लाइये।" जवाब मिला—"लड़के को भेज।" उसने कहा—"वह तो सो रहा है।" जवाब मिला—"उस रांड़ के जाये को फौरन उठा।" उसने कहा—"वह तो आपके पास ही है, आप ही उसे जगा दीजिये।" पंडित जी बिगड़ कर चिल्लाये—"अरे बैल, जल्दी से उठ, सबेरा हो गया, इतनी देर तक तू सोया क्यों है। आलस छोड़।" ललकार सुनते ही वह जल्दी से उठ बैठा और हाथ जोड़कर विनय-पूर्वक पिता को प्रणाम करके उसके सामने खड़ा हो गया। पिता जी बोले—"अरे, आज घर में बड़ा काम है। बाजार जाकर सीधा सामान ला।" पूत जी बोले—"तो रुपए पैसे दीजिए।" पिता जी ने कहा—"अरे, जनाने घर में जा वहाँ एक लकड़ी की संदूक है उसके अंदर एक चाँदी की पेटी है उसके भीतर सोने चाँदी के सिक्कों की पोटली है। उसमें से दो चाँदी के सक्के ले लेना और फिर सबको ज्यों का त्यों रख देना। दो रुपये लेकर बड़ा बाजार जाना। चौखंभा बाजार जाकर मूषक माधव जी की हाट में उनके पैसे भुनाकर जो भी चीजें चाहे खरीद लेना।" पूत जी बोले—"पिता जी, क्या क्या खरीदना है, कहिए।"

पिता जी ने कहा—"अरे, पहले बनिये की दूकान पर जाकर ढाई सेर घी खरीदना उसका दाम आधा रुपया होगा। सफेद शक्कर खरीदना, पूरन पोली के लिए चने की दाल खरीदना। हींग, जीरा, पिसी हल्दी, सुपारी, लायची, लौंग, जायफल, जावित्री खरीदना। खैर खरीदना मत भूलना। कपूर, कस्तूरी, केसर, गोरोचन, खस जिसे सुगंधवाला भी कहते हैं और दशांग धूप खरीद लेना। यह सब खरीद करके आगे बढ़ना। वहां से कपड़छान आटा असली होने के वायदे पर खरीद कर घुवाँस और चौरेठा खरीदना। उसके आगे बढ़कर साग बाजार में जो भी साग मिलें उन्हें खरीद लेना।"

पुत्र ने कहा—"कौन कौन से शाक खरीदने हैं बताइए। पंडित जी—"अरे, पहले सूरन खरीदना फिर सफेद और लाल कंदा, ककड़ी, बुद्‌बुदका, सरसों, कोंहड़ा, पीला कोंहड़ा, परोवर, भंटा, कुंदरू (तुंडीफल), परवल, करैला और कटहल खरीदना। उसके आगे अन्नपूर्णा के पास जाकर पक्के और कच्चे केले, केले की गाँफ और फूल खरीदना। कहीं से पके पके मगही पान ले लेना। उधर से लौटकर कालभैरव की बाजार से जहां बहुत से साग मिलते हैं पहले मेथी का साग खरीदना बाद में और जैसे चौलाई, पोई, चकवड़ (पवाँर) और वृहतीफल (वन भंटा), लाल और सफेद कंदे के पत्ते। अरे, इमली मत भूलना। अदरक तथा केले के पत्ते लाना। इनसे भी अधिक जो कुछ दिखलाई दे जाय ले लेना।" लड़के राम इतनी लंबी चौड़ी बातें सुनकर घबरा उठे और बोले—"अरे पिता जी, इतनी वस्तुओं की याद मुझे कैसे रहेगी। पिताजी नाराज होकर बोले—"अरे मूर्ख, तू निरा गधा है। कौन जाने तेरे अट्ठारह वर्ष कैसे बीत गये। अरे मूर्खशिरोमणि, एक कागज पर सब लिख ले और उसे देखकर सब चीजें खरीद लेना।" इतना कहकर वे फिर बोले—"आह, आज बड़ी देर हो गयी। समय बहुत बीत गया। हाय रे, मेरे अभाग्य से मुझे सारे मूर्ख ही मिले। यह अभागिनी राँड़ और यह है उसका बेवकूफ़ बेटा। इन दोनों के संग दोष से मेरा कल्याण कैसे होगा। अब मैं ठहर नहीं सकता।"

इतना कहकर पंडित जी गंगा तीर पर मणिकर्णिका पहुँचे। वहाँ महाप्रयोग (संकल्प) का उच्चारण करके यथाविधि स्नान के बाद ठीक तरह से संध्या की। इसके बाद ब्रह्मयज्ञ और तर्पण के उपरांत पूजा वस्तुओं से भगवान की पूजा करके उठकर एक अयाचित ब्राह्मण को निमन्त्रण देकर, घाट पर चढ़कर पंडित जी संन्यासियों के मठ में पहुँचे। वहाँ बहुत से दंडी थे। उनमें एक तुंदिल बूढ़ा यति था। उसे देखकर वे उसके पास पहुँचे और साष्टांग दंडवत करके उन्होंने उससे कहा—"स्वामी, आपके दर्शन से मैं अतीव कृतार्थ हुआ।" उसके ऐसा कहने पर स्वामी ने नारायण नारायण का उद्‌घोष किया। पंडित जी फिर बोले—"क्या स्वामी जी यहीं निवास करते हैं।" उत्तर मिला—"नारायण, नारायण।" पंडित जी बोले—"क्या ही अच्छा मठ है, बहुत ही अच्छी जगह पर स्थित है। स्वामी, मुझे कुछ कहना है यदि स्वीकार करें तो कहूँ।" स्वामी जी बोले—"जो कहना है कह।" पंडित जी ने कहा—"यदि स्वामी जी मेरे घर भिक्षा ग्रहण करने आवें तो मैं कृतकृत्य हो जाऊँ। स्वामी जी, आज मेरा जन्म सफल हो गया"। इसके बाद स्वामी जी और पंडित जी में निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी हुई। स्वामी—"तेरी जात क्या है ?" पंडित—"स्वामी मैं महाराष्ट्र हूँ।" स्वामी—"महाराष्ट्रों के यहाँ भिक्षा ग्रहण तो हमारे लिए प्रशंसनीय है—क्या तू श्रोत्रिय है?" पंडित—"स्वामी जी मैं श्रोत्रिय हूँ।" स्वामी—"खूब कहा, कहावत है—श्रोत्रिय से ही भोजन मांगना चाहिए, उसके अभाव में पानी पीना चाहिए—यह कहावत आज घट गयी। अरे, तू तो बंगाली मालूम पड़ता है ?" पंडित—"ठीक है स्वामी जी, मेरा जन्म बंगाल में हुआ, मेरे पिता जी भी वहीं पैदा हुए। हम दोनों वहीं पढ़े पढ़ाये।" स्वामी—"तो तेरे पिता का क्या नाम था ?" पंडित—"स्वामी जी, मेरे पिता अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठभट्टाचार्य नाम से प्रसिद्ध थे।" स्वामी—"तेरा नाम क्या है ?" पंडित—"लोग मुझे झिलिमिलिझांकारशोचालंकारअलर्षियुध्मख

ज्यक्तृपुरंदर भट्टाचार्य नाम से जानते हैं।" स्वामी—ठीक है वहाँ के लोगों के नाम ऐसे ही बड़े होते हैं, तू भी तो वहीं का है।" पंडित—"स्वामी जी।"

इतना कहकर पंडित जी बोले—"स्वामी जी, अब आप उठिए, समय हो गया, आप अपना दंड कमंडल, इत्यादि लेकर मेरे साथ ही चलें।" उसके ऐसा कहने पर स्वामी जी बोले—"अरे, तेरा घर कितनी दूर और किस घाट पर है?" पंडित—"स्वामी जी, मेरा घर पास ही में दुर्घविनायक के पास है। गंगादास नामक प्रसिद्ध महाजन के घर के पास ही मेरा घर है।" ठीक—ऐसा कहकर स्वामी जी उठे, दंड कमंडल, इत्यादि लिया और अपने चेले से बोले—"अरे मेषाश्रम, तू यहीं रहना। मठ छोड़ कर कहीं मत जाना।" शिष्य—"स्वामी जी, भिक्षा के लिए तो कहीं जाना ही होगा।" स्वामी—"अरे क्या कहता है—आज कहीं मत जाना। यहाँ चिवड़ा है, छाछ है, तथा काठ के बरतन में नमक। उन्हें लेकर खा पी लेना। घूमेगा कहाँ?"

इतना कहकर स्वामी जी चलने को तैयार हुए तो पंडित जी ने कहा—"स्वामी जी, आगे आगे चलें, मैं पीछे हो लूंगा।" यह सुनकर स्वामी जी बोले—"बाबा, तू आगे चल मैं तेरे पीछे हो लूंगा। बड़ी भीड़-भाड़ है। तू सब को हटाना बचाना, नहीं तो मैं छू जाऊँगा।" उसने आज्ञा का पालन किया और दोनों घर पहुँचे। भीतरी घर में घुसकर पंडित जी ने आवाज दी—"अरे प्रभाकर, जल्दी आ। स्वामी जी के पैर धोने के लिए जल दे।" यह सुनकर वह शीघ्र ही जल लाया और यजमान ने अपने हाथ से स्वामी जी के पैर धोये और उस जल को अपने सिर पर छिड़क कर भीतर घुसे। वहाँ स्वामी जी स्वस्थचित्त से एक बड़े पीढ़े पर बैठ गये। इसके बाद जो लोग भोजन के लिए आये थे वे स्नान करके भीतर आये। यजमान स्वामी जी की षोडषोपचार पूजा करके नैवेद्य लगाकर बलिवैश्वदेव किया और पुनः भीतर जाकर स्वामीजी के नीचे सबको यथास्थान बैठाकर सबको पानी पीने के पात्र दे दिये। उनके बीच उसने यति जी के सामने एक बड़ा भारी पत्ता रख दिया और सात दोने। दूसरों के सामने बड़े केले के पत्ते और दो दो दोने रख दिये। इसके बाद उसने यतिवर की पंचोपचार से पूजा की तथा दूसरों की गंध अक्षत से पूजा करके सबका पादोदक ग्रहण किया और फिर पंडित अपनी स्त्री से बोले।

इस स्थल पर भोजन सामग्रियो का विशद उल्लेख है। गीर्वाणपद मंजरी में यह उल्लेख अन्त में गुरु शिष्य सवाद में आता है। मठ वापिस आकर गुरु की वन्दना करके और यह कह कर कि मैं अनुष्ठान करके मठ वापस आता हूँ वह गंगा के तीर जाकर यथा-विधि अनुष्ठान करके मठ वापिस लौटकर गुरु के पास गरुडासन में बैठ गया। गुरु ने कहा—"हे वामनाश्रम, आज तू ने क्या-क्या खाया?" शिष्य ने कहा—"स्वामी, आज जो मैंने खाया वैसा कभी नहीं खाया। पाँत में एक हजार ब्राह्मण बैठे थे। उन सबको बिना पक्षपात के भोजन परसा गया। उनमें से प्रत्येक के सामने बड़े-बड़े केले के पत्ते और दोने रखकर उस पर कच्चा आम, इमली, कवक (?) नीबू, जंभीरी नीबू, नारंगी, बेल, आमला, ककड़ी, गूलर, शिवा (हड़), करीर, तथा अदरक इत्यादि परोस दिये। इसके बाद बैगन, तरबूज, करैला, कोहँड़ा, लौकी, केला, वृतकोशातकी (घिया तरोई), कटहल,

शिग्रु, परवल, कुंदरू, उर्वारुक, तेंदू, राजमाष, ककड़ी, गजदन्त फल, गोरस ककड़ी, सुखावास, कुलक, कर्कोटकी, (खेकसा, ककोड़ा) परसे गये। राजाबु, बार्हत, कठिल्लक, कर्कारू, चिञा, श्रेयसी तथा कन्दों में सूरन, आलू, मूली, लाल मूली, रतालू, पिंडकन्द, अरवी और पोथिका थे। सागों में शाकिनी, वास्तुक (बथुआ), उपोदका, चक्रवर्त, मूली, आलू, अगस्त्य (पोई) कुरंट, मिश्रेयाभाव, समष्ठिला, दद्रुघ्न (चकवड़), वृद्धदारु, श्रीहस्तिनी, हिबसा, तंडुलीयक (चौराई), कदलीस्तंभ, कदली पुष्प, अगस्त्य पुष्प और घृतकुमारी पुष्प थे। घी में तले करैले, भण्टे, कठिल्लक, निष्पाव, राजमाष, बृहती (बन भण्टा) सेम, वन्ध्या, की कचरियाँ परसी गयीं। दही-भात, उड़द-भात, खट्टा-भात, घी-भात, सिद्धार्थ-मिष्टान्न, तिलमिष्टान्न, और माष-मिष्टान्न परोसकर पत्तों के बीच भात परोस दिया और फिर अरहर, मूंग, उड़द, राजमाष, चना, कुलथी और बाल (निष्पाव) की दालें परसी गयीं। तदनन्तर दूध में पकी तरह-तरह की दलिया तथा तिन्नी और चावल की खीरें परोसी गयीं। इसके बाद प्रत्येक अभ्यागत को घी में तले दो-दो पापड़ परसे गये। कढ़ी और पेय छाछ, आवँला, इमली, अनारदाने के रस और मिर्च से बने थे। अन्त में भैंस का दही परोसकर बहुत प्रकार के पक्वान परोसे गये यथा उड़द बड़ा, मूग बड़ा, चने का बड़ा, चूर्मे के लड्डू, पूरी, लड्डू, तिलके लड्डू, पूये, हलुआ (पिष्टका) और अनरसा। इन सबके बाद ताजे घी और दूध की बारी आयी। ये सब पदार्थ स्त्रियाँ बार-बार परोस रही थीं। घबराकर गुरुजी ने पूछा—"अरे वामनाश्रम, जो कुछ परसा गया तू ने सब खा लिया अथवा नहीं?" उत्तर मिला—"स्वामी, मैंने नही खाया। मेरे खाने लायक जो वस्तुएँ थीं उनको ही मैंने लिया।"

गीर्वाण वाङमंजरी में इस भोजन का और भी रसमय वर्णन है। सब लोगों के पत्तल पर बैठ जाने पर पंडित जी ने अपनी स्त्री से कहा—अरी, पहले सब पत्तों को घी से मांज दे और फिर भोजन परोस। यह सुनते ही उसने जल्दी से परोसना शुरू कर दिया। पहले नमक परोस कर बाद में सलोने शाक परसे तथा आम, नींबू, अदरक, सूरन, हड़, बैर, बेंगन, करौंदा, मूली, वासंकट, और बन भंटा के अचार, फूट, लौकी, केले के फूल तथा गाफ़ के कचूमर परसे। फिर करैले और गाजर इत्यादि के शाक परसे। इसके बाद शुद्ध उड़द के बड़े, मेथीबड़ी, तिलबड़ी, कोहँड़ौरी, आमबड़ी, कोहँड़े के बीज की बड़ी, पापड़, दहीबड़ा और किसमिसी बड़े परोसे गये। इसके शुद्ध चने के दाल मे बने दही और घी मे संस्कृत लाडुवटिका आयी इसके बाद मेथीकूट आया। इन सबके बीच खूब महीन चावल का भात परोसा गया; इसके बाद ऊपर शुद्ध अरहर की दाल। उसके बाद उसने अनेक तरह के भक्ष्यपदार्थ जैसे पूरण पोली, माँड़े के लड्डू, घी में पके उड़द के बड़े, अनरसा, दही पूरी, पूरी, कचौरी, फेनी, चीलड़े, घी के बने मालपूए, पापड़, चीनी भरी लुचुई, लड्डू, तिलवा, मूंग और आटे के लेड्डू तथा पेड़े इत्यादि परसे। खीरों में गेहूं से बनी सात तरह की खीर, चावल और तिन्नी की खीर थी। उनके ऊपर उसने शुद्ध सफेद शक्कर डाल दी तथा घी से सब दोने भर दिए। उसके बाद चटपटे क्वाथ परोसे और उनके पास मिर्च रख दिया। स्वामी जी के सात दोनों में छह में दूध, दही, घी, क्वाथ, मठा तथा चने का पेय परसा और एक दोना पानी के लिए छोड़ दिया। इसके

बाद यजमान ने ब्रह्मार्पण पूर्व संकल्प ग्रहण किया। सबसे पहले स्वामी जी को हस्तोदक दिया तथा इसके बाद सबने आचमन किया और यजमान स्वयं पाँत में भोजन के लिए बैठ गया। स्वामी जी बहुत से पदार्थ देख कर घबराए हुए से भोजन करने लगे तब यजमान ने कहा-स्वामी जी, आज बड़ी देर हो गयी, चैन से भोजन कीजिए जो चीज़ अच्छी लगे खाइए, जो अच्छी न लगे मत खाइए। इस तरह उसने सबसे प्रार्थना की। भोजन समाप्त हो जाने पर सबसे पहले स्वामी जी उठे। उसने स्वामी जी को हाथ धोने के लिए पानी दिया, दाँत खोदने के लिए बाँस की सींक तथा हाथ साफ करने के लिए शक्कर तथा उसे सुगंधित करने के लिए चंदन। स्वामी जी ने हाथ पैर साफ़ करके अगस्त्य का स्मरण किया। इसके बाद यजमान स्वामी जी को आगे करके सबके साथ बैठक में पहुँचे। वहाँ स्वामी जी आराम से एक बड़ी चौकी पर बैठे तथा दूसरे गलीचे पर। यजमान ने स्वामी जी को मुखशुद्धि के लिए एक मुट्ठी लौंग दी तथा दूसरों को पान दक्षिणा इत्यादि देकर बिदा किया और वे सब उसे असीसते हुए अपने अपने घर गये। तदुपरान्त यजमान ने स्वामी जी को नमस्कार करने के लिए स्त्री पुत्र आदि को बुलाया। यजमान की पत्नी अपने पति की आवाज सुनते ही सब काम काज छोड़, अपनी पतोहू और दोनों लड़कियों को लेकर फ़ौरन आयी और आकर उसने विनयपूर्वक उन्हें प्रणाम किया। उन्हें सादर देखकर स्वामी जी ने नारायण, नारायण किया इसके बाद वे सब अंतःपुर में चली गयीं।

गीर्वाण पदमंजरी में स्वामी भोजनोपरांत हाथ पैर धोकर एक बड़ी चौकी पर बैठ गये और आचमन के बाद उनके शरीर पर कस्तूरी और कपूर मिला हुआ श्री चंदन लगाया गया, एक मुट्ठी लौंग दी गयी, मालाएँ पहनायी गयीं और एक जोड़ा बहुमूल्य कपड़ा भेंट किया गया। यजमान ने बहुत विलंब हो जाने से अच्छा भोजन न बनने के लिए क्षमा चाही। पर बेचारे स्वामी जी ठंस चुके थे और यजमान की प्रार्थना पर कंबल पर बैठ गये। बैठते ही परिवार के लोग आ गये। स्वामी जी के पूछने पर यजमान ने अपने पिता, माता, दादा, दादी, परदादा, परदादी, बड़े भाई, बड़ी बहन, छोटे भाई, छोटी बहन, ताऊ, चाचा, बूआ, मौसी, मामा, मामी, पत्नी, पुत्र, कन्या, जमाई, पोते, नाती, साला, परपोता, ससुर, सास, भावुक, आचार्य, ब्राह्मण, मित्र, नौकर और दासी तथा संबंधियों का परिचय कराया। इस सब के परिचय से स्वामी जी को प्रसन्नता हुई।

गीर्वाण वाङमंजरी में भोजनोपरान्त स्वामी जी और यजमान की बातचीत का सुंदर उल्लेख है। स्वामी जी—"अरे यह क्या तेरी स्त्री है" पंडित—"हाँ, स्वामी जी।" स्वामी जी—"बड़ी सती है। जैसा रूप तैसा ही गुण यह सुना था पर आज ही ऐसा देखा। तू बड़ा भाग्यवान है, भोजन करने कराने की शक्ति, श्रेष्ठ स्त्री से रति, धन में दान की शक्ति ये बड़ तप के फल है। ये जो गुण हैं उन सबको मैंने तुझ में देखे। तुझसे बढ़कर कोई भाग्यवान नहीं।" पंडित—यह सब आपकी कृपा का फल है।" स्वामी—"अरे तुझे कितने बच्चे हैं ?" पंडित—"स्वामी जी, दो लड़के और दो लड़कियाँ।" स्वामी—"क्या ये दोनों तेरे लड़के हैं ?" पंडित—"महाराज।" स्वामी—"इनके नाम क्या हैं ?" पंडित—"स्वामी जी, बड़े का नाम दिवाकर, और छोटे का प्रभा[illegible]शर्मा है।" स्वामी—"ये क्या पढ़ते हैं ?" पंडित—"ये कुछ कुछ व्याकरण पढ़ते हैं, काव्य कोशादि तो ये

पढ़ चुके ।" स्वामी—"बिलकुल ठीक । क्या इनके विवाह हो चुके ?" पंडित—"बड़े का ब्याह हो चुका, छोटे का नही ।" स्वामी—"तेरी पतोहू नहीं दिखलायी पड़ती ।" पंडित—"स्वामी जी, अभी वह आपको प्रणाम करने आयी थी ।" स्वामी—"अरे, वह तो बड़ी ही लावण्यवती और सुंदरी थी । तेरे पुत्र के योग्य है ।" पंडित—"स्वामी जी ।" स्वामी जी—"क्या इसका प्रथम रजोधर्म हो चुका या नहीं ?" पंडित—"स्वामी जी, हो चुका है ।" स्वामी—"कितने दिन हुए ?" पंडित —"दो महीने ।" स्वामी—"ठीक, क्या वह सबकी आज्ञा मानती है ?" पंडित—"अभी तक तो मानती है ।" स्वामी—"अरे, तू बड़ा भाग्यवान है ।" पंडित—"यह सब आपकी कृपा है ।" स्वामी—"एक दूसरी सोलह बरस की कन्या दिखलायी दी, वह कौन है ?" पंडित—"स्वामी जी, वह मेरी जेठी कन्या है ।" स्वामी—"क्या यही उसका वर है ?" पंडित—"जी हाँ ।" स्वामी—"अरे, यह तूने क्या किया ? यह नाटा और दुबला पतला है । यह इसके योग्य नहीं । कहाँ तेरी इतनी सुंदर कन्या और कहां यह हरामी बदसूरत । तूने यह अनुचित किया ।" पंडित—"स्वामी, मैं क्या करूं वह उसका भाग्य था । वह उमर में काफी है पर जरा कमजोर है ।" स्वामी—"क्या दूसरी का विवाह हुआ है, अथवा नहीं ? पंडित—"स्वामी जी, अभी नही ।" स्वामी—उसके साथ वैसा न करना, देख सुन लेना । पंडित—"स्वामी, उसके भाग्य में जो बदा है वही होगा ।" स्वामी—"अरे तेरे छोटे लड़के का विवाह कब होगा ?" पंडित—"स्वामी जी, चार महीने बाद ।" स्वामी—"तो कहीं उसकी सगाई कर दी है ?" पंडित—"हां, महाराज, ब्रह्माघाट पर त्र्यंबक भट्ट नामक एक ब्राह्मण रहते हैं । उनकी कन्या के साथ वाक्‌दान है और उसने कन्या देना भी स्वीकार किया है । पर ऋणानुबंध बलवान है—और कहानी है—वन में नव मंजरियों पर मंड़राता हुआ भौंरा गंधफली नहीं सूंघता । क्या वह रम्य नहीं है अथवा वह रमणशील नहीं, केवल ईश्वर की इच्छा ही बलवती है ।" स्वामी—"ठीक, मैं तो उसे जानता हूं । मैंने उसके यहाँ कई बार भिक्षा पायी है । उसकी स्त्री बड़ी साध्वी है और बड़ी ही सुंदरी । वह मुझसे बड़ा स्नेह करती है । उसके हाथ की रसोई बड़ी रुचिकर होती है, वह बड़ी ही कुशल है । वह तेरे योग्य होगी ।" पंडित—"स्वामी जी, आप क्या मजाक करते हैं ?" स्वामी—"नहीं रे, वह तेरे संबंध योग्य होगी । वह कुलीन है । मैं उसे जानता हूं, इसलिए कहता हूं ।" पंडित—"देखना चाहिये महाराज, जो होना होगा ठीक है ।" स्वामी—"अरे नहीं, तू भलामानस है, ईश्वर कृपा से तेरी मनचाही इच्छा शीघ्र ही पूरी होगी ।" पंडित—तथास्तु । स्वामी जी ने फिर कहा—"अरे मैंने तेरी स्त्री के समान दूसरी स्त्री नहीं देखी । मैं उसके गुणों का क्या वर्णन करूं । कैसे उसने केवल दो मुहूर्त में इतना अच्छा भोजन तैयार कर दिया फिर उसे सबको परोसकर ब्राह्मणों को यथेच्छा भोजन कराके स्वयं जल्दी से भोजन करके तेरे बुलाने पर वह यहां आ पहुंची । उसका इतना परिश्रम दूसरी स्त्रियों में क्या मिल सकता है । इतने गुण अभ्यास से नहीं मिल सकते । कहा है—देने की शक्ति, प्रिय बोलने की शक्ति, धैर्य, और उचित बात जानना ये सहज गुण होने पर भी अभ्यास से नहीं पाये जा[illegible] । ये सब गुण तेरी पत्नी में वर्तमान हैं । बड़े भाग से वह तुझे भरपूर सुख देगी । [illegible] सुन क्या तेरी स्त्री को गर्भ है ?" पंडित—"यह ठीक है

स्वामी जी, चार मास बीत चुके।" स्वामी—"यह मुझे पहले से ही पता था।" पंडित—"ठीक है।" स्वामी—"उसे अच्छी संतान हो, आठ पुत्र हों।" पंडित—"तथास्तु।"

अब स्वामी जी ने बातचीत का रुख बदला और बोले—"अरे, तेरा पिता बनारस छोड़कर बहुत दिनों तक बंगाल में किस लिए रहा ? पंडित—"स्वामी जी, वे विद्याभ्यास के लिए वहाँ रहे।" स्वामी—"क्या काशी में अध्ययन नहीं हो सकता था ?" पंडित—"क्यों नहीं हो सकता था। पर वहाँ उन्होंने तर्क पढ़ा।" स्वामी—"क्या पढ़ा ?" पण्डित—स्वामी जी, जिस तरह पिता ने अभ्यास किया वह तो मैं नहीं कर सका, पर उसका आधा कुछ कुछ मैंने भी अभ्यास किया।" स्वामी—"तू ने क्या पढ़ा" । पंडित—"मैंने पहले पंचप्रकरण और चिन्तामणि पढ़ी बाद में शिरोमणि, मथुरानाथी, भावानन्दी और मिश्रान्त का अध्ययन किया। अठारह कोश देखे, भाष्यान्त व्याकरण पढ़ा, अठारह पुराण पढ़े, वेदान्त में परिश्रम किया, छंद, अलंकार, तथा नाटक साहित्य के साथ काव्य पढ़ा। ज्योतिष में अभ्यास किया तथा वैद्यक में परिश्रम। अब जो कुछ बच रहा है उसमें भी मेरी रुचि है"। स्वामी—"शिव शिव, तूने सब कुछ पढ़ा सिवाय वेद के"। पंडित—"स्वामी, बिना वेद के ब्राह्मणत्व कहाँ। ब्राह्मणों में पहले वेदाध्ययन और बाद में और कुछ होता है।"

गीर्वाण पदमंजरी में तो जिस ब्राह्मण ने स्वामी जी को निमंत्रण दिया था वह स्वयं उनसे उनके ज्ञान की परीक्षा लेने लगा। पण्डित—"स्वामी जी, आपने क्या क्या पढ़ा ?" स्वामी—"मैंने सब कुछ पढ़ा है।" पंडित—"सब शास्त्रों में सबसे कठिन कौन शास्त्र है ?" स्वामी—"क्या तुझे पता नही।" पंडित—"मुझे पता है फिर भी आप कहिए।" स्वामी जी ने व्याकरण को कठिन बतलाया और उसके प्रमाण में बहुत से शास्त्रों से उल्लेख दिया। बाद में व्याकरण और तर्क इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है इस पर बहस चल पड़ी। पंडित के पूछने पर कि उसने कौन सी पुस्तकें पढ़ी हैं स्वामी ने व्याकरण, वेदान्त, मीमांसा, वैशेषिक, सांख्य और काव्य के अनेक ग्रंथ गिना डाले। पर वाजपेयी जी उनका पिंड सहज ही में छोड़ने वाले नहीं थे, पूछ बैठे—"मैंने सुना है कि आपके देश में प्याज-लहसुन खाया जाता है क्या यह सच है" ? स्वामी जी—"बेवकूफ ऐसा कहते हैं। अशिष्ट, पतित और अब्राह्मण उन्हें खाते हैं।" पंडित—"स्वामी मेरा अपराध क्षमा करें मैंने अनजाने यह पूछा।" अब स्वामी जी ने पता लगाया कि यजमान कनौजिये थे। यजमान ने उस प्रदेश की फसल, फल फूल, दूध, दही, घी, मसाले, पशु-पक्षी तीर्थों इत्यादि की लंबी तालिका सुना दी। एकाएक वाजपेयी की लहसुन प्याज वाली बात का बदला लेने के लिए स्वामी जी कह पड़े—"वाजपेयी, तेरे देश में रजस्वला के हाथ का पकाया भात खाने की प्रथा है। क्या यह सच है ?" वाजपेयी—"भलेमानस ऐसा नही करते।" स्वामी—"तो क्या गैरभलेमानस ऐसा करते हैं ?" वाजपेयी—"धर्कट, अप्रमानिक, और हलवाहे ऐसा करते हैं।" जिरह और आगे बढ़ी। स्वामी जी बोले—"उनके साथ सम्बन्ध रहता है या नहीं। ठीक कह, मगर झूठ बोलेगा तो तेरा परलोक नष्ट हो जायगा।" वाजपेयी जी ने पशोपेश में पड़कर कहा—"अरे स्वामी जी, किस देश में दुराचार नहीं। दक्षिण में मातुल कन्यावरण में दुराचार है। दाक्षिणात्यों में सोलह वर्ष के पूर्व कन्या के विवाह में तथा आन्ध्रदेश में हलवाही में दुराचार है। महाराष्ट्र देश में जूठे

खाने में तथा अपने सुभीते से बेठे को छोड़ कर छोटे के विवाह में दुराचार है। द्रविड़ और केरल में सबके सामने स्तन दिखाने में दुराचार है, केरल देश में उपरि सुरत में दुराचार है। कोंकण में वृक्षारोहण में दुराचार है। गुजरात में मशक के पानी और तीसरे दिन रजस्वला-स्नान में दुराचार है। उत्तर में मांस भक्षण में दुराचार है। पर्वत-प्रदेश में देवर से पुत्रोत्पत्ति में दुराचार है। उत्तर में कहीं सूखेमास भक्षण में अत्यन्त दुराचार है। मैथिल और गौड़ प्रदेशों में सदा तेल लगाने में दुराचार है। गौड़ देश में वेद न पढ़ने में दुराचार है। कान्यकुब्ज में पण्यस्थ घृतपक्व भोजन तथा विवाहादि में भोजन के समय दूसरे को छूने में दुराचार है। उत्कल में मुखसूरत में दुराचार है। गौड़, द्राविड़, केरल, उत्कल और मिथिला में भुजिया चावल का भात खाने में दुराचार है तथा सब देशों में रास्ते में पान खाने में दुराचार है।

गीवार्ण वाङमंजरी में भी दुराचारों की तालिका दी गयी जो बहुत कुछ गीर्वाण पद मंजरी की तालिका से मिलती है पर कुछ देशों के नये दुराचारों के भी उल्लेख हैं, जैसे कर्णाटक देश में श्रीमानों को स्नान बिना भोजन में, तांबे के पात्र में दूध दही रखने में, द्रविड़ और केरल में रास्ते में बासी भोजन करने में, उत्तर में पर स्त्री गमन में, मगध में असवर्ण विवाह में, चन्द्रावती में दासी गमन में। कश्मीर के ब्राह्मण तो प्रायः यवनों की तरह होते थे। उनके जीवन में दुराचारों की गणना नहीं। पर पंडित जी के अनुसार महाराष्ट्र देश की सब जातियों में कुछ न कुछ दुराचार वर्तमान थे, सिवाय माध्वों के जिनमें दुराचार का लेशमात्र भी नहीं था। अब प्रश्नोत्तरी पुनः प्रारंभ हो गयी। स्वामी—"यह तूने ठीक कहा, मेरा भी यही अनुभव है"। पंडित—"स्वामी जी, झूठ बोलने से क्या फ़ायदा ? में आपकी कृपा से सब जानता हूं।" स्वामी-"अरे, गौड़ देश में कौन कौन से तीर्थ हैं ?" पंडित जी तीर्थों के नाम गिना गये। स्वामी–"वहां और क्या क्या विशिष्ट वस्तुएँ होती हैं ?" पंडित-"स्वामी, वहाँ अनेक तरह के नक्काशीदार (विचित्राणि) पट्ट वस्त्र (पट्टवस्त्राणि), क्षीरोदक नामक दुकूल, तथा अनेक तरह के रेशमी वस्त्र होते हैं। रेशम वहीं पैदा होता है। वहां बहुत ही महीन मलमल बीनी जाती है।" उसके बाद उसने वहां के धान्य, शक्कर, दूध, दही, घी, तेल, वृक्षों, लताओं, नदियों, पशु पक्षियों, पुष्पों जातियों इत्यादि के नाम गिना डाले। स्वामी जी संतुष्ट होकर बोले—"वाह, क्या देश है मुझे भी वहां एक बार जाना चाहिए। वहां गंगासागर नहाकर जगन्नाथ का दर्शन करके लौटूंगा। चातुर्मास्य बिताकर जाऊंगा।"

गीर्वाण पदमंजरी में दुराचारों के वर्णन के बाद स्वामी और वाजपेयी की बात बड़ी चोखी बन पड़ती है। वाजपेयी जी ताड़ गये थे कि स्वामी जी की विद्या ऐसी वैसी ही थी। इन नोकझोंक का वर्णन निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी में आता है। स्वामी—"वाह, ठीक हुआ। अब मुझे मठ जाना है अनुष्ठान का समय हो गया है।" वाजपेयी—"जाइये महाराज, भिक्षा के लिए फिर कब पधारियेगा ?" स्वामी—"मैं नहीं आऊंगा। तेरे घर बड़ी भीड़ भाड़ होती है, वृथा बड़ा समय खराब होता है।" वाजपेयी—"तो आज आज कैसे आये ?" स्वामी—"अनाध्याय था इसलिए।" वाजपेयी—"स्वामी जी, नकार

दीर्घ क्यों ?" स्वामी—"अरे, वाजपेयी तुझे कान नहीं हैं, तू बहरा है।" वाजपेयी—"अपराध हो गया, स्वामी को क्षमा करना चाहिए। आप जहां भी जायेंगे भीड़ भाड़ तो होगी ही।" स्वामी—"मैं कहीं भी नहीं जाता।" वाजपेयी—"तो भिक्षा कैसे मिलती है।" स्वामी—"मैं माधूकर करता हूं।" वाजपेयी—"उकार दीर्घ क्यों ?" स्वामी—"मैं नहीं जानता।" वाजपेयी—"आप नहीं जानते। सबको पता है कि भिक्षा को माधुकरी कहते हैं और माधूकर में प्रयोग विरोध है।" स्वामी—"होने दे प्रयोग विरोध। ऋषि प्रयोग अर्थके प्रयोग में विरोध हो तो दोष है।" वाजपेयी—"तो आपने काव्य नहीं पढ़े हैं।" स्वामी—"काव्यालाप छोड़ना चाहिए, इसलिये।" इसके बाद वाजपेयी ने कुछ कूट श्लोक पढ़कर उनके अर्थ जानने चाहे। स्वामी जी ने घबराकर कहा—"अरे वाजपेयी, मुझे भी ऐसे हजारों कूट श्लोक याद हैं, जिनके तू अर्थ नहीं कर सकता।" वाजपेयी—"कहिये स्वामी जी।" स्वामी—"अरे, लड़ाई झगड़े से क्या फायदा अब मुझे जाना चाहिए (ठहर कर) बहुत दूर जाना है।" वाजपेयी—"आप कहाँ रहते हैं ?" स्वामी—"मैं तिलाभांडेश्वर पर रहता हूं।" वाजपेयी—"लकार दीर्घ कैसे हुआ ?" स्वामी—"अवैय्याकरण के साथ की वजह से मुख से दीर्घ निकल गया, भूल हो गयी।" वाजपेयी—"स्वामी जी अब आप पधारिए।"

गीर्वाण वाङमंजरी का ब्राह्मण अधिक श्रद्धालु था और संन्यासी पण्डित। इसीलिए ब्राह्मण यजमान ने उनसे पूछा—"स्वामी जी, पूर्वाश्रम में आपका गाँव कौन था ?" स्वामी—"अरे पूर्वाश्रम में मैं कर्णाटक के चंजी ग्राम में रहता था।" पंडित—"तो पूर्वाश्रम में आपकी क्या वृत्ति थी, भिक्षावृत्ति अथवा व्यवसाय वृत्ति।" स्वामी—"अरे, कुछ न पूछ, कुछ कहने का उत्साह नही होता।" पंडित—"नही स्वामी जी, मुझे जानने की इच्छा है। आप अवश्य कहिये।" स्वामी जी ने कहा—

"अरे, पूर्वाश्रम मे मेरी व्यवसाय वृत्ति थी। तब दिल्लीश्वर के अमात्य असत्खान (असद खाँ) मन्त्री थे, उसका बेटा जुल्फ़िक़ार खाँ था। जब वह दिग्विजय के लिए वहाँ आया तो उसके साथ मैंने बहुत दिनों तक व्यवसाय किया। मेरे तावे में चार हजार सवार, दस हजार पैदल सिपाही, चालीस हाथी, बहुत से ऊँट, तथा रथ थे। घर में चार पालकियाँ थी और बहुत सी माल ढोनेवाली गाड़ियाँ। मेरे यहाँ सोलह बड़ी सुन्दरी दासियाँ थी जिनका लावण्य मैं बखान नहीं सकता। उनकी तरह मेरी गृहिणी भी नहीं थी। वे सब मेरी सेवा में सदा तत्पर रहती थी। उनमें से एक बड़ी ही सुन्दरी थी, उसके गुण और सौंदर्य वर्णनातीत हैं, वह दूसरी अप्सरा की तरह लगती थी। उसे मैं बड़ा प्यार करता था। उसका भी मन मुझे छोड़कर और कहीं नहीं गया।

"अरे, उस समय मेरे पास कई वेश्याएँ रहती थीं, जो सदा मेरी बाहुओं के पास उपस्थित रहती थीं। उनमें से एक बड़ी ही सुन्दरी थी। उसके कंठ की मधुरता, नृत्य गीतादि, आलाप और अभिनय का वर्णन शक्ति के बाहर है। आज भी जब उसका स्मरण हो आता है तब मेरा मन कहीं नहीं लगता। अब कहना क्या है जो होना था सो हुआ उसकी याद सपना हो गयी।

"पहले मेरे घर में प्रतिदिन सैकड़ों ब्राह्मण जमा होते थे जिन्हें मैं क्षण भर में खिला देता था। उनमें से बहुत से अन्नार्थी, वस्त्रार्थी और याचक होते थे। और भी जो अर्थी मेरे पास आते थे उन्हें मैं मनचाही वस्तुएँ देता था। मेरी प्रभुता के फलस्वरूप मेरे पास से कोई निराश नहीं गया। ऐसी मेरी विभूति थी जिसकी याद आज सपने जैसी लगती है और उसके स्मरण से मुझे बड़ा क्लेश होता है।"

बीच में पंडित जी टपक पड़े—"स्वामी जी, पूर्वकाल में आपका जो ऐसा वैभव था वह सहसा कहाँ चला गया। उसका कारण क्या था?" स्वामी जी बोले—"अरे सुन, एक दिन मैं अपनी स्त्रियों के साथ सौधगृह में था उसी समय मेरे मालिक ने मुझे बुलवाया और दो बार दूत भेजे, पर मैं सौंदर्य से उत्पन्न सुख को छोड़कर नहीं गया। मालिक ने फिर दूत भेजा तब भी मैं नहीं गया। इस पर क्रुद्ध होकर मालिक ने मुझे गिरफ़्तार करने के लिए एक सेनानी के साथ चार हजार सवार भेजे। मेरी सेना तैयार न थी। दो घड़ी के अन्दर ही उन्होंने सब कुछ लूट लिया। मुझे भी बाँधकर ले गये। मेरे मालिक ने मुझे डाँट फटकारकर चार महीने कैद में रखा, इसके बाद मेरी जंजीरें काट दी गयीं। उस दिन से मेरे मन में अतीव अनुताप हुआ और मैं कुटुम्बादि को छोड़कर कुरुक्षेत्र पहुँचा और वहाँ कुछ दिन तक तप करने के बाद संन्यास ग्रहण कर लिया और बाद में यहाँ पहुँचा।"

पण्डित ने पूछा—"आपके संन्यास ग्रहण किए हुए कितने दिन हुए?" स्वामी—"अरे, बारह बरस बीत गये। इतने दिनों तक तीर्थाटन करके चार मास से यहाँ आया हूँ।" पण्डित—"वाह, आपने तो खूब किया, कहा है विश्वेश्वर के समान देव, वाराणसी के समान क्षेत्र, तथा मणिकर्णिका के समान तीर्थ ब्रह्माण्ड में नहीं है। यह बात मानकर आप जैसों का ऐसा क्षेत्र छोड़ दूसरी जगह वास करना अनुचित है।" स्वामी—"तू ने ठीक कहा मेरे मन में भी यही है—कहा है, इस असार संसार में चार बातें सार हैं यथा काशीवास, सज्जनों का संग, गंगा जल और शिवपूजा। ऐसे स्थल को छोड़कर दूसरी जगह बसना ठीक नहीं।" पण्डित जी के इतना कहने पर कि स्वामी जी ठीक कहते हैं स्वामी जी बोल उठे—"अरे, अब मुझे मठ जाना चाहिए। आज मुझे बड़ी देर हो गयी। मैंने गीता पाठ भी नहीं किया। मेरे अनुष्ठान का समय भी हो गया अब तो मुझे जाना ही चाहिए।" इतना कह कर स्वामी जी उठ खड़े हुए। यजमान ने स्वामी जी को साष्टांग दण्डवत की और उनके साथ कुछ दूर तक हो लिया। जरा दूर जाकर वह बोला—"स्वामी जी, आज बहुत थक गया हूँ। समय भी बहुत बीत गया है, आप क्षमा करें।" स्वामी—"नारायण, नारायण यह तू क्या कहता है। ऐसी भिक्षा तो कहीं मिलने को नहीं न ऐसी भक्ति ही। जिसकी जैसी भावना होती है वैसी ही उसको सिद्धि मिलती है।" पण्डित—"यह सब आपकी कृपा का फल है, अब आपको धीरे-धीरे जाना चाहिए।" यह कह कर और स्वामी जी की आज्ञा पाकर लौट गया।

बेचारे स्वामी जी कमण्डल एक तरफ फेंक कर दण्ड के सहारे बड़े कष्ट से अपने मठ पहुँचे। वहाँ पहुँच कर शिष्य से बोले—"अरे मेधाश्रम, जल्दी उठकर बिछावन बिछा

दे।" शिष्य—"स्वामी जी अनुष्ठान का समय हो गया, अब सोयेंगे कैसे ?" स्वामी—"अरे चुप रह, जल्दी से बिस्तरा लगा। एक पंखा लाकर मुझ पर हवा कर, मेरे शरीर में बड़ी दाह हो रही है। शिष्य—"स्वामी, आज आपने क्या-क्या भोजन किया ?" स्वामी—"अरे अभी कुछ मत पूछ, बाद में सब कहूँगा। अभी तो बोलने की भी ताकत नहीं है, बैठ भी नहीं सकता।" यह कह कर स्वामी जी सो गये।

इधर थकेथकाये यजमान ने शृंगार रस की धारा बहा दी। अपनी स्त्री को पुकारा—"अरी सुनती है, आज हम दोनों थक गये हैं इसलिए तू जल्दी से सेज बिछा दे तथा सब बच्चों को सुला कर जल्दी से ऊपर आ जा। पहले मुझे संध्या-वन्दन के लिए जल दे दे।" उसने पति के कहे अनुसार सन्ध्या के लिए पानी रख दिया। जब वह सन्ध्या-वन्दन में लग गया तब पत्नी ने जल्दी से अटारी पर जाकर पलंग पर बिस्तरा लगा दिया और उसके ऊपर चमेली के फूल बिछाकर उसपर रेशमी चादर तथा सिरहाने दो तकिये लगाकर पलंग के नीचे पान लगाने इत्यादि का सामान रखकर अपने स्वामी को खबर दी। वह भी सन्ध्या-वन्दन करके ऊपर गये। पलंग पर बैठकर उसने अपनी स्त्री को पुकारा—"अरे, तू जल्दी से ऊपर आ नीचे क्या कर रही है ?" यह सुनकर वह बाल बच्चों को यथा स्थान सुलाकर ऊपर चली आयी। उसे देखते ही पण्डित जी का शृंगार रस लबलबा आया और वे बोले—"हे कमल लोचने, मैं पानी पीना चाहता हूँ तू देगी तो न पिऊँगा, यदि फिर से देगी तो पी लूंगा।" यह सुनकर उसने उसे पानी दिया। वह जल पीकर फिर बोला—"हे कर्णान्तायत लोचने चन्द्रमुखी, जल्दी से पीले पान और चूना ला।" यह सुनकर उसने लगा हुआ पान का बीड़ा दिया। उसके बाद उसने हाथ पकड़कर उसे गोद में बैठाकर आलिंगन करके मुख चूमा। इसके बाद दोनों की उत्तर क्रिया समाप्त हुई।

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों से सत्रहवीं सदी के बनारस के ब्राह्मण जीवन विशेषकर महाराष्ट्रीय ब्राह्मण जीवन के एक पहलू यानी भोजन पर विशेष प्रकाश पड़ता है। आज दिन भी बनारस के ब्राह्मणों और कुछ गृहस्थों में विशेष अवसरों पर सन्यासियों के निमंत्रण की प्रथा है। ऐसे अवसरों पर अतिथि और आतिथेय में आपस की बातचीत जिसमें गीर्वाण पद मंजरी के अनुसार यजमान बीस पड़ता था खास बात थी। इन दोनों ग्रन्थों में काशी के ब्राह्मणों की प्रातः क्रियाओं पर, जिनमें गंगा स्नान, पूजापाठ इत्यादि आ जाते हैं, विशद वर्णन है। महाप्रयोग के बाद ब्राह्मण मणिकर्णिका घाट पर स्नान करते थे और उसके बाद ही संध्या, ब्रह्मयज्ञ, निर्वाप, तर्पण और देवपूजा करते थे। पर्व के दिन गृहस्थ ब्राह्मण मठ पहुँच कर एक सन्यासी को भोजन का निमंत्रण देते थे। बनारस के मठों में भारत के अनेक भागों से आये हुए सन्यासी रहते थे। जान पड़ता है, सन्यासियों के निमंत्रण में भी यजमान अपनी जातीयता का ख्याल रखते थे। गीर्वाण-पदमंजरी में वाजपेयी एक कर्णाटकी सन्यासी को निमंत्रण देता है जिससे शायद वरदराज के देश का पता चलता है। गीर्वाण वाङ्मंजरी में ब्राह्मण द्वारा एक महाराष्ट्र के निमंत्रण से ढुंढिराज का महाराष्ट्रीय ब्राह्मण होना सिद्ध होता है। जान पड़ता है, उस

समय बनारस के दक्षिणी ब्राह्मण, बंगाली ब्राह्मणों के लंबे नाम को लेकर उनका मज़ाक उड़ाते थे।

सन्यासियों को छुआछूत का डर रहता था, इसीलिए यजमान के घर जाते समय हटो बचो की धुन लग जाती थी। घर पहुँच कर सन्यासी को उच्चासन पर बैठाया जाता था और भोजन के समय उसके सामने सबसे बड़ी पत्तल रखी जाती थी। भोजनोपरांत चंदनादि का लेप लगाया जाता था तथा लौंग दी जाती थी। कभी कभी सन्यासी को कीमती वस्त्र भेंट किया जाता था। भोजनोपरांत आमंत्रित ब्राह्मण तथा परिवार के लोग सन्यासी की अभ्यर्थना करते थे। सन्यासी कभी कभी यजमान के परिवारिक बातोंमें रस लेता था और उसे सलाह भी देता था।

बनारस के दक्षिणी नागरिक आज की भाँति ही घाटों के पास रहते थे। गीर्वाण वाङमंजरी का यजमान बिन्दुमाधव घाट के पास दूधविनायक मुहल्ले में रहता था। आज दिन की तरह घर का कुछ भाग किराये पर देने की प्रथा थी। ऐसे घरों के चारों ओर शालाएँ होती थी और बीच में प्रासाद। किरायेदार किसी शाला अथवा प्रासाद में जगह पाते थे।

गीर्वाण वाङमंजरी का ब्राह्मण स्वभाव से कुछ चिड़चिड़ा दिखलाया गया है, और वह अपनी स्त्री और पुत्र को गाली देने से नहीं चूकता। ब्राह्मण देवता अपना रुपया पैसा खूब सँभाल कर अंतःपुर में एक काठ की पेटी के अन्दर एक चाँदी की पेटी में रखते थे। अपने लड़के को उन्होंने आज्ञा दी की चौखंभा बाजार में जाकर वह दो रुपयों के ढेउआ (पैसे) मूषक माधव जी की दुकान से भुना ले और उनसे दूसरे सामान खरीदे। उस समय बनारस में कितनी सस्ती थी इसका पता हमें इस बात से चल जाता है कि दो रुपये में ही ब्राह्मण के पुत्र ने कितना सामान खरीद लिया। आठ आने में ढाई सेर घी से यह अर्थ निकलता है कि घी का भाव आठ रुपये मन था। इसके बाद पुत्र द्वारा भोज्य वस्तुओं के खरीदे जाने की लंबी तालिका आती है। जिसमें उसने तरह तरह के मसाले, आँटा, मैदा, धुँवास और तरकारी खरीदी फिर उसने अन्नपूर्णा मन्दिर के बाजार से कच्चे पक्के केले खरीदे और कालभैरव बाजार से साग भाजी। इसके बाद भोजन पदार्थों का लंबा विवरण आता है।

प्रकारान्तर में गीर्वाण पदमंजरी में बीजापुर और मध्यदेश का वर्णन आ जाता है। मध्यदेश के वर्ण में वहाँ की पैदावार जिनमें रत्न, मसाले, धान्य, सब्जियाँ, शक्कर, नमक, दूध, घी, तेल, पशुपक्षी वनस्पति सभी आ जाते हैं। गीर्वाण वाङमंजरी में वाजपेयी जी गौड़ देश की पैदावर इत्यादि का वर्णन तथा वहाँ के रहने वाले चारों वर्णों, शिल्पियों तथा नाचने गानेवालों इत्यादि का वर्णन करते है। संभवतः सत्रहवीं सदी के बनारसी पंडित तत्कालीन मुग़ल प्रथा से उत्साहित होकर अपना भौगोलिक ज्ञान बढ़ा रहे थे। गीर्वाण वाङमंजरी और गीर्वाण पदमंजरी से यह भी पता चलता है कि बनारस के पंडित देश के भिन्न-भिन्न भागों के लोकाचारों को जो शास्त्र विरुद्ध थे, भलीभाँति जानते थे पर जिन प्रदेशों से वे आते थे उनके सदाचार की प्रशंसा बातचीत में करते थे।

पर गीर्वाण पदमंजरी और गीर्वाण वाङमंजरी में काशी के ब्राह्मण जीवन का जो चित्र खीचा गया है वह सत्रहवीं सदी के लेखक वेंकटाध्वरि रचित विश्वगुणादर्शचंपू में उल्लिखित[1] ब्राह्मण जीवन से भिन्न है। काशी वर्णन खंड में कृशानु और विश्वावसु नामक दो गंधर्वों की प्रश्नोत्तरी से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि काशी के ब्राह्मण अपनी परिचर्या से च्युत हो गये थे एवं उनकी इस अधोगति का कारण मुग़ल थे जिनमें से कुछ बनारस में रहते थे। कृशानु विश्वावसु द्वारा काशी के ब्राह्मणों की प्रशंसा सुनकर बोला—"कलियुग के प्रधान से श्रुति स्मृति विहित आचारों के विरुद्ध काम करने वाले इस प्रदेश के वासी ब्राह्मणों को तू प्रणाम करता है, देख काशी के रहने वालों की सुचर्या के विरुद्ध बातें—

"काशी के ब्राह्मण शस्त्र धारण से अपनी जीविका निर्वाह करते हैं, वेदाध्ययन का त्याग करते हैं, शूद्रों द्वारा लाये गये पानी से नहाते हैं, आचमन करते हैं और देवताओं को स्नान कराते हैं तथा अविहित रूप से चावल पकाते हैं। वे जूठा भोजन खाने से नहीं डरते। मुसलमानों और नीचों की वे संगति करते हैं तथा चांडालों के स्पर्श की परवाह न करते हुए बारबार रास्तों में इधर उधर घूमते हैं और प्रातःकाल नहाकर भी धोबी के धोये कपड़े, जो गधों पर लादे जाते हैं, पहिनते हैं, तथा उन्हें पहिन कर बाहर कामकाज के लिये जाते हैं। घूमते हुए वे अस्पृश्य प्रमुख मुसलमानों को छूते हैं और उन्हें छूने पर भी नहाते नही। नहाने पर भी वे चपल भोजन कर लेते हैं और ऐसा कर लेने पर भी उन्हें लज्जा नहीं आती। वे नीचों, दुष्ट मुसलमानों तथा कुत्तों से निश्शंक आलोकित तथा पाँत से बाहर तथा वेद ज्ञान शून्य मनुष्यों के साथ खाते हैं। वे मद्य के आस्वाद से मत्त जनता के मोहने के लिए स्मृतियों और श्रुतियों से दूर असार कर्म सम्पादित कर्मों को करते हैं। यह आश्चर्य है कि वे शास्त्रविधि न जानते हुए जिन्हीं किन्ही कन्याओं से विवाह करते हैं और जब वे युवती हो जाती हैं तो वे द्रव्य कमाने की आशा से देशान्तर में हमेशा घूमते रहते हैं। एक दूसरे के आलिंगन के आशा में हीं उनका यौवन ढलता जाता है और इस तरह बुद्धि मलिन होने से दम्पतियों का लोक परलोक बिगड़ जाता हैं। यहाँ के लोग पढ़े लिखे नहीं होते। यदि सैकड़ों हजारों में कोई पढ़ा लिखा होता भी है तो वह श्रुति स्मृति विरुद्ध तर्कों में श्रम करता है तथा श्रुति स्मृति से विहित प्रामाणिक तर्कों से दूर भागता है।"

काशी के ब्राह्मणों के विरुद्ध कृशानु की बात सुन कर विश्वावसु बोला—"अरे, बड़े दुःख की बात है। ब्राह्मण निंदा सुनकर मेरा हृदय काँप गया। जो तूने उनके अच्छी चर्या के विरुद्ध जाने की बात कही है वह तो कलियुग का दोष है ब्राह्मणों का नहीं। कलियुग में कृतयुग का चरित्र होना कैसे संभव है। पाप रूपी लता का आश्रयभूत कलियुग दुर्जय है देख—

"यह कलियुग अधर्मों के कामों का महल है दुरभिमानों का धर्मपीठ है, शास्त्रों के ललाट पर लिखी हुई आयु की लेखा का नाश है, यज्ञों की समाप्ति का कारण है,

[1] बी० जी० योगी द्वारा संपादित, बंबई १९२३

सब वेदवचनों का वह समाप्ति दिवस है, साधनाओं की वह सीमा है तथा द्रव्य-प्राप्ति की इच्छा की वह जन्मभूमि है। ऐसे कलियुग में सैकड़ों में एक भी श्रुति मार्ग में चलने वाला इस जगत में पैदा हो तो वह प्रशंसा का पात्र है जैसे कि मरुभूमि में एक छिछला सरोवर भी श्लाघनीय है। कायस्थ, राजपूत और ब्राह्मण जो शस्त्र धारण करते हैं वे यत्नपूर्वक निर्दय और शुष्क मुसलमान शासकों की सेवा करते हुए भी देवताओं और ब्राह्मणों की रक्षा करते हैं इसीलिए वे धन्य हैं। जो बिना शस्त्रधारण किये ही घरों में रहते हैं अथवा घर में उदासीन हैं ऐसे ब्राह्मणों को केवल त्याग रूपी उदकांजलि ही मिलती है।"

उपर्युक्त श्लोक का आशय है कि मुसलमान स्वभाव से ही क्रूर, निर्दय और धर्मद्वेषी थे अतएव वे ब्राह्मणों उनके धर्म और देवताओं का नाश करते थे। इसीलिये कायस्थ इत्यादि उनकी सेवा स्वीकार करके जनपद की रक्षा इत्यादि का अधिकार प्राप्त करके देवताओं और ब्राह्मणों की रक्षा करते थे। शास्त्र पढ़ने वाले ब्राह्मण यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन षट्कर्मों में निरत होते थे। इनमें याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह उनकी जीविका के कारण थे। यजन, अध्ययन और दान तो केवल परमार्थ के सहायक थे, द्रव्य के अभाव से ये तीन कर्म शिथिल हो जाते हैं।

विश्वावसु ने चारों ओर आँखें फैला कर प्रशंसा पूर्वक कहा—"सेतुबंध रामेश्वर से हिमालय तक सारी पृथ्वी के मुसलमानों से आक्रान्त हो जाने पर तथा उनके भय से सब राजाओं के भाग जाने पर करुणारहित होकर भगवान नारायण के सो जाने पर तथा कलियुग के प्रसार होने पर केवल एक वही लोकोत्तर पुरुष है जो वेदोक्त मार्ग का अपने बल से निष्कंटक रखने का प्रयत्न करता है।"

वेंकटमखी के द्वारा काशी के ब्राह्मणों की दशा के विवरण में पूर्वपक्ष और उत्तर-पक्ष दोनों ही आ जाते हैं। इसमें संदेह नहीं ब्राह्मण जीवन के प्राचीन आदर्श से च्युत हो चुके थे पर समय के अनुसार ऐसा होना आश्चर्य की बात न थी। कायस्थों ब्राह्मणों और राजपूतों द्वारा मुसलमानों की सेवा का उद्देश्य भी हिन्दुओं की रक्षा ही बतलाया गया है।

काशी के ब्राह्मणों की शिक्षा वेद, वेदाग (व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, छंद-शास्त्र, शिक्षा, कल्प), षट्दर्शन (वैशेषिक, तर्कशास्त्र, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदांत), काव्य, नाटक, अलंकार, स्मृति और संगीत भी आ जाते थे। पर बंगाल में नदिया न्याय की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध था। व्याकरण की शिक्षा आवश्यक मानी गयी है पर वरदराज केवल तर्कशास्त्र के अध्ययन के विरोधी थे।

७. औरंगजेब युग में बनारस का व्यापार

हम कह आये हैं कि अकबर के राज्यकाल में बनारस का क्षेत्रफल ३६, ८६९ बीघा था और उसकी लगान २, २१, ७३२ रुपये। औरंगजेब के राज्यकाल में[1] बनारस

[1] सरकार, इंडिया ऑफ औरंगजेब, पृ० ४४

का क्षेत्रफल तो ४, ५३, ३५४ बीघा बढ़ गया, पर न मालूम क्यों बनारस की लगान घट कर १, ३५, ७५० रुपये रह गयी थी।

बनारस का बहुत प्राचीन काल से व्यापारिक महत्त्व उसकी भौगोलिक स्थिति के कारण था। दिल्ली के सुलतानों के समय इसका महत्त्व इसलिए कम हो गया था, कि बंगाल जाने की सड़क जौनपुर-गाजीपुर होकर निकल जाती थी। पर मुग़ल काल में बनारस से होकर फिर बहुत सी सड़कें चलने लगीं। दिल्ली-मुरादाबाद-बनारस-पटना वाली सड़क दिल्ली, शहादरा, गाज़िउद्दीन नगर (गाजियाबाद), डाना, हापुड़, बागसर, गढ़मुक्तेश्वर, बगड़ी, अमरोहा, मुरादाबाद रायबरेली, सेलां, कड़ा, डलमऊ होकर बनारस पहुँचती थी।[१] बनारस से यह सड़क सराय सैयदराजा, गाजीपुर, बक्सर, रानी सागर और बिसम्भरपुर होकर पटना पहुँचती थी। तावेर्नियें बनारस से पटना बहादुरपुर, सैयदराजा, मोहनिया की सराय, खुरमाबाद, सहसराम, दाऊदनगर, अल (सोनपुर) तथा आगा सराय होते हुए पहुँचा।

आगरा-इलाहाबाद-बनारस का भी एक रास्ता था। यह रास्ता फिरोजाबाद, शिकोहाबाद, इटावा, राजपुर, कुरारा, हटगाँव, शहजादपुर होकर इलाहाबाद पहुँचता था। इलाहाबाद से रास्ता रायबरेली, हनुमाननगरी (हनुमानगंज), मलिकपुर, शाहजहाँपुर, संघा, मिर्जामुराद होकर बनारस पहुँचता था। तावेर्नियें ने इस सड़क पर निम्नलिखित मंजिलें दी हैं—फिरोजाबाद, सराय मुरलीदास, इटावा, अजितमल, सिकदरा, मूसानगर के पास सांकल, शेरूराबाद, सराय शहजादा, हटगाँव, औरंगाबाद, आलमचन्द, इलाहाबाद, सदुल सराय (सैदाबाद), जगदीस सराय, बाबू सराय, बनारस। टीफेनथालर के अनुसार यह रास्ता हंडिया, गोपीगंज और मिर्जामुराद होकर बनारस पहुँचता था। ● ●

---

[१] वही, पृ० १०९–१११

चौथा अध्याय

१७०७ से १७८१ ईस्वी तक का बनारस

१. इतिहास-मुग़लयुग

बनारस बहादुरशाह के राज्य में (१७०७–१७१२) मुग़ल साम्राज्य के ही अंतर्गत था। फ़र्रुखसियर (१७१३–१७१९) और जहाँदार शाह की लड़ाई में बनारस का फिर जिक्र आता है। फ़र्रुखसियर बंगाल का शासक था और उससे लड़ाई के समय बिहार के सूबेदार हुसैन अली खाँ और इलाहाबाद के सूबेदार अब्दुल्ला खाँ जहाँदार के विरुद्ध मिल गये थे। १८ सितंबर १७१२ ईस्वी को फ़र्रुखसियर की फौज ने कूच कर दिया और स्वयं फ़र्रुखसियर २५००० फौज के साथ चार दिन बाद आगे बढ़े। फ़ौज २९ सितंबर को दानापुर पहुँची और शेरपुर और भटोली होते हुए वह १३ अक्टूबर को सोन के किनारे आ गयी। बाढ़ के कारण नाव का पुल बाँध कर नदी पार करके फ़ौज १७ अक्टूबर को सितारा पहुँच गयी। खटोली, सूरी महादेव, जैपुर होती हुई सेना २४ अक्टूबर को सहसराम पहुँची। वहाँ से चलकर खुर्रमाबाद, मोहानी, सलोट, सराय सैयदराजा, मुगलसराय होते हुए ३० अक्टूबर को फ़र्रुखसियर बनारस के सामने छोटे मिर्जापुर में आ पहुँचे। वहाँ बनारस के रईसों से रुपये वसूलने की बात उठी लेकिन राय कृपानाथ की प्रार्थना पर बनारस को कुछ दिन बाद रुपये भेज देने की मुहलत दी गयी। जबर्दस्ती की यह वसूली, जो एक लाख रुपये थी, फ़र्रुखसियर को इलाहाबाद में मिल गयी।[1]

फ़र्रुखसियर के राज्यकाल में बनारस की क्या हालत थी इसका तो हमें विशेष पता नही पर इसमें शक नहीं कि इस युग में बनारस में नागरों का काफी प्रभाव था। संभवतः इसका कारण छबीलाराम नागर की इलाहाबाद की सूबेदारी थी।[2] खुलासतुत्तवारीख और चहार गुलशन के अनुसार, बनारस इलाहाबाद सूबे का एक सरकार था और इसलिए छबीलाराम का बनारस में प्रभाव होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। छबीलाराम नागर ने सबसे पहले फ़र्रुखसियर के प्रति अपनी वफ़ादारी जाहिर की लेकिन बाद में सैयद भाइयों से उनकी नही पटी। १७१९ ईस्वी में जब फ़र्रुखसियर तख़्त से उतारे गये, उस समय छबीलाराम इलाहाबाद के सूबेदार थे। जिस समय यह घटना घटी छबीलाराम रुस्तम खाँ अफरीदी से मऊ-शम्साबाद में लड़ रहे थे और इसीलिए वह आगरे नहीं जा सके। जयसिंह को मना लेने के बाद सैयदों ने छबीलाराम को दुरुस्त करने की सोची क्योंकि छबीलाराम की बग़ावत से रास्ते में बनारस और इलाहाबाद पड़ने से बंगाल का खजाना दिल्ली नहीं पहुँच सकता था। छबीलाराम की बग़ावत का समाचार सुनकर उनके भतीजे गिरधर बहादुर को दिल्ली में कैद कर लिया गया। वे किसी तरह से

---

[1] विलियम इरविन, लेटर मुगल्स, भाग १, पृ० २१२–१३

[2] वही, भाग २, पृ० ९ से

जान बचाकर भागे और इलाहाबाद में अपने चाचा से मिल गये। छबीलाराम से लड़ने के लिये मुग़ल फौज आयी पर लड़ाई शुरु होने के पहले ही वे नवंबर १७१९ ईस्वी में लकवे से मर गये।

मुग़लों ने गिरधर बहादुर से यह वादा किया कि इलाहाबाद का क़िला छोड़ देने पर उन्हें अवध और गोरखपुर और लखनऊ की सूबेदारी मिलेगी, पर उन्होंने न माना। अंत में काफ़ी लड़ाई के बाद रतनचंद ने सुलह करवायी और ११ मई १७२० को गिरधर बहादुर इलाहाबाद का क़िला खाली करके लखनऊ चले गये।

१७२० ईस्वी में एक और घटना घटी जिससे बनारस के हिन्दुओं को भी काफ़ी राहत मिली होगी। जज़िया कर से तो हिंदू हमेशा ही परेशान रहते थे पर १७२० में अराजकता से गल्ले का भाव भी ऊँचा उठ गया और हिंदुओं की परेशानी और बढ़ गयी। हिंदुओं ने मौका साधकर जज़िया के विरुद्ध हड़ताल बोल दी। सवाई राजा जयसिंह ने भी यह मामला अपने हाथों में ले लिया और मुहम्मद शाह को समझाया कि हिंदू मुल्क के पुराने बाशिंदे थे और मुसलमानों से भी बढ़कर बादशाह के खैरख्वाह थे और इसलिए उनके ऊपर से जज़िया उठ जाना जरूरी था। अवध के सूबेदार राजा गिरधर बहादुर ने भी मुहम्मद शाह से यही प्रार्थना की और उन्हें बताया कि किस तरह उनके चाचा छबीलाराम ने फ़र्रुखसियर से कहकर यह कर उठवा दिया था। इन अर्जियों को स्वीकार करके मुहम्मद शाह ने सदा के लिए यह कर उठवा दिया। इससे सल्तनत को चार करोड सालाने का नुकसान हुआ।[1]

२. मीर रुस्तम अली

सन् १७३० ईस्वी के लगभग सआदत खाँ अवध के नवाब मुकर्रर हुए। जान पड़ता है गाजीपुर, जौनपुर और बनारस की सरकारें उस समय मुर्तजा खाँ नाम के किसी उमराव की अधीनता में थीं। सआदत खाँ ने इन्हें इलाहाबाद की सूबेदारी से निकलवाकर अवध के जिम्मे करवा दिया और मुर्तजा खाँ को सात लाख मालगुजारी देने का इक़रारनामा लिख दिया।[2] पर सआदत खाँ इन सरकारों के बन्दोबस्त करने के झगड़े में खुद नहीं पड़े। उन्होंने इनका बंदोबस्त आठ लाख रुपये पर मीर रुस्तम अली के हाथ कर दिया। इस तरह मीर रुस्तम अली बनारस की तहसील वसूल और बंदोबस्त करने लगे। माल, दीवानी, फौजदारी वगैरह सब उसके अख्तियार में थी। मीर रुस्तम अली बहुत ही सुरुचिपूर्ण व्यक्ति थे। बनारस का प्रसिद्ध बुढ़वामंगल मेला इन्हींने चलाया, चेतसिंह ने नहीं। बनारस में मीर के कैद होने पर एक होली गायी जाती थी—"कहाँ गयो मेरो होली को खेलैया, सिपाही रुस्तम अली बाँको सिपहिया।"[3] जान पड़ता है, रुस्तम अली खाँ को इमारतें बनवाने का भी शौक था। बनारस में मान मंदिर घाट के उत्तर में उन्होंने घाट, पुश्ता और एक किला भी बनवाया। बाद में इन सबके अमले से बलवंतसिंह से रामनगर का किला बनवाया। बाजीराव प्रथम द्वारा नियुक्त सदाशिव

---

[1] इरविन, वही, भाग २, १०३

[2] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० १–२

[3] हंस, काशी अंक, पृ० ४४

नाइक नामक एक कारकुन इस घाट के बनने का हाल अपने पत्रों में देते हैं। ८–८–१७३५, के एक पत्र[1] में वे बाजीराव को लिखते हैं—यहाँ का अधिकारी घाट बनवा रहा है और इसीलिए मसाला नहीं मिलता। एक दूसरे पत्र से पता चलता है कि बनारस के उक्त अधिकारी के घाट बनवाने के कारण नाइक को मसाला न मिलने से घाट बनवाना असंभव था। २९–६–१७३५ के एक पत्र में[2] सदाशिव नाइक कहते हैं, "चूँकि यहाँ के अधिकारी ने जरासंध घाट बनवाना आरंभ किया, अपने हाकिम होने की वजह से उसने सबको सामान मिलना बंद करके अपना काम चलाया। किसी दूसरे को मसाला मिला नहीं, इसीलिए सबका काम बंद हो गया"। उपर्युक्त विवरणों से पता चलता है कि मीर रुस्तम अली ने शायद १७३५ के आरंभ में घाट बनवाना आरंभ किया और काम अगस्त या उसके बाद तक चलता रहा।

३. मनसा राम

आधुनिक बनारस राज्य के संस्थापक मनसाराम रुस्तम अली की नौकरी में थे। इनका पिता का नाम मनोरंजन सिंह था और वे कसवार परगने के थुथुरिया गाँव (आधुनिक गंगापुर) के रहने वाले थे, और इस गाँव में उनका आधा हिस्सा था। मनोरंजन सिंह के चार पुत्रों में, यथा मनसाराम, मयाराम, दासाराम और दयाराम में, मनसाराम सबसे बड़े थे। मनसाराम असाधारण चतुर और बुद्धिमान व्यक्ति थे। आरंभ में वे कसवार के राजा बैरीसाल की नौकरी में थे। एक बार उनके मालिक ने किसी काम से उन्हें रुस्तम अली के पास भेजा। वे दूसरे जमींदारों का भी बनारस में काम करते रहे। धीरे धीरे वे रुस्तम अली के प्रियपात्र हो गये और उन्होंने रुस्तम अली की बैरीसाल से दुश्मनी करा दी। बाद में वे रुस्तम अली की तरफ़ से बैरीसाल से लड़े और उन्हें कसवार से निकाल बाहर करने में सफल हुए। इसके बाद वे रुस्तम अली की तरफ से चार पाँच लाख की ज़मींदारी का इंतजाम बड़ी मुंतज़िमी के साथ करते रहे। रुस्तम अली के दरबार से उन्होंने चुग़लखोर जमींदारों को भी रुस्तम अली की सेना की मदद से निकाल बाहर किया। जब उन्हें बनारस की राजनीतिक और आर्थिक बातों का पूरी तौर से ज्ञान हो गया तब उन्होंने चुपके से सफ़दर जंग को रुस्तम अली को निकाल कर अपनी मुक़र्ररी के लिए लिखा। जब रुस्तम अली को इस विश्वासघात का समाचार मिला तो उन्होंने मनसाराम से जबाब तलब किया और उनकी कृतघ्नता की लानत मलामत की लेकिन मनसाराम नारायण और गंगा की कसम खाकर इस बात से साफ़ इनकार कर गये। रुस्तम अली ने मनसाराम की बात मान ली पर मनसाराम षड्यंत्र रचते ही रहते थे। उन्होंने रुस्तम अली की मालगुज़ारी से चार लाख अधिक देना कबूल करके मुहम्मद क़ुली खाँ के ज़रीये बनारस की ज़मींदारी की सनद लिखवा ली। रुस्तम अली जेल भेज दिए गये। सनद मिलते ही मनसाराम भी चल बसे और उनकी गद्दी पर बलवंत सिंह बैठे।[3]

---

[1] पेशवा दफ्तर, ३०, २८०

[2] पेशवा दफ्तर, ४३, २

[3] केलेंडर ऑफ पर्शियन करेसपांडेन्स, भाग ५, १४०७



चित्र नं. ११. वह्लकरण लेख के साथ मृण्मुद्रा
राजघाट, काशी, पांचवीं सदी (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ ६७



चित्र न. १२ अविमुक्तेश्वर लेख वाली मृण्मुद्रा
आठवीं सदी, राजघाट, काशी (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ ६६



चित्र नं. १३. श्री सर्वत्रैविद्य लेख वाली मृण्मुद्रा
पांचवीं सदी, राजघाट (भारत कला भवन, काशी)



चित्र न. १८. मीर रुस्तम अली की होली
करीब १७३५ ईस्वी (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ २५१

४. बलवंत सिंह

गद्दी पर बैठते ही बलवंत सिंह ने इक्कीस हजार सात सौ पचहत्तर रुपये मुहम्मद शाह को नजराना भेज कर उससे राजा का खिताब और कसवार वगैरह तीन और मौजों की जमींदारी अपने नाम करवा ली। अपने पूर्वजों के निवास स्थान थुथुरियां का नाम बदल कर उन्होंने गंगापुर रख दिया और वहाँ एक किला भी बनवाया।

बलवन्त सिंह अपनी अमलदारी के पहले दस वर्ष अर्थात् १७४८ तक बेउज्र अपनी मालगुजारी अवध के नवाब को भेजते थे। पर १७४८ में नवाब सफ़दर जंग दिल्ली को बंगश के विरुद्ध अहमद शाह की मदद के लिए अपनी फ़ौज के साथ गये, उस समय बलवन्त सिंह को मौका मिला और उन्होंने नवाब को फँसा देखकर उनके सजावलों को, जो उस समय तहसील करने आये थे, प्रतापगढ़ के राजा पृथ्वीपति के साथ मिलकर निकाल बाहर किया और राजपूतों की जमींदारी भदोही को लूट कर उसके जमींदार सरदार जसवन्त सिंह को मार डाला। भदोही का किला अली कुली खाँ इलाहाबाद वाले के अख्तियार में था। वह इस समाचार को सुनकर क्रुद्ध हुआ और कूच करके उसने भदोही का किला दखल कर लिया पर बलवन्त सिंह की कूटनीतिज्ञता के आगे उसकी कुछ न चल सकी। उसने अली कुली खाँ के हिन्दू सरदारों को अपनी तरफ़ मिला लिया और नवाब को हार कर इलाहाबाद भागना पड़ा।[1]

१७४६ ईस्वी में बनारस में एक घटना और घटी, जिससे बलवन्त सिंह की चतुराई का पता चलता है। बालाजी बाजीराव की माता काशीबाई तीर्थयात्रा करने बनारस आयीं। बलवन्त सिंह के एक बागी भाई दासाराम ने यह मौक़ा पाकर अपने को काशी बाई के हवाले कर दिया और उन्होंने उसको शरण दी। लेकिन बलवन्त सिंह ने बादशाह से फ़रियाद कर दी कि काशीबाई दासाराम को उसके परिवार के साथ ले गयीं। बलवन्त सिंह ने जब इस पर आपत्ति की तो उन्होंने यह धमकी दी कि यदि दासाराम को काशी का आधा राज्य न दिया जायगा तो मराठी फ़ौजें आक्रमण करेंगी। सफ़दर जंग के वकील ने दिल्ली में इस शिकायत की ताईद की लेकिन मराठे इस बात से साफ़ इनकार कर गये।[2] शिकायत करके ही बलवन्त सिंह चुप नहीं रहे। उन्होंने काशीबाई और उनके अनुचरों को काफ़ी तंग भी किया। काशीबाई के साथी विसाजी दादाजी अपने १७-७-१७४६ के एक पत्र में लिखते हैं—"यहाँ पहुँचते ही बलवन्त सिंह ने माता जी के रहने की व्यवस्था राजमन्दिर में की है और घोड़े, ऊँट और सिलेदारों को गढ़ी में रहने की जगह दी है। पहले आठ दिनों में ही बलवन्त सिंह ने सरकार के पाँच घोड़े चोरी करवा दिये और जब उन्हें धमका कर हमने घोड़े वापस करने को कहा तो उन्होंने दो ही घोड़े लौटाये। घोड़ों की चोरी से अपनी बदनामी समझ कर अपने कृत कर्म के समर्थनार्थ और अपनी हितेच्छुकता दिखलाने के लिये उन्होंने माता जी तथा मंसूर खाँ के ऊपर नालिश भी कर दी कि

---

[1] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० ७-८

[2] के० आर० कानूनगो, सम साइडलाइट्स ऑन दि हिस्ट्री ऑफ़ बनारस, हिस्टोरिकल रेकर्डस् कमीशन रिपोर्ट, १४ (१९३७), पृ० ६५-६६

उनके साथ फ़ौज है जो नगरवासियों को तकलीफ़ देती है। उनके बन्दोबस्त की आज्ञा मिल जाय। नवाब ने गया जाने के कार्यक्रम को भी रोक दिया है। यह घटना बापू श्री महादेव को समझायी गयी। उन्होंने स्वत: और दूसरे सरदारों से नवाब को समझवाने का प्रयत्न किया, पर वे न माने। अंत में फ़तेहशाह से नवाब को समझवाया"।[1]

ऊपर हम कह आये हैं कि सफ़दर जंग को अहमद बंगश के साथ युद्ध में फंसे देखकर बलवन्त सिंह बनारस में गड़बड़ मचा रहे थे। १७५० में अहमद खाँ बंगश ने राम छतौनी की लड़ाई में अवध की फ़ौज को बुरी तरह से हरा कर एक बड़ी फ़ौज के साथ इलाहाबाद का घेरा डाल दिया। राजेन्द्र गोसांई और बक़ाउल्ला ने बहादुरी से इनका मुक़ाबला किया।[2] झूँसी के अपने पड़ाव से अहमद खाँ बंगश ने जौनपुर, बनारस और आजमगढ़ की ओर अपनी फ़ौजें भेजी। प्रतापगढ़ के सोमवंशी राजा पृथ्वीपत भी हमलावरों के साथ हो लिये। बनारस के महाजन आगे बढ़कर अफ़ग़ान सेनापति से मिले और बहुत सा रुपया देकर उसे बनारस आने से रोका।

रुहेलों के भयंकर अत्याचारों के विवरण हमें कई तत्कालीन मराठी पत्रों से मिलते हैं। गोविन्द बल्लाल ने बाबूराव के नाम अपने १५-५-१७५१ के पत्र में लिखा[3] कि रुहेलों के अत्याचार से प्रयाग और बनारस वीरान हो गये थे। तमाम हुंडी पुरजे का काम बन्द हो गया था और बहुत से महाजनों का दिवाला निकल गया था। इस समय उत्तर भारत में हुंडियाँ भेजना भी बहुत मुश्किल हो गया था।

केशव नाम के किसी व्यक्ति ने वासुदेव दीक्षित के नाम अपने १३-२-१७५१ के पत्र में भी रुहेलों के अत्याचारों का विस्तृत वर्णन दिया है।[4] इस पत्र से पता लगता है कि जब बनारस में गड़बड़ी फैली हुई थी उस समय नारायण दीक्षित के पुत्र बालकृष्ण दीक्षित अपने पिता का श्राद्ध करने गया गये थे। वहाँ एक पत्र से उन्हें मालूम हुआ कि रुहेलों ने प्रयाग की नयी बस्ती ले ली थी बहुत सी औरतों को कैद कर लिया था और उनके सरदार अहमद का इरादा बनारस आने का था। इतना सुनना था कि बनारस में दहशत फैल गयी। दो दिनों तक शहर में रोशनी तक नहीं हुई और दस दिन तक किसी के होश तक ठिकाने नहीं थे। बनारस से पटना तक का गाड़ी भाड़ा अस्सी रुपये हो गया। कहीं भी मज़दूर नहीं मिलते थे और सब लोग मिर्जापुर, आजमगढ़ अथवा गंगा पार भाग गये थे। इस गड़बड़ी का हाल सुनकर अहमद बंगश ने बनारस के सात महाजनों के नाम समाचार भेजकर उन्हें इस बात का ढाढ़स दिया कि उसका शहर लूटने का कोई इरादा नहीं था और इस बात की भी इच्छा प्रकट की कि लोग बनारस से न भागें। बंगश के पास से परवाना मिलने पर बनारस के कोतवाल ने पाँच साहूकारों को गंगापुर भेजा। वहाँ से सब मामला तय कर, उनके लौटने पर लोगों का ढाढ़स बँधा और वे पुनः शहर में लौटने लगे।

---

[1] पेशवा दफ्तर, ४०, ४२

[2] सरकार, फ़ॉल ऑफ दि मुगल एंपायर, भाग १, पृ० ४०० से

[3] राजवाडे, *मराठ्यांच्या इतिहासाचीं साधनें*, भाग ३, १६६-६७

[4] वही, पृ० ३४६ से

लेकिन इन सब गड़बड़ियों में भी बलवन्त सिंह अपनी चाल चलते ही रहे। उन्हें पता लगा कि अहमद बंगश ने उनके ही एक सूबेदार साहिब जुम्मा ख़ाँ को बनारस से अवध के दक्षिण तक का सूबेदार नियुक्त किया था। बलवन्त सिंह ने पहले तो अपनी मिलकियत बचाने के लिये जुम्मा ख़ाँ से सुलह करनी चाही पर जब उन्होंने न माना तब बलवन्त सिंह ने अपना रुख बदल दिया। पता चलता है कि बलवन्त सिंह अहमद बंगश से मिलने प्रयाग पहुँचे और वहाँ कुछ नजर हाजिर किया। बंगश ने उन्हें सरोपाव देकर बनारस की कोतवाली छोड़ कर सारा ज़िला उनको सुपुर्द कर दिया। बालकृष्ण दीक्षित के एक ७-५-१७५१ के पत्र[1] से पता चलता है कि अहमद बंगश को महाजनों से सात लाख दिलवाकर बलवन्त सिंह ने बनारस की लूट रुकवायी।

१७५१ में सफ़दर जंग ने पुनः इलाहाबाद पर कब्जा कर लिया। इस खबर को सुनते ही बलवन्त सिंह ने जुम्मा ख़ाँ को सफ़दर जंग पर आक्रमण करने की सलाह दी पर जुम्मा ख़ाँ के अफ़ग़ान सिपाहियों ने इसे नहीं माना। बाद में अपनी कूटनीति से बलवन्त सिंह ने सिपाहियों में तनख्वाह के मामले पर फूट डाल दी और मौका पाकर जुम्मा ख़ाँ का जौनपुर में घर द्वार लूट कर उनके परिवार को निकाल बाहर किया।

इधर नवाब सफ़दर जंग ने अपना खोया हुआ प्रभाव पुनः जमाकर अपने दुष्ट जागीरदारों को सजा देने की ठानी। १७५४ में प्रतापगढ़ के राजा पृथ्वीपति ने बलवन्त सिंह के साथ मिलकर नवाब के सजावलों को निकाल बाहर किया था। सुल्तानपुर में जब वे नवाब से बात कर रहे थे मरवा डाला गया। इसके बाद सफ़दर जंग बलवन्त सिंह को भी खत्म करने की गरज से बनारस की ओर बढ़े पर वहाँ उनकी राजा से भेंट नहीं हुई। राजा बलवन्त सिंह पृथ्वीपति की मौत का हाल सुनकर अपने परिवार के साथ गंगा के दक्षिण के तरफ पहाड़ों में भागे। इस पर नवाब ने उनका मकान लूट कर किला जमीनदोज करवा दिया।

जान पड़ता है इस विपत्ति से त्राण पाने के लिए बलवन्त सिंह मराठों से भी लिखा पढ़ी कर रहे थे। वासुदेव दीक्षित के एक पत्र से इस बात का साफ़ पता चलता है।[2] यह पत्र बलवन्त सिंह के १५वें राज्यवर्ष में यानी १७५४ ईस्वी में लिखा गया था। तब तक बलवन्त सिंह बनारस छोड़ कर भागे नहीं थे। यह पत्र रघुनाथ दादा को लिखा गया था और उसके मुख्यांश ये हैं, "राजश्री राजा बलिवंड सिंह ने १५ वर्ष तक श्री क्षेत्र का जिस तरह पालन किया वैसा किसी ने नहीं किया। यह स्थल वजीर ने आपके साथ बन्दोबस्त कर दिया है, ऐसा मैंने राजा को लिखा। मैंने पचीसों पत्र दिखलाये पर उन्होंने इस बात पर अमल नहीं किया। इसमें उनका दोष नहीं है। लिखने पर भी काम न करने का कारण लड़ाई फ़साद है और इसी लिए उन्होंने ध्यान नहीं दिया। पर उन्होंने कहा कि युक्ति से सब काम हो सकते हैं। इसके लिए उन्हें उतावली भी है। जो कुछ हो चुका है उसके लिए वह क्षमा-प्रार्थी हैं। इस स्थल की

---

[1] वही, पृ० ३५४

[2] पेशवा दफ्तर, २७, २०९

रक्षा करने में आपका ही यश है। वज़ीर ने इस प्रान्त में आकर प्रयाग में घर घर चौकी बैठा कर लूट आरंभ कर दी है। इस स्थल पर भी उसका दाँत लगा है। जिस राजा ने आज पर्यन्त इस स्थल की रक्षा की, उसकी चिन्ता का यही कारण है। उसके लिए क्या उपाय करना चाहिए ? सब लोग भयभीत हैं। लोग गंगा की प्रार्थना करते हैं। इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं है कि आप जल्दी से यहाँ चले आवें, अगर ऐसा नहीं कर सकते तो पत्र देखते ही एक सरदार के अधीन दस पन्द्रह हजार सवार ही भेज दीजिए। इनके नज़दीक आने पर पाँच सात हजार सवार लेकर राजा आपसे मिल जायँगे। आप दोनों की भेंट होने पर आपकी आज्ञा का पालन होगा। पर आप इस स्थल की रक्षा अवश्य करें। राजा की भी रक्षा करें। अगर उपद्रव हुआ तो बनारसवासी लड़के-बाले लेकर गंगा में डूब मरेंगे, दूसरा कोई उपाय नहीं है। राजा के बारे में आपसे कुछ लोगों ने बहुत कुछ बुरा भला कहा होगा, उसे आप अपने चित्त में न लावें, वह अनन्य भाव से आपके चरण सेवक हैं।" पर पत्र का कोई नतीजा नहीं निकला। रघुनाथ बाजीराव ने १७ मार्च १७५४ के एक पत्र में[१] बाबूराव महादेव को बलवन्त सिंह की पैरवी करने का आदेश दिया और यह भी कहा कि राजा की अमलदारी अगर समाप्त हो जाय तो वे रघुनाथ राव के पास चले जावें।

ऊपर हम कह आये हैं कि सफ़दर जंग के बनारस पहुँचने के पहले ही बलवन्त सिंह भाग गये थे। बाद में एक नौकर की मार्फ़त उन्होंने नवाब को एक लाख रुपया भेजा और माफ़ी माँगकर मालगुज़ारी में दो लाख और बढ़ा देने का वादा किया पर सफ़दर जंग ने किसी तरह बलवन्त को बनारस बुलवाना चाहा और इसके लिए नूरुल् हुसैन नाम के एक कारिन्दे को भी भेजा, पर बलवन्त सिंह जानते थे कि बनारस जाने का नतीजा क्या होगा। उन्होंने नूरुल् हुसैन से कहा, 'परमेश्वर के यहाँ जाकर कोई नहीं लौटता।' जब सफ़दर जंग ने देखा कि बलवन्त सिंह किसी तरह क़ब्ज़े में नहीं आते और नवाब को अवध लौट जाना आवश्यक था, तब वे राजा की मालगुज़ारी में दो लाख का इज़ाफ़ा करके अवध चले गये।

नवाब के जाने के बाद बलवन्त सिंह ने बनारस आकर रामनगर का क़िला बनवाया और बिजयगढ़, अगोरी और लतीफ़पुर के किलों पर क़ब्ज़ा कर लिया। बिजयगढ़ का क़िला बलवन्त सिंह ने राजा बिजयगढ़ को तंग करके पचास हज़ार पर खरीदा, पर क़िला दखल हो जाने के बाद राजा को एक कौड़ी भी न मिली। चुनार से ढाई कोस पर पतीता के किले का मालिक एक मुसलमान था; उसके बीमार पड़ने पर एक महीने तक किला घेर कर बलवन्त सिंह ने उसे दखल कर लिया। लतीफ़पुर का किला भी जो रामनगर से बिजयगढ़ के रास्ते में है, एक मुसलमान का था। उसके मरने के बाद बलवन्त सिंह ने उस पर सहसा धावा बोल दिया और उसे दखल कर लिया, अगोरी-बड़हर का किला उन्होंने चन्देल राजपूतों से जीत लिया।

शाहाबाद का कैरा-मंगरार परगना दायम खाँ, जो गहरवार हिन्दू से मुसलमान हो गया था, के अधिकार में था। राजा बलवन्त सिंह के भाई दासाराम ने बलवन्त सिंह के

[१] मराठाच्यां इतिहासांची साधनें, भाग १, पृ० ६८

भय से इसका आश्रय ग्रहण किया था। बलवन्त सिंह ने उस पर चढ़ाई की। यह हाल सुनकर दासाराम ने धोखे से किला बलवन्त सिंह को फ़तह करा दिया। लेकिन दायम ख़ाँ ने पुन: किला वापस लेकर दासाराम को कैद कर दिया। महाराष्ट्र सिपाहियों की मदद से बलवन्त सिंह ने अपने भाई को छुड़ा तो लिया पर वह दायम ख़ाँ को गिरफ़्तार न कर सका। बाद में बलवन्त सिंह ने बिहार के सूबे के नायब से सात हजार मालगुज़ारी पर उस परगने का ठीका ले लिया। अवसर पाकर अस्सी हज़ार नज़राना देकर उसने आलमगीर द्वितीय से यह परगना माफ़ी करवा लिया।

१७५५ ईस्वी में तो बलवन्त सिंह ने जौनपुर की सभी छोटी बड़ी ज़मींदारियों को दखल कर लिया। सफ़दर जंग का १७५४ में देहान्त हो गया था और उनकी जगह शुजाउद्दौला अवध के नवाब हुए। शुजाउद्दौला और बलवन्त सिंह के बीच भी अनबन ही रही। १७५७ में राजा बलवन्त सिंह ने चुनार के किले के बादशाही फ़ौजदार को एक लाख रुपया देकर किला हस्तगत कर लेना चाहा, पर नवाब को इसकी खबर लग गयी और वे फ़ौरन लेकर के साथ बनारस पर चढ़ आये। राजा बलवन्त सिंह ने जैसे ही उनकी अवाई का समाचार सुना, वे अपने परिवार के साथ लतीफ़पुर के किले में भागे। बालाजी बाजीराव के नाम ३-३-१७५७ के एक पत्र में तुबाजी अनन्त लिखते हैं कि ब्रह्मावर्त में उनके और बालाजी की माता के काफ़ी दिनों तक ठहरने का कारण यह था कि बनारस पर शुजाउद्दौला का धावा हुआ। पत्र का मज़मून है—"काशी के राजा बल्वन्त सिंह ने चुनार का किला ले लिया इसीलिए अयोध्या का सूबेदार दस पन्द्रह हजार सैनिकों के साथ उस पर चढ़ाई बोल कर काशी आ पहुँचा। बलवन्त सिंह पहाड़ में भाग गया और उसके सरदार भी बनारस छोड़ कर भाग गये और वहाँ धूम मच गयी।"[1] बनारस से बालकृष्ण दीक्षित ने भी चैत्र बदी, शुक्रवार, शक संवत् १६७८ के वासुदेव दीक्षित के नाम एक पत्र[2] में इसी घटना की ओर संकेत किया है—"अयोध्या वाले और यहाँ के अधिकारी में झगड़ा हो गया है इसीलिए आज पचीस दिन से अयोध्या वाला चुनार आकर बैठा है। यहाँ का अधिकारी गंगा पार पहाड़ों में है। अभी तक सुलह नहीं हुई है। रैयत दोनों सेनाओं से लुट गयी है।"

बलवन्त सिंह के भाग जाने पर शुजाउ ौला ने गाजीपुर के मालगुज़ार फ़ज़ल अली को उन्हें मार डालने का हुक्म दिया और इनाम में बलवन्त सिंह की ज़मींदारी का उनके साथ बन्दोबस्त कर देने का वादा किया। फ़ज़ल अली ने इस काम के लिए दस हज़ार सवारों की मदद और मालगुज़ारी में दस लाख की माफ़ी चाही। इधर बलवन्त सिंह ने यह खबर सुनते ही मराठों से मदद मांगी और नवाब के पास पाँच लाख रुपये नजर भेजकर और मालगुज़ारी में पाँच लाख इज़ाफ़ा की रज़ामन्दी लेकर उनसे माफ़ी चाही। नवाब के अमलों को भी घूस देकर उन्होंने अपनी ओर कर लिया और उन सब ने एक स्वर से राजा को माफ़ कर देने की नवाब को सलाह दी। इस पर राजा की शर्तों को मानकर

[1] पेशवा दफ्तर, ४०, ४०

[2] वामन बालकृष्ण दीक्षित, नारायण दीक्षित पाटणकर, पृ० ९८–९९, बंबई १९२५

शुजाउद्दौला ने उनसे सुलह कर ली और पाँच लाख रुपया अधिक मालगुजारी की सनद देकर वे अवध वापस चले गये। उस सनद के अनुसार भदोही के परगने का आधा खजाना राजा का जागीर हो गया।[1]

गाजीपुर के मालगुजार सफ़दर जंग के दोस्त थे और इसीलिए वे दस्तूर के मुताबिक़ लखनऊ मालगुजारी भेजने में ग़फ़लत करते थे। शुजाउद्दौला ने उनकी हरकत से नाराज होकर उनकी जगह मुहम्मद अली खाँ को नियुक्त कर दिया, लेकिन जब उनसे भी जमींदारी का प्रबन्ध ठीक तरह से न हो सका तो फ़जल अली को पुनः उनकी पुरानी जगह पर बैठा दिया। फिर भी नवाब की इस दया का फ़जल अली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पुनः नियुक्ति के बाद आजमगढ़ के राजा के इलाकों का भी बन्दोबस्त उनके सुपुर्द कर दिया गया परन्तु उन्होंने फिर उत्पात शुरू कर दिये। इससे क्रुद्ध होकर नवाब ने उनको निकाल बाहर करने के लिए बेनीबहादुर के अधीन सेना भेजी और बलवन्त सिंह को बेनीबहादुर की मदद का हुक्म दिया। फ़जल अली लड़ाई में हार गये।

राजा बलवन्त सिंह को इस मदद के लिए बेनीबहादुर की सिफ़ारिश से नवाब ने १७६१ ईस्वी में आठ लाख सालाना मालगुजारी पर गाजीपुर जिले के बाईस परगनों का बन्दोबस्त कर दिया। यहाँ भी बलवन्त सिंह ने खूब लूट मचाई और फ़रासीसी अफ़सर वाल्टर रेमाँ, जो बाद में समरू नाम से मशहूर हुआ, की मदद से उसने बलिया के राजा भोजदेव के इलाक़े छीन लिये और बाद में उज्जैन के सरदार दुर्विजय सिंह का सिरिंगा का किला और तमाम इलाके दखल कर लिये। सिरिंगा का किला चौसा से दो कोस दक्षिण में था और इसके चारों ओर खाइयाँ थीं।

लेकिन बलवन्त सिंह को लक्ष्मणेश्वर परगने के जमींदार सेनगढ़ी राजपूतों से मात खानी पड़ी। इन राजपूतों ने बलवन्त सिंह का खजाना लूट कर उनके आदमियों को निकाल बाहर किया। बलवन्त सिंह खुद बदला लेने के लिए आगे बढ़े पर लड़ाई में राजपूत परास्त न हो सके और झख मार कर बलवन्त सिंह को लक्ष्मणेश्वर का परगना उन्हीं लोगों के हाथ बन्दोबस्त कर देना पड़ा। पर बलवन्त सिंह चैन से बैठने वाले जीव नहीं थे, मौक़ा मिलते ही उन्होंने मिर्जापुर में कन्तित के राजा की सब जमींदारी दखल कर ली और उन्हें निकाल बाहर किया।[2]

१७६१ के जनवरी मास में पानीपत की लड़ाई हुई, जिसमें शुजाउद्दौला अब्दाली के साथ थे। उस युद्ध में मराठों की हार हुई। जान पड़ता है उस समय बनारस के महाराष्ट्र ब्राह्मणों में काफ़ी खलबली पड़ गयी और बहुतों को तो शुजाउद्दौला के डर से शहर छोड़ कर भागना पड़ा। पानीपत की लड़ाई के कुछ ही दिनों बाद बालकृष्ण दीक्षित ने गोविन्द दीक्षित पाटणकर के नाम २७-१-१७६१ के एक पत्र में इस खलबली का जिक्र

---

[1] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० ११–१२

[2] वही, पृ० १३

किया है।[१] पत्र के आरंभ में पानीपत की लड़ाई का ज़िक्र है और मराठों की हार का, फिर यह वर्णन आता है कि इस समाचार का बनारस में क्या असर पड़ा। इस खबर के लखनऊ पहुँचने पर वहाँ खुशियाँ मनायी गयीं। लखनऊ के अधिकारियों ने बनारस के अधिकारी को लिखा कि सब बागी मारे गये और कुछ भाग गये। ऐसी खबर पंचमी आदित्यवार को रात छह घड़ी जाने पर मिली। उसके बाद सोमवार को छह घड़ी रात बीतने पर दीक्षित जी को खबर मुख्य (काशिराज) ने समाचार दिया कि रात्रि की दिल्ली की खबर ठीक थी और उन्हें सावधान रहने को कहा। बेचारे बालकृष्ण दीक्षित सपरिवार रामनगर भागे। इस पत्र से यह भी पता लगता है कि काशी के ब्राह्मण भी लड़ाई के समय पानीपत में थे। अब्दाली ने उन्हें क़ैद कर लिया था पर शुजाउद्दौला ने उन्हें छुड़वाया। काशी के पंडित वहाँ क्या कर रहे थे, यह तो ठीक ठीक नहीं मालूम पड़ता पर जीत के लिए पुरश्चरण कर रहे होंगे ऐसा माना जा सकता है। धार्मिक अन्धविश्वासों के कारण मराठों को काफ़ी नुकसान उठाना पड़ा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

शाह आलम की, जो अंग्रेजों से बिहार में हार गये थे, मदद करने के लिए १७६१ के मई में शुजाउद्दौला पुनः बनारस आये। इस बार भी बलवन्त सिंह ने उनसे मुलाक़ात नहीं की केवल नज़र के सवा लाख रुपये भेज दिये। शुजाउद्दौला ने आगे बढ़ कर सराय सैयद राजा में शाह आलम से १९ जून को भेंट की।[२]

१७६४ के आरंभ में शाह आलम को पुनः बिहार पर चढ़ाई करने का मौक़ा मिला। १७६३ के दिसम्बर महीने में नवाब क़ासिम अली खाँ को अंग्रेजों ने बिहार से हरा कर निकाल बाहर किया। इन्होंने शाह आलम से फरवरी १७६४ में इलाहाबाद में मुलाकात की और उन्हें और उनके वज़ीर को क्रमशः दस और सत्रह लाख देकर अपनी मदद पर राज़ी कर लिया। जब बिहार की तरफ शाह आलम और शुजाउद्दौला की फ़ौजें कम्पनी की फ़ौजों से लड़ने के लिए बढ़ रही थीं, उसी समय बलवन्त सिंह ने नवाब के पास हाज़िर होकर उन्हें नज़राना देकर मुलाक़ात हासिल की पर साथ ही इस बात की छिपे छिपे पूरी कोशिश की कि जहाँ तक हो सके नवाब का बनारस शहर में रहना न हो सके। यहाँ तक कि नवाब की फ़ौज को तंग करने के लिए उन्होंने शहर के तमाम चोरों और बदमाशों को लगा दिया और इन बदमाशों ने डेरों में चोरियाँ और दूसरे उत्पात मचाने आरम्भ कर दिये। लाचार होकर शुजाउद्दौला को बनारस से जल्दी कूच करना पड़ा फिर भी लश्कर का पीछा करके बदमाशों ने उसे बहुत दिक़ किया।[३]

जब लड़ाई की इस तरह तैयारियाँ हो रहीं थीं उसी समय ६ मार्च १७६४ को मेजर कारनाक सोन नदी पर हरिहरगंज में अंग्रेजी सेना के अफ़सर नियुक्त हुए। ब्रिटिश सेना का हौसला बढ़ा हुआ था पर उनके लिए रसद पहुंचने का सवाल था क्योंकि बलवन्त सिंह

[१] वा० बा० दीक्षित, उल्लिखित, पृ० ९९

[२] सरकार, फॉल ऑफ दि मुगल एंपायर, भाग २, पृ० ५४३

[३] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० १३

ने भोजपुर और करमनासा के उस पार के प्रदेश की सफ़ाई करके गाजीपुर को भी बरबाद कर दिया था।[१] सेना की रसद का पटना से प्रबन्ध करके अंग्रेज १२ मार्च को हरिहरगंज से बक्सर की ओर रवाना होकर १७ मार्च को वहाँ पहुँच गये। वहाँ पहुँचने पर उन्हें खबर मिली कि बादशाही फ़ौज बनारस में गंगा पर पुल बना कर उतर रही थी। अंग्रेजी फ़ौजों को जब यह खबर मिली कि पुल टूट गया है तो उन्होंने बादशाही फ़ौज पर फ़ौरन धावा बोल देने की ठानी, क्योंकि पुल टूटने से आधी बादशाही फ़ौज तो गंगा पार कर चुकी थी और आधी बनारस में ही रह गयी थी। लेकिन कार्नाक ने ऐसा करने की आज्ञा नहीं दी और मीर जाफ़र भी करमनासा पार करने के इसलिए विरुद्ध थे, क्योंकि उस समय वे बलवन्त सिंह से प्रायः सुलह की शर्तें तय कर चुके थे और उनके अनुसार उन पर कार्नाक के केवल दस्तखत और मुहर भर बाकी थे। बाद में यह पता चला कि अंग्रेजों और मीर जाफ़र को फँसा रखने के लिए यह बलवन्त सिंह की चाल थी।[२]

इस लड़ाई में दो हजार सवारों और पाँच हजार सिपाहियों के साथ बलवन्त सिंह नवाब अवध की मदद पर थे। लेकिन बलवन्त सिंह की चालों से शुजाउद्दौला पहले से ही परिचित थे और इसीलिए उन्होंने लड़ाई के समय बलवन्त सिंह को गंगा के दक्षिण गाजीपुर के महमदाबाद परगने में फ़ौज लेकर हाजिर रहने का हुक्म दिया।[३] पर बिहार के नायब दीवान राजा ख्याली राम का राजा शिताबराय के नाम एक पत्र से पता लगता है कि बलवन्त सिंह बीमारी का बहाना करके युद्ध में शामिल नहीं हुए। वे केवल अपने कारबारी नूरुल् हसन के मार्फ़त चुपके चुपके उनकी जीत के बाद बनारस, आजमगढ़, गाजीपुर और कुंडा का बन्दोबस्त अपने नाम करा लेना चाहते थे।[४]

काउन्सिल की आज्ञा मिलने के बाद भी कार्नाक ने लड़ाई नहीं आरम्भ की और खुद पटना चले गये। मई में शुजाउद्दौला को अंग्रेजी फ़ौज ने मात भी दी पर भागती फ़ौज का पीछा नहीं किया गया। जून १७६४ में कार्नाक वापस बुला लिये गये और उनकी जगह मेजर हेक्टर मुनरो की नियुक्ति हुई और १३ अगस्त को उन्होंने अपनी कमान संभाल ली। अक्टूबर में मुनरो एक हलकी फौज के साथ करमनासा की तरफ बढ़े।

इधर शुजाउद्दौला के पड़ाव में गड़बड़ी पड़ गयी। शाह आलम इस लड़ाई झगड़े से तंग आकर अंग्रेजों के साथ सुलह के पक्ष में थे। नवाब मीर क़ासिम की तो और दुर्गत थी। शुजाउद्दौला ने उन पर धोखेबाजी का अभियोग लगा कर उन्हें क़ैद करके उनके जवाहरात जब्त कर लिये। २२ अक्टूबर को यानी बक्सर की लड़ाई के एक दिन पहले उन्हें कैद से छोड़ा गया और वे फ़ौरन रुहेलखण्ड की ओर भागे। बहुत तकलीफ़ें

---

[१] आर्थर ब्रूक, हिस्ट्री ऑफ दि राइज़ ऑफ दि बेंगाल आर्मी, भाग १, पृ० ४२८, लंडन १८५०

[२] आर्थर ब्रुक, वही, भाग १, पृ० ४८४

[३] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० १३-१४

[४] केलेंडर ऑफ पर्शियन कोरेसपोंडेंस, भाग १, २४५९

उठाने के बाद वे नवाब नजीबुद्दौला के पेंशनयाफ़्ता हो गये। फिर बड़ी ग़रीबी की हालत में ६ जून १७७७ को उनकी दिल्ली में मृत्यु हो गयी।

२४ अक्टूबर १७६४ को बक्सर की लड़ाई हुई जिसमें शुजाउद्दौला की हार हुई। २५ तारीख को मेजर फ्लेचर को, शुजाउद्दौला की भागती फौज पर, जो गाजीपुर से गंगा पार कर रही थी, आक्रमण करने का हुक्म मिला। लेकिन फ्लेचर के आगे बढ़ने के पहले ही यह खबर मिली कि शुजाउद्दौला की फ़ौज गंगा पार कर गयी थी। २७ अक्टूबर को पूरी अंग्रेजी सेना बनारस की ओर चल पड़ी। २९ अक्टूबर को हुक्म जारी हुआ कि सिपाही अपनी लाइन के बाहर न जायें। लुटेरों को कड़े दंड का आदेश भी दिया गया।[1] ३० तारीख को हुक्म जारी हुआ कि लुटेरों को मृत्युदंड दिया जायगा। पर इन सब हुक्मों के होते हुए भी कुछ लूट हुई और उसके लिये एक नान-कमिशन अफसर फाँसी पर भी लटका दिया गया। ५ नवम्बर को अंग्रेजी सेना गोमती पर पुल डाल कर उतर गयी और ८ नवम्बर को उसने बनारस शहर के पास पड़ाव डाल दिया। मेजर मुनरो ने हुक्म जारी किया कि सेना का कोई भी आदमी शहर के न तो अन्दर जाय न पड़ाव की सीमा के बाहर ही निकले। इस आज्ञा को न मानने वालों के लिये कठिन दण्ड का आदेश था और लुटेरों को तो फौरन फाँसी पर लटका देने की आज्ञा थी। दूसरे दिन बनारस के प्रधान नागरिकों और महाजनों से, शहर की रक्षा के लिये चार लाख रुपये जो अंग्रेजों की समझ में अधिक नहीं थे, वसूले गये। जान पड़ता है यह रुपया महाजनों ने केवल अपनी टेंट से नहीं अदा किया, बनारस के नागरिकों से वह वसूला गया। धोंडो खंडेराव के ३-१-१७६६ के पत्र से पता लगता है[2] कि उस समय ब्राह्मणों तक से जबर्दस्ती रुपया वसूला गया। शहर की रक्षा के लिये अंग्रेजी फ़ौज की एक कम्पनी भी शहर में तैनात कर दी गयी, जिसका पहरा हर अड़तालीस घंटे में बदला जाता था।

शाह आलम अंग्रेजों से संधि के लिए उत्सुक थे और वे अंग्रेजी सेना के पीछे पीछे बनारस आ पहुँचे। कलकत्ते से हुक्म मिलने पर मुनरो ने १९ नवम्बर को उनसे भेंट की।

बनारस से मेजर मुनरो ने मेजर पेंबल की कमान में एक दस्ता चुनार भेजा, लेकिन क़िलेदार मुहम्मद बशीर खाँ ने उसका बहादुरी से मुकाबला किया। कुछ अंग्रेजी सेना नदी के रास्ते चुनार के पास नदी के दाहिने किनारे पर उतर गयी और ३ दिसम्बर को वहाँ कुछ सिपाही भी उनसे आ मिले। ५ दिसम्बर को मेजर मुनरो मुख्य सेना के साथ नदी के किनारे किनारे चलते हुए चुनार के किले के ठीक सामने आ पहुँचे पर दो धावों के बाद भी किले के रक्षकों ने उन्हें पीछे ढकेल दिया।[3]

इसी समय मेजर मुनरो को खबर मिली कि दुश्मन की फौज इकट्ठी हो रही है। यह सुनते ही उन्होंने नदी के उस पार से अपने अधिकतर सिपाही वापस बुला लिये।

---

[1] आर्थर ब्रुक, उल्लिखित, भाग १, पृ० ४८४–८५

[2] पेशवा दफ्तर, २९, ११०

[3] आर्थर ब्रुक, उल्लिखित, भाग १, पृ० ४८८

इस डर से कि कहीं शत्रु घूम कर बनारस पर धावा न कर दे मेजर मुनरो ने अपना डेरा उठा दिया और ७ दिसम्बर को बनारस वापस चले आये और वहाँ शहर पनाह के बाहर अंग्रेजी फ़ौज ने अपनी नयी जगहें सँभाल लीं। शहर पर धावा होने पर लड़ाई की तरतीब फ़ौज को समझा दी गयी और सिपाहियों के कुछ दस्तों ने जिनके बीच बीच में तोपखाने थे अपनी उन जगहों पर पड़ाव डाल दिये, जहाँ लड़ाई के समय उनके स्थान निश्चित थे। १० दिसम्बर को मुनरो ने अपना पड़ाव एक सुविधा की जगह में बदल दिया। एक सबाल्ट्रन के अधीन सिपाहियों की पाँच कम्पनियाँ एक ऊँची जगह पर रख दी गयीं, और सिपाहियों की एक कम्पनी अगली लाइन से कुछ दूर एक क़िलेबन्दी किये हुए घर में रख दी गयी। सिपाहियों की कुछ टुकड़ियाँ आस पास महत्त्वपूर्ण स्थानों में फैला दी गयीं। पड़ाव के चारों ओर खूटों का बाड़ा डाल दिया गया और उनमें दोहरे सन्तरियों का पहरा लगा दिया गया। कैप्टन डॉड की बटालियन का पहरा शाह आलम के डेरे पर लगा दिया गया। इस तरह अंग्रेजों ने बनारस की लड़ाई की पूरी तैयारी कर ली।[1]

चारों तरफ अफवाहें उड़ रही थी कि शुजाउद्दौला का हमला होने ही वाला था। उधर कलकत्ते की काउन्सिल शुजाउद्दौला के साथ बाइज्ज़त समझौता चाहती थी। शुजा की भी इच्छा सुलह कर लेने की थी इसीलिए मुनरो के बनारस वापिस आते ही शुजा ने अपने दीवान बेनी बहादुर को मुनरो के पास सुलह के लिये भेजा। मुनरो ने बेनी बहादुर के सामने पहली शर्त यह रखी कि सुलह की बात आरम्भ होने के पहले शुजाउद्दौला मीर क़ासिम और समरू को अंग्रेजों के सुपुर्द कर दें। पर शुजाउद्दौला ने इस शर्त को नहीं माना, गो कि वे लड़ाई के खर्च के २५ लाख अंग्रेजों को, २५ लाख अंग्रेजी सेना में बाँटने को और यदि मुनरो किसी प्रकार सुलह करा सकते तो उन्हें भी ८ लाख भेंट करने पर राजी थे।[2] लेकिन मुनरो अपनी पहली मांग से नहीं डिगे। इसी बीच में जब गरीब मीर क़ासिम ने यह खबर सुनी तो वह फ़ौरन इलाहाबाद के आगे भागे। समरू के बारे में शुजाउद्दौला ने मुनरो को सूचना दिलवा दी कि वे समरू को एक दो अंग्रेज अफसरों के सामने मरवा डालने के लिये तैयार थे। पर इस प्रस्ताव को भी अंग्रेजों ने बड़ी घृणा के साथ ठुकरा दिया।

इस तरह सुलह की सब आशाएँ समाप्त हो जाने पर शुजाउद्दौला लड़ाई की तैयारी करने लगे और उन्होंने इस सम्बन्ध में रोहिल्लों और मल्हार राव से कुछ शर्तें तय करली। इस तरह नयी फ़ौज और नये मित्रों के सहारे वे आगे बढ़े और बनारस के पास आ पहुँचे।

इसी बीच मुनरो छुट्टी पर चले गये और ७ जनवरी १७६५ को उनकी कमान सर रॉबर्ट फ्लेचर ने सँभाल ली। कलकत्ता में मुनरो की कारनाक से, जो अब जेनरल हो गये थे, मुलाक़ात हुई और मुनरो ने उनसे भावी लड़ाई के बारे में अपना इरादा बता दिया।

---

[1] आर्थर ब्रूक, वही, पृ० ४९१

[2] वही, पृ० ४९२

जैसा हम कह आये हैं फ्लेचर ने बनारस के फ़ौज की कमान सँभाल ली और वे शुजाउद्दौला के हमले की प्रतीक्षा में कुछ दिनों तक रुके रहे, लेकिन शुजाउद्दौला हमला करने के बजाय अंग्रेजी पड़ाव पर छोटे मोटे छापे मारते रहे। पटने से कुछ नयी फ़ौज आ जाने पर फ्लेचर ने १४ जनवरी को अपनी फ़ौज को कूंच की आज्ञा दी। फ्लेचर का इरादा एकाएक धावा बोल देने का था लेकिन उसे यह इरादा छोड़ देना पड़ा और सारी रात चलती हुई फ़ौज ने सबेरे शिवपुर में डेरा डाल दिया। यहाँ फिर शुजाउद्दौला के कावेमार दस्तों ने अंग्रेजी सेना को सताना शुरू किया। अब सर रॉबर्ट फ्लेचर ने शत्रु का पीछा करने का इरादा पक्का कर लिया। शिवपुर में फ्लेचर ने रसद के लिए एक बड़ी बाजार लगवा दी पर कोतवालों को इस बात का सख्त हुक्म दे दिया कि सिवाय पड़ाव वालों और सिपाहियों को छोड़कर गल्ला किसी के हाथ बेंचा न जाय। १८ जनवरी को फ्लेचर की सेना शुजाउद्दौला के पड़ाव में जा धमकी और थोड़ी देर की गोलंदाज़ी के बाद ही शुजाउद्दौला को हार खानी पड़ी। कुछ ही दिनों बाद चुनार का किला भी अंग्रेजों के हाथ लग गया। शुजा के साथ अंग्रेजों की यह अन्तिम लड़ाई थी।

युद्ध समाप्त हो जाने के बाद स्पेंसर का तीन फ़रीक़ों—शाहआलम, शुजा-उद्दौला, और बलवन्त सिंह से साबिक़ा पड़ा। स्पेंसर शुजाउद्दौला से बहुत नाराज़ थे। और उन्होंने उनसे बनारस और उसके अधिकार में और जिलों को ले लेने का पक्का इरादा कर लिया था लेकिन साथ ही साथ शुजाउद्दौला के साथ की हुई शर्तों के अनुसार बनारस के इन्तज़ाम के लिए रख लेना मंजूर कर लिया। लेकिन स्पेंसर के अपने इरादे को अमल में लाने के पहले ही लार्ड क्लाइव भारत आ पहुँचे और उन्होंने इलाहाबाद के संधिपत्र पर १७ अगस्त को दस्तख़त कर दिये। इस संबंध में लार्ड क्लाइव की सवारी पहली अगस्त को बनारस पहुँची, और उन्होंने बनारस के रीजेंट मेरियट के पास डेरा डाल दिया। यहाँ अंग्रेजी अफ़सरों ने भी एक नये शर्तनामे पर दस्तख़त किये तथा इलाहाबाद के सन्धि पत्र की शर्तों पर भी कुछ बहस मुबाहसा हुआ। सेलेक्ट कमिटी के आदेशानुसार क्लाइव ने शुजा को चुनार के क़िले के सिवा उनकी सब रियासत लौटा देने का निश्चय किया। शाह आलम को इलाहाबाद और कोड़ा दे देने का निश्चय किया गया। बलवन्त सिंह ने अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर ली, अतः उन्हें अंग्रेजों ने अपनी छत्रछाया में लेने का निश्चय किया और उन्हें नवाब वज़ीर की अधीनता में बनारस और गाजीपुर की ज़मींदारी पहले की ही शर्त पर रख लेने की आज्ञा मिली।[1] इलाहाबाद से नवाब वज़ीर के साथ क्लाइव २३ अगस्त को बनारस लौटे। उनके साथ कार्नाक भी थे। यहाँ ठहर कर उन्होंने अंग्रेजी सेना का नये सिरे से संगठन किया।[2]

इलाहाबाद के सन्धिपत्र पर दस्तख़त होने के पहले कुछ महीनों तक बनारस बलवन्त सिंह और कम्पनी के रेसिडेंट मेरियट के प्रबंध में रहा और इस अवसर पर खूब अंधाधुंधी

---

[1] आर्थर ब्रूक, वही, भाग १, पृ० ५३०

[2] आर्थर ब्रूक, वही, भाग १, पृ० ५३३–३४

चलती रही। स्पेंसर से बनारस का पट्टा अपने नाम लिखवाने में बलवन्त सिंह ने कम्पनी के अफ़सरों को आठ लाख रुपये घूस के दिये थे। बलवन्त सिंह जाबिर आदमी थे, मामला सुलझते देख कर उन्होंने बनारस के मुसलमानों की माफ़ी ज़मीन पर कब्जा कर लिया। इस पर बहुत से लोगों ने खैरात देवस्व और मोशाहरे के लिए मिली हुई ज़मीनों के लिए राजा पर मेरियट के पास नालिश की और उन्होंने नौ हजार एक सौ दो रुपये चौदह आना सालाना मिलकियत की जायदाद में तीन सौ तेइस हकदारों के नाम लिख कर उन्हें बलवन्त सिंह से उनका हक़ दिलवाया। जब तक मेरियट बनारस में रहे तब तक तो वे अपना हक़ पाते रहे पर उनके जाते ही उनमें से बहुतों का हक़ बलवन्त सिंह ने ज़ब्त कर लिया।[1]

१७६७ में क्लाइव के इंगलैंड वापस चले जाने पर उनकी जगह जान कार्टियर गवर्नर जेनरल नियुक्त हुए। शुजाउद्दौला बलवन्त सिंह पर अत्यन्त क्रुद्ध थे, इसलिए जब नये गवर्नर जेनरल प्रधान सेनापति सर हेक्टर मुनरो के साथ बनारस आये तब शुजाउद्दौला ने उनसे मिलकर उन्हें बलवन्त सिंह को निकाल बाहर करवाने पर दस लाख रुपये देने का वादा किया। कार्टियर लालच में आकर इस बात पर राजी हो गये।

अपनी इस कामयाबी पर प्रसन्न होकर शुजाउद्दौला ने अपने तोपखाने के सरदार को हुक्म दिया कि जब बलवंत सिंह सलाम करने आवें तो वह उन्हें उनके आदमियों के सहित गिरफ़्तार करके नवाब के सामने लावे। जब बलवंत सिंह नवाब को सलाम करने आये तो उन्हें नवाब के आदमियों के बरताव से कुछ संदेह हुआ और उन्होंने अपने आदमियों को सिखला दिया कि अगर नवाब के आदमी उन्हें गिरफ़्तार करना चाहें तो वे झूठा गुलगपाड़ा खड़ा करके उन्हें पकड़ कर ले भागें। नवाब के खेमे के पास जब बलवंत सिंह पहुँचे तो वहां एक चोबदार ने उनकी तलवार रखवा लेनी चाही। फ़ौरन ही राजा के आदमियों ने निश्चित संकेत के अनुसार उन्हें घेर लिया और तुरत उन्हें पालकी में बैठाकर गवर्नर जेनरल के खेमे की ओर ले गये। अपने मनसूबे को इस तरह बिगड़ते देखकर शुजाउद्दौला अपने आदमियों पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्हें सजा देकर फ़ौरन एक हाथी पर सवार होकर गवर्नर जेनरल के खेमे की ओर दौड़े लेकिन उनके पहले ही बलवन्त सिंह वहाँ पहुँच चुके थे। गवर्नर जेनरल के पैरों पर गिर उनसे उन्होंने यह कहा कि उनकी कम्पनी सरकार के प्रति वफ़ादारी के कारण नवाब बलवन्त सिंह से शत्रुता थी। उसी समय नवाब भी वहाँ पहुँच गये और उन्होंने अपने रैयत बलवन्त सिंह को गवर्नर जेनरल से माँगा। लाट साहब बड़ी मुश्किल में पड़े और उन्होंने सर हेक्टर मुनरो से बलवन्त सिंह को हटा ले जाने को कहा। राजा बलवन्त सिंह ने अपने बचाव के लिए दस लाख कार्टियर को और एक लाख मुनरो को देने का वादा किया। इस पर कार्टियर ने नवाब को समझाया कि लार्ड क्लाइव की इलाहाबाद वाली सन्धि को अन्यथा करना उनके बस की बात नहीं थी। इस तरह बलवन्त सिंह ने फिर एक बार

[1] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० १४

विकट परिस्थिति से छुटकारा पाया। कार्टियर को तो बलवन्त सिंह ने यों ही टरकाया। लेकिन मुनरो के एक लाख रुपये बाद में सर आयर कूट ने चेतसिंह से वसूल किया।[1]

वृद्धावस्था में नाना प्रकार के दुर्व्यसनों के कारण बलवन्त सिंह का शरीर शिथिल हो गया। उन्होंने अपनी ताक़त बढ़ाने के लिए अनेक औषधियाँ खानी शुरू कीं पर उनका स्वास्थ्य बराबर गिरता ही गया। अन्त में तो दुर्बलता इतनी बढ़ी कि वे अपना राजकाज देखने में असमर्थ हो गये। परगनों की रैयत बिगड़ने लगी और जौनपुर में एक बड़ा बलवा शुरू हो गया। उस बलवे को दबाने के लिए बलवन्त सिंह अपनी फ़ौज के साथ आगे बढ़े पर रास्ते में उनकी बीमारी बढ़ी और रामनगर लौटते समय २१ अगस्त १७७० को बीच रास्ते में ही उनकी मृत्यु हो गयी।

बलवन्त सिंह में चरित्र की अनेक कमज़ोरियाँ दीख पड़ती हैं। वे किसी के बहुत दिनों तक वफ़ादार नहीं रहे और जब उन्होंने वफ़ादारी की भी तो अपने स्वार्थ साधन के लिए। लूटपाट और ज़बर्दस्ती में भी वे किसी के पीछे नहीं थे। पर जब हम उनकी इन चारित्रिक कमज़ोरियों की ओर ध्यान देते हैं तब हमें १८वीं सदी की अराजकता को दृष्टि में रखना पड़ेगा। दग़ाफ़रेब न करने वाले की उस समय पूरी मौत थी। अगर बलवन्त सिंह अपने को हर समय चौकन्ना न रखते तो सफ़दर जंग और शुजाउद्दौला ने उन्हें कभी का साफ़ कर दिया होता। उन्होंने "मार के टर रहे" वाली भोजपुरी कहावत का आदर्श बराबर अपने सामने रक्खा। जब वे विपत्तियों से अपने को घिरा पाते थे फ़ौरन ही पहाड़ों में जा भागते थे और शत्रु के लाख सर पीटने पर भी वे तब तक नहीं लौटते थे जब तक बिचारा शत्रु घबरा कर खुद ही उनकी बात न मान ले। मराठों से तो पहले उनकी कुछ अनबन थी पर बाद में मराठों ने भी यह बात पूरी तरह से समझ लिया कि त्रिस्थली अर्थात् बनारस, प्रयाग और गया दखल करने में अगर कोई उनकी मदद कर सकता था तो बलवन्त सिंह। जैसा कि तत्कालीन पत्रों से पता लगता है बलवन्त सिंह मराठों की मदद की बराबर लुके छिपे बात चलाते रहते थे, पर कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि वे उनकी खुलकर सहायता कर सकते।

बलवन्त सिंह के समय में भी बनारस की शासन व्यवस्था अच्छी नहीं थी और लोगों पर अनेक करों के बोझ लदे रहते थे। गुंडों, बदमाशों और गंगापुत्रों के उपद्रव भी बराबर चलते रहते थे, पर इतना सब होते हुए भी बलवन्त सिंह को काशी प्यारी थी। अहमद शाह बंगश और बाद में अंग्रेजों को रुपये दिलवा कर उन्होंने काशी को लुटने और सत्यनाश होने से बचाया। अगर बलवन्त सिंह अपनी बागडोर ढीली कर देते तो उस अराजकता के युग में काशी की बड़ी हानि होती।

बलवन्त सिंह केवल राजनीतिज्ञ और सिपाही ही नहीं थे, वे अच्छे विद्याव्यसनी और कला-प्रेमी भी थे। खिड़की घाट और राम नगर का किला उनके कला प्रेम के प्रतीक हैं। बलवन्त सिंह स्वयं ब्रजभाषा के कवि थे। उन्होंने चित्रचंद्रिका नाम का एक ग्रन्थ भी लिखा है। इनका उपनाम काशिराज था।

[1] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० १५–१६

५. चेत सिंह

राजा बलवंत सिंह को कोई पुत्र न था विवाहिता रानी गुलाब कुँवर से सिर्फ़ एक कन्या थी जो तिरहुत में सिरसा के ज़मींदार दुर्विजय सिंह से ब्याही थी। बलवंत सिंह ने दुर्विजय सिंह के नाम महाइच का परगना कर दिया था। दुर्विजय सिंह को महीपनारायण नाम का एक पुत्र भी था। बलवन्त सिंह की रखेलिन पन्ना से दो पुत्र थे जिनमें एक का नाम चेत सिंह और दूसरे का नाम सुजान सिंह था। लेकिन इन दोनों का वेश्या पुत्र होने के कारण राज्य पर कोई अधिकार नहीं था। राजा बलवन्त सिंह अपने भतीजे मनियार सिंह को बहुत मानते थे और उन्होंने उन्हें अपने पास रामनगर में रखकर विद्याभ्यास करवाया था। अपने पीछे मनियार सिंह को ही गद्दी देने का उन्होंने विचार प्रकट किया था और उनके जीते जी भी वह उनकी अनुमति से राजकाज चलाते थे। ये तीनों ही अर्थात् मनियार सिंह, महीपनारायण और चेत सिंह अपने को बलवन्त सिंह का उत्तराधिकारी समझते थे, लेकिन क़ानूनन राज्य के अधिकारी मनियार सिंह थे और वे ही राजा की क्रियाकर्म करने के अधिकारी थे।

महीपनारायण के पिता दुर्विजय सिंह और चेत सिंह अपनी अपनी घात में लगे थे, पर मनियार सिंह को इसका पता था और वे निश्चित होकर अपने को राज्य का उत्तराधिकारी समझे बैठे थे। उन्हें इस बात की खबर तक नहीं थी कि औसान सिंह चेत सिंह से मिले हुए थे और उन्होंने उन्हें गद्दी पर बैठाने के लिए नवाब वज़ीर को बाईस लाख रुपया गद्दीनशीनी के लिये और मालगुज़ारी में ढाई लाख इज़ाफ़ा के स्वीकार कर लिये थे। उन्होंने गवर्नर जेनरल वारेन हेस्टिंग्स को भी मिलाने के लिए कलकत्ता आदमी भेजे थे और प्रतापगढ़ के राजा की कन्या से चेत सिंह का विवाह भी ठीक कर लिया था। जिस समय मनियार सिंह बलवन्त सिंह की क्रिया के लिए मणिकर्णिका घाट गये हुए थे, उसी समय औसान सिंह ने रामनगर के किले पर अपना पहरा बैठाकर और फ़ौजी सरदारों को मिलाकर खज़ाना दखल कर लिया। चेतसिंह गद्दी पर बैठा दिये गये। तोपों की सलामी हुई और सब लोग उन्हें नज़र देने लगे। जब मणिकर्णिका घाट पर मनियार सिंह को यह खबर लगी तो वे अपनी जान बचाने के लिए नैपाल के एक गांव में भागे।

इस तरह से चेत सिंह गद्दी पर बैठे और औसान सिंह उनके दीवान नियुक्त हुए। अवध के नवाब वज़ीर यह समाचार सुनकर फैजाबाद से बनारस रवाना हुए। चेतसिंह उनकी पेशवाई में जौनपुर पहुँचे तथा नवाब से मिलकर उनकी काफ़ी खुशामद की। नवाब खुश होकर बनारस पहुँचे और वहां कुछ दिनों तक रहकर चेतसिंह के साथ रामनगर गये। वहाँ सवा लाख रुपया बिछवाकर चेत सिंह ने नवाब की मसनद लगवायी और उनके आदमियों को भी कुछ देकर प्रसन्न किया। खुद नवाब के सामने पैंतालीस तरह की पोशाकें, दो किश्ती जवाहरात, पन्द्रह बहुत अच्छे घोड़े, और पांच हाथी नजर में पेश किये। चेत सिंह ने खुशामद के मारे अपने तमाम इलाक़ों और असबाबों की फ़िहरिस्त हाथ जोड़कर नवाब के पैरों में रख दी। इस पर नवाब बहुत खुश हुए और अपने पुत्र आसफ़उद्दौला से राजा चेत सिंह की पगड़ी बदलवा कर दोनों में भाई-चारे का संबंध स्थापित करवा दिया।

नवाब वज़ीर को मदद देने के संबंध में बातचीत करने के लिये वारेन हेस्टिंग्स ने १७७३ में बनारस में एक सम्मेलन किया। राजा चेत सिंह ने जैसे ही हेस्टिंग्स की अवाई का समाचार सुना उनकी पेशवाई के लिए सैदपुर पहुँचे। उसी समय नवाब वज़ीर भी लखनऊ से बनारस के लिये जौनपुर पहुँचे। उन्होंने जब चेत सिंह की यह हरकत सुनी तो इसलिए बहुत नाराज़ हुए कि राजा ने वारेन हेस्टिंग्स की तुलना में उनकी अवहेलना की। जब नवाब के प्रधान सलाहकार एलिच खाँ ने यह हाल चाल देखा तो उन्होंने फौरन ही अपने दोस्त चेत सिंह के पास सांड़नी सवार से खबर भेजी। खबर पाते ही चेत सिंह ने हेस्टिंग्स से रुखसत ली और घोड़े भगाते हुए, शिवपुर आ पहुँचे। उसी समय नवाब की सवारी बनारस के लिए वहाँ पहुँची थी। फ़ौरन घोड़े से उतर कर चेत सिंह नज़र के लिये एक तोड़ा अशर्फ़ी लेकर नवाब वज़ीर के हाथी के पास दौड़े गये। पर नवाब ने मारे गुस्से के उनकी तरफ निगाह भी नहीं उठायी और चेत सिंह बहुत दूर तक हाथ में तोड़ा लिये हाथी के साथ साथ दौड़ते रहे। अंत में एलिच खाँ के कहने पर नवाब ने हाथी रुकवा कर उनकी नजर क़बूल की।

बनारस के सम्मेलन में बहुत सी बातें तय हुईं। ५० लाख पर कोर्ड़ा और इलाहाबाद नवाब वज़ीर के सुपुर्द हुए और चेत सिंह को गाजीपुर की ज़मींदारी की सनद उन्हीं शर्तों पर, जो उनके पिता बलवन्त सिंह के लिए थी, दी गयी। वारेन हेस्टिंग्स ने चेत सिंह से बंगाल से मिर्जापुर जाने वाली वस्तुओं पर समान भाव से चुंगी की निर्ख तय की। इस संबंध में कंपनी के गोदाम से बिकने वाले अलपाका (ब्रॉडक्लाथ) तांबा और सीसा पर किसी तरह की चुंगी न लेने का भी निश्चय हुआ।[1]

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, नवाब वज़ीर का क्रोध शांत करने के लिए चेत सिंह ने कोशिश की और इसमें एलिच खाँ ने उनकी मदद भी की पर नवाब का क्रोध कम न हुआ और वे चेतसिंह को हटाने की ब्योंत बाँधने लगे। सितंबर १७७३ में जब नवाब की मुलाक़ात के लिए हेस्टिंग्स लखनऊ आये तो नवाब ने उन पर चेत सिंह के सब इलाक़ों को छीन लेने का मंसूबा प्रकट किया। इस पर हेस्टिंग्स नाराज़ हुए और उन्होंने नवाब को उन इलाकों की सनद चेत सिंह को दे देने के लिए समझाया। इसके पहले चेत सिंह को नवाब से कोई सनद नहीं मिली थी, वे उन्हें बाईस लाख अड़तालीस हजार चार सौ उंचास रुपये केवल मालगुज़ारी के देते थे और इलाकों पर उनका कोई कायमी दावा न था। नवाब जब चाहते उन्हें निकाल बाहर कर सकते थे। पहले तो नवाब ने सनद देने में आनाकानी की, बाद में दबाव पड़ने पर मुर्क़रिरी मालगुज़ारी पर दस लाख रुपये बढ़ाकर और लतीफ़गढ़ और विजयगढ़ के किलों को छोड़ कर शेष के लिए सनद देना चाहा। पर हेस्टिंग्स के समझाने पर उनकी खातिर से नवाब ने राजा को मुर्क़रिरी माल गुज़ारी की एक इस्तमरारी सनद दिया।[2]

---

[1] ग्लाइग, जी० आर०, वारेन हेस्टिंग्स, १, पृ० ३५४, लंडन, १८४०–४१

[2] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० २०

सन् १७७४ में नवाब शुजाउद्दौला की मृत्यु हो गयी और उनके पुत्र आसफ़उद्दौला अवध के नवाब वज़ीर हुए। उसी समय उनका ईस्ट इंडिया कंपनी से नया बन्दोबस्त हुआ जिसके अनुसार कम्पनी राजा चेत सिंह के सब इलाक़ों की मालिक हुई और राजा के साथ नवाब का कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। इस तरह राजा चेत सिंह के सब इलाक़ों के कम्पनी के अधिकार में आने पर गवर्नर जेनरल की काउन्सिल में बड़ा वाद विवाद हुआ। हेस्टिंग्स ने राजा चेत सिंह के साथ ज़मीदारी के एक निरूपित मालगुज़ारी पर इस्तमरारी बन्दोबस्त की राय दी साथ ही इस बात की सिफ़ारिश की कि चेत सिंह को उनके तमाम इलाकों में पूरे अख्तियार दे दिये जावें जिससे पीछे कोई उनके प्रबन्ध में दस्तन्दाज़ी न कर सके। उन्होंने रेज़िडेण्ट की नियुक्ति का भी विरोध किया क्योंकि रेज़िडेण्ट के नियुक्त होने से राजकाज में दस्तन्दाज़ी होना ज़रूरी था और उन दोनों के झगड़ों का काउंसिल को बराबर फ़ैसला करना पड़ता। यह भी निश्चित हुआ कि यदि काउंसिल के फ़ैसले राजा के विरुद्ध होंगे और इस तरह वह पुनः ज़मीदार के ज़मीदार रह जायँगे। उन्होंने यह सुझाव भी रक्खा कि राजा अपनी मालगुज़ारी पटना में अदा करें।[1]

बारवेल ने, जो काउंसिल के एक सभासद थे, अपनी राय दी कि चेत सिंह की सब मालगुज़ारी माफ़ करके उन्हें स्वतंत्र राजा बना देना चाहिए क्योंकि इस तरह बनारस और गाजीपुर के इलाके कम्पनी के इलाकों के बीच दीवाल का काम करेंगे और नवाब वज़ीर से अगर कभी कम्पनी का झगड़ा हुआ तो उस समय चेत सिंह से मदद मिल सकेगी। उनकी राय में ऐसा प्रबन्ध उचित था जिसके द्वारा कम्पनी की भलाई में राजा अपनी भलाई समझे। अगर उनसे मालगुज़ारी वसूली गयी तो आपत्ति आने पर अपनी माल-गुज़ारी से छुटकारा पाने के लिये वे कम्पनी के विपक्ष में काम करेंगे।

काउंसिल के एक दूसरे सभासद फ्रांसिस की यह राय थी कि राजा चेत सिंह के साथ इस्तमरारी बन्दोबस्त करके उनको अपने इलाक़ों पर अधिकार दिया जावे। उन्होंने गद्दीनशीनी की फ़ीस की एक निर्ख निश्चित कर देने की भी सलाह दी जो चेत सिंह के वंशधरों पर समान रूप से लागू हो।

लेकिन इन सदस्यों की राय के अनुसार उस समय राजा चेतसिंह को सनद नहीं दी गयी, पीछे १५ अप्रैल १७७६ को उन्हें ईस्ट इंडिया कम्पनी के पास से एक पट्टा मिला जिसमें कोई ऐसी शर्त नहीं थी जिससे निश्चित मालगुज़ारी कभी बढ़ाई न जा सके। इस सनद के बाद फ्रांसिस फ़ोक बनारस के एजेंट नियुक्त हुए। इनके समय में जौनपुर में एक हिंदू-मुस्लिम दंगा हुआ। इस अवसर से लाभ उठाकर चेत सिंह ने जौनपुर शहर पर दखल कर लिया।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, चेतसिंह दासीपुत्र थे और इसीलिये अपनी जाति के साथ वे भोजन नहीं कर सकते थे यद्यपि उनकी जाति में मिल जाने की इच्छा थी। संयोग

---

[1] सन् १७७५ ई० के जून महीने की १२ ता० की गवर्नर जेनरल की कौंसिल की कारवाई।

से उनके भाई सुजान सिंह की स्त्री की मृत्यु हो गयी और इस अवसर पर उन्होंने भूमिहारों को न्योता दिया। भूमिहार बिरादरी के लोग इस बात पर राजी हो गये कि औसान सिंह राजा के साथ भोजन करना स्वीकार करें तो सब भूमिहार उसके लिए तैयार थे। पर ऐन मौक़े पर औसान सिंह बीमारी का बहाना करके अपने घर भागे और वहां से इलाहाबाद खिसक गये। रास्ते में उनकी मनियार सिंह से मुलाक़ात हो गयी। फिर दोनों साथ साथ सुलतानपुर आये, पर वहां वे नवाब की आज्ञा से रहने नहीं पाये। जब औसान सिंह को कहीं आश्रय नहीं मिला तो वे मुर्शिदाबाद भागे और मनियार सिंह छिपकर बनारस के पास ही रहने लगे।

अपनी जाति के इस अपमान से चेत सिंह बहुत दुःखी हुए। उनके छत्रिय नौकरों ने उन्हें अपनी जाति में मिलाने का आग्रह किया। भुईंहार इससे बहुत घबराए और यह समाचार मनियार सिंह को दिया गया। मनियार सिंह ने देखा कि अब बाजी हाथ से जाने वाली ही थी इसलिये फ़ौरन उन्होंने चेतसिंह के यहां भोजन करना स्वीकार कर लिया और मनियार सिंह और चेत सिंह ने साथ बैठकर भोजन किया और दोनों में मेल हो गया। पर औसान सिंह का व्यवहार चेत सिंह न भूले। उन्हें जब यह पता चला कि मुर्शिदाबाद में औसान सिंह वारेन हेंटिंग्स से उनकी शिकायत कर रहे थे, तो उन्होंने रामनगर का उनका घर लुटवा लिया और उनके परिवार को क़ैद कर लिया।

इसी समय हेस्टिंग्स और फ्रांसिस, क्लेवरिंग और मोनसन में काफ़ी वैमनस्य बढ़ा और इस वैमनस्य की लपेट में बनारस भी आ पड़ा। बनारस के रेज़िडेंट फ़ोक फ्रांसिस के अनुयायी थे और उन्होंने अपने वकीलों द्वारा हेस्टिंग्स के विरुद्ध ऐसा षडयंत्र रचा कि एक समय तो ऐसा मालूम पड़ने लगा कि उनके हाथ से गवर्नरन्जनरली चली जायेगी और सर जान क्लेवरिंग गवर्नर होंगे। चेत सिंह की कमबख्ती आयी और उन्होंने इस अवसर से लाभ उठाने के लिए अपने वकील के मार्फ़त क्लेवरिंग के पास काफ़ी रुपये भेजे।

वारेन हेस्टिंग्स को राजा के इस व्यवहार का पता चल गया और वह उनसे अतिशय कुपित हुआ। मोनसन की मृत्यु के बाद १७७६ में काउंसिल में चार ही सदस्य रह गये और इनमें फ्रांसिस और क्लेवरिंग एक मत थे और हेस्टिंग्स और बारवेल एक मत। पर हेस्टिंग्स को कास्टिंग वोट का अधिकार होने से काउंसिल में उनका पलड़ा भारी पड़ा। हेस्टिंग्स ने इस अवसर का लाभ उठाकर अपने विपक्षियों द्वारा नियुक्त आदमियों को निकाल बाहर किया। इस सफ़ाई में बनारस की एजेंसी से फ़ोक साहब भी निकाल बाहर किये गये और उनकी जगह टॉमस ग्रेहम की नियुक्ति हुई।

इसके थोड़े ही दिनों बाद वारेन हेस्टिंग्स ने औसान सिंह को मुर्शिदाबाद से बनारस वापस भेजा और राजा को उनके गुज़ारे के लिए ५० हज़ार सालाना आमदनी की जागीर देने का हुक्म दिया। ग्रेहम और बारवेल तो उन्हें जौनपुर की जागीरदारी दिलवाना चाहते थे पर चेत सिंह ने इसे नहीं माना। बाद में सलाह मशविरे के बाद औसान सिंह को भीतरी सैदपुर की ज़मींदारी देना निश्चित हुआ। इसकी कुल आमदनी ६५,०००

थी जिसमें ५० हजार औसान सिंह का हिस्सा और १५,००० राजा का हिस्सा तय हुआ।[1] उन्होंने औसान सिंह के परिवार को भी फ़ौरन कारामुक्त करने की आज्ञा दी। राजा को हार कर उनका हुक्म मानना पड़ा। वारेन हेस्टिंग्स का यह सरासर अन्याय था क्योंकि चेत सिंह के नाम कम्पनी के पट्टे की शर्तों के अनुसार कम्पनी को चेत सिंह और उनकी रैयतों के बीच के मामलों में दस्तंदाजी करने का कोई अधिकार न था। जान पड़ता है कि राजा को परीशान और बेइज्जत करने के लिए यह सब औसान सिंह की राय से किया गया। औसान सिंह ने, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, चेत सिंह को गद्दी पर बैठाया। ऐसा करने में उनका ख्याल था कि राजा उनके अनुगत होकर रहेंगे। चेतसिंह के गद्दी पर बैठने के बाद औसान सिंह उनके दीवान हुए और उनको इच्छित अधिकार भी मिले, पर उन्हें हमेशा इस बात का भय बना रहा कि कहीं उनको दीवानी खो न देनी पड़े और इसी भय से उन्होंने बड़े बड़े भूमिहार सरदारों से दुश्मनी मोल ले ली। जब चेत सिंह ने अपने छोटे भाई की स्त्री के श्राद्ध के अवसर पर उन्हें भूमिहारों को न्योता देने को कहा तो उन्हें स्वप्न में भी ऐसी उम्मीद नहीं थी कि भूमिहार उनका न्योता मानेंगे अगर उनको ऐसा भास होता तो वे हरगिज़ न्योता न बाँटते। पर तीर छूट चुका था और अब औसान सिंह के लिये इसके सिवा कोई चारा न रह गया था कि या तो वे राजा के साथ भोजन करें अथवा राजा से सर्वदा के लिये सम्बन्ध विच्छेद कर लें। उन्होंने दूसरा रास्ता पकड़ा। इसमें चेत सिंह का कोई दोष न था। उन्होंने तो औसान सिंह के हाथ में सब राजकाज सौंप दिया था और चेत सिंह के पिता बलवन्त सिंह की दया से ही तो औसान सिंह एक साधारण मजदूर से प्रतिष्ठित व्यक्ति बन सके थे। पर १८वीं सदी में वफ़ादारी नाम की कोई वस्तु नहीं रह गयी थी। सब लोग अपने ही रंग में मस्त रहते थे और औसान सिंह भी उन्हीं में एक थे।

शम्भूनाथ का महाराज मिश्र के नाम, जो कलकत्ते में चेतसिंह के वकील थे और जो थोड़े दिनों के लिये बनारस आ गये थे, ३१ मार्च १७७८ के पत्र[2] से यह पता चलता है कि गवर्नर जेनरल राजा की फ़ौज के लिये एक अफ़सर नियुक्त करना चाहते थे पर फ्रांसिस और फ़ोक के विरोध के कारण वे ऐसा न कर सके। राजा की तरफ़दारी करने की वजह से हेस्टिंग्स फ़ोक और फ्रांसिस से नाराज थे और राजा के वकील हुलासीराम को उन्होंने दरबार में आने से मना कर दिया था क्योंकि उन्हें शक था कि हुलासीराम के द्वारा राजा और फ्रांसिस और फ़ोक में खतकितावत होती थी और ये दोनों राजा को हेस्टिंग्स के विरुद्ध भड़काते थे। फ्रांसिस ओर फ़ोक की पार्टी ह्वीलर के आने से और मजबूत हो गयी थी पर ह्वीलर कुछ रिश्वत चाहते थे और खुले आम गवर्नर जनरल को मुखालिफ़त नहीं करना चाहते थे। गवर्नर जेनरल के कृपा पात्र मुंशी सद्रुद्दीन राजा के सहायक थे।

सन् १७७८ में ईस्ट इंडिया कंपनी को डच, मराठों, फ्रेंच और हैदर की लड़ाइयों के कारण रुपये की बड़ी तंगिश पड़ी। फ़ौज के खर्चे में कमी पड़ रही थी और तक़ादों

[1] केलेंडर……भाग ५, पृ० ८५४

[2] केलेंडर……भाग ५, पृ० ८५४

के मारे हेस्टिंग्स परीशान थे। वारेन हेस्टिंग्स को पता चला कि चेत सिंह के खजाने में दो करोड़ रुपये जमा थे। उसी समय कम्पनी ने अपने मातहत रजवाड़ों से लड़ाई के खर्च में माल मदद लेने का निश्चय किया। इस निश्चय के अनुसार हेस्टिंग्स ने चेत सिंह के जिम्मे तीन पलटन सिपाहियों के खर्च के लिए पाँच लाख रुपया सालाना निश्चित किया।

बनारस के एक समाचार से यह विदित होता है[१] कि १८ जुलाई १७७८ को टॉमस ग्रेहम ने चेत सिंह के पास गवर्नर जेनरल का परवाना दाखिल किया लेकिन राजा ने रुपये देने से इनकार किया। बाद में बख्शी सदानन्द, रामचन्द्र साहु, फ़ैजुल्ला बेग और गुलाम हुसेन खाँ की राय से उन्होंने परवाना स्वीकार किया और अपनी राय बाद में लिखने की इच्छा प्रकट की। बहुत सोच समझ कर राजा ने अपने वकील अली नक़ी को यह लिखा कि पहले तो वे गवर्नर जनरल से पलटन का खर्च बर्दाश्त करने में राजा की असमर्थता प्रकट करें और काउंसिल के बहुमत सदस्यों से भी इस बात का पता चलावें कि इस माँग के बारे में विलायत का क्या मत होगा और अन्त में राजा की पाँच लाख की माँग पर इस शर्त पर स्वीकृति दें कि राजा का भी उससे फ़ायदा हो। इस संबंध में सद्रुद्दीन और राजा नवकृष्ण से भी सलाह करने को कहा गया था। राजा चेत सिंह को कर्नल डॉड का भी एक पत्र मिला जिसमें कहा गया कि अगर जनरल कूट के इंगलैंड से आने तक राजा सब मामले रोक ले सकें तो सब मामला ठीक तरह से तय हो सकता था। कर्नल डॉड ने मुंशी रामसिंह के द्वारा भी कुछ मुहज़बानी सन्देशा भेजा। २५ जुलाई को फ़ोक के मुंशी शम्भूनाथ ने लिखा कि इंगलैंड के राजा ने फ़ोक और दूसरे आदमियों को जिन्हें हेस्टिंग्स ने गैरक़ानूनी तौर से बरतरफ़ कर दिया था पुनः नियुक्त कर दिया और एक महीने के बाद फ़ोक के बनारस पहुँचने पर राजा का सब मामला दुरुस्त हो जायगा। खत मिलते ही राजा ने शम्भूनाथ के पत्र की नकल के साथ भाई राम को लिखा, "ईश्वर मेरी मदद कर रहे हैं अतः मैंने राव रघुनाथ से शिफ़ारसी पत्र लेने को जरूरी नहीं समझा"। बाद में गुप्त रीति से उन्होंने बख्शी सदानन्द को उन ब्राह्मणों को जो राजा की भलाई के लिए पाठ-पूजा कर रहे थे, प्रत्येक को सौ रुपया दक्षिणा देने को कहा और औसान सिंह पर तब तक इसलिए निगाह रखने को कहा कि फ़ोक के आने तक भाग न जावें।

काउंसिल में इस प्रस्ताव के आने पर फ्रांसिस और ह्वीलर दोनों ने इसका समर्थन किया। लेकिन सब लोगों ने मुक़र्ररी मालगुजारी के सिवा क़ानूनी तौर से चेत सिंह से और कुछ लिया जा सकता था अथवा नहीं इस पर सन्देह प्रकट किया। लोगों के दिल में कोई सन्देह न पैदा हो इसलिए वारेन हेस्टिंग्स ने इस रक़म को मददी रकम कहा और उसके बारे में पूरी तफ़सील चेत सिंह के पास भेज दी। इस रक़म को स्वीकार कर लेने के सिवा चेत सिंह के पास कोई चारा न था। पर बाद में उन्होंने उस रक़म को घटाने की बहुत कोशिश की।

चेत सिंह की एक न चली और हार कर उन्हें गवर्नर जनरल की माँग स्वीकार

[१] कैलेंडर······५, १०६७

करनी पड़ी। अपने २८ सितम्बर १७७८ के पत्र में[१] पाँच लाख मछलीदार रुपये एक साथ देने में उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की और छह-सात महीनों में किश्तबन्दी से रुपये अदा करने की परवानगी चाही और रुपये मछलीदार न देकर दूसरे रुपये देने की बात कही।

लेकिन गवर्नर जनरल ने अब चेत सिंह को तंग करने की ठान ली थी। ७ अक्टूबर १७७८ के अपने एक पत्र में चेत सिंह लिखते हैं[२] कि अली नक़ी से यह सुनकर उन्हें अफ़सोस हुआ कि पाँच किश्तों में रुपये देने की बात हेस्टिंग्स ने नहीं मानी। पचास हज़ार तो वे ग्रेहम को दे चुके थे और बाक़ी वे एक हफ़्ते के अन्दर हुंडी से गवर्नर जनरल के पास भेज देंगे। इसके एवज़ में वे हेस्टिंग्स की कृपा के भिखारी थे।

बनारस के एजेंट टॉमस ग्रेहम ने भी चेतसिंह के साथ इस पाँच लाख की मददी रक़म के लिए जो व्यवहार किया वह अत्यन्त अन्यायपूर्ण और गर्हित था। ग्रेहम दो नीचे दरजे के मुसलमानों द्वारा राजा से बातचीत चलाते थे। इनमें एक का नाम मौलवी अलाउद्दीन कुबरा और दूसरे का जैन उलआबेदीन था। यह जैन उलआबेदीन पहले एक हिंदू महाजन का लड़का था जिसे कुबरा पढ़ाता था। बाद में इस लड़के को भगाकर उसने मुसलमान बना दिया। ये दोनों कुछ दिनों हकीम और नजूमी का वेष बनाकर बनारस की गलियों में चक्कर मारा करते थे और रंडियों के यहाँ इनकी बहुत खातिर होती थी। ये दोनों बदमाश किसी प्रकार सिफ़ारिश पहुँचा कर कुछ दिनों में ग्रेहम के प्रधान सलाहकार बन बैठे और चेत सिंह पर हुक्म चलाने लगे। ग्रेहम पर इनका प्रभाव यहाँ तक बढ़ा कि जो कुछ यह करते थे उस पर ग्रेहम आँख मूँद कर दस्तखत कर देते थे। राजा से ये दोनों बदमाश आठ सौ महीने तो अपनी तनख्वाह के लेते थे और जब जो जी चाहा उन्हें दबाकर वसूल कर लेते थे। कम्पनी को पाँच लाख की मदद देने के समय तो इनको अच्छा मौक़ा मिला और उन्होंने राजा से जो चाहा वसूला। ये बदमाश रेजिडेंट के नाम पर चेत सिंह के पास उलूल-जुलूल माँगे पेश किया करते थे और माँगें पूरी न होने पर धमका कर उनसे रुपये वसूल करते थे। एक बार अलाउद्दीन ने राजा से जाकर कहा कि ग्रेहम बीमार हैं और डाक्टरों ने उनके इलाज के लिए लाल चींटी का तीन सेर तेल माँगा है। राजा चेत सिंह की तो अक्ल गुम हो गयी और उन्होंने रुपये देकर जान छुड़ाई।[3]

१२ अक्टूबर, १७७८ को चेतसिंह ने पुनः लिखा[४] कि उन्हें यह सुनकर हर्ष हुआ कि हेस्टिंग्स ने उन्हें क्षमा किया है। उन्होंने तीन लाख मछलीवाल रुपये की हुण्डी और पचास हज़ार की ग्रेहम की रसीद भेजी और बाक़ी डेढ़ लाख की हुण्डी चार-पाँच दिनों में

---

[१] केलेंडर……५, पत्र ११०६

[२] केलेंडर……५, पत्र ११२९

[3] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० २९–३०

[४] केलेंडर……५, पत्र ११४३।

भेजने का वादा किया। १३ नवम्बर १७७८ के एक पत्र से यह पता लगता है कि चेत सिंह ने बाकी डेढ़ लाख भी शेख़ अली नक़ी के मार्फ़त अदा कर दिया।[1]

चेत सिंह और ग्रेहम की खटपट चलती ही रही। २८ जनवरी १७७९ की एक खबर से पता चलता है[2] कि चेत सिंह ने रामनगर में अपने सलाहकारों को इकट्ठा करके उन्हें बतलाया कि बदमाशी पर तुले हुए ग्रेहम रामनगर आने वाले थे और शेख अली नक़ी ने भी उन्हें लिखा था कि काउंसिल के कुछ सदस्य राजा से प्रसन्न नहीं थे और इन सब कारणों से राजा को खबरदार हो जाना चाहिए। बात तय पायी कि राजा बिजयगढ़ और लतीफ़पुर जाकर वहाँ के मोरचों को मजबूत करें और बाबू सुजान सिंह छत्तीसगढ़ जाकर नाकेबन्दी की तैयारी करें और खाइयाँ खोदें। अगर ग्रेहम बदमाशी के इरादे से आये तो राजा जिले में गड़बड़ मचाकर पहाड़ों में भाग जायें और वहीं से बात-चीत करें। इस बीच में ग़ुलाम हुसैन खाँ ने औसान सिंह को, जिनकी मदद से ग्रेहम बखेड़ा फैलाने वाले थे खतम करके, बाद में ग्रेहम से समझने की सलाह दी। यह सुझाव भी सामने आया कि मिर्ज़ा बाबर बेग औसान सिंह को फुसला कर देहात में ले जायें और तब उनका काम तमाम कर दिया जाय। पहली जनवरी १७७९ को इस मामले पर बात हुई। तीन जनवरी को बाबू सुजान सिंह परगना छत्तीसगढ़ में रक्षात्मक इन्तज़ाम के लिये गये और राजा चेतसिंह ने लतीफ़पुर और बिजयगढ़ रवाना होने की तैयारी की। उसी रोज आधी रात को राजा लतीफ़पुर पहुँच गये और चार तारीख को ग़ुलाम हुसेन खाँ फ़ैज़ुल्ला खाँ, बालकिशन हज़ारी और बहुत से प्यादों के साथ बिजयगढ़ चल दिये। वहाँ एक दो दिन रहकर अगरी जाने का इरादा था। बिजयगढ़ जाने की तैयारी के समय भाई राम का एक पत्र मिला कि वे उनसे एक बात पर राय करने के लिये आ रहे थे। रवाना होने के पहले राजा ने जगदेव, ज़ालिम सिंह, दलजीत सिंह और रामरुच के लड़के को अपने परगना वापस जाने की आज्ञा दी और वहाँ औसान सिंह से किसी प्रकार झगड़ा खड़ा कर उन्हें मार डालने की आज्ञा दी क्योंकि बिना औसान सिंह के मरे शान्ति असम्भव थी। इन लोगों ने इस काम के लिये कुछ फ़ौज चाही जिसे १०० सवार और दो सौ पैदल दिये गये।

यह सब काम समाप्त करके जब राजा रामनगर को लौट रहे थे तो रामचंद साहु शेख अली नक़ी का पत्र लाये जिसमें समाचार दिया गया था कि नक़ी ने गुप्त रीति से फ्रांसिस की, जो थोड़े समय से काउंसिल के प्रथम सभासद होने वाले थे, नौकरी कर ली थी तथा फ्रांसिस ने उन्हें मदद का वादा किया था। आयर कूट के आते ही राजा के मुवाफ़िक काम हो जायेगा। पत्र में उन पुरजों के संग्रह की जिनसे लोगों ने राजा से जबर्दस्ती रक़में वसूल की थीं, रखने की और गवर्नर जनरल के पास पेश करने की भी बात कही गयी थी और राजा को ग्रेहम से न डरने की बात थी।

---

[1] केलेंडर······५, पत्र ११९४।

[2] केलेंडर······५, पत्र १३३६।

२१ जुलाई १७७९ को पुनः पाँच लाख रुपया चेतसिंह से मांगा गया।[१] इस पर विनती पूर्वक अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए चेतसिंह ने लिखा, "मैं यह रक़म अपने सोने चांदी के बरतन वगैरह बेंचकर दे दूंगा लेकिन पहले जब पाँच लाख माँगा गया था तो मैंने यह स्पष्ट लिख दिया था कि एक साल के सिवा यह रक़म मैं न दे सकूंगा। मेरे संधिपत्र के अनुसार मेरी मालगुज़ारी के सिवा और सब कर माफ़ है। मैं अपनी मालगुज़ारी बदस्तूर सरकार के पास पहुंचाता रहा हूँ, फिर भी अन्यायपूर्वक मुझे इस तरह दबाकर रुपया वसूल करके क्लेश दिया जाता है"। इस पत्र का उत्तर हेस्टिंग्स ने सख्ती के साथ दिया और हुक्म की बेउज्र् तामीलियत न करने पर सेना भेजने की धमकी दी। राजा ने माफ़ी चाही पर उनको पाँच लाख के सिवा बीस हजार जुर्माना भी अदा करना पड़ा।[२] २५ अगस्त १७७९ को हेस्टिंग्स ने चेतसिंह को लिखा[३] कि रुपया फ़ौरन ग्रेहम को भेज दिया जाय। ऐसा न करने पर ग्रेहम दीनापुर के दो बटालियन सिपाहियों की मदद से जिस तरह हो सकेगा रुपया वसूल करेंगे और राजा को फ़ौज का खर्च भी उठाना पड़ेगा। २७ अगस्त १९७९ के पत्र में[४] चेतसिंह ने रुपये देने में इसलिए असमर्थता प्रकट की कि पहले वर्ष के रुपये देने में ही उन्हें कर्ज़ लेना पड़ा था। हेस्टिंग्स ने अपने २५ सितम्बर १७७९ के एक पत्र में चेतसिंह को लिखा[५] कि काउंसिल ने मेजर केमक को फ़ौज की टुकड़ी के साथ बनारस जाने की आज्ञा दी है अगर रुपया मिल गया तो ग्रेहम फ़ौज रोक देगें नहीं तो फ़ौज का भी खर्च राजा को बरदाश्त करना होगा।

१७७९ ईस्वी में कम्पनी की मांग से परीशान होकर राजा ने उसे न मानने का निश्चय किया पर बदमाश मौलवियों ने उन्हें झूठी सूचना दी कि उनके दमन के लिए कलकत्ते से सर आयर कूट आ रहे थे। राजा ने कूट को राजी करने के लिए सुजान सिंह को बक्सर भेजा, पर उसके पहले मौलवी ग्रेहम के साथ वहाँ पहुँच गये थे और कूट से राजा की भरपूर चुगली खा रखी थी जिससे राजा से वे नाराज़ हो गये थे। गंगा में भरपूर बाढ़ थी और मुश्किलों के साथ सुजान सिंह की किश्ती बक्सर में लगी। मौलवियों ने इसकी खबर ग्रेहम को दी और उन्होंने कूट को सुजान सिंह से मुलाकात न करने की राय दी। इतना ही नहीं उन्होंने नाव की लहासी कटवा दी। नाव पर कोई मल्लाह भी नहीं था, पर भाग्यवश वह दूसरे जगह आ लगी और सुजान सिंह डूबने से बच गये।[६]

सुजान सिंह बड़ी कठिनाई में पड़े। भाग्य से उनकी मुलाकात हेनरी वानिस्टार्ट के परम विश्वासी और बलवन्तनामा के लेखक मुंशी खैरुद्दीन साहब से हुई और उन्होंने

[१] केलेंडर······५, पत्र १५४७

[२] भारतवर्षीय राजदर्पण ५०

[३] केलेंडर······ ५, पत्र १५६९

[४] केलेंडर······५, पत्र १५७३

[५] केलेंडर······५, पत्र १६१८

[६] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० ३१

अपने मालिक से बहुत कह सुन कर आयर कूट से सुजान सिंह की मुलाकात करवायी। बाद में तो आयर कूट ने चेतसिंह की गाजीपुर और रामनगर में दावत भी क़बूल की और उनसे अपने मित्र हेक्टर मुनरो के बलवन्त सिंह के नाम एक लाख बाक़ी रुपये भी वसूल किये।[१] राजा को उनके आदमियों को भी काफ़ी रुपये देने पड़े।

१७७९ में बनारस में एक और मजेदार घटना घटी और वह थी एक नक़ली सदाशिव भाऊ का बनारस में आगमन।[२] पेशवा के सेनापति परशुराम भाऊ की मृत्यु तो पानीपत की लड़ाई में हुई पर एक ठग ने, जिसकी सूरत भाऊ से बहुत मिलती थी, यह स्वांग बनाया कि वास्तव में भाऊ पानीपत की लड़ाई में मरे नहीं थे। यह नक़ली भाऊ १७७९ ईस्वी में इटावा के लाला बालगोविन्द से मिला और उन्होंने असली भाऊ साहब और इसकी शकल में बहुत मेल देख कर उसे आश्रय दिया लेकिन कुछ दिन बाद उन्हें पता चला कि असली भाऊ साहब की बोली और नक़ली भाऊ की बोली में अन्तर था। पूछने पर नकली भाऊ ने पानीपत से अपने भागने की मनगढ़न्त कहानी सुना दी। इस पर लाला बालगोविंद ने उसे काशी जाने की सलाह दी। पहले वह चित्रकूट गया और वहाँ उसने बनारस के कुछ ब्राह्मणों को बुलवाया। इन ब्राह्मणों को भी भाऊ साहब से इस ठग की सूरत मिलती देखकर अचम्भा हुआ पर इतना ही नहीं जब नक़ली भाऊ ने उनके पास से अपनी तथाकथित जमा मांगी तो वे बड़े घबड़ाये। नक़ली भाऊ इसके बाद काशी पधारे और सदाशिव भाऊ से अपनी शकल के सादृश्य का लाभ उठाकर कुछ लोगों को अपने पास इकट्ठा कर लिया और साहूकारों की मदद से १००० की फ़ौज और अपने लिए पालकी और घोड़े इत्यादि तैनात कर लिये। नकली भाऊ की यह सब कारंवाई बनारस के रेजिडेंट ग्रेहम के कानों में पड़ी और उन्होंने जाँच के बाद नक़ली भाऊ को चेत सिंह की मदद से गिरफ़्तार कर लिया। वारेन हेस्टिंग्स ने ३० अक्टूबर १७७९ को चेत सिंह को लिखा कि वे भाऊ का मुकदमा बनारस में करें और उसका कसूर साबित होने पर उसे दंड दें।[३] चेत सिंह के १९ जनवरी १७८० के पत्र से[४] पता चलता है कि नकली भाऊ ने ग्रेहम और चेत सिंह की कोशिशों के बावजूद भी उसने कुछ फ़ौज इकट्ठा करके शहर में गड़बड़ मचा दी। चेत सिंह ने उसकी आमदनी रोकने की कोशिश की पर नाकाम रहे। आपस में झड़प होने से दो आदमी मारे गये और तीन ज़ख्मी हुए। इसके बाद नकली भाऊ पकड़ा गया और चुनार भेजा गया। चेत सिंह की राय में वह खून और दंगे का सिवाय खुली लड़ाई में दोषी नहीं था। भाऊ ने बाद में २६ जुलाई १७८१ को कर्नल ब्लेयर को एक पत्र लिखा[५] जिसमें उनसे गुज़ारे की रकम मिलने की और इस संकट से छुटकारा दिलवाने की प्रार्थना की।

---

[१] ओल्डहम, हिस्टोरिकल एंड स्टेटिस्टिकल मेमायर ऑफ़ दि गाजीपुर डिस्ट्रिक्ट, पृ० १११–१२

[२] इतिहास संग्रह, नवंबर–दिसंबर, १९११; जनवरी १९१२, पृ० ६–८

[३] केलेंडर······५, पत्र १६५०

[४] केलेंडर······५, पत्र १७१०

[५] केलेंडर······६ पत्र २०१

तीसरे साल यानी १७८० में राजा चेतसिंह ने अपने विश्वासपात्र बख्शी लाला सदानन्द को हेस्टिंग्स के पास कलकत्ते भेजा। सदानन्द ने कलकत्ता पहुँच कर वारेन हेस्टिंग्स से मुलाकात की और राजा की तरफ़ से खास उनके लिए दो लाख की नजर दाखिल करके बीती बातों के लिए माफी चाही और पाँच लाख जल्दी ही दाखिल करने का वादा किया।

गवर्नर जेनरल ने इस पर राजा के सब दोष क्षमा कर दिये पर सदानन्द को यह बात पूरी तरह से समझा दिया कि राजा को यह सब मिहरबानी तभी तक हासिल होगी, जब तक वे कम्पनी सरकार की आज्ञाओं का पालन करेंगे। उन्होंने यह भी वादा किया कि लड़ाई समाप्त हो जाने पर पाँच लाख मददी रकम राजा से नहीं ली जायगी। बख्शी सदानन्द ने अपने मालिक की ओर से इन सब बातों पर अपनी सम्मति दी। हेस्टिंग्स ने यह रुपया लेफ्टिनेण्ट कर्नल केमेक के पास मालवा भेज देने को कहा।[1]

इसी साल (१७८० ईस्वी) के जुलाई महीने में हेस्टिंग्स और फ्रांसिस में पुनः मतभेद हुआ। उसके कुछ ही रोज बाद बख्शी सदानन्द बनारस के लिए रवाना हुए थे। रुपया चेत सिंह से न दिया गया और रामनगर पर फ़ौज भेजने पर ही रुपया वसूल हो सका।

जिस समय चेत सिंह और कम्पनी में यह चखचख चल रही थी जान पड़ता है उसी समय कम्पनी के नौकरों और चेत सिंह की रियाया में भी सद्भाव न था। १७७९ में कम्पनी के बक्सर के दफ़्तर के नौकरों का चेत सिंह की रियासत में जाने से पिटने का भी उल्लेख है। बक्सर के चौधरी को बेड़ी डाल कर हवालात में रखने और नरायनपुर के जमींदार द्वारा उससे तिरपन रुपये जुर्माना वसूल होने की भी बात आती है। एक बार चेत सिंह के बलिया के फ़ौजदार ने कम्पनी के तीन सिपाहियों को जो अन्न खरीदने आये थे इतना पिटवाया कि वे अधमरे हो गये। १७८० के नवम्बर में जब कम्पनी के तीन अफ़सर अपनी फौज से मिलने जा रहे थे तब उन्हें राजा के नौकरों और रैयत ने मार पीट कर लूट लिया। इस लूट पाट की शिकायत बक्सर के अफ़सर कप्तान एटन ने फ़ोक के द्वारा चेत सिंह से की थी। राजा के आदमियों द्वारा बहकाये जाकर कम्पनी के कुछ सिपाही भी राजा की फ़ौज में आ गये।[2] पर इन सब घटनाओं में चेतसिंह का कितना हाथ था यह नहीं कहा जा सकता। बनारस और उसके आस पास काफ़ी लुच्चे और बदमाश थे अगर उन्होंने कम्पनी के कुछ आदमियों को पीट दिया हो तो इसमें हम राजा का दोष कैसे कह सकते है।

वारेन हेस्टिंग्स ने १५ दिसम्बर १७८०[3] को चेत सिंह को एक लम्बी शिकायती चिट्ठी लिखी जिसमें उनके आदमियों द्वारा कम्पनी के आदमियों से मारपीट का उल्लेख

[1] फॉरेस्ट, सेलेक्शन्स फ्रॉम दि पेपर्स ऑफ दि गवर्नर्स जेनरल ऑफ इंडिया, वारेन हेस्टिंग्स, भाग २, पृ० ११९ से, लंडन १९१०

[2] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० ३४–३५

[3] केलेंडर……५, पत्र २०६४

है। इसमें यह भी कहा गया है कि १४ नवम्बर १७८० को डाकुओं के एक गिरोह ने राजा की अमलदारी बारपुर में तीन अंग्रेजी अफ़सरों की बेइज्जत की और एक ज़मींदार के उकसाने पर इन डाकुओं ने इन अफ़सरों के तीन नौकरों को मार कर असबाब से भरी एक नाव लूट ली। इस ज़मीदार ने एक अंग्रेज अफ़सर को भी इतनी बुरी तौर से घायल किया कि उसे पटने के अस्पताल में भेजना पड़ा। बलिया के फ़ौजदार मीर सफ़दर अली द्वारा कम्पनी के तीन सिपाहियों के जो अन्न खरीदने आये थे पिटने का भी उल्लेख इस पत्र में है। आयर कूट के कहने पर भी राजा ने फ़ौजदार को कुछ दंड नहीं दिया। इसी तरह नरायनपुर के ज़मींदार ने कैप्टन ईटन के साथ धृष्टता की जब उसने कम्पनी को अनाज देने के लिए कुछ दूकानदारों को आदेश दिया। गवर्नर जेनरल ने चेत सिंह को आदेश दिया कि वे बलिया के फ़ौजदार और नरायनपुर के ज़मीदार को पकड़ कर उनके मामले की फ़ोक के सामने जाँचकर और एक मुंशी द्वारा मुकदमे की कारवाई का विवरण लिखवा कर गवर्नर जेनरल के पास भेजते रहें। पत्र में यह धमकी भी दी गयीं थी कि अगर कसूरवारों को सजा न मिली तो इसके लिए चेत सिंह जिम्मेवार ठहराये जाएँगे।

वारेन हेस्टिंग्स द्वारा फ्रांसिस के बरतरफ़ होने पर मार्कहम बनारस के रेज़िडेंट नियुक्त हुए। चारों ओर लड़ाइयाँ ठन जाने से काउंसिल ने २ नवम्बर १७८० को यह प्रस्ताव पास किया कि चेत सिंह से जितने सवार मिल सकें, लिये जायँ। यह मदद बनारस के रेज़िडेंट फ़ोक द्वारा और सीधे हेस्टिंग्स द्वारा भी मांगी गई पर चेत सिंह ने उत्तर दिया कि उनके पास इतने सवार नहीं थे कि उनमें से वे कम्पनी को दे सकें। उन्होंने यह भी लिखा कि ज़मीदारी से सवारों के हटा लेने पर आमदनी बन्द हो जाने का अन्देशा था। मार्कहम के आने के बाद चेतसिंह से दो हज़ार सवार मांगे गये पर बाद में उनकी संख्या घटाकर एक हज़ार कर दी गयी। राजा ने २५० सवार देने मंजूर किये पर उन्हें भी वे न भेज सके।[१]

चेतसिंह के इस व्यवहार से हेस्टिंग्स बहुत नाराज़ हुए और उनके विरुद्ध की गयी शिकायतों पर उन्हें विश्वास होने लगा। इसी समय हेस्टिंग्स को पता लगा कि चेत सिंह लतीफ़पुर और बिजयगढ़ के किलों में खजाना और लड़ाई के सामान इकट्ठा कर रहे थे। उनकी फ़ौज की संख्या बहुत बढ़ गयी थी और उनके आदमी कम्पनी के आदमियों की बेइज्ज़ती करते थे और लोगों को उनसे शत्रुता बरतने की सलाह देते थे। वे मराठों से भी पत्र व्यवहार कर रहे थे और इस बात का मौक़ा देख रहे थे कि अगर फ़रासीसी अथवा मराठे अंग्रेजों पर आक्रमण कर दें तो वे उनका साथ दें।

मराठों के साथ चेत सिंह की कुछ साज़िश ज़रूर चल रही थी इसका पता नाना फड़नवीस के नाम पुरुषोत्तम महादेव के १७८१ के एक पत्र से चलता है। पत्र में कहा गया है कि अगर महाद जी सिंधिया कलकत्ते पर हमला करें तो अवध के नवाब और चेत सिंह आधा आधा खर्च उठाने के लिए तयार थे, लेकिन पुरुषोत्तम महादेव की सलाह

[१] फॉरेस्ट, उल्लिखित, पृ० ११९ से

थी कि रुपये आ जाने पर ही ऐसा कोई क़दम उठाना चाहिए। कलकत्ते जानेवाली फ़ौज में दिल्ली के फ़ौजी दस्ते, रुहेले, और आसफ़उद्दौला की फ़ौजें शामिल होने को थीं। आशा की जाती थी कि गंगा पार करने के लिए चेत सिंह नावों अथवा पुल का बन्दोबस्त करेंगे।[1]

इन सब का बदला लेने का हेस्टिंग्स ने निश्चय किया और इसका पता चेत सिंह को अपने कलकत्ते के वकीलों से चला। अपनी जान बचाने के लिए उन्होंने कम्पनी की लड़ाइयों में बीस लाख रुपये देने की इच्छा प्रकट की और मार्कहम को सन्देसा भेजा। बाद में यह रक़म बाइस लाख कर दी गयी पर फल कुछ न हुआ।

वारेन हेस्टिंग्स ७ जुलाई १७८१ को चार कम्पनी तिलंगों के साथ नाव पर बनारस के लिए रवाना हुए। भागलपुर पहुँचने पर उन्होंने बनारस के रेजिडेंट मार्कहम से मुलाकात की और तब पता चला कि हेस्टिंग्स का इरादा चेत सिंह से पचास लाख जुर्माना वसूल करने का था और अगर यह जुर्माना उनसे अदा न हो सका तो उसका इरादा चेत सिंह के सब इलाक़ों को अवध के नवाब को सुपुर्द कर देने का था जो कम्पनी को बहुत रुपया देने को तयार थे।

हेस्टिंग्स के भागलपुर से बक्सर पहुँचने पर चेत सिंह उनकी पेशवाई के लिए आये। उनके साथ किश्तियों पर दो हज़ार सिपाही और बहुत से बन्दूकची थे। सवार और प्यादे गंगा के दोनों तरफ स्थलमार्ग से चेत सिंह के बेड़े के साथ थे। उतनी फ़ौज साथ रखने का केवल यही मतलब था कि चेत सिंह के साथ हेस्टिंग्स कुछ ज़ोर ज़बर्दस्ती न कर सकें। हेस्टिंग्स ने बदस्तूर चेत सिंह से मुलाक़ात की और बनारस के लिये रवाना हो गये। राजा की किश्तियाँ गवर्नर जनरल की किश्तियों के पीछे-पीछे आने लगीं। इन पर फ़ौज देखकर हेस्टिंग्स को आश्चर्य और क्रोध हुआ और उनके क्रोध को अधिक उत्तेजना देने में चेत सिंह के घोर शत्रु औसान सिंह, अलीउद्दीन कुबरा और ज़ैनुल आबेदीन थे।

रास्ते में चेत सिंह ने अकेले में हेस्टिंग्स से मुलाकात करनी चाही और अपनी किश्ती पर से सब को हटाकर हेस्टिंग्स ने उनसे मुलाकात की। राजा ने हाथ जोड़ कर क्षमा मांगी और सिर से अपनी पगड़ी उतार कर हेस्टिंग्स के पांव पर धर कर कहा, "आप सब तरह से हमारे मालिक हैं जो कुछ भूल या क़ुसूर मुझसे हुए हैं उन्हें माफ़ करके मुझे अपने शरण में लीजिए क्योंकि आप के सिवा मेरा कोई दूसरा रक्षक नहीं है"। पर राजा के इस अनुनय विनय से भी हेस्टिंग्स पिघले नहीं, अत्यन्त क्रोध के साथ लात मार कर चेतसिंह की पगड़ी उन्होंने फेंक दी और बड़ी बेइज्ज़ती के साथ उन्हें बिदा किया। हेस्टिंग्स का यह व्यवहार कहाँ तक सज्जनोचित था नहीं कहा जा सकता। अगर इस समय वे चेत सिंह के साथ भलमनसी का बर्ताव करते तो शायद उनकी बनारस में इतनी दुर्गत न होती, न उन्हें अंग्रेजी पार्लमेंट में इतनी ज़िल्लतें उठानी पड़तीं।

१५ अगस्त सन् १७८१ को हेस्टिंग्स की सवारी बनारस पहुँची और उन्होंने

[1] इतिहास संग्रह, अगस्त-अक्टूबर, १९११, पृ० ६१

दीनानाथ के गोले के पास माधोदास सामिया के बाग़ में डेरा डाला। बाद में उन्होंने मार्कहम को चेत सिंह की गिरफ्तारी का हुक्म दिया जिससे वे डर कर अपने जुर्माने का पचास लाख फ़ौरन अदा कर दें। इतनी फुरती से राजा की गिरफ्तारी का उद्देश्य यह था कि उन्हें अपना बचाव करने का मौका न मिले। राजा चेत सिंह भी उसी दिन बनारस पहुँचे और शाम को हेस्टिंग्स से मुलाकात करनी चाही पर उन्होंने मुलाकात नामंजूर करके यह कहलवा दिया कि रेजिडेंट के मार्फ़त जब तक उनका मामला तय न हो जाय तब तक बिला इजाजत वे उनसे मिलने न आयें।

दूसरे दिन, १५ वीं अगस्त की सुबह को रेजिडेंट मार्कहम गवर्नर जनरल का एक खत लेकर राजा के पास पहुँचे उनके खत का मजमून यह था, "सोलह महीने बीते कि तुमने अपने विश्वासपात्र नौकर लाला सदानन्द बख्शी को हमारे पास कलकत्ते भेजा था। उसने तुम्हारी तरफ़ से सब गुनाहों की माफ़ी चाही और भविष्य में तुम मेरी सरकार की आज्ञानुसार काम करोगे इसकी शपथ ली। इसकी परीक्षा करने के लिए पाँच लाख रुपये लड़ाई के खर्चे के लिए मैंने काउंसिल के गवर्नर जनरल द्वारा तुमसे माँगे और तुमने उसे देना भी मंजूर कर लिया। जबानी तौर से बख्शी भी तुम्हारी तरफ से राजी हुए, उससे हमें विश्वास हुआ कि रुपया मिलने में देर न होगी। इसी विश्वास पर कर्नल केमेक की फ़ौज, जो मालवा की तरफ कूँच कर रही थी, के खर्च के लिए फ़ोक साहब को जो उस समय बनारस के रेजिडेंट थे, हुक्म दिया गया कि रुपये वसूल करके केमेक के पास भेज दें। तुम्हारे ऊपर पूरा विश्वास करके हमने केमेक की फ़ौज के खर्च का दूसरा बन्दोबस्त भी नहीं किया, लेकिन तुमने हमारे साथ विश्वासघात किया। कुछ रुपया पहले देकर और समय का रुख देखकर अथवा अपने पहले के मनसूबे के मुताबिक़ तुमने तरह तरह के बहाने करके रुपये देना बन्द कर दिया। इसकी वजह से जिस फौज को यह खर्च भेजना था वह बड़ी मुसीबत में आन पड़ी। उसके कई सौ सिपाही नौकरी छोड़कर भाग खड़े हुए और अगर कोई शत्रु सेना उस समय उनपर आक्रमण करती तो निस्सन्देह हमारी सेना मारी जाती। रेजिडेंट उस समय रोज बरोज तुमसे रुपये का तक़ाज़ा करते थे, मैंने भी बार बार तुम्हें पत्र लिखे पर तुमने कोई सुध नहीं ली, इसके सिवाय गवर्नर जनरल इन काउंसिल की तरफ से मैंने तुमसे खुद और फ़ोक साहब के द्वारा सरकारी फ़ौज में काम करने के लिए सवारों की मदद चाही। फ़ोक साहब की जगह जब मार्कहम साहब नियुक्त हुए, तब उन्होंने भी हमारी आज्ञा के अनुसार तुमसे माँगे गये २००० सवारों की संख्या घटाकर १५०० कर दी और उसे भी घटाकर १००० कर दी, इसे भी देने का वायदा करके अब तक तुमने एक भी सवार नहीं दिया।

"तुम्हारे दूसरे व्यवहारों के बारे में जिनसे तुमने अपने जासूसों द्वारा अपनी उस सरकार को जिसके मातहत तुम हो, उलट देना चाहा, मैं कुछ कहना नहीं चाहता। इस सरकार के प्रति जैसा तुम्हें उचित था तुमने नहीं किया। इस जमींदारी की प्रजा पर तुम गफ़लत करके रोज खून चोरी वगैरह होने देते हो यहाँ तक कि शहर बनारस की गलियों में नित्य यह सब अत्याचार हो रहा है जिससे अंग्रेजों की बदनामी हो रही है। यह सब जिन शर्तों पर तुम्हें जमींदारी मिली थी उनके विरुद्ध है। ऊपर लिखे दो विषयों

से सरकार के साथ तुम्हारी बेइमानी और शत्रुता स्पष्ट हो जाती है इसीलिए मैंने तुम्हें सब बातें खोलकर लिखी हैं कि तुम फ़ौरन इनका जवाब दो।"

राजा ने उसी रोज शाम को खत का जवाब भेज दिया जिसका मजमून निम्न-लिखित है—

"मार्कहम साहब से आपका पत्र पाकर सब बातें मालूम पड़ीं। शेख अली नक़ी के लौटने के बाद जो जो हुक्म आपने भेजे मैं उनकी तामील करता गया और वे आपका जो खत लाये उससे मुझे मालूम पड़ा कि आपके दिल से मेरे ऊपर से तमाम संदेह जाते रहे और आपकी दया मेरे ऊपर पहले सी ही रहेगी, पर आपकी मिहरबानी न हुई। मैंने बारंबार अपनी मुसीबतों के बारे में आपको पत्र भेजे पर आपने उनका उत्तर न भेजा। इसीलिए बख्शी सदानंद को आपके पास भेजा जिससे कि वे आपको समझा सकें कि मैं आपका कितना हितैषी और आज्ञानुवर्ती हूँ और यह जानने का प्रयत्न करें कि आपका मन मेरी ओर से कैसा है। सदानंद ने हुज़ूर की खिदमत में पहुँचकर सब वाजिब हालात से आपको वाकिफ़ किया जिसके खिलाफ़ मैंने कोई अन्यथा आचरण नही किया। आपकी दया और उपकारों से मैं अत्यन्त संतुष्ट हूँ और अपनी इच्छापूर्ति का मूल आप ही को समझता हूं। आपने लड़ाई के खर्च के लिये जो पाँच लाख रुपये देने का हुक्म मुझे दिया उस पर भी मैं राजी हो गया। पहले मैंने आपकी चिट्ठी के जवाब के साथ एक लाख रुपया भेजा बाद में एक लाख पचहत्तर हजार फ़ोक साहब को दिये और बाकी रुपये के बंदोबस्त के लिए कुछ समय चाहा पर उसका कोई जवाब न मिला। लेकिन देर करने का मौका न देखकर अपने बख्शी के यहाँ पहुचते ही मैंने रुपये दाखिल कर दिये। फौज को रुपये भेजना मेरे बस की बात नहीं थी इसीलिये देरी के लिये मैं लाचार हूँ। अगर रुपया दाखिल करने के बजाय उसे फ़ौज को भेज देना मेरे बस की बात होती तो देर कभी न होती। इस खत के साथ में एक रुक्क़ा भेजता हूँ, जिन-जिन तारीखों को रुपया दिया गया उनकी तफ़सील है।

"आपने अपने खत के ज़रीए मुझसे पूछा था कि मैं कितने सवार दे सकूँगा। मैंने जवाब में लिखा था कि मेरे पास तेरह सौ सवार हैं जिनमें बहुतेरे दूर दूर के कामों पर लगे हैं लेकिन मुझे इस पत्र का भी जवाब न मिला। मार्कहम साहब ने मुझसे हज़ार सवार भेजने को कहा और मैंने पाँच सौ सवार इकट्ठे भी किये और बाक़ी के एवज़ में पाँच सौ बरकंदाज देने की खबर आपके पास भेजी। मैंने मार्कहम साहब से भी कह दिया कि वे सब जिस जगह वे चाहें, भेजे जाने को तैयार हैं लेकिन उसका आपके पास से कोई जवाब न आया। बारहाँ मैंने सवारों के बारे में खत का मार्कहम साहब से जवाब माँगा, पर न मालूम क्यों उन्होंने जवाब नहीं दिया। इस पर मुझे आश्चर्य हुआ। सिपाहियों के बारे में मुझे पहले यह हुक्म मिला कि मैं अपने सिपाहियों की दो कंपनियाँ कंपनी सरकार के आधीन कर दूँ और मैंने ऐसा ही किया। पीछे हुक्म मिला कि उनके दो कप्तानों की तनख्वाह भी मैं हीं दूँ और मैं उनकी तनख्वाहें भी हर महीने देता रहा।

"अब्दुल्ला बेग और उनके आदमियों के सिवा हमारे कोई दूसरे आदमी कलकत्ता

नहीं गये थे। हमारे नुकसान के लिये दुश्मनों ने आपके पास झूठी शिकायतें की हैं। आप मेरे भाग्य से यहाँ आये हैं। मेरे दूसरे आदमी कलकत्ते गये थे या नहीं और रुक्के के अनुसार मैंने रुपया भेजा था या नहीं, इन सब बातों की वास्तविकता का पता लगेगा। मैंने अपने अमलों से मुचलका लेकर उन्हें समझा दिया है कि वे अपने परगनों से बदमाशों को निकाल बाहर करें। उनकी क्या मजाल है कि वे इसके विरुद्ध काम करें। अगरचे कोई चोरी या खून हुए हैं तो मैंने गुनहगारों को सजा दी है लेकिन अगर कोई गुनहगार भाग जाये तो मेरा क्या दोष है। मैं सब तरह से आपकी आज्ञा मानने का प्रयत्न करता हूँ। मैंने अपने कर्तव्य से अन्यथा कुछ नहीं किया है। इस पर विचार करने के आप मालिक हैं, मैं तो आपका सब तरह से गुलाम हूँ"।[१]

इस पत्र को पाकर हेस्टिंग्स आपे से बाहर हो गये और उन्होंने मार्कहम को हुक्म दिया कि वे शिवाला घाट पर चेत सिंह के महल को जायें और उन्हें क़ैद कर लें। अगर राजा इसमें कोई उज्र करें तो मार्कहम मेजर पोपहम के साथ सिपाहियों की दो कंपनियों के आने का इंतजार करें। इस तरह दूसरे हुक्म तक वे राजा को क़ैद में रक्खे। दूसरे दिन यानी १६ अगस्त को राजा शिवालाघाट में गिरफ़्तार कर लिये गये और उनकी निगरानी के लिए लेफ्टिनेंट स्टॉकर, स्कॉट और साइक्स रख दिये गये। इसके बाद मार्कहम ने हेस्टिंग्स को रिपोर्ट दी, "राजा ने शांति के साथ अपने को क़ैद हो लेने दिया और मुझे इस बात का भरोसा दिलाया कि आपकी आज्ञा उनको शिरोधार्य है। उन्होंने यह भी आशा प्रकट की कि आप उन्हें जीवनयापन के लिये भत्ते का प्रबंध कर देंगे। वे अपने क़िले, जमींदारी और खजाने, क्या अपना जीवन तक आप के पैरों पर रखने को तैयार थे। यह सब कहकर क़ैद होने पर उनकी जो बेइज्जती हुई है उस पर उन्होंने बहुत खेद प्रकट किया और आपके पास मुझे इस प्रार्थना के साथ लौटने को कहा कि आप उनकी गदहपचीसी और उनके पिता की सेवाओं का विचार करके और जब उनके कामों से आपको संतोष हो जाय तब आप उनको क्षमा करेंगे"।

राजा के गिरफ़्तार होने के पौन घंटा पीछे पोपहम की फ़ौज की दो ग्रेनेडिर कंपनी लेकर लेफ्टनेंट स्कॉट आये और मार्कहम ने उनके और स्टॉकर के जिम्मे राजा को छोड़ कर यह हुक्म दिया कि राजा के आठ दस खिदमतगारों के सिवा और सब आदमियों को वहाँ से हटा दिया जाय। यह भी आज्ञा हुई कि किसी तरह की दगाबाजी रोकने के लिये सिपाहियों को उन नौकरों की पहचान करवा दी जाय। राजा की सब माँगों को पूरा करने की आज्ञा हुई।

मार्कहम की बातचीत सुनकर हेस्टिंग्स फिर उन्हें राजा के पास भेजने वाले ही थे कि इतने में राजा का दूसरा आतंकित स्वर में पत्र आया। उस पर हेस्टिंग्स ने दिलासा देने को एक पत्र लिखा जिसमें कहा गया था कि राजा से तीसरे पहर मार्कहम मिलने वाले थे। राजा ने इस पत्र के जवाब में हेस्टिंग्स की दिलजमई के लिए धन्यवाद दिया। जिस समय हेस्टिंग्स मार्कहम को समझा बुझाकर राजा के पास भेजने वाले थे उसके पहले ही खबर

---

[१] केलेंडर......६. पत्र २०७.

आयी कि रामनगर से बहुत हथियारबंद आदमी उतर रहे थे। राजा की गिरफ़्तारी का हाल सुनकर उनके अनुयायियों और बिरादरी वालों ने शिवाला घाट का महल घेर लिया था ओ उनमें बहुत से भीतर घुस गये थे। इसी समय तिलंगों की दो कंपनियाँ गोली बारूद के साथ पहले से नियुक्त अपने साथियों की मदद पर आयीं, लेकिन मकान के चारों ओर हथियारबंद आदमियों की इतनी भीड़ थी कि वे भीतर घुस न सकीं।

इसी समय मार्कहम साहब ने चेतराम नामक अपने एक चोबदार को राजा के पास यह खबर लेकर भेजा कि पत्र पाकर हेस्टिंग्स उनसे खुश थे लेकिन अगर खून खराबी हुई तो सब मामला बिगड़ जायगा। पर इस बदमाश चेतराम ने राजा से निहायत गुस्ताखी से कहा, "मैं चेतराम हूँ तुम तो सिर्फ चेत सिंह हो। कंपनी के एक एक नौकर कंपनी के बराबर हैं। उनमें से एक को भी अगर कोई छूएगा तो मैं तुम्हें रस्सी से बांधकर घसीटते हुए गवर्नर जनरल के पास हाज़िर करूंगा।" चेतराम की इस हिमाक़त को देख कर लोग दंग रह गये, पर मनियार सिंह से यह नहीं देखा गया। उन्होंने ललकारा, "देखें किसका अख्तियार है कि राजा को बांधे", इस पर भी उस बदमाश ने जवाब दिया, "चेत राम और चेतसिंह की बात में कौन अहमक़ दखल देता है ?" यह सुनकर वे क्रोध से होंठ काट कर और हाथ मलकर रह गये।

इसी अर्से में बाहर शोरगुल मच गया। गोलियाँ चलने लगीं। चेतराम ने भी तिलंगों को गोलियाँ चलाने को ललकारा और खुद चेत सिंह से लपट पड़ा जिससे भीतर भी बलवा मच गया। तलवारें चलने लगीं और ननकू सिंह नजीब ने एक ऐसा हाथ मारा कि चेत राम के दो टुकड़े हो गये। मौलवी अलीउद्दीन कुबरा भी जो राजा का अपमान देखने गये थे मारे गये। तिलंगों की दो कंपनियाँ जो राजा पर तैनात थी गोली बारूद की कमी और जगह की शिकस्तगी से लड़ न सकीं। चारों ओर से राजा के आदमी उन पर टूट पड़े और अफ़सरों के सहित उन्हें मार गिराया।

मनियार सिंह ने चेत सिंह को सलाह दी कि वे फ़ौरन माधोदास के बाग़ में जाकर हेस्टिंग्स को गिरफ़्तार करें, क्योंकि उस समय उनके पास कुछ मामूली सी फ़ौज थी परंतु उन्होंने यह सलाह न मानी और बख्शी सदानंद की सलाह से वे रामनगर भागे। उस समय गंगा बाढ़ पर थीं और पानी शिवाले घाट की खिड़की के नीचे तक पहुंच गया। जिस पर खिड़की से पगड़ी का कमंद लगाकर के वे उतर गये। उनके साथ उनके आदमी भी रामनगर चले गये। शिवाले का मकान मदद के लिए आयी तिलंगों की एक कंपनी के जिम्मे रह गया। शहर में भी भारी बलवा उठ खड़ा हुआ। लूट मच गयी और अंग्रेज और उनके साथी पिटने लगे।

इसी बीच में मेजर पोपहम अपनी बाकी फ़ौज लेकर शिवाले घाट पर आये और वहाँ से लौट कर उन्होंने हेस्टिंग्स को खबर दी कि वहाँ दो चार के सिवा बाक़ी सभी मारे गये हैं और स्टॉकर, स्कॉट और साइक्स तीनों लड़ाई में काम आये हैं। लेफ्टिनेंट बिरेल जिन्हें बलवे की खबर के पेश्तर भेजा गया था मकान के भीतर घुसने के पहले ही साथियों सहित मारे गये थे। उनसे राजा के बचे खुचे आदमियों से लड़ाई हुई जिसमें दोनों तरफ़ के

आदमी काम आये। पोपहम शिवाला घाट पर एक कंपनी तिलंगों की एक सबाल्टर्न के अधिकार में छोड़ आये।

चेतसिंह के भागने पर शहर में जो बलवा हुआ उसे दबाने के लिये हेस्टिंग्स ने औसान सिंह को नायब बनाया और राजा की ज़मींदारी के विषय में अंतिम निर्णय होने तक प्रबंधक नियुक्त किया। शहर और बाहर तमाम ज़िलों में इनका ढिंढोरा पिटवा कर परवाना जारी कर दिया गया। ढिंढोरे का मसविदा यह था, "चूँकि राजा चेत सिंह ने कंपनी के विरुद्ध बग़ावत करके उसके कई अफ़सरों को मारा है, इसलिए बनारस गाजीपुर और जौनपुर पर से उनका हक़ खतम हो जाता है। औसान सिंह को गद्दी का काम देखने के लिये नियुक्त किया जाता है। बाद में हिंदू धर्म के अनुसार गद्दीदार के प्रश्न का निर्णय किया जायगा। ज़मींदारों और आमिलों को आगाह किया जाता है कि औसान सिंह का हुक्म न मानने वाला बाग़ी समझा जायेगा।"[1] साथ ही साथ मिर्जापुर से पोपहम की फौज और दानापुर से एक तिलंगी पलटन आने का हुक्म दिया।

राजा चेत सिंह रामनगर पहुँच कर फ़ौरन अपने परिवार के साथ लतीफ़पुर के किले को भागे। केवल रामनगर के क़िलेदार गजराज सिंह पहरेदारों के साथ किले में रह गये। रामनगर का क़िला करीने से न बना होने पर भी काफ़ी मजबूत था। और चेत सिंह ने उसमें दो तीन मिट्टी के बुर्ज जोड़ कर उसे और मज़बूत बनवाया था।

इस समय हेस्टिंग्स के पास बहुत थोड़ी फ़ौज थी। चार कम्पनी तिलंगे उनके साथ थे और छह कम्पनी तिलंगे मेजर पोपहम के, जिनमें से शिवाले घाट की लड़ाई में बयासी आदमी मारे गये थे और तिरानबे घायल हुए थे। हेस्टिंग्स ने स्वयं लिखा है कि अगर इस समय चेत सिंह भागे न होते और माधोदास के बगीचे पर हमला बोल देते तो हेस्टिंग्स जरूर मारे जाते और इस तरह चारों ओर बग़ावत फैल जाती।[2]

स्थिति कुछ शान्त होने पर राजा चेत सिंह के रामजियावन नाम के एक सरदार दो हज़ार आदमियों के साथ रामनगर के किले में आये। इस पर हेस्टिंग्स ने पोपहम की मिर्जापुर वाली फ़ौज को जिसमें सिपाहियों की चार कम्पनियाँ, गोलंदाज़ों की एक कम्पनी और फ्रेंच रेंजर्स की एक कम्पनी थी रामनगर पर कूच करने की आज्ञा दी और चुनार के किले से लेफ्टिनेंट कर्नल ब्लेयर को भी एक बटालियन सिपाहियों के साथ रामनगर पर बढ़ने का हुक्म हुआ। ग़रज़ यह थी कि सामान से लैस होने पर इस फ़ौज की कमान पोपहम संभालेंगे। मेजर पोपहम ने मिर्जापुरवाली अपनी बाक़ी फ़ौज के कमांडर कैपटन मेफ़े को यह सलाह दी थी कि वे किसी-न-किसी तरह लड़ाई में न जुट पड़ें। पोपहम ने लड़ाई के लिए रामनगर का मैदान चुन रक्खा था, पर चुनार से तोपखाना आ जाने पर वे यह युद्ध छेड़ना चाहते थे लेकिन मेफ़े ने यह बात न मानी और रामनगर पर चढ़ाई कर दी। राजा के आदमियों ने खिड़कियों और छतों से गोलियाँ

---

[1] केलेंडर......६, पत्र २१२

[2] फ़ॉरेस्ट, उल्लिखित, पृ० १६०

चलानी शुरू कर दीं। इस लड़ाई में १०७ आदमी मारे गये और ७२ जख्मी हुए। मेफ़े को भी अपनी जान देनी पड़ी। बाक़ी फ़ौज ने चुनार भाग कर अपनी जान बचायी। यह घटना २० अगस्त को घटी।

इस घटना से बनारस में बड़ी गड़बड़ी मची और हेस्टिंग्स को यह विश्वास हो गया कि बाक़ायदा लड़ाई शुरू हो गयी थी। उसी समय हेस्टिंग्स ने कम्पनी के फ़ौजी अड्डों पर खबरें भेजीं लेकिन अधिकतर ये खबरें रास्तों की गड़बड़ी से अपने गन्तव्य स्थानों तक नहीं पहुँच सकीं क्योंकि बनारस के चारों ओर बलवा था और बिहार और अवध के जमींदार चेतसिंह का पक्ष ले रहे थे। सबसे बड़ी मुश्किल तो यह थी कि उनके पास केवल तीन हजार रुपये बच गये थे और उन्हें तिलंगों का पाँच महीनों का वेतन देना था। २१ अगस्त को मेकड्यूगल के अधिकार में फ़ौज की एक बटालियन पहुँची। लेकिन हेस्टिंग्स का समय बहुत बेचैनी से गुजर रहा था क्योंकि उन्हें बहुत स्रोतों से खबरें मिल रहीं थीं कि रामनगर में हेस्टिंग्स के डेरे, माधोदास के बाग पर धावा बोलने की तैयारी हो रही थी। माधोदास का बाग बनारस के उपनगर के बीच में था और उसमें एक अहाते के अंदर कई अलग अलग इमारतें थी। यह अहाता चारों ओर पेड़ों और इमारतों से घिरा था और इसलिये यहाँ मुक़ाबला भी नहीं किया जा सकता था। हेस्टिंग्स को खबर मिली की धावा २१ अगस्त को होने वाला था और उसी दिन गंगा नावों से पट गयी। अपनी फ़ौज की कमी के कारण तथा मेजर पोपहम और दूसरे अफसरों की सलाह से हेस्टिंग्स ने चुनार भागने का निश्चय किया। उनकी छोटी फ़ौज चल पड़ी और रात भर चल कर सबेरे चुनार पहुँच गयी। यह बात समझ में नहीं आती कि चेत सिंह के आदमियों ने उस समय भी हेस्टिंग्स पर हमला क्यों नहीं बोल दिया। अगर वे ऐसा करते तो साहब बहादुर को जान के लाले पड़ जाते। जो भी हो हेस्टिंग्स के भागने से बनारस वालों को एक कहावत मिल गयी जिससे उनकी विनोदप्रियता प्रकट होती है। कहावत है—घोड़े पर हौदा, हाथी पर जीन, जल्दी से भागा वारेन हेस्टीन।

हेस्टिंग्स ने अपने चुनार भागने के संबंध में बेनीराम पंडित और बिसंभर पंडित की बड़ी कृतज्ञता प्रकट की है। बेनीराम पंडित बरार के राजा के वकील थे और हेस्टिंग्स से रस्म के अनुसार मुलाक़ात करने आये थे। जब उन्होंने हेस्टिंग्स की छोटी सी फ़ौज को भागते देखा तो वे फ़ौरन उसके साथ हो लिये और हेस्टिंग्स के समझाने पर भी नही लौटे। चुनार में हेस्टिंग्स को रसद के लिये बड़ी मुसीबत उठानी पड़ी। लेफ्टिनेंट कर्नल ब्लेयर ने चुनार के महाजनों से जबर्दस्ती अढाई हज़ार रुपये वसूल किये, जो सिपाहियों में बांट दिये गये।

चुनार में बेनीराम पंडित ने बनारस आने पर हेस्टिंग्स को एक लाख रुपये देने का वादा किया। हेस्टिंग्स ने इनकी बात मान कर एक लाख की हुंडी कोंटू बाबू के नाम इनको कोठी पर स्वीकार कर ली। कोंटू बाबू, जो हेस्टिंग्स के दीवान थे, बनारस ही में रह गये थे। हेस्टिंग्स ने उन्हें पत्र लिख कर गोपाल दास साहु से सलाह लेने को कहा कि चुनार कैसे रुपया लाया जाय। लेकिन कोंटू बाबू का पता नहीं लगा और

गोपाल दास पकड़ कर लतीफ़पुर पहुँचा दिये गये थे। कुछ समय बाद कोंटू बाबू की भी वही दशा हुई। बनारस लौटने के बाद हेस्टिंग्स ने कंपनी के नाम पर यह हुंडी भुनाई।

इसी बीच में हेस्टिंग्स को राजा चेत सिंह का एक पत्र मिला जिसमें उन्होंने अपनी वफ़ादारी प्रकट की थी और बलवे का कारण कंपनी के एक अदने नौकर की गुस्ताखी बताई। श्री हेस्टिंग्स ने इस पत्र का कोई जवाब नहीं दिया क्योंकि उनकी राय में यह लड़ाई रोकने का झूठा बहाना था। हेस्टिंग्स का कहना है कि उसे पीछे मालूम हुआ कि चेत सिंह तमाम रजवाड़ों की मदद से लड़ाई की तैयारी कर रहे थे और अंग्रेजों को हिंदोस्तान से निकाल देने के लिए सपना देख रहे थे।

उसी समय अवध के नवाब आसफ़उद्दौला हेस्टिंग्स की मदद के लिये रवाना हुए। हेस्टिंग्स ने पहले तो उन्हें आगे बढ़ने से रोकने के लिये समझाना चाहा पर जब वे न माने तो उनसे चुनार में मिलना स्वीकार किया। हेस्टिंग्स ने नवाब की बदनीयती की बात सुनी थी। उस समय गोरखपुर और बहराइच तक बलवे की आग पहुँच चुकी थी और नवाब की मां और दादी चेतसिंह की तरफ़दारी कर रही थीं। नवाब के मातहत कुछ अंग्रेजों को लोगों के मारा पीटा था और कर्नल हेने किसी तरह अपनी जान बचाकर भाग निकले थे। पर इन सब बातों के होते हुए भी हेस्टिंग्स नवाब से मिले और साहब सलामत के बाद नवाब रुखसत हुए।

उसी समय कर्नल मॉर्गन से जो कम्पनी के कानपुर के फ़ौजी अड्डे के अफ़सर थे हेस्टिंग्स ने फ़ौजी मदद माँगी। पर उनके पास उनका यह पत्र नहीं पहुँचा। फिर भी आदमी की जबानी बनारस के बलवे का समाचार सुन कर उन्होंने अपनी फ़ौज का बड़ा हिस्सा बनारस के लिए रवाना कर दिया। लखनऊ के रेज़िडेंट ने भी खबर पाते ही डेढ़ लाख रुपया और फ़ौज भेज दी और इस तरह से हेस्टिंग्स के पास चेत सिंह से लड़ने के लिए काफ़ी रुपया और फ़ौज हो गयी।

२९ अगस्त को कम्पनी की फ़ौज ने चुनार के पास सीकर के एक छोटे से क़िले पर आक्रमण किया और चेतसिंह की सेना को हराकर बहुत सा अनाज पाया। ३ सितंबर को कम्पनी की फ़ौजों ने पतीता के किले पर चढ़ाई की। राजा की फ़ौज को इसका पता चल गया और वह आगे बढ़कर लड़ने को तैयार हो गयी। लड़ाई आरम्भ होने पर राजा के सिपाही खूब डट कर लड़े।

लतीफ़पुर और पतीता के किलों में राजा की बड़ी सेना थी पर जंगलों से वहाँ तक पहुँचना कठिन था। हेस्टिंग्स का इरादा पहले रामनगर के क़िले को लेना था। इससे रामनगर की हार का बदला मिल जाता और बनारस शहर भी हाथ में आ जाता। इस लड़ाई लिए तोपखाने का भी प्रबन्ध हुआ पर मेजर पोपहम को बुद्धू खाँ नाम के एक आदमी ने सलाह दी कि पहले लतीफ़पुर और पतीता लेकर सुकृत के रास्ते पर अधिकार कर लेना चाहिए। मेजर पोपहम ने इस सलाह को बहुत पसन्द किया। उन्होंने फ़ौज के दो भाग

करके, १५ वीं सितम्बर को मेजर क्रेब के अधीन एक भाग को सुकृत भेजा और स्वयं बाक़ी फ़ौज और तोपखाने के साथ पतीते पर चढ़ाई करने के लिए आगे बढ़े। रास्ता बहुत खराब था फिर भी २० तारीख को मेजर रॉबर्ट के अधीन सेना ने किले पर धावा बोल दिया। कुछ लड़ाई होने के बाद राजा के सिपाहियों को हार खानी पड़ी। उधर सुकृत के रास्ते पर भी अंग्रेजी फ़ौज को सफलता मिली। अपनी हार का समाचार सुनकर चेत सिंह बहुत निराश हुए और लतीफ़पुर से बिजयगढ़ चले गये। उनकी तमाम फ़ौज बिखर गयी और इस तरह लड़ाई का पहला अध्याय समाप्त हुआ।

पतीता और लतीफ़पुर की फ़तह के बाद हेस्टिंग्स बनारस लौट आये और वहाँ एक इश्तिहार द्वारा चेतसिंह और सुजानसिंह के सिवा बाकी उनके सब साथियों को क्षमा दे दी। पहला इश्तिहार ४ सितम्बर, १७८१ का है जिसका आशय है—"राजा चेत सिंह ने बग़ावत करके कुछ अंग्रेज अफसरों और सिपाहियों को कत्ल किया है और इसलिए बग़ावत का क़सूरदार होने के कारण उसका और उसके भाई सुजान सिंह का अथवा उनके वंशधरों का बनारस की गद्दी पर कोई हक नहीं रह जाता। अगर ज़मींदार, नागरिक, रियाया और आमिल उसका साथ देंगे तो उन्हें सज़ा मिलेगी। लोगों को अपने घरों को लौट जाने और अपने कामो में लगने को कहा जाता है। चेतसिंह और सुजान सिंह के सिवा बनारस के बाशिन्दों, ज़मीदारों और आमिलों को आम माफ़ी दी जाती है पर इस शर्त पर कि वे एक महीने के अन्दर गवर्नर जनरल अथवा मेजर पोपहम के सामने हाज़िर हों। गोपीगंज जहाँ फ़िसाद हुआ था नेस्तनाबूद कर दिया जायगा तथा वहाँ के उन बाशिन्दों को जिन्होंने लूट और खून में हाथ बटाया था, सज़ा दी जायगी बनारस में भी जिन आदमियों ने लूटपाट और खून किये थे उन्हें दण्ड दिया जायगा"।[१]

राजा बलवन्त सिंह के नाती महीपनारायण सिंह को हेस्टिंग्स ने गद्दी पर बैठाया। उस समय महीप नारायण सिंह की उमर १९ साल की थी इसलिए ज़मींदारी का सब काम चलाने के लिए उनके पिता दुर्गविजय सिंह नायब मुक़र्रर हुए। ज़मींदारी की मालगुज़ारी बढ़ाकर चालीस लाख रुपये कर दी गयी और उनसे तमाम दीवानी और फ़ौजदारी के अख्तियार ले लिए गये। इसका कारण यह था कि जब से राजा चेत सिंह का बनारस पर अधिकार हुआ तब से फ़ौजदारी और दीवानी में कोई न्याय नहीं होता था। राजा के भाईबन्द और बनारस के वे महाजन जो मालगुज़ारी के समय राजा को कर्ज़ देते थे और अपनी मनमानी करते थे उन पर किसी तरह का दावा नहीं चल सकता था। हज़ार अपराध करने पर भी ब्राह्मणों को सजा नहीं मिलती थी। इस तरह बनारस में चारों ओर अत्याचारों का जोर बढ़ गया था। बदमाशों के डर से जान-माल बचाना मुश्किल था। राजदण्ड का किसी को भय न था। हेस्टिंग्स के पास बनारस के नागरिकों ने यह सब रोकने के लिए अदालत और क़ानून जारी करने के लिए दरख्वास्त दी। हेस्टिंग्स ने इस प्रार्थना पर पचीस सौ महीने की तनख्वाह पर अली इब्राहीम खाँ को फ़ौजदारी अदालत का चीफ़ मेजिस्ट्रेट नियुक्त किया। ५०० रुपये मासिक पर उनके नीचे एक नायब

---

[१] केलेण्डर……६, पत्र २३३

भरती हुआ और उनके नीचे एक कोतवाल। एक दारोग़ा, तीन मौलवी और दूसरे कारिंदों को ३०१८॥) तक तनख्वाह में रखने का अली इब्राहीम खाँ को हुक्म हुआ। दीवानी तजवीज के लिए ५००) तनख्वाह पर दारोग़ा और उसके ताबे में १६००) रुपये तनख्वाह में और सब कारिंदे मुक़र्रर हुए। जुमला अदालती, दीवानी और फौजदारी के बन्दोबस्त करने में ७०३५॥) और इत्तफ़ाकिया खर्च के लिए १००) महीना नियत किया गया और टकसाल का बन्दोबस्त कम्पनी की तरफ से रेज़िडेंट को सुपुर्द हुआ। राजा महीप नारायण से टकसाल के सब अधिकार ले लिये गये और उन्हें आज्ञा दी गयी कि बनारस की टकसाल वे मार्कहम को सुपुर्द कर दें।[1]

बनारस में दीवानी अदालत और पुलिस का ठीक तरह से प्रबंध होने के लिये १२ नवंबर १७८१ को हेस्टिंग्स ने एक परवाना जारी किया।[2] जिसमें यह कहा गया था कि बनारस में बहुत दिनों से अदालत और पुलिस का ठीक प्रबंध न होने से गवर्नर जनरल ने एक चीफ़ मेजिस्ट्रेट नियुक्त करने का इरादा किया है और उन्हें इस बात के पूरे अधिकार दिये जिससे वे लोगों की रक्षा कर सकें (देखिए परिशिष्ट द्वितीय)।

राजा चेत सिंह बिजयगढ़ पहुँच कर वहाँ से अपनी दौलत ऊँटों और हाथियों पर लाद के रीवाँ की तरफ़ भागे और अपने घर की तमाम औरतों को बिजयगढ़ ही में छोड़ गये। रीवाँ से चेतसिंह पन्ना भागे। रास्ते में उनकी बहुत सी दौलत लुट गयी और जिस इलाक़े में वे भागे वहाँ वालों को रिश्वत भी देनी पड़ी। इधर पोपहम की फ़ौज ने बिजयगढ़ की ओर कूच किया। चेत सिंह की माता पन्ना ने वारेन हेस्टिंग्स को एक पत्र लिखकर इस शर्त पर कि उनके ऊपर कोई हाथ न लगावे क़िला खाली कर देने का वादा किया। पोपहम ने अपनी राय के साथ यह पत्र वारेन हेस्टिंग्स के पास भेज दिया। वारेन हेस्टिंग्स के जवाब से रानी के संबंध में उसका पूरा मनसूबा जाहिर हो जाता है "तुम्हारा कल के तारीख का पत्र मैंने अभी पाया। मेरी कल की चिट्ठी से रानी के विषय में मेरे अभिप्राय का तुम्हें पता चला होगा। मेरी राय में उनकी बेइज्जती की बात को छोड़ कर, उनकी और कोई शर्त मंजूर नहीं होनी चाहिए। हमें जो खबर मिली है अगर वह सच है तो तुम रानी के साथ कोई शर्त न करो, न उनकी किसी बात पर राजी हो। इससे किला आप से आप तुम्हारे हाथ आ जायेगा। अगर बिना तलाशी लिये, तुमने रानी को छोड़ दिया तो मेरा विचार है कि वह तुम सब को ठग कर बहुत माल ले जायगी। लेकिन इस संबंध में मुझे कुछ कहने की जरूरत नहीं है। जो तुम उचित समझो करो। लेकिन मुझे बड़ा अफ़सोस होगा अगर तुम्हारे सब अफ़सर और तिलंगे अपने हक़ों में किसी प्रकार ठग लिये जायें·········पर रानी द्वारा कोई परगना वा कोई जमीन किसी जमींदार के साथ बंदोबस्त करने अथवा उनके गुज़ारा के लिये किसी तरह के प्रबंध की शर्तों को मानने में हम असमर्थ हैं।"

इस खत किताबत के बाद यह शर्त मंजूर हुई कि रानी असबाब और दौलत समेत

---

[1] केलेण्डर·······६, पत्र ३१२

[2] केलेण्डर·······६, पत्र २९२

क़िला छोड़ देंगी और उनकी और उनके नौकरों की तलाशी न ली जायगी। लेकिन उनके क़िले के बाहर निकलने पर, पोपहम और उनके आदमियों ने रानी के जवाहरात छीन लिये और उनकी बेइज्ज़ती की। बिजयगढ़ के किले में से तेइस लाख सत्ताइस हज़ार आठ सौ रुपये मिले, और फ़ौज ने यह लूट आपस में बाँट ली। वारेन हेस्टिंग्स ने उनसे यह रुपया लौटाने की लाख कोशिश की पर उनकी एक न चली।

बिजयगढ़ के किले से भागने के बाद चेत सिंह का फिर बनारस के इतिहास से कोई सीधा संबंध नहीं रह जाता। चेत सिंह ने महादजी सिंधिया की मदद से बनारस पर अधिकार जमाने की बहुत कोशिश की पर उसमें वे सफल न हो सके। इनकी मृत्यु १८१० में हो गयी।

चेत सिंह के अन्तिम दिनों का इतिहास जानने के पहले हमें १८वी सदी के अन्त की कुछ राजनीतिक चालों को जान लेना आवश्यक है। हेस्टिंग्स पेशवा से सुलह चाहते थे और इस सम्बन्ध में सिंधिया के साथ कम्पनी की सुलह का समाचार सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। नरवर में इस सन्धि पत्र पर कर्नल म्योर ने १७८१ में हस्ताक्षर किया। सिंधिया ने इस सुलह के बाद पेशवा के साथ अंग्रेजों की सुलह जल्दी ही करा देने का वादा किया। सुलह जल्दी करने के लिए हेस्टिंग्स ने डेविड एंडरसन को सिंधिया के पास ५ नवम्बर १७८१ को बनारस भेजा। इटावा में एंडरसन और कर्नल म्योर की भेंट हुई और सब बात समझ लेने के बाद वे सिंधिया की तरफ चले।

इसी बीच चेत सिंह ने सिंधिया के पास अपने एक विश्वासी दूत को भेज कर उनके सामने एक बड़ी फ़ौज के साथ अंग्रेजों से लड़ने का प्रस्ताव रक्खा और खुद भी सिंधिया से दतिया के पास नवम्बर १७८१ में जा मिले। सिंधिया को चेत सिंह की दौलत का पता था और इसीलिए उन्होंने उनकी बड़ी आवभगत की। कर्नल म्योर के ५ और ६ दिसंबर १७८१ के पत्रों से चेत सिंह के बारे में निम्नलिखित बातों का पता चलता है। चेत सिंह ने महादजी सिंधिया से शिवाजी और अम्बाजी को बनारस पर धावा बोलने की आज्ञा चाही। जब सिंधिया ने यह बात मान ली तब राजा ने उनकी सेना की बाकी तनख्वाह और भविष्य में राजा के साथ देने वाली सेना की तनख्वाह देने का वादा किया। म्योर को इस बात का भी पता चला कि सिंधिया की नागा फ़ौजें चेतसिंह के साथ हो ली थीं। ६ दिसम्बर के सिंधिया के एक पत्र से म्योर को पता चला कि वे राजा चेतसिंह की सिफ़ारिश करना चाहते थे।[१]

४ नवम्बर १७८१ को हेस्टिंग्स ने सिंधिया के पास एंडरसन के जाने की खबर भेज दी लेकिन सिंधिया ने पूना की आज्ञा के बिना उनसे मिलने को इनकार कर दिया। इसी बीच उन्होंने म्योर को एक पत्र लिखा जिसमें सिंधिया से चेतसिंह के मिलने की बात थी और इस बात की प्रार्थना थी कि हेस्टिंग्स राजा की भलाई का खयाल रक्खेंगे। कर्नल म्योर ने इस पत्र के उत्तर में ६ दिसम्बर १७८१ को एक पत्र भेजा जिसमें कम्पनी के शत्रु

---

[१] इंडियन हिस्टोरिकल रेकर्ड्स् कमीशन, प्रोसीडिंग्स ११ (१९२८), पृ० १६८–१७२

चेतसिंह को आश्रय देने का उलाहना था। हेस्टिंग्स ने भी ऐसा ही एक पत्र सिंधिया के पास लिखा।

ऐसा पता चलता है कि सिंधिया द्वारा चेत सिंह को आश्रय देने वाली घटना में हेस्टिंग्स ने सिंधिया का शत्रुभाव नहीं माना। अपने १२ दिसम्बर १७८१ के एक पत्र में उसने एंडरसन को इस बात की सूचना दी कि अंग्रेजों के साथ सिंधिया की टालमटोल इसलिए थी कि उनकी पूना के प्रति वफ़ादारी थी और उन्हें चेतसिंह की दौलत का लालच था। इसमें एंडरसन को यह भी सलाह दी गयी थी कि अगर पूरी कैफ़ियत देने के बाद भी सिंधिया न मानें तो एंडरसन वापस चले आयें।

कुछ दिनों बाद सिंधिया ने २३ जनवरी १७८२ को एंडरसन से भेंट करना स्वीकार कर लिया। इस भेंट में महादजी ने चेतसिंह की प्रार्थनाओं को न मानने का वादा किया। एंडरसन को हेस्टिंग्स ने यह भी आदेश दिया कि वह चेतसिंह के पड़ाव से हट जाने पर सिंधिया से मिलने की शर्त पर अधिक जोर न दे।

एंडरसन और महादजी की भेंट का नतीजा अच्छा निकला। सिंधिया की मदद से अंग्रेजों ने पेशवा के साथ दिसम्बर १७८२ में सालबी की संधि की। लेकिन चेत सिंह के मामले में महादजी कुछ न कर सके और इसलिये उन्होंने दूसरे तरीक़ो से ही राजा का परितोष करने का निश्चय किया।

एंडरसन ने ८ मई १७८३ के अपने एक पत्र में हेस्टिंग्स को लिखा कि सिंधिया की प्रार्थना पर भी उसने हेस्टिंग्स को चेत सिंह की सिफ़ारिश में लिखने से इनकार कर दिया। बहुत खत-किताबत के बाद भाऊ बक्शी एंडरसन से मिले और राजा के बारे में एंडरसन के मत से सहमत होकर राजा की दूसरी तरह से मदद करने का निश्चय किया।

अपने २० मई १७८३ के एक पत्र में एंडरसन लिखता है कि सिंधिया ने चेत सिंह को दस लाख सालाना आमदनी की एक जागीर जिसमें भिंड और कछवागढ़ भी शामिल थे देने का निश्चय कर लिया था। १० जून के एक दूसरे पत्र में एंडरसन ने फिर खबर दी कि नवाब वजीर की रियासत के पास होने से चेतसिंह ने भिंड लेना क़बूल नहीं किया और उसकी जगह सिंध नदी के पास बिजयगढ़ लेना चाहा। इसी बीच में सिंधिया ने जागीर घटाकर पाँच लाख की कर दी और असल में तो उस जागीर की आमदनी दो या तीन लाख से अधिक नहीं थी।

हेस्टिंग्स के अवसर ग्रहण करने पर चेतसिंह को पुनः बनारस की गद्दी प्राप्त करने की आशा हुई। अपने २३ मार्च १७८५ के एक पत्र में एंडरसन लिखते हैं कि मिर्ज़ा रहीम बेग और दीवान माधोराव ने हिम्मत बहादुर से सलाह करके सिंधिया को इस बात का पता लगाने पर राजी कर लिया कि हेस्टिंग्स के बाद के गवर्नर जनरल के शासन काल में चेतसिंह के लिये कोई आशा थी अथवा नहीं। लेकिन यह बात कुछ आगे नहीं बढ़ पायी।

चारों तरफ़ से नाउम्मीद होकर चेतसिंह ने एंडरसन से सीधी बातचीत चलानी चाही पर एंडरसन ने इससे इनकार कर दिया। अपने २५ जुलाई, १७८५ के एक पत्र

में एंडरसन लिखता है कि चेतसिंह का सब धन समाप्त हो जाने पर किस तरह सिंधिया उनसे बेरुखी का बरताव करने लगे थे और कैसे उन्हें झूठी आशाओं में फांस रक्खा गया था। इसके बाद चेतसिंह का नाम इतिहास से लुप्त हो जाता है।

लाला सेवकराम कलकत्ते में नाना फडनवीस के वकील थे। इनका हेस्टिंग्स के साथ बराबर बनारस आना होता रहा और अपनी इन यात्राओं का वर्णन ये बराबर नाना के पास भेजते रहे। चेतसिंह वाली घटना के संबंध में उनके दो पत्र महत्व के हैं। इन पत्रों से तत्कालीन घटनाओं पर तो कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता पर इतना अवश्य पता चलता है कि दूसरों की दृष्टि में इस घटना का क्या महत्त्व था और हेस्टिंग्स उस समय कितने परीशान थे। पहला पत्र तो बनारस की घटना का सरसरी तौर से वर्णन देता है।[१] पत्र का मजमून निम्नलिखित है :—

"बनारस श्रावण बदी १० को पहुँचकर उसने चेत सिंह के साथ बेइमानी बरती पर ईश्वरेच्छा से तत्काल दुर्दशाग्रस्त होकर रात्रि के समय उसे सात कोस चुनार के क़िले में भागना पड़ा। उसके साथ भोंसले के वकील बेनीराम पंत और बिसंभर पंत थे। ....चेत सिंह ने तीन सौ गोरी फ़ौज और एक तिलंगी पलटन को मार काट कर बड़े साहब को बहुत सताया और मुल्क में बग़ावत फैल गयी। परंतु नवाब वज़ीर जिसकी करनी सारे देश में विदित है पाँच हजार सवार और सात पलटन लेकर आया और बड़े साहब की जान बचायी। चेत सिंह घबराकर पचास हाथी और दो सौ ऊँटों पर रुपये और मुहर लाद कर भागा। उसके साथ में पाँच हजार प्यादे और सवार थे। उसने एक वकील नाना साहब और दो वकील महादजी शिंदे और अहल्याबाई के पास भेजे ....पौष कृष्ण १३ को खबर मिली कि चेत सिंह महादजी के पास पहुँच गये हैं। सिंधिया ने तीन कोस आगे अपने दीवान को भेजकर उनकी आवभगत की और उनकी कुशल पूछकर पोशाक और जवाहरात भेंट कर लश्कर के ठहरने का प्रबंध किया और उनको ढाढ़स दिया। बड़े साहब ने अपने एलची इंद्रसेन (एंडरसन) को लिखा कि वह शिंदे से भेंट करे और उसने इटावा से कूच करके ७ मुहर्रम को शिंदे से मुलाकात की। बड़े साहब ने बेनीराम को एक लाख रुपये इनाम और पचीस हज़ार सालाना की जागीर दी और उनके भाई बिसंभर पंत को पचास हज़ार खर्च देकर नागपुर भोंसले के पास इसलिए भेजा कि उनके मार्फ़त आपके साथ सलाह कर सकें"।

लाला सेवकराम के दूसरे पत्र से जो ७ जनवरी १७८२ को बनारस से लिखा गया, वारेन हेस्टिंग्स की बनारस से रवानगी का पता चलता है। संभवतः जब बनारस में गड़बड़ी फैली हुई थी, तब लाला सेवकराम पटने लंबे पड़ गये थे और ठीक उस मौके पर पुनः हाज़िर हो गये जब वारेन हेस्टिंग्स बनारस से रवाना होने वाले थे। इस पत्र में हेस्टिंग्स की रवानगी का बहुत सुंदर वर्णन है। पत्र का मजमून निम्नलिखित है :—[२]

[१] इतिहास संग्रह, अप्रैल १९०९, पृ० ११–७२

[२] इतिहास संग्रह, उल्लिखित, पृ० ७३–७४

"पटने ढाई महीने ठहरने के बाद किराये की नाव पर मैं बनारस आया। वहाँ मणिकर्णिका पर स्नान करके विश्वेश्वर और अन्नपूर्णा की अराधना की और ब्राह्मणों को दक्षिणा बाँटी। चंद्र ३ मोहर्रम को बड़े साहब से भेंट की। बड़े रंजीदा थे। मुझसे पूछा—क्या कहना है ? इतने दिनों कहाँ थे। मैंने उत्तर दिया— यहाँ दंगे फ़साद की वजह से पटना था और लौटते ही आपके पास आया हूँ। कुछ न कहकर पान अतर देकर विदा किया। उसी रोज़ मैंने देखा कि बीवी और बड़े साहब का माल असबाब नाव पर चढ़ रहा है। मुंशी वगैरह ने कहा कि दो चार दिनों में कलकत्ते जाने वाले हैं। चन्द्र ११ मुहर्रम को नवाब वज़ीर ने दो चाँदी की सजी पलंगे, चाँदी की अम्बारियों सहित दो हाथी, एक पालकी और पाँच घोड़े बड़े साहब के पास भेजे, जिन्हें राजा गोविन्द राम वकील ने हाज़िर किया। बड़े साहब और बीवी रात दिन नाव पर रहते थे और दूसरे तीसरे बाग़ (माधवदास सामिया) में आकर दरबार करते थे। विजयगढ़ हस्तगत हुआ वहाँ से तीस लाख नकद, बीस लाख का कपड़ा और गल्ला तथा बारूद और गोले हाथ लगे। राजा की माँ और उनकी औरतों को पाँच लाख देकर काशी के राजमहल में रक्खा............चन्द्र १३ मुहर्रम को बेनी राम ने नाव पर बड़े साहब से भेंट की। एक पोशाक, मोती का कंठा, सरपेंच और जिगा ख़िल्लत में देकर उनसे बातचीत की। लोगों का विश्वास है कि मुधाजी भोंसले ने बेनीराम को हटा दिया है। अन्त में सेवक राम बिनती करते हैं कि कश्मीरी मल का ३००० कर्ज़ हो गया है"।

चेत सिंह के मामले को लेकर इतिहासकारों और इंगलैण्ड के राजनीतिज्ञों में काफ़ी बहस रही। एक पक्ष वारेन हेस्टिंग्स के चेत सिंह के प्रति किये गये व्यवहार का समर्थन करता था और दूसरा पक्ष इसका विरोध। समर्थक पक्ष का कहना था कि बनारस पर चेत सिंह का कोई हक़ न था और अंग्रेज उनकी मदद न करते तो अवध के नवाब उनकी सब मिलकियत ज़ब्त कर लेते और राजा का किया धरा कुछ न बन पड़ता। वारेन हेस्टिंग्स भी ख़ुद कम्पनी का क़ब्ज़ा बनारस पर कर सकते थे क्योंकि बनारस का प्रबंध अवध के नवाब ने अंग्रेजों के हाथ कर दिया था। फिर भी हेस्टिंग्स ने चेत सिंह को इसलिए गद्दी पर बैठाया कि वे उनके आड़े बेड़े में काम आ सकें। पर ऐसा न करके चेत सिंह अपनी मनमानी करते रहे और अपने व्यवहारों से अपने मददगार वारेन हेस्टिंग्स को काफ़ी तकलीफ़ पहुँचाई।

चेत सिंह से लड़ाई के समय माली मदद माँगने के सम्बन्ध में इस पक्ष का कहना है कि हिन्दोस्तान की तो यह प्रथा थी कि लड़ाई के समय करद जान माल से केन्द्र की सहायता पहुँचावें। वारेन हेस्टिंग्स ने रुपये माँगकर कोई अनुचित नहीं किया। चेत सिंह के साथ क़बूलियत में ऐसी रकम का उल्लेख न होना विरोध पक्ष की राय में कोई विशेष बात नहीं है, क्योंकि क़बूलियत के पट्टे में यह भी नहीं लिखा था कि मालगुज़ारी के सिवा उनसे कोई रकम वसूल नहीं की जा सकती थी।

समर्थक पक्ष का यह भी कहना है कि चेत सिंह कम्पनी को आसानी से हर साल पाँच लाख रुपये और समय पर एक हज़ार सवार दे सकते थे। बाद में वे आसानी से हेस्टिंग्स द्वारा किये गये पचास लाख रुपये जुर्माने को भी अदा कर सकते थे क्योंकि उनके

खजाने में तीन करोड़ से अधिक रकम थी और कम्पनी को मालगुजारी देने के बाद भी उनको १४-१५ लाख की बचत थी।

कुछ लेखकों का कहना है कि औसान सिंह को कैद से छुड़ाकर और उन्हें चेत सिंह से जागीर दिलवाना हेस्टिंग्स का अन्याय था। लेकिन समर्थक पक्ष का कहना है कि हेस्टिंग्स को इस तरह का हुक्म जारी करने का पूरा अधिकार था क्योंकि पट्टा क़बूलियत में यह साफ़-साफ़ लिखा था कि चेत सिंह अपनी रियाया पर जुल्म न करेंगे। अगर हेस्टिंग्स की निगाहों में उन्होंने औसान सिंह पर जुल्म किया तो इसका प्रतिकार करने का उन्हें पूर्ण अधिकार था।

हेस्टिंग्स के समर्थक यह मानते हैं कि जब चेत सिंह ने उनके पाँव पर अपनी पगड़ी रख दी तो उसे ठुकराना अनुचित था तथा राजा को उनके मकान में क़ैद करने की बात गलत थी। लेकिन इन बातों का भी वे इस बुनियाद पर समर्थन करते हैं कि चेतसिंह ने कम्पनी के साथ बेईमानी बरती थी और अगर इस बेईमानी के फलस्वरूप हेस्टिंग्स ने उनके साथ कड़ाई का व्यवहार किया तो कोई अनुचित नहीं था।

हेस्टिंग्स के समर्थक यह मानते हैं कि चेत सिंह वाले मामले में सब दोष चेत सिंह और औसान सिंह का था, हेस्टिंग्स इसमें निर्दोष थे। इस घटना की जड़ वे औसान सिंह का मुर्शिदाबाद जाना मानते हैं। औसान सिंह के मुर्शिदाबाद जाते ही चेतसिंह को यह डर पैदा हुआ कि औसान सिंह, जिन पर वारेन हेस्टिंग्स की कृपा थी, कहीं राजा की उनसे चुगली न करें। उस समय गवर्नर जेनरल की काउसिल में भी वैमनस्य चल रहा था और इस बात की संभावना थी कि अगर हेस्टिंग्स अपने पद से हटे तो क्लेवरिंग गवर्नर-जनरल होंगे।

इस भविष्य को सोचकर ही चेत सिंह ने शंभूनाथ को बनारस से क्लेवरिंग के पास भेजा। लेकिन जैसे ही हेस्टिंग्स को औसान सिंह से यह खबर मिली वे राजा पर निहायत नाराज हुए और उसी दिन से हेस्टिंग्स का चेत सिंह के प्रति अविश्वास बढ़ने लगा। इस अविश्वास को तूल देने वालों की कमी न थी। हेस्टिंग्स और मार्कहम के साथ औसान सिंह और दोनों मौलवी थे और चेत सिंह के साथ बहुत से बदमाश और खुशामदी। चेत सिंह और हेस्टिंग्स का पारस्परिक अविश्वास बढ़ता ही गया और उसी के फलस्वरूप राजा को बनारस छोड़ कर भाग जाना पड़ा।

अगर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो चेत सिंह वाले मामले में हेस्टिंग्स की सरासर जबर्दस्ती थी। इसमें शक नहीं कि चेत सिंह को गद्दी पर बैठाने का बहुत कुछ श्रेय हेस्टिंग्स को था पर इसके माने तो यह नहीं हो सकते कि गद्दी पर बैठाने के बाद क़बूलियत पट्टे को ताख पर रखकर हेस्टिंग्स चेत सिंह के साथ मनमाना व्यवहार करें। चेतसिंह कोई बहादुर आदमी नहीं थे। बात बात पर वे गवर्नर जनरल की खुशामद करने को तैयार थे फिर भी हेस्टिंग्स ने उनके साथ अपमानजनक व्यवहार किया। यहाँ तक कि रेजिडेंट के मुँह लगे भी उनकी बेइज्जती करने में नहीं चूकते थे। लेकिन १८वीं सदी में बुजदिल होना पाप था और उसी का दंड चेत सिंह को भोगना पड़ा। बनारस की

बग़ावत के बाद अगर वे ठीक तरह से अपनी सेना का संचालन कर सकते, तो शायद हेस्टिंग्स को अपनी जान खोनी पड़ती और इसका नतीजा भारतवर्ष के इतिहास पर क्या होता, कहा नहीं जा सकता। पर चेत सिंह तो भागते ही रहे। बिजयगढ़ के क़िले में अपनी स्त्रियों को छोड़ कर भागना तो अत्यन्त कायरता थी।

कैंब्रिज हिस्ट्री के लेखकों ने भी चेतसिंह के मामले में वारेन हेस्टिंग्स की नीति ग़लत मानी है। उनकी राय में राजा से जबर्दस्ती रुपये वसूलने में सख़्ती बरती गयी। १७७९ में चेत सिंह ने प्रार्थना की कि कर केवल उसी साल के लिये रहे, तब उनकी ढिठाई का बदला उनसे किश्तों की जगह एक मुश्त रक़म मांग कर निकाला गया। जब चेत सिंह ने रक़म अदा करने के लिये ६–७ महीनों की मुहलत चाही, तब उनसे कहा गया कि रक़म फ़ौरन अदा न करने पर यह मान लिया जायगा कि उन्होंने रक़म देना ही नामंजूर कर दिया। जब चेत सिंह ने पट्टा क़बूलियत की दुहाई दी तो उनके राज में सेना को बढ़ने का आदेश दिया गया, सो भी उन्हीं के ख़र्च पर।

१७८० में जब चेत सिंह पाँच लाख की रक़म की अंतिम किश्त अदा कर चुके तो उन्हें दो हजार सवार भेजने का आदेश हुआ गोकि जब १७७५ में वे बनारस के राजा हुए तो उन्हें केवल २००० सवार रखने का आदेश हुआ और सो भी उनका रखना न रखना उन पर मुनहसर था। रो-पीट कर चेत सिंह ने ५०० सवार और ५०० सिपाही कंपनी की सेवा में भेजने का निश्चय किया, पर इस संबंध में उनके पत्र का कोई उत्तर नहीं मिला।

राजा ने बक्सर में हेस्टिंग्स के पैरों पर अपनी पगड़ी तक रख दी पर हेस्टिंग्स ने उसका भी ख़याल न करके और उसे ठुकराकर उसकी बेइज्ज़ती की। चेत सिंह कोई मामूली ज़मींदार तो थे नहीं और इस बात को हेस्टिंग्स ने स्वयं स्वीकार किया है, फिर भी उनकी बेइज्ज़ती एक मामूली आदमी की तरह की गयी।

यह बात निश्चित सी है कि राजा के दिमाग़ में बग़ावत की बात तब तक नहीं घुसी थी जब तक उनके अपमान से क्षुब्ध होकर उनकी सेना ने बग़ावत नहीं कर दिया। हेस्टिंग्स का व्यवहार चेत सिंह के प्रति प्रतिहिंसा मुक्त था। १७८० में पाँच लाख की तीसरी माँग के बाद चेत सिंह ने अपने एक निजी दूत को कलकत्ता भेजकर हेस्टिंग्स को दो लाख की नजर दी। पहले तो हेस्टिंग्स न इस रक़म को ठुकरा दिया पर बाद में सिंधिया के विरुद्ध सेना भेजने की तैयारी में रुपये की ज़रूरत से बिना कौंसिल के जाने रुपये ले लिये और पूछने पर यह बतला दिया कि वे उनकी निजी जायदाद से आया था। लेकिन यह समझना मुश्किल है कि कैसे एक विचारयुक्त और साधारण सहानुभूति वाला आदमी एक दूसरे आदमी से दो लाख की रक़म लेकर, फ़ौरन ही उससे पाँच लाख की दूसरी रक़म माँगे और प्रार्थी को सेना भी देने को मजबूर करे और उसके ऐसा न करने पर उसके ऊपर पचास लाख का जुर्माना ठोंक दे।[१] हेस्टिंग्स के इस व्यवहार से साफ़ पता चलता है कि चेत सिंह द्वारा क्लेवरिंग के पास दूत भेजने की बात वे नहीं भूले थे और राजा से उसी का बदला निकाल रहे थे।

---

[१] केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भा० ५, पृ० २९५ से

राजनीतिक आधारों पर भी चेत सिंह वाले मामले में हेस्टिंग्स का व्यवहार ठीक नहीं जँचता। उसे रुपये की सख्त जरूरत थी, वह भी उसे नहीं मिला इतना ही नहीं उसने मुफ़्त में ही अपनी जान भी खतरे में डाली। अँकड़ में आकर राजा को क़ैद करने से ही उसने बनारस के लोगों में बग़ावत फैलायी। राजा अपना धन दौलत लेकर भाग खड़े हुए और जो कुछ बाक़ी बचा उसे सेना ने बिजयगढ़ में लूट लिया, उलटे कम्पनी को इस लड़ाई के खर्चे का पूरा भार उठाना पड़ा। बाद में हेस्टिंग्स शेखी बघारते थे कि उन्होंने २२ लाख लगान वाली जमींदारी खोकर ४० लाख लगान वाली जमींदारी प्राप्त की लेकिन यह सब तो भविष्य की बात थी और वास्तव में तो दुर्भिक्ष पड़ जाने से तो कुछ दिनों तक बहुत कम मालगुजारी वसूल हो सकी। इस बात के सबूत हैं कि कर की अधिकता और दूसरी लूटों से बहुत दिनों के बाद बनारस की अवस्था सुधर सकी।

जो भी हो एक बात माननी ही पड़ेगी कि हेस्टिंग्स ने बनारस ले लेने के बाद वहाँ की न्याय व्यवस्था को बहुत कुछ सुधारने की कोशिश की। १८वीं सदी के उत्तर भारत में अराजकता का पूरा जोर था और उसकी वजह से न्याय व्यवस्था कायम रखना आसान काम न था। कम से कम बलवन्त सिंह और चेत सिंह के समय तो अपराधों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गयी थी और गुंडों और पंडों की बदमाशियों के मारे नाकों में दम था। राजा के रिश्तेदार और बनारस के वे महाजन जो राजा को अंग्रेजों की मालगुजारी अदा करते समय रुपये उधार देते थे प्रजा के साथ मनमाना व्यवहार करते थे और उन्हें किसी प्रकार के राजदंड का डर न था। अपनी पवित्रता की आड़ में ब्राह्मण भी भयंकर से भयंकर अपराध करते थे, क्योंकि उन्हें इस बात का विश्वास था कि उन्हें दंड नहीं मिलेगा।[1]

इन बुराइयों से छुटकारा पाने के लिए वारेन हेस्टिंग्स ने पुलिस और फ़ौजदारी और दीवानी मुक़दमों के लिए अलग-अलग विभाग खोले और उन सब विभागों को अली इब्राहीम खाँ के मातहत कर दिया। अली इब्राहीम खाँ ईमानदार आदमी थे और हेस्टिंग्स के साथियों ने इस नये प्रबन्ध को बहुत सराहा और उन्हें लिखा, "आपकी यात्रियों की रक्षा और आराम की तरफ दृष्टि, आपके द्वारा उन करों का उठा दिया जाना जिनसे रिश्वती सरकार के समय प्रजा पीड़ित थी—इन दोनों से आपकी ख्याति बढ़ती है। राजनीतिक दृष्टिकोण से भी आपका प्रबन्ध उचित ही है और उसका अच्छा नतीजा मिल सकता है। गंगा से कन्याकुमारी तक सारा हिन्दोस्तान पुलिस सम्बन्धी नियमों में रस लेगा और उसे बनारस की पाठशालाओं में व्यवस्थित और शान्तिमय वातावरण देखकर आनन्द होगा। बड़े-बड़े अगुआ मरट्ठे जिनसे हम लड़ रहे हैं, वे भी बनारस को धार्मिक पवित्रता का घर मानते हैं। इन कारणों से हम आपसे प्रार्थना करेंगे कि आपने जो क़ानून बनारस में चलाये हैं वे भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में छाप दिये जायँ। थोड़े ही दिनों में ये चारों ओर भारत में फैल जायँगे और लौटते हुए यात्रियों के बयान से हिंदुओं को मालूम हो जायेगा कि हमारी शासन व्यवस्था कितनी सरल है"।[2] ● ●

---

[1] फॉरेस्ट, उल्लिखित, भाग १, पृ० २२९–२३० [2] वही, पृ० २३०–३३

पाँचवाँ अध्याय

मराठे और बनारस (१७३४–१७८५)

महाराष्ट्र ब्राह्मणों के लिए काशी अकबर के राज्यकाल से ही परम पवित्र तीर्थ बन गयी। महाराष्ट्र पंडित काशी में यात्रा के लिए ही नहीं आते थे, बहुत से तो वहाँ सदा के लिए बस गये और अपने पांडित्य से बनारस का नाम ऊँचा करते रहे। जान पड़ता है, पेशवाई आरम्भ होने पर महाराष्ट्र और बनारस का सम्बन्ध और दृढ़ हुआ और बहुत बड़ी संख्या में महाराष्ट्र ब्राह्मण काशी यात्रा के लिए आने लगे और पेशवा भी बनारस के सुधार में काफ़ी रुपये खरचने लगे। बहुत से महाराष्ट्र ब्राह्मण तो पूना की वृत्ति से अपना गुजारा करते और पेशवाओं के कल्याण के लिए पूजापाठ करते रहते थे। इन ब्राह्मणों के रहने के लिए पेशवाओं ने बहुत सी ब्रह्मपुरियाँ बनवायीं और उनकी स्नान पूजा की व्यवस्था के लिए बहुत से घाट भी बनवाये। धीरे-धीरे जब उत्तर भारत से पेशवाओं का सम्बन्ध बढ़ा तब उनकी यह इच्छा प्रबल होती गयी कि किसी तरह त्रिस्थली यानी काशी प्रयाग और गया उनके अधिकार में आ जायें। इसके लिये उन्होंने बहुत प्रयत्न भी किया पर अनेक राजनीतिक उलझनों के कारण ये तीनों शहर उनके क़ब्जे में न आ सके। इतना ही नहीं इन तीर्थों की ले लेने की उत्कट इच्छा से मराठों को आगे चल कर बहुत नुकसान भी पहुँचा क्योंकि रुहेले और अवध के नवाब, इन दोनों में पुश्तैनी वैर भाव होने पर भी इस बात पर दोनो एक मत थे कि किसी प्रकार मराठे गंगा के दक्षिण में ही रहें, क्योंकि इसमें उन दोनों के राज्यों की रक्षा थी। शायद शुजाउद्दौला पानीपत की लड़ाई में अब्दाली का हरगिज़ साथ न देते, अगर उन्हें इस बात का डर न होता कि मराठों की उनके राज्य पर आँख है। अंग्रेजों के हाथ में बिहार और बनारस आने पर तो मराठों को त्रिस्थली से सदा के लिए हाथ धो देना पड़ा।

बाजीराव प्रथम (१७२०–१७४०) के समय में ही पूना और बनारस में दृढ़ संबंध स्थापित हो चुका था। पेशवा दफ्तर में सदाशिव नाइक जोशी के, जो शायद बाजीराव प्रथम के बनारस में कारभारी थे, १७३४–३५ ईस्वी के कई पत्र हैं जिनसे पूना और बनारस के संबंध पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। लेकिन इन पत्रों में केवल घाटों, ब्रह्मपुरियों इत्यादि के बनाने के ही उल्लेख हैं, उनसे यह नहीं पता चलता कि बाजीराव प्रथम की बनारस पर निगाह थी।

सदाशिव नाइक जोशी का ८–८–१७३५ का एक पत्र बाजीराव प्रथम और चिमना जी आपा के नाम है।[१] इस पत्र में सदाशिव नाइक ने कई प्रश्नों का समाधान किया है और घाट इत्यादि बनवाने में अपनी कठिनाइयों का भी उल्लेख किया है। शायद पेशवा ने ब्रह्मपुरी बनवाने के लिये नाइक को लिखा था पर उसके लिये बड़ी जगह नहीं मिलती

[१] पेशवा दफ्तर, ३०, १३१

थी। बनारस के फ़ौजदार रुस्तम अली उस समय जरासंध घाट पर मीर घाट के नाम से पुश्ता बनवा रहे थे। उसके लिये सब इमारती सामान खरीद लिया जाता था और इससे दूसरे लोग कोई इमारती काम अपने हाथ में नहीं ले सकते थे। सदाशिव नाइक के कथनानुसार उस समय बनारस का किराया दुगुना हो गया था और इसका कारण बनारस में नागरों का आकर बस जाना था। सदाशिव ने पेशवा की ओर से वृद्धकाल के पास एक बाग़ लिया था जिसमें चहारदीवारी खिंच गयी थी और पूरा बाग थोड़े ही दिनों में बन कर तैयार होने वाला था। यह बाग़ इतना बड़ा था कि उसमें एक हज़ार ब्राह्मण एक पंक्ति में बैठकर भोजन कर सकते थे। पेशवा ने काशी में घाट बाँधने की आज्ञा भेजी थी। सदाशिव नाइक ने अपनी राय से पंचगंगा, मणिकर्णिका और दशाश्वमेध पर घाट बाँधना निश्चित किया था और उसमें दशाश्वमेध और मणिकर्णिका के घाट तो बन भी चुके थे। पंचगंगा का घाट भी श्रीपत राव नाम के किसी सज्जन ने बनवा दिया था। ब्रह्मनाल घाट न बँध सका इस की भी चर्चा सदाशिव करते हैं।

अपने दूसरे पत्र के आरंभ में[1] सदाशिव पहले पत्र की तरह ही घाटों के उल्लेख करते हैं। इस पत्र से यह भी पता चलता है कि मंदाकिनी (मैदागिन) के तीर वाले बगीचे का रक़बा तीन बीघा था और इसमें यात्रियों के रहने की व्यवस्था थी। इस पत्र से यह भी पता चलता है कि नारायण दीक्षित बनारस पहुँच गये थे और उनके रहने के लिए सदाशिव नाइक ने घर का प्रबंध कर दिया था।

अपने तीसरे पत्र में भी सदाशिव नाइक बनारस के घाट इत्यादि की चर्चा करते हैं।[2] पत्र से यह भी पता चलता है कि नाइक जी किसी बखेड़े में फँस गये थे और केशव राव और नारायण राव ने अभयपत्र भेजकर उनकी रक्षा की थी। ग्यारह ब्रह्मपुरियों के बारे में भी वे लिखते हैं कि नागेश मंदिर और यज्ञेश्वर घाट तक की ज़मीन तो उनके क़ब्ज़े में थी और बाक़ी जगह मिल जाने पर ग्यारहों ब्रह्मपुरियाँ और मठ भी बन जाने को थे। लेकिन उन्होंने इन सब इमारतों का खर्च एक लाख कूता था। इस पत्र से यह भी पता चलता है कि १७३० में मणिकर्णिका घाट बना। इस घाट के बनने में रुपया तो बाजीराव का लगा और महाराष्ट्र के यात्री ऐसा मानते भी थे, पर गंगापुत्र और अवरंद (?) ऐसा मानने को तैयार नहीं थे। सदाशिव इस बखेड़े को दूर करने के लिये बादशाह के पास से एक पत्र चाहते थे। वे बादशाह से काशी के अमीन के नाम एक पत्र भी चाहते थे जिससे बिना अड़चन के जल्दी से काम हो सके। इस पत्र में सदाशिव बनारस के फ़ौजदार रुस्तम अली की भलमनसाहत की भी प्रशंसा करते हैं।

अपने चौथे पत्र[3] में भी जिस पर कोई तारीख नहीं है सदाशिव नाइक बनारस में उपद्रव का जिक्र करते हैं। बहुत संभव है कि इसका संकेत सआदत अली और मीर रुस्तम अली की अनबन हो। इसके बाद वे कामकाज की बात लिखते हैं। नागेश और

[1] पेशवा दफ्तर, ३०, २८०

[2] पेशवा दफ्तर, १७, ३६

[3] पेशवा दफ्तर, १८, ३६

यज्ञेश्वर घाट के बीच की एक तिहाई जमीन तो नाइक के हाथ में आ गयी थी और उन्हें उम्मीद थी कि काम लग जाने पर बाक़ी जमीन भी उनके हाथ लग जायगी। वहाँ सन्यासियों के बगल में भी इसके लिये मठ और ग्यारह ब्रह्मपुरियाँ बनाने का उनका इरादा था। मणिकर्णिका के बगल में भी इसके लिये ज़मीन मिल सकती थी पर वहाँ ब्रह्मपुरियाँ और घाट बनाना इसलिये वृथा था क्योंकि मणिकर्णिका को छोड़ कर कोई वहाँ स्नान नहीं करता था। इस पत्र से यह भी पता चलता है कि सिद्धेश्वर के दाहिने ओर वाले घाट पर उस समय तक घाट नहीं बना था। वहाँ केवल एक मठ था। पत्र से यह भी विदित होता है कि मणिकर्णिका से ब्रह्मनाल वाली सड़क उस समय नहीं थी और उस स्थान पर १७३५ के करीब पचास साठ गज लंबी ब्रह्मनाली थी। इसको पाटने अथवा बाँधने में लाख रुपये का खर्च था और नाइक जी की राय इतना रुपया लगाने की नहीं थी।

१७३४ ईस्वी में नारायण दीक्षित पाटणकर का बनारस आना भी एक विशेष घटना हुई। इनके साथ इनके छोटे पुत्र बालकृष्ण दीक्षित भी आये। नारायण भट्ट अपनी साधुता और चरित्र के लिए सारे महाराष्ट्र में विख्यात थे और पेशवा बालाजी विश्वनाथ इन्हें अपना गुरु मानते थे। जैसे ही उनकी काशी यात्रा का समाचार फैला, हज़ार बारह सौ आदमी उनके साथ हो लिए। यात्रा में उनके आराम का सारा प्रबंध औरंगाबाद के सूबेदार के दीवान बीसा मोरा ने कर दिया। प्रयाग और गया होकर नारायण दीक्षित बनारस पहुँचे। वहाँ बीसा मोरा द्वारा भेजे गये पचास हज़ार रुपये उनको मिले, लेकिन नारायण दीक्षित ने रुपये औरंगाबाद लौटा दिये और बाद में बहुत अनुनय विनय के बाद उसे दान में व्यय करने के लिए स्वीकार किया। अपने २७–१०–१७३४ के पत्र में नारायण दीक्षित[१] ने पंत प्रधान को अपने काशी पहुँचने का समाचार दिया। पत्र से पता चलता है कि बाजीराव की यह इच्छा नहीं थी कि नारायण दीक्षित बनारस जायँ, पर नारायण दीक्षित ने चित्त की प्रेरणा से ही ऐसा किया।

बाजीराव की माता राधाबाई ने १७३५ में काशी यात्रा की और बहुत दान पुण्य भी किया। वहाँ उन्होंने उमानाथ पाठक को अपना तीर्थ पुरोहित बनाया तथा बाजीराव और चिमाजी आपा और उनके वंशधरों को इन्हीं के पूजने का आदेश दिया।[२] राधाबाई की काशीयात्रा का कुछ विवरण हमें नारायण दीक्षित के २६–१२–१७३५ के बाजीराव और चिमाजी आपा के नाम के एक पत्र में मिलता है। "माता जी राधाबाई कार्तिक सुदी १२ को यहाँ आयीं। त्रयोदशी से तीर्थविधि शुरू हो गयी। कार्य समाप्त करके उनकी सवारी गया गयी। यहाँ के दान धर्म के बारे में लिखना ठीक नहीं, और लोगों से इसका पता आपको चल जायगा। हमसे इस बारे में वह कुछ नहीं पूछती थीं। पाँच पचीस विद्वानों को उत्तम दान मिला और इससे लोकोत्तर कीर्ति हो गयी, लेकिन महाराष्ट्र ब्राह्मणों में से किसी को एक छदाम भी न मिली। चितपावन ब्राह्मणों में से पाँच सात

---

[१] पेशवा दफ्तर, ३०,११०

[२] पेशवा दफ्तर, ९,२५

को दस रुपये और दूसरों को एक दो रुपये मिले। दस पाँच आदमियों को कुछ नहीं मिला। इतना होने पर भी बाई के दानधर्म का हम आसरा लगाएँ, तो हमें काशी छोड़कर देश लौट जाना पड़ेगा।" जान पड़ता है, नारायण दीक्षित महाराष्ट्र के ब्राह्मणों के हाथ कुछ रक़म न लगने से काफ़ी रुष्ट हुए। शायद फुसलाकर गहरा माल गंगापुत्र ले मरे और दूसरे मुँह ताकते रह गये।

नारायण भट्ट ने काशी के अपने जीवन में बहुत से धर्म कार्य किये। ब्रह्मेश्वर के मन्दिर के पास मल्लाहों की एक छोटी बस्ती थी पर कोई घाट न था। यहाँ नारायण भट्ट ने महाराष्ट्र ब्राह्मणों के लिए घर बनाने के लिए ज़मीन ली और दो घाट ब्रह्माघाट और दुर्गाघाट और अपने लिए एक बड़ा मकान बनवाया। आज दिन तक जिस महल्ले में उनका मकान था उसे नारायण दीक्षित की गली कह कर पुकारते हैं। मल्लाहों से ज़मीन खरीद कर उन्होंने मुफ़्त में जमीन और रुपये देकर ब्राह्मणों के घर बनवाये। बोडस, चितले, पाटणकर, और वझे कुलों के मकान उसी समय के हैं। इस महल्ले को दीक्षितपुरा अथवा ब्रह्माघाट कहते हैं और बाद में यहीं प्रतिनिधि सांगलीकर, रामदुर्गकर और नाना फडनवीस ने इमारतें बनवायीं।[1]

ऊपर हम कह आये हैं कि बाजीराव प्रथम का विचार शायद बनारस को मराठा साम्राज्य में सम्मिलित करने का नहीं था, पर बालाजी बाजीराव (१७४०–१७६१) की तो यह पूरी इच्छा थी कि बनारस किसी तरह उनके हाथ लग जाय। इस विचार के संबंध में हम आगे चल कर कुछ और कहेंगे। यहाँ तो हम बालाजी बाजीराव द्वारा बनारस पर इच्छित चढ़ाई का हाल देंगे और यह दिखलायेंगे कि किस तरह नारायण दीक्षित के समझाने से पेशवा अपनी इच्छा से विरत हुए। १७४२ में बालाजी बाजीराव ने मिर्जापुर में अपनी सवारी रोक कर बनारस ले लेने की इच्छा की। जब अवध के नवाब सफ़दर जंग को यह पता लगा तो उन्होंने बनारस के पंडितों को इकट्ठा करके बालाजी बाजीराव के बनारस आने के पहले ही उन्हें मार डालने की धमकी दी। बेचारे ब्राह्मण क्या करते, नारायण दीक्षित की अधीनता में वे पेशवा के पास पहुँचे और उसे लौट जाने के लिए मना लिया। इस घटना की ऐतिहासिकता का प्रमाण रावबहादुर पारसनीस को पेशवा की दैनिकी से भी मिला है। उससे यह पता लगता है कि पहली जून १७४२ को पेशवा ने मिर्जापुर में पड़ाव डाला था लेकिन उसके आगे वे नहीं बढ़े।[2] इस घटना पर प्रकाश डालने वाला कायगाँवकर दीक्षित के दफ्तर में २७ जून १७४२ का एक पत्र है[3] जिसका मज़मून निम्नलिखित है :—

"मल्हारराव का विचार ज्ञानवापी मस्जिद को गिराकर पुनः विश्वेश्वर मन्दिर बनाने का हुआ। पर पंच-द्राविड़ ब्राह्मण इसलिए चिंतित हुए कि यह मस्जिद अगर बादशाह के हुक्म के बिना गिरायी गयी, तो बादशाह क्रुद्ध होकर ब्राह्मणों को मार डालेगा। इस प्रान्त

---

[1] वामन बालकृष्ण दीक्षित, नारायण दीक्षित पाटणकर, पृ० २८–३०, बंबई १९२५

[2] इतिहास संग्रह, जून १९१०, पृ० ४४

[3] राजवाड़े, उल्लिखित, भाग ३, पृ० ३५४

में यवन प्रबल हैं। सबके चित्त में यह बात ठीक नहीं जँचती। दूसरी जगह मन्दिर बनाना अच्छा है। ब्राह्मण सोचते हैं कि घोर दुर्दशा होगी। मना करने वाला कोई नहीं है और मना करने से देवस्थापना को रोकने का दोष होगा। जो विश्वेश्वर को भावेगा वही होगा, चिन्ता करने से क्या लाभ। अगर मस्जिद गिरने लगेगी तो सब ब्राह्मण मिल कर विनती पत्र भेजेंगे, ऐसा विचार है।"

ऊपर के पत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि काशी के ब्राह्मण ज्ञानवापी मस्जिद गिराकर पुनः विश्वेश्वर के मन्दिर की स्थापना के सम्बन्ध में दुविधा में थे। एक ओर तो धर्म का प्रश्न था और दूसरी ओर जान का। बेचारे ब्राह्मणों ने जान को धर्म से अधिक मूल्यवान समझा और अपना मनसूबा दिल ही में लिए हुए बालाजी बाजीराव वापस लौट गये।

नारायण दीक्षित की मृत्यु १४–१०–१७४८ को काशी में हुई। उनकी अनेक सत्कृतियों में आज भी तीन सत्कृतियाँ उनकी परोपकार वृत्ति की साक्षी हैं—(१) सूर्योदय से सूर्यास्त तक सब व्यवहार के लिए दीक्षित जी ने ब्रह्माघाट, दुर्गाघाट और त्रिलोचन घाट बनवाये। (२) हरिश्चन्द्र घाट को भरवाया और मणिकर्णिका घाट पर श्मशान भूमि की योजना की। यहाँ पर डोमों का पहले से हक़ होने से वे लोगों को बहुत सताते थे। दीक्षित जी ने सबके सुभीते के लिए डोमों का कर सबके लिए साढ़े छह आना निश्चित कर दिया। (३) गंगा पर स्नानार्थियों और कपड़े धोने वालों की भीड़ से स्नान-संध्या में ब्राह्मणों को बहुत तक़लीफ़ होती थी। इसे दूर करने के लिए उन्होंने ब्रह्माघाट, दुर्गाघाट और त्रिलोचन घाट पर दूर-दूर तक सीढ़ियाँ बनवा दीं, उन पर तख़्ते लगवा दिये और तख़्तों पर छाया के लिए छतरियाँ लगवा दी गयीं। दूसरे घाट वालों को भी ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित किया गया।[1] नारायण दीक्षित ने एक गोशाला भी बनवायी। इस गोशाला के एक भाग में अब श्री राम और दूसरे भाग में सरस्वती के मन्दिर हैं। इन मन्दिरों को सांवलिया राम ने बनवाया। उन्होंने यह नियम भी चलाया कि मधुकरी माँगने के लिए संन्यासी घर-घर न जायँ, बल्कि एक स्थान पर खड़े रहें और जिन्हें मधुकरी देना हो आकर दे दें।

नारायण दीक्षित ब्राह्मण भोजन भी खूब डटकर कराते थे। बालाजी बाजीराव के नाम उनके एक पत्र[2] से इसका बख़ूबी पता चलता है। ब्राह्मण भोजन इतने होते थे कि बरतन चार महीनों से अधिक टिक नहीं सकते थे। यह दुर्दशा देखकर कृष्णराव महादेव ने पचास बरतन देना मंजूर कर लिया था। उन्होंने बरतनों को कल्याण से पूने तक तो पहुँचा देने का भार लिया था, पर उसके आगे काशी तक उन बरतनों को पहुँचा देने का भार नारायण दीक्षित ने बालाजी बाजीराव पर लाद दिया। दीक्षित जी ने भोजन के साथ दक्षिणा का भी नियम बाँध दिया था। सादे भोजन के साथ दक्षिणा आध

[1] वामन बालकृष्ण दीक्षित, उल्लिखित, पृ० ४८–४९

[2] पेशवा दफ्तर, १८, १७८

आना, पूरण पोली के साथ एक आना, पकवान के साथ दो आने और आगे पाँच पक्वान्न तक प्रत्येक पकवान के दो आने के हिसाब से दक्षिणा बाँध दी गयी।[१]

नारायण दीक्षित की कथा से हमें पता चल गया होगा कि १८वीं सदी की काशी में महाराष्ट्र ब्राह्मण किस तरह से चैन की बंसी बजाते थे और किस तरह पेशवों से येन केन प्रकारेण दान दक्षिणा वसूल करते थे। लेकिन इन भोजन भट्टों में चरित्र नहीं था, न त्याग की कोई भावना ही थी। बालाजी बाजीराव ने १७४२ में बनारस दखल करने का प्रयत्न किया पर काशी के ब्राह्मणों की कमज़ोरी के आगे उनकी एक न चली और उन्हें वापस चला जाना पड़ा। पर बालाजी बाजीराव ने अन्त तक त्रिस्थली पर अपना अधिकार करने का विचार नहीं छोड़ा और वे बराबर उत्तर भारत में अपने सरदारों को इस संबंध में प्रयत्न करने के लिए लिखते रहे। मल्हार राव होलकर ने अपने १५–८–१७५४ के एक पत्र में[२] पेशवा को इस बात का विश्वास दिलाया कि बनारस और प्रयाग को दखल करने की आज्ञा का उन्हें स्मरण था और उन्होंने गंगाधर यशवंत को इस संबंध में सन्धि करने को भेजा था। पत्र का मज़मून निम्नलिखित है :—

"..........आपने हरी के हाथ जो पत्र रवाना किया वह २३ माह मिनहूस को मिला और उससे बड़ा सन्तोष हुआ। प्रयाग और काशी के विषय में बारम्बार लिखता हूँ पर कोई उत्तर नहीं आता। ग़ाज़िउद्दीन खाँ की वज़ीरी हो गयी है और वे दिल्ली पहुँच गये हैं। दोनों कार्य अवश्य कर दें एवं उसकी सूचना दें ऐसा मैंने उन्हें लिखा है। यहाँ से स्वामी का खिदमतगार हरि गंगाधर पंत के पास मथुरा गया था। वहाँ ग़ाज़िउद्दीन खाँ व ठाकुर सूरजमल आदि थे। प्रयाग के विषय में सर्वदा राजश्री गंगाधर यशवंत के पास पत्र जाते हैं। दिल्ली का बन्दोबस्त हो जाने पर दोनों काम पूरे हो जायेंगे।"

वासुदेव दीक्षित के रघुनाथ पंत दादा के नाम १७५४ के एक पत्र[3] से भी ऐसा भास होता है कि जैसे ग़ाज़िउद्दीन ने बनारस का बन्दोबस्त पेशवा के साथ कर दिया हो। वासुदेव दीक्षित ने इस बारे में कई पत्र बलवन्त सिंह को भी लिखे पर इसका कोई नतीजा नहीं निकला।

सिंधिया के दीवान रामाजी अनन्त के नाम २३ फरवरी १७५९ को बालाजी बाजीराव ने एक पत्र लिखा। इस पत्र में और बातों के सिवा काशी और प्रयाग हस्तगत करने की भी बात है। पेशवा लिखते हैं, "शुजाउद्दौला से भी दो तीन बातें तय करनी हैं। उनसे बनारस, अयोध्या और इलाहाबाद ले लो। दादा को (१७५७ में) उन्होंने बनारस और अयोध्या देने का वादा किया था, इलाहाबाद की बात अभी चल रही है। अगर इस बात पर भी आसानी से समझौता हो सके तो कर लो"।[४]

---

[१] वामन बालकृष्ण दीक्षित, वही पृ० ५०

[२] पेशवा दफ्तर, २७, ११४

[3] पेशवा दफ्तर, २७, २०९

[४] ऐतिहासिक पत्रे, यादी वगैरे, १६६

दत्ता जी और जनकोजी सिंधिया के नाम अपने २१ मार्च १७५९ के एक पत्र में भी बालाजी बाजीराव इस ओर इशारा करते हैं, "इमादुलमुल्क का दिल सच्चा नहीं है। मंसूर अली खाँ के बेटे (शुजाउद्दौला) ने वजारत मिलने पर ५० लाख देने का वादा किया है। अगर मैं तुम्हें इस अदला-बदली की आज्ञा दूं तो तुम लाहोर से लौटने पर इसे सम्पन्न करना। इसके पहले जब दादा दिल्ली के पास थे तो मंसूर अली खाँ के बेटे ने अपने मन में हमें बनारस दे देने का वादा किया था। अगर उसे हम वज़ीर बना दें तो उसे बनारस और इलाहाबाद के साथ-साथ पचास लाख रुपया देना होगा। अगर वह बनारस इलाहाबाद न देना चाहे और पचास लाख देने में दो तीन वर्ष का समय चाहे तो उसे वज़ीर मत बनाना। ५० लाख और कम से कम इलाहाबाद वह दे दे तो उसे वज़ीर बना देना।

"अगर तुम बादशाह और वज़ीर के साथ बरसात के बाद बंगाल जा सको तो इसका बड़ा प्रभाव पड़ेगा और बहुत से रुहेले ज़मींदार हमारी तरफ़ हो लेंगे। यहाँ से बुंदेलखंड होते हुए दादा इलाहाबाद की तरफ जायेंगे। तुम दोआब से कूच कर देना, और इस तरह हमारी बढ़ी ताक़त से तुम्हें अचानक इलाहाबाद ले लेने में सुविधा होगी। इसके बाद अगर दोनों ओर से घिर कर शुजाउद्दौला बनारस और इलाहाबाद तथा नज़र की एक बड़ी रक़म देने का वादा करे तो तुम बादशाह और वज़ीर को उसे बख्शी नियुक्त करने पर राज़ी कर लेना। काम करने का यह दूसरा ज़रीया है। काम करने का तीसरा ज़रीया यह है कि अगर वज़ीर दिल्ली से बिहार जाने को राज़ी न हों, तब तुम शुजा से मिल जाना और उससे बनारस और इलाहाबाद ले लेना, पर नक़द रुपये मत माँगना। आधा बंगाल और बिहार देने का उससे वादा कर लेना और उसे अपने साथ लेकर बंगाल दखल कर लेना और वहाँ से गहरी रक़म वसूल करना"।[1]

काशी और प्रयाग दखल करने के सम्बन्ध में राजा केशवराज ने भी ३०–६–१७५९ को एक पत्र बालाजी बाजीराव को लिखा[2] जिससे पता लगता है कि दिल्ली के वज़ीर किस तरह काशी और इलाहाबाद की सनद मराठों के नाम लिखने में आनाकानी कर रहे थे और भीतर-भीतर शुजाउद्दौला का साथ दे रहे थे। पत्र का मज़मून निम्नलिखित है :—

"............हिंदोस्तान से बहुत सी अर्ज़ियाँ आयी हैं कि प्रयाग, काशी और गया, इन तीर्थों के स्वाधिकार होने पर तीर्थस्थली की यात्रा निरुपद्रव हो जावेगी। इन तीर्थों में यवन संचार के संबंध में सेवक की अर्ज़ी के बारे में आज्ञा हुई थी कि राजश्री जनकोजी और दत्ताजी शिंदे सारे काम के लिए उस प्रांत में हैं और उन्हीं को सूचना भेजी जानी चाहिए। सरदार सदैव उन्हीं के पास पत्र और सूचनाएँ भेजते हैं। यह मानकर प्रयाग और काशी का पैग़ाम वज़ीर से किया और उन्होंने उनकी सनदें हम लोगों को लिख देने को कहा। पर वज़ीर, शुजाउद्दौला नाज़िम अवध, जिनके अधिकार में काशी और प्रयाग हैं, के पक्ष में हैं, इसीलिए वे सनद देने में आनाकानी करते हैं। आप प्रबल हैं।

---

[1] वही, १६७

[2] पेशवा दफ्तर, २७,२४०

सनद की कोई आवश्यकता नहीं है। देश कब्जा करना हो तो कर लें। शुजाउद्दौला ने यह आश्वासन दिया है कि वह अपनी बात रक्खेगा और सरदार भेजने से वह समझ लेगा। आप निश्चिन्त रहिए। उसे हमारे सिपाहियों और तोपखाने की बहुत जरूरत है। उसके प्रान्त में जाने के लिए हमें गंगा पार उतरना पड़ेगा। बरसात के पहले वहाँ जाना मुश्किल है। रोहिला कहते हैं कि हमारा प्रान्त गंगा के पार है और हम रास्ता दे देंगे लेकिन अहमद खाँ बंगश का इलाका गंगा के पार नहीं, वस्तुतः इस पार है। वह कहता है कि वह हमें गंगा उतर जाने देगा। वह हमारा मित्र है।"

इस पत्र से यह पता चलता है कि मराठों का विश्वास था कि रुहेले और शुजाउद्दौला उनके मित्र थे और बनारस और इलाहाबाद दखल करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। पर बात उलटी थी। शुजाउद्दौला और रुहेले हर्गिज यह नहीं चाहते थे कि उनके प्रांतों में मराठों का किसी तरह का प्रभाव बढ़े। शुजाउद्दौला का अहमद शाह अब्दाली का मराठों के विरुद्ध साथ देना इस बात की पुष्टि करता है।

जो भी जो यह तो निश्चय है कि १७६१ में पानीपत की लड़ाई में मराठों की हार के बाद बनारस और इलाहाबाद दखल करने की उनकी इच्छा सदा के लिए लुप्त हो गयी और अंग्रेजों द्वारा बिहार और बनारस पर अधिकार कर लेने पर यह सवाल ही नहीं उठता था। फिर भी यह बात नहीं कि मराठों ने पूरी तरह से बनारस और प्रयाग पर दखल जमाने की आशा छोड़ दी थी। वे उस सम्बन्ध में चेत सिंह से मिलकर बराबर साजिश करते रहे, नाना फडनवीस की भी यह उत्कट इच्छा थी कि बनारस उनके दखल में आ जावे। पर अंग्रेजों ने उनकी एक न चलने दी।

माधवराव बल्लाल (१७६१–१७७२) के समय धोंडो खंडेराव के दो पत्रों से बनारस की तत्कालीन अवस्था पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। इन पत्रों से यह भी पता चलता है कि अंग्रेजों द्वारा बनारस दखल हो जाने पर भी मराठों को इस बात की उम्मीद थी कि उस समय की राजनीतिक परिस्थिति में, लोगों को मिला कर, वे बनारस पर अपना अधिकार जमा सकते थे। इन पत्रों से यह भी पता लगता है कि उस समय बनारस की यात्रा में नाना तरह के क्लेश उठाने पड़ते थे और जकात भरनी पड़ती थी।

धोंडो राव ने एक पत्र माधवराव के नाम ३–१–१७६६ को लिखा।[१] पत्र का मजमून निम्नलिखित है—

"गत वर्ष बादशाह और फ़िरंगियों ने सबसे दंड में रुपये वसूल किये। उसी समय सेवक से और सब ब्राह्मणों से जबर्दस्ती रुपया वसूल किया गया। यह समाचार तफ़सील-वार लिख कर सेवक ने भेज दिया था। अभी यहाँ फ़िरंगी हैं। फ़िरंगियों के साथ नबाब शुजाउद्दौला हैं और राजा बलवन्त सिंह देश पर राज्य कर रहे हैं और रुपये वसूल करके फ़िरंगियों को दे देते हैं। काशी यात्रा में आने वालों से जकात और बहुत से कर बसूल किये जाते हैं और उन्हें बहुत तकलीफ़ दी जाती है। इस आपत्ति का वर्णन पत्र

[१] पेशवा दफ्तर, २९, ११०

में नहीं किया जा सकता है। सरकार के कारिन्दों को इसका पूरा पता है। कृपा कर पत्र द्वारा ऐसा इंतज़ाम कर दें कि यात्रा में आने जाने में मुझे उपद्रवों का सामना न करना पड़े। जिस कार्य के लिए मुझे सरकार ने भेजा है, उसे करने दें। गोष्ठीं विषयक कोई उपद्रव न होने दें। जो रुपया दंड में वसूल किया गया है उसे लौटा दें। इस प्रकार के सिफ़ारशी पत्र बादशाह को, फ़िरंगियों को, शुजाउद्दौला को और राजा बलवन्त सिंह को भेजने में स्वामी समर्थ हैं। आपकी सवारी बरार में आयी है यह सुनकर लोग यहाँ आ रहे हैं और राज कारण से वे लोग सेवक से मिल रहे हैं। शुजाउद्दौला और उनके दीवान ने स्वामी के नाम जो थैला दिया था वह गोविन्द दादाजी, भोजराज शंकर और आत्माराम रंगनाथ नाम के कारकुनों के हाथ स्वामी के पास भेज दिया है। फ़िरंगियों के संबंध में सब राजे रजवाड़े सेवक के ऊपर रुजू हैं। जो आप लिखेंगे उनसे कह दिया जायगा। फ़िरंगी कलकत्ता के पूर्व में हैं। तुहफ़ा और बीस-तीस हजार पलटन के साथ फ़रासीसी जहाज़ दाखिल हो गये हैं। इसी विषय की यहाँ चर्चा हो रही है। फ़रासीसी ज़बर्दस्त लड़ाकू हैं। फ़िरंगियों ने काफ़ी मुल्क ले लिया है और दो सूबों को मार कर मटियामेट कर दिया है इसीलिए उनको बहुत गर्व हो गया है। ऐसे समय आपकी सवारी आयी तो विचार हुआ कि शायद किसी एक दल का साथ देकर बंगाल आप सहज ही में ले लेंगे, अथवा नवाब का साथ देकर बादशाह से बन्दोवस्त कर लेंगे। बादशाह का कुछ भी ज़ोर नहीं है। आपको दिल्ली का तख़्त मिलेगा ऐसा योग दिखता है। परन्तु अभी बंगाल सर कर के दिल्ली जाना चाहिए। बंगाल में सब जगह गड़बड़ी फैली है। चारों ओर से सरकार की फ़ौज आ जाने से बंगाल सहज ही हाथ लग जायगा। अभी कुछ फ़ौज कटक प्रान्त में भोंसले के अधिकार में है और शिवभट भी वहीं है। उनके पास से सरकारी बीस हज़ार फ़ौज आ जाय तो खास सरकार की सवारी काशी की तरफ़ आवे। अन्तर्वेदी से होलकर और शिन्दे के आने पर सहज ही बंगाल हाथ लग जायगा।"

उपर्युक्त पत्र में घोंडो खंडेराव ने लम्बी उड़ान ली है। अंग्रेजों द्वारा सबको हारते देखकर भी वे पेशवा से हराये जाने का सपना देख रहे थे। पर उपर्युक्त पत्र के करीब दो बरस के बाद एक दूसरे पत्र में वे माधवराव से प्रार्थना करते हैं कि अंग्रेजों से मिलकर त्रिस्थली का बादशाह से प्रबंध करा लेना ठीक होगा। पत्र १–११–१७६७ का है और उसका मज़मून निम्नलिखित है :—

"जो राजकीय समाचार सेवक को पता लगा वह लिखकर भेज दिया, इस संबंध में स्वामी की जो मरजी होगी वही ठीक है। काशी, प्रयाग और गया, सहज ही स्वामी के हाथ लग सकते हैं। जिस समय आपका और अंग्रेजों का स्नेह होगा उसी समय सहज ही पूर्वी लाहौर का हरिद्वार परगना बादशाह से माँगने पर मिल जायगा और वे आपको त्रिस्थली भी दे देगें। अंग्रेज भी इसे मंजूर कर लेंगे इसमें शक नहीं। मुख्य गोष्ठ राजा बलवन्त सिंह आपके बड़े एक निष्ठ हैं। यह सब समाचार घनराज दीक्षित और नीलो-गोपाल कहेंगे। शुजाउद्दौला का कोई ज़ोर नहीं रह गया है। वह नाम मात्र का नवाब है जो फिरंगी कहेंगे वही करेगा। उसकी राजा बलवन्त सिंह से बहुत दिनों की लड़ाई

है। बादशाह अन्तर्वेद से लौट कर बैठा देंगे, उस समय सहज ही में अन्तर्वेद आपके हाथ में आ जायगा और अंग्रेज क़िला आपको दे देंगे। इस संबंध में नीलो पन्त ने अंग्रेजों से पूरी बात की है। त्रिस्थली के बारे में लिखा पढ़ी दिल्ली में होगी, ऐसा अंग्रेजों ने करार किया है। जिस समय आप और अंग्रेज दिल्ली जायेंगे उसी समय त्रिस्थली आपकी हो जायगी। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। परन्तु स्वामी को फ़ौज और तोपखाना लेकर फ़ौरन आना चाहिए। हुजरात (घोड़सवार) अच्छे आने चाहिएँ। हुजरातों के बिना काम नहीं होता ऐसा सब मानते हैं। आपका भी ऐसा अनुभव है............सारांश यह है कि काशी के बड़े बड़े तपस्वी यह कहते हैं कि अपनी फ़तह होने के लिए आप काशी में अनुष्ठान करवावें"।[1]

पर धोंडो खंडेराव की उपर्युक्त कल्पना भी केवल काग़जी ही थी। बनारस को अंग्रेज अपने हाथ से निकल जाने के लिए बिलकुल तैयार न थे।

चेतसिंह के प्रकरण में हम दिखला चुके हैं कि किस तरह मराठे काशी लेने में उनकी मदद चाहते थे पर उसने कुछ किया कराया नहीं, और चेत सिंह के बाद तो नाना फडनवीस केवल अंग्रेजों से बनारस के बारे में प्रार्थना ही कर सकते थे। नाना फडनवीस को इस बात का पूरा पता चल गया था। कि बनारस उनके हाथ आने से रहा। मराठे अपने वकीलों द्वारा हमेशा इस बात की कोशिश करते रहे कि मुसलमानों को मुआवजा देकर ज्ञानवापी की मस्जिद पर पुनः विश्वनाथ का मन्दिर बन जाय पर इसमें भी उन्हें सफलता न मिली। नाना फडनवीस के समय महाराष्ट्र और बनारस के संबंध में हम आगे चल कर कुछ कहेंगे।

कुछ मराठी पत्रों से पता चलता है कि चेत सिंह के राज्य काल में यात्रियों की तकलीफ़ बहुत बढ़ गयी थी। एक तरफ़ तो उनसे तरह तरह के कर वसूल किये जाते थे और दूसरी ओर गंगापुत्र और पंडे उनको नोचते खसोटते थे। रघुनाथ राव (१७७३–१७९६) की माता येसूबाई ने अपने पुत्र के नाम एक पत्र में गया और काशी के मार्ग के कष्टों का वर्णन किया है।[2] कामदार खाँ नामक किसी अमले ने उनसे चौकी पर प्रति मनुष्य सवा नौ रुपये वसूल किये और जब साढ़े तीन हजार बाक़ी रह गया तो येसू बाई के साथी विश्वनाथ भट वैद्य को कैद कर लिया। बाद में जब रुपया भेजा गया तो गढ़ी के सिपाहियों ने उसे लूट लिया और आदमियों को मारा। फिर से जब कामदार खाँ को रुपये दिये गये तो वैद्य छूट कर आये। इसके बाद राजा सुमेरशाह ने हर आदमी से अठन्नी वसूल की। मार्ग में दाऊनगर वगैरह जो भी चौकियाँ पड़ीं वहाँ गंगा उतरने का प्रत्येक आदमी से एक रुपया कर लिया गया। काशी के फ़ौजदार नन्दराम ने तो चार महीने व्यवहार किये हुए कपड़ों पर भी नये कपड़े की जकात ली। पेशवा का पत्र दिखलाने पर भी उसका कोई असर लोगों पर नहीं पड़ता था।

---

[1] पेशवा दफ्तर, २१, १९२

[2] पेशवा दफ्तर, १८, १४७

काशी, गया और प्रयाग के गंगापुत्रों और पंडों की जोर जबर्दस्ती की बात महीपत राव कृष्ण चांदवडकर ने अपने अपने पत्रों में की है। पहला पत्र जिस पर २०–७–१७७२ तारीख है माधवराव के नाम है[१] जिसमें उनसे बनारस में दान दक्षिणा देने के बारे में और भाईराम वैद्य की दवा भेजने के सम्बन्ध में पूछा गया है। माधवराव उस समय बीमार थे और बिचारे चांदवाडकर चाहते थे कि जिस तरह से हो वे अच्छे हो जायँ। गंगापुत्रों के झगड़े झंझट के बारे में भी इस पत्र में इशारा है। पत्र का मजमून निम्नलिखित है :—

"रुपया तो सीमित है पर ब्राह्मण अनगिनत हैं, गंगापुत्र काफ़ी तक़लीफ दे रहे हैं लेकिन ब्राह्मण अपने मोर्चे पर डटे हैं। राजा चेत सिंह और उनके दीवान भाईराम ने मामला तै कर देना चाहा पर गंगापुत्र तीर्थ पर सदा के लिए अपना अधिकार चाहते हैं और दान दक्षिणा में अपना साझा। इसके लिए वे कट मरने के लिए भी तैयार हैं। राधाबाई की अस्थि पर वे खूब लड़े............।"

"भाईराम विद्वान और ब्राह्मण भक्त होने के साथ ही कुशल वैद्य भी हैं.........वे आपकी आज्ञा मिलने पर दवा भेजने को तैयार हैं।"

अपने एक दूसरे पत्र में भी महीपतराव कृष्ण चांदवाडकर गंगापुत्रों प्रयागवालों और गया वालों के नाम कलपे हैं।[२] "पूना के चारों ओर खबर फैल गयी है कि श्रीमंत (रघुनाथराव ?) कैलासवासी राव साहब की अस्थि लेकर जा रहे हैं। यह सुनकर गयावाल, कासीकर, गंगापुत्र और प्रयागवाल आकर आशीर्वाद देने लगे और कहने लगे कि श्री विश्वेश्वर की कृपा से हमारा भाग्य खुल गया है। दक्षिणा वगैरह की अच्छी व्यवस्था करवा दीजिए जिससे कोई टंटा न पड़े। ऐसा कहने सुनने पर हमसे उनसे मुठभेड़ हो गयी और कुछ के सिर फूटे।" ● ●

---

[१] पेशवा दफ्तर, २२, १४६

[२] पेशवा दफ्तर, २२, १९२

छठा अध्याय

महीपनारायण सिंह

चेतसिंह के भागते ही वारेन हेस्टिंग्स ने औसान सिंह को बनारस का प्रबंधक नियुक्त किया पर जान पड़ता है वारेन हेस्टिंग्स उनसे जल्दी ही नाराज हो गये और १७ नवम्बर १७८१ के अपने एक पत्र में[1] उन्होंने औसान सिंह को फ़ौरन बनारस और रामनगर छोड़ कर सैदपुर चले जाने का हुक्म दिया। उसी दिन[2] उन्होंने दुर्गविजय सिंह को औसान सिंह की इस बात की शिकायत लिखी कि वे हेस्टिंग्स के बनारस संबंधी इरादों में बाधक थे। दुर्गविजय सिंह को हेस्टिंग्स ने इस बात का भी हुक्म दिया कि वे औसान सिंह द्वारा नियुक्त कारिंदों को बरखास्त करके अपने आदमियों को वहाँ लगा दें। १७८२ के आरम्भ में दुर्गविजय सिंह ने ऐसा ही किया पर इससे बड़ी गड़बड़ी मची। राजा महीप नारायण सिंह अपने १४ अप्रैल १७८२ के पत्र में गवर्नर जेनरल को लिखते हैं कि जगतदेव सिंह ने अपने हाली-मोहालियों को हर जगह अमीन मुक़र्रर कर दिये। वे अब अपनी वसूल रक़म को चालू साल की जमा बतलाना चाहते थे, गो कि रैयत ने इसमें गत वर्ष की बक़ाये की रक़म जमा की। बनारस में ऐसा कायदा नहीं था। बक़ाया रक़म को बक़ाया दिखलाना चाहिए था। राजा ने इस बात की भी प्रार्थना की कि अली इब्राहीम ख़ाँ को बाबू दुर्गविजय सिंह द्वारा जमा की हुई रकम के हिसाब को जाँचने का हुक्म दिया जाय और राजा के मुत्सद्दियों से बकाये की रक़म का अहवाल पूछा जाय।

अपने १८ अप्रैल, १७८२ के एक पत्र में दुर्गविजय सिंह ने कुछ घटनाओं से परीशान होकर उन्हें रोकने के लिए गवर्नर जनरल के ज़रीये मार्कहम की मदद चाही।[3] घटना इस प्रकार थी। दाऊद नगर के बसन्तराय ने १९ दिसम्बर १७८१ में गोपालपुर के कुछ खेत के लिए एक क़बूलियत लिखा और पीताम्बर बाबू उनकी ज़मानत पड़े। बनारस के सरिश्ता को क़बूलियत देकर बसन्तराय गोपालपुर चले गये। बाद में उन्होंने एक अर्ज़ी दी कि लाल बोधसिंह उनके कामों में दखल देते थे और उनके बन्दोबस्त में हेरफेर करते थे और यह पता लगने पर कि बसन्तराय उनकी शिकायत करने वाले थे, उन्होंने उन्हें क़ैद कर लिया। यह समाचार पाकर दुर्गविजय सिंह ने शेख अब्दुल्ला को गोपालपुर भेजकर बसन्तराय और बोधसिंह को बनारस भेजने को कहा। शेख ने वहाँ जाकर बसन्तराय को छुड़ा दिया। इस पर बोधसिंह ने अपने वकील गुरदयाल को दुर्गविजय सिंह के पास भेजा। इस आदमी ने कहा कि उसका मुवक्किल पीताम्बर बाबू के ज़मानतनामे के अनुसार गोपालपुर के ठीके में भागीदार था। इस पर दुर्गविजय सिंह ने कहा कि

---

[1] केलेंडर......६ पत्र २९६

[2] केलेंडर......६, २९७

[3] केलेंडर......६, ४५९

उनकी पचास हज़ार की ज़मानत जब्तो थी और इसलिए बन्दोबस्त में कोई हेर-फेर नहीं हो सकता। इसके बाद बसन्तराय और लाला खुद बनारस आये और बसन्त से बैत की किश्त माँगी गयी। वह गोपालदास के यहाँ से तीन हज़ार की हुंडी लाया पर इससे पूरे पाँच हज़ार जमा करने को कहा गया। वह रुपये का प्रबंध करने गया, पर रास्ते में ही बोधसिंह के आदमियों ने उसे गिरफ्तार करके बोधसिंह के डेरे में कैद कर दिया। इसके बाद बसन्तराय के वकील शिवपाल ने इस घटना की दुर्गविजय सिंह को खबर दी और उन्होंने लाला के वकील गुरदयाल से बसन्तराय को फ़ौरन हाज़िर करने को कहा। इस पर वकील ने फिर मालज़ामिनी की बात चलायी, तब दुर्गविजय सिंह ने ज़मानतनामा खारिज करके उसे लौटा दिया। वकील ने उसे लाला मक्खन लाल के पास रख दिया और बसन्त को दूसरे दिन हाज़िर करने का वादा किया लेकिन उसने ऐसा किया नहीं। बोध सिंह बुलाने पर भी नहीं आया। इसके बाद शोभा पांडे बोध सिंह के पास उन्हें समझा-बुझाकर बसन्त को छुड़ाने गये। पर छोड़ना तो दूर रहा बोध सिंह ने कड़ा रुख अपनाया। दुर्गविजय सिंह को जब यह पता लगा तो उन्होंने बुनियाद सिंह मुत्सद्दी और बख्शू सिंह को बसन्त सिंह को छुड़ाने भेजा ये दोनों वहाँ पहुँचे ही थे कि बन्दूक दगने की आवाज आयी जिससे दो सरकारी आदमी जख्मी हुए और एक तीसरा बाहरी आदमी मारा गया। इस पर भी दुर्गविजय सिंह के आदमियों ने हिदायत के अनुसार बदला लेने से अपने को रोका।

उस समय दुर्गविजय सिंह लगान वसूली के संबंध में पिशाच मोचन पर ठहरे हुए थे। जैसे ही उन्होंने इस गड़बड़ की खबर सुनी उन्होंने मार्कहम साहब को खबर देनी चाही लेकिन उसी बीच में मार्कहम के पास से खबर आयी कि दुर्गविजय सिंह के आदमियों ने नगर के एक आदमी को मार डाला था और उनका हुक्म था कि मुज़रिम और उसके साथ-साथ बुनियाद सिंह और शोभा पाण्डे उनके पास भेज दिये जायें। उनकी आज्ञा मान ली गयी। दोनों ज़ख्मी आदमी भी भेजे गये और एक पत्र में दुर्गविजय सिंह ने घटना की सब कैफ़ियत लिखी। जब बुनियाद, शोभा पांडे और बख्शू मार्कहम के पास पहुँचे तो उन्होंने इन्हें गारद में कर दिया और दुर्गविजय सिंह को इन पर अदालत में मुकदमा चलाने को कहा और यह भी लिखा कि दुर्गविजय सिंह को क़ानूनन नगर में अपने आदमियों को भेजने का कोई अधिकार न था। जवाब में दुर्गविजय सिंह ने लिखा कि कम्पनी की मालगुज़ारी वसूल करने के लिए उन्हें सब जगह काम करना पड़ता था। कम्पनी की मालगुजारी के एक ठीकेदार के बनारस में गिरफ्तार होने से उन्हें बुनियाद और बख्शू को उसे छुड़ाने के लिए भेजना पड़ा और उन्हें इस बात की सख्त मुमानियत कर दी गयी कि वे किसी तरह की ज़बर्दस्ती न करें। बोध सिंह ने ही एक आदमी को मारा और दो आदमियों को घायल किया और इसलिए इसकी जाँच होनी चाहिए। दूसरे दिन तीनों आदमी फ़ौजदारी अदालत के सामने हाजिर किये गये। इस पर दुर्गविजय सिंह स्वयं मार्कहम से मिले और उन्होंने कहा कि फ़ौजदारी अदालत में उनके आदमियों

[1] केलेंडर……६, पत्र ४६७

पर मुकदमा चलने और सरे आम यह एलान होने से कि बनारस उनके अधिकार में नहीं था, उनकी बड़ी बेइज्जती होगी। हेस्टिंग्स ने भी उन्हें भरोसा दिया था कि बनारस से मालगुज़ारी वसूल करने का काम हो सकता था। इसलिए मार्कहम स्वयं दुर्गविजय सिंह के संबंध के मुक़दमे सुनें।

दुर्गविजय सिंह के उपर्युक्त पत्र का उत्तर वारेन हेस्टिंग्स ने अपने २७ अप्रैल १७८२ के पत्र में दिया। उन्होंने दुर्गविजय सिंह को लिखा कि फ़ौजदारी का मुकदमा होने से इसका अली इब्राहीम की फौजदारी अदालत में जाना आवश्यक था और फिर ऐसे वाक़ये न हों इसलिए कसूर वालों को सजा मिलनी भी ज़रूरी थी। बनारस के पुलिस प्रबंध के बारे में भी इस पत्र में हेस्टिंग्स ने कुछ बातें लिखीं जिसके अनुसार कोई खूनी अथवा डकैत अगर बनारस में गुनाह करके राजा के इलाक़े में भाग जावे तो बनारस के जज उसे गिरफ़्तार करने के लिए स्वयं अपने आदमी न भेजकर दुर्गविजय सिंह से उस आदमी को गिरफ़्तार करने को कहें। इसी तरह अगर राजा के इलाक़े से कोई गुनहगार बनारस शहर भागे तो दुर्गविजय सिंह को उसे गिरफ़्तार करने के लिये बनारस के जज के पास लिखना आवश्यक था। जज का यह कर्त्तव्य था कि वह उसे गिरफ़्तार करके उनके पास भेज दे।

इसमें शक नहीं कि दुर्गविजय सिंह की नायबी में बनारस में गुंडई काफ़ी बढ़ गई थी। हेस्टिंग ने अपने २५ अप्रैल १७८२ के एक पत्र में इसकी शिकायत की।[१] पत्र से पता चलता है कि डाकुओं के एक गिरोह ने बनारस में डाका मार कर बाईस नागरिकों को जान से मार डाला और एक दूकान से २००० रु० लूट कर वे मुफ़स्सिल में भाग गये। वारेन हेस्टिंग्स ने फ़ौरन इन डाकुओं को पकड़ने और अली इब्राहीम की अदालत में हाज़िर करने का आदेश दिया। अपने १५ अगस्त १७८२ के पत्र में[२] दुर्गविजय सिंह ने लिखा कि बनारस में अली इब्राहीम की हुकूमत होने से गुनहगारों को बनारस जाकर पकड़ने में असमर्थ थे। फिर भी उन्होंने ज़मींदारों से डाकुओं को खोजने को कहा और उनसे ताजे मुचलके भी लिये। डाकुओं को पकड़ने के लिये १०० रु० नकद और १०० बीघे जमीन का इनाम भी रक्खा पर नतीजा कुछ न निकला।

लेकिन दुर्गविजय सिंह पर इन हिदायतों का कुछ असर न पड़ा और बनारस में दुर्गविजय सिंह के आदमियों का और ज़ुल्म बढ़ना ही गया। अपने १५ जून १७८२ के पत्र में हेस्टिंग्स ने दुर्गविजय सिंह का इस ओर ध्यान दिलाया।[३] इस पत्र में उन्होंने मार्कहम द्वारा दुर्गविजय सिंह के आमिलों के अत्याचार का उल्लेख किया और कहा कि अभी तक मार्कहम की शिकायतों की इसलिये नोंध नही ली कि उन्होने समझा कि नया-नया काम होने से यह सब कुछ हुआ होगा और वे मार्कहम की सलाह से अपने को सुधार लेंगे, पर शिकायतें बढ़ती ही गयीं। इन सब बदमाशियों में से वहुत सी की जड़ में जमानियाँ, भदोही, चौहारी, केराकत और सोरांव परगनों के शासक ज़ालिम सिंह थे। तीन साल

---

[१] केलेंडर……६, पत्र ४६६

[२] केलेंडर……६, पत्र ५७९

[३] केलेंडर……६, पत्र ५५३

पहले यही ज़ालिम सिंह चेत सिंह का एक लाख रुपया लेकर भागे थे। दूसरी गड़बड़ियों में राजा शंकर मऊ में गड़बड़ मचा रहे थे, भगवत राव सैदाबाद में और बुनियाद सिंह कुंडा में। हेस्टिंग्स ने दुर्गविजय सिंह को इन आदमियों को गिरफ्तार करके बनारस लाकर रेज़िडेंट द्वारा नियुक्त भले आदमियों के सामने इनकी चाल-चलन की गहरी जाँच का आदेश दिया, और इनके अपराध साबित होने पर घोर दंड देने का भी आदेश दिया। जब तक मुक़दमे की कार्रवाई हेस्टिंग्स स्वयं पढ़ न लें तब तक मुजरिमों को बंद रखने का भी हुक्म हुआ। इस पत्र में हेस्टिंग्स ने दुर्गविजय सिंह को मन लगाकर मेहनत के साथ राज प्रबन्ध चलाने की भी सलाह दी क्योंकि मालगुज़ारी की किश्तें न अदा होने पर, प्रजा पर अत्याचार होने पर और राज की जायदाद में कमी आने पर दुर्गविजय सिंह ही इस सबके ज़िम्मेदार समझे जायंगे।

उपर्युक्त गड़बड़ियों से और शायद दुर्गविजय सिंह की बेईमानी से कंपनी की मालगुज़ारी किश्तों में वादा खिलाफ़ी होने लगी। मार्कहम ने जाँच की तो पता चला कि दुर्गविजय सिंह ने मालगुज़ारी वसूल करके स्वयं हड़प ली थी। वारेन हेस्टिंग्स को जब यह पता चला तो उन्होंने मार्कहम को दुर्गविजय सिंह की गिरफ्तारी का आदेश दिया और उनके अनुसार दुर्गविजय सिंह और उनके साथी गिरफ्तार कर लिये गये। बाद में जाँच से पता लगा कि कंपनी का राजा के जिम्मे छह लाख निकलता था जिसमें चार लाख तो रैयत से वसूल ही नहीं हुए थे। बाक़ी दो लाख में पचास हज़ार कंपनी को मिले थे और बाक़ी दुर्गविजय सिंह ने खरच डाले थे। इस घटना के बाद राजा महीपनारायण सिंह ने वारेन हेस्टिंग्स को १५ दिसंबर १७८२ को एक पत्र लिखा[१] जिसमें उन्होंने इस बात की शिकायत की कि दुश्मनों के बहकाने पर मार्कहम ने बकाया लगान की वसूली नहीं होने दी और दुर्गविजय सिंह को नाक़ाबिल करार दिया। दुर्गविजय सिंह ने तो कई बार कहा कि थोड़ी सख्ती से बक़ाया लगान वसूल हो सकती थी और चलते साल के लिये नया बंदोबस्त हो सकता था पर उसकी बात नहीं मानी गयी और उसी की वजह से लगान बक़ाया पड़ गयी। मार्कहम साहब ने दुर्गविजय सिंह पर रक़म ग़बन करने का दोष लगाया इस पर उन्होंने अपने ऊपर लगे आरोप की जाँच-पड़ताल की प्रार्थना की। लेकिन मार्कहम ने कोई जाँच-पड़ताल न करके चालू साल के लिए अपने मुत्सद्दी और ख़ज़ांची नियुक्त कर लिये। १० नवंबर, १७८२ को उन्होंने एक अंग्रेज अफ़सर के मातहत तिलंगों की दो कंपनी रामनगर भेजी और उन्होंने दुर्गविजय सिंह को गिरफ्तार करके मुत्सद्दियों और ख़ज़ांचियों को हटा दिया और कागज़-पत्र मार्कहम के पास भेज दिये गये। महीपनारायण सिंह से यह कहा गया कि गवर्नर जनरल दुर्गविजय सिंह की जगह बाबू जगतदेव सिंह की नियुक्ति करना चाहते थे जिससे चालू साल के काम में बाधा न पड़े। इस संबंध में वृद्धा रानी (गुलाब कुँवर) से भी राय लेने की बात कही गयी। पर वृद्धा रानी की राय थी कि महीपनारायण स्वयं अपना कारबार देख सकते थे और जगतदेव के नायब नियुक्त होने की कोई ज़रूरत नहीं थी, लेकिन इसके पहले आवश्यकता इस बात की थी

[१] केलेंडर......६, पत्र ६४१

कि दुर्गविजय सिंह के गुनाहों की जाँच-पड़ताल की जावे और अगर वे क़सूरवार साबित न न हों तो उन्हें छोड़ दिया जाय। मार्कहम ने इसके बाद उन्हें गवर्नर जेनरल को लिखने को कहा। इस पत्र में महीपनारायण सिंह ने इस बात की प्रार्थना की कि दुर्गविजय सिंह के अपराधों की जाँच के लिये एक अमीन नियुक्त हो, मार्कहम वसूली में दखल न दें और ठीकेदारों की सहायता न करें। पर इस लिखा-पढ़ी का कोई नतीजा नहीं निकला और दुर्गविजय सिंह की जेल ही में मृत्यु हो गयी।

दुर्गविजय सिंह के बाद जगतदेव सिंह नायब नियुक्त किये गये पर अकेले उनका कोई अधिकार न था। वे रेज़िडेंट की आज्ञानुसार ही राज-काज का काम चलाते थे। जगतदेव सिंह के कुछ रोज़ काम करने के बाद मार्कहम छुट्टी पर चले गये और उनकी जगह बेन फ़ाउक बनारस के रेजिडेंट हुए। उनके समय में भी जगतदेव सिंह साबिक़ दस्तूर कंपनी की मालगुज़ारी की किश्तें अदा करते रहे, पर रैयत पर भयंकर अत्याचार होने लगे और किसी को यह ख़याल नहीं रहा कि फ़ाउक से और जगतदेव सिंह से भी नहीं बनती थी। जगतदेव सिंह ने अपने एक पत्र[१] में हेस्टिंग्स से शिकायत की कि कंपनी की चालीस लाख रुपये मालगुज़ारी अदा करने पर भी फ़ाउक उनसे खुश नहीं थे और आमिलों को मालगुज़ारी न देने के लिए उसकाया करते थे और उनका साथ देने वालों में राजा, दुर्गविजय और औसान सिंह थे।

सन् १७८४ में बनारस में क्या पूरे युक्त प्रान्त में भयंकर अकाल पड़ा और प्रजा खाने के बिना मरने लगी। एक मराठी पत्र में इस अकाल की भयंकरता का अच्छा वर्णन है पत्र का मज़मून निम्नलिखित है :—

"इस प्रान्त में आर्द्रा से श्लेषा तक काफ़ी पानी पड़ा। इससे ज्वार-बाजरे की फसल बोई गयी। पानी मघा नक्षत्र से बन्द हो गया। बाजड़ा उजड़ गया और आगे रबी की भी फसल नहीं बोयी जा सकी। मुल्क आधा लुट गया। लोग कंगाल हो गये और अकाल पड़ गया। लश्कर (ग्वालियर) में मँहगी बढ़ गयी। अन्न का भाव आज तेरह सेर के करीब है। यही गति अन्तर्वेद, दिल्ली, लाहौर और काश्मीर तक है। लोग दक्षिण की ओर भाग रहे हैं। हज़ारों लाखों भिखारी लश्कर आये हैं और वहाँ से मालवा जा रहे हैं। अन्न मिलता नहीं इससे मनुष्य भूखे मर रहे हैं और बीमारी फैल रही है। लखनऊ और काशी की भी यही दशा है। लखनऊ में कंगाल भर गये हैं और उनकी बस्ती में मिर्ज़ा अमानत प्रत्येक मनुष्य को दो पैसे रोज देते हैं"।[२]

इसी अकाल के जमाने में हेस्टिंग्स आसफ़ुद्दौला की मुलाकात के लिए फरवरी १७८४ में कलकत्ते से लखनऊ के लिए रवाना हुए। रास्ते में वे पाँच दिनों तक बनारस ठहरे और लखनऊ जाकर वहाँ से २ अप्रैल को उन्होंने बनारस के बारे में एक लम्बा पत्र

---

[१] केलेंडर, ६, पत्र ९५६

[२] इतिहास संग्रह, अगस्त-अक्टोबर, १९१२, पृ० ४–५

व्हीलर और अपनी कौंसिल को भेजा। इस पत्र से १७८४ में बनारस की भयंकर दुर्दशा का पूरा पता चलता है। पत्र यों है।[१]

"लखनऊ जाते समय रास्ते में बक्सर से बनारस तक प्रजा अपने दुःखों का वर्णन करते हुए हमारे पीछे-पीछे आयी और इससे मुझे बड़ा क्लेश हुआ। इसीलिए सेना को छोड़कर मैं उनके बारे में अधिक जानने के लिए बनारस गया और वहाँ पाँच रोज रह कर वहाँ का हाल आपको लिखता हूँ। इसलिए मुझे और भी दुःख एवं अफ़सोस हुआ कि मैं उनके दुःख में किसी तरह कमी नहीं कर सकता था। प्रबंध से सबको राजी रखना मुश्किल है यह सोचकर मैंने समझा था कि कोई कोई ही नाराज होगा पर लोग यहाँ तक दुःखी होंगे इसकी मुझे उम्मीद न थी। बहुत दिनों से सूखा पड़ने से प्रजा को घोर कष्ट हुआ पर उससे भी अधिक कष्ट हमारा विश्वास है उन्हें जमींदारी के कुप्रबन्ध से उठाना पड़ा। बहुत सी दरख्वास्तें मुझे मिलीं उनसे पता चला कि आमिल और ठीकेदार, जाली पैमाइश करके उससे कहीं ज्यादा वसूलते थे जिनसे खेत की उपज की आधी लगान लेने की बात थी। जिन असामियों के साथ रुपये में लगान नियत है उनसे रुपये न लेकर खेत की उपज से भी अधिक रक़म वसूल करते हैं। रैयतों पर इस जबर्दस्ती से भविष्य में खेती बारी पर बहुत बुरा असर पड़ेगा।

"असल में इस प्रदेश में रियाया की मेहनत पर महसूल लगता है क्योंकि यहाँ कोई खेत नहीं है जिसे रैयत कुँआ खोदकर अथवा नाला या नदी के पानी से बड़ी मेहनत के साथ न सींचते हों। लोग अपने गुजारे के लिए ही इतनी मेहनत से अन्न पैदा करते हैं। अगर उन्हें इस बात का पता होता कि जमींदार उनकी सब पैदावार मुकर्रिरी लगान में वसूल कर लेंगे तब वे क्यों इतनी मेहनत से खेती करते। इसलिए अगर यह प्रबंध बदला न गया और कुछ रोज पानी न बरसा तो कोई खेती न करेगा। इससे मालगुजारी न अदा होगी और लोग भूखों मरेंगे। किसी को क्या इतनी गरज है कि दूसरे के लिए इतनी मेहनत करे। यह सब नायब के बदइन्तजामी में हुआ है, इसमें आमिलों की कुछ क़सूर नहीं है। नायब ने मुझसे कबूल किया है कि उसका यह सब करने का मतलब किसी सूरत से मालगुजारी इकट्ठा करना था। इसलिए उन जगहों की मालगुजारी की कमी जहाँ या तो अच्छी फसल नहीं हुई या जमीन परती रह गई, उसने उन जगहों से पूरी की जहाँ लोगों ने अपनी मेहनत से अच्छा अनाज पैदा किया। नायब ने मुझसे ही नहीं एंडरसन से भी यही बात कही। हम दोनों की राय है कि ऐसा करने से भविष्य में गहरी हानि की सम्भावना है।

"व्यापारिक वस्तुओं का अपना मनमाना दाम लगा कर ज्यादा महसूल वसूल करने से, एक ही माल पर दोहरा महसूल यानी व्यापारी और खरीददार दोनों से महसूल वसूल करने से, व्यापारियों पर अत्याचार और उनसे झगड़ा होता है और व्यापारी सदा अप्रसन्न रहते हैं। ऐसे दो एक मामले मेरे सामने ही हुए। इसमें आश्चर्य नहीं कि बाहरी व्यापारी बनारस में नहीं आना चाहते और हर साल यहाँ का व्यापार घट रहा है।

---

[१] फारेस्ट, वही ३०५–०६

"इसके सिवा भी हमें बहुत सी खराबियों का पता लगा है जिसका मैं अभी बयान नहीं करना चाहता। इनमें से बहुत सी खराबियाँ तो रेज़िडेंट की मदद से दूर हो जायँगी लेकिन उनमें से एक का उल्लेख जो जाँच पर मुझे सही मालूम हुआ, मैं यहाँ करूँगा। यह एक ऐसी बात है जिससे हम सबकी बदनामी होती है।

"जब कि मैं बक्सर में था तो मैंने रेज़िडेंट से नायब को यह समझा देने को कहा था और मैं खूब जानता हूँ कि उन्होंने ऐसा ही किया कि जिधर से हमारी सवारी जाय उस तरफ के तमाम गाँवों में वह अपने विश्वासपात्र आदमी रख दें जो वहाँ की प्रजा को अच्छी तरह समझा सकें और अगर जरूरत हो तो उनकी रक्षा के लिए चौकी पहरा भी लगाने का भरोसा दें जिससे लोग अपना घर द्वार छोड़कर न भागें। मैंने भी नायब को खुद यह सब समझा दिया था और मेरा क्या तात्पर्य था यह भी उसे मालूम था। यह सब समझा कर अपने कूच करने के पहले ही मैंने यह सब प्रबंध करने को उसे आगे रवाना कर दिया, लेकिन मुझे इसका अफ़सोस है कि जब हमने कूच किया, तब हमने रास्ते में दोनों तरफ के गाँव उजाड़ पाया और वहाँ हमें कोई आदमी नहीं दिखलाई दिया।

"बक्सर की इस सीमा से उस सीमा तक बराबर मैं उजाड़ गाँव देखता चला आया, जो घोर दुःख का विषय है। लेकिन मुझे इसका पता नहीं चला कि यह सब उस फ़ौज के (जो हमारे पहले गयी थी) आदमियों की रसद के लिए हुआ अथवा मेरी ही लश्कर ने यह सब किया। अथवा गाँव वालों की रक्षा के लिए किसी के न रहने से वे सब डर के मारे स्वयं अपनी घर गृहस्थी छोड़कर भाग गये। हमारे देश के आदमियों का भी इसमें कोई दोष नहीं है। जब जमुनिया परगने के दर्रारा नाम के एक बड़े गाँव में हमारा डेरा पड़ा था तब बहुत से आदमी मेरे पास आये और नालिश की कि पहले का आमिल उन्हीं के गाँव का रहने वाला था और सब गाँव वाले उसे मानते थे। जब कोई फ़ौज इधर से जाती थी तब वह स्वयं वहाँ रह कर प्रजा की रक्षा करता था और देखता था कि उन पर किसी तरह का ज़ोर ज़ुल्म न होने पावे। वह आमिल तबदील कर दिया गया और नया आमिल फ़ौज की अवाई सुनकर पहले खुद ही भाग जाता है इसीलिए रैयत की हिफ़ाजत के लिए किसी के न रहने से वे लोग भी अपने घर छोड़ कर भाग जाते हैं। पीछे से खाली मकान देख कर जिसकी खुशी में आया वह सब लूट पाट लेता है।

"इस बात से हमें पता चला कि वास्तव में अत्याचार इसी तरह हुए हैं। सेनापति तो सब तरह से सेना को लूट पाट से रोकना चाहते हैं पर जब उनसे लूट रोकने तथा फ़रियाद करने वाला और गवाही देने वाला ही कोई नहीं रह जाता तब यह सब उपद्रव रोकना बहुत मुश्किल हो जाता है। यह सब बंद-इंतज़ामी नायब की वजह से हुई है और उसे दूर करना मैं बहुत उचित समझता हूँ। अगर मुझसे हो सकता तो मैं उसी समय उसको जवाब देकर ऐसा प्रबंध करता कि जिससे पीछे कभी ऐसी बदइंतज़ामी न रह जाती। अगर नायब पर जवाबदेही का डर न रहेगा तो यह चीज कभी नहीं रुक सकती क्योंकि बाद में जो भी उसकी जगह आवेगा, वह भी ऐसा ही करेगा। खास करके इस काम के लिये अधिक आदमी भी नहीं मिलते।

"पहले नायब दुर्गविजय सिंह को मैंने ही मुक़र्रर किया था। उनकी विद्याबुद्धि उतनी ही थी जितनी उस पद के उम्मीदवारों की होनी चाहिए। राजा के साथ उनका संबंध होने से मैंने नायबी के लिये उन्हें पसंद किया क्योंकि उससे बढ़कर उनके लड़के की भलाई और कौन कर सकता था लेकिन उन्होंने हमारा विश्वास खो दिया और रेजिडेंट को उनकी जगह दूसरे को रखने की सलाह देनी पड़ी। मेरे कहने के अनुसार बोर्ड ने इन्हीं जगरदेव सिंह को बहाल किया गोकि इन्हें न तो मैं जानता था न बोर्ड के सदस्य ही जब तक मार्कहम साहब काम पर थे उनके डर से नायब अपनी मनमानी नहीं कर सकता था। मैंने सुना है कि वह निर्दयी और लालची भी है। बनारस शहर छोड़कर नायब अपनी खुशी के अनुसार चाहे जो करता है, कहीं कोई क़ानून नहीं है। राजा को कोई अधिकार नहीं है और नायब कागज़ातों में उनका नाम भी नहीं लिखता। राजा के विषय में एक दूसरी चिट्ठी लिखूंगा।"

सन् १७८४ में बनारस के इतिहास में एक और घटना घटी और वह थी शाहआलम के बड़े पुत्र और दिल्ली की गद्दी के अधिकारी मिर्ज़ा जवाँ बख़्त जहाँदार शाह का बनारस आना। जवाँ बख़्त का जन्म १७४० के करीब हुआ था। १७६१ में उन्होंने पानीपत के युद्ध में योग दिया। विजयी अब्दाली जब दिल्ली की ओर बढ़ा उसी समय आलमगीर दूसरे का उसके वज़ीर ने खून कर डाला। ऐसे समय अगर अब्दाली चाहता तो दिल्ली की गद्दी पर खुद बैठ सकता था लेकिन उसने बिहार में भगोड़े की तरह चक्कर मारते हुए शाह आलम को गद्दी पर बैठने को कहा और उनके बिहार से आने तक के समय के लिये जवाँ बख़्त से सल्तनत का कामकाज संभालने को कहा।[1] जवाँ बख़्त दस बरस तक इस तरह कागज़ात संभालते रहे और अपने पिता के लौटने पर पुनः अपने स्थान पर चले गये।

अफ़ासियाब खाँ के पतन के बाद मिर्ज़ा मुहम्मद शफ़ी शाह आलम के वज़ीर हुए पर अमीरों के प्रति उनके रूखे व्यवहार से रुष्ट होकर जवाँ बख़्त नाराज़ अमीरों की गुट के अगुआ बन बैठे। अपने विरुद्ध षड्यंत्र का पता पाकर मिर्ज़ा शफ़ी अपनी जान बचाकर भागे और ऐसा जान पड़ा कि जवाँ बख़्त वज़ीर होकर राजकाज की बिगड़ी हालत को सुधारेंगे। लेकिन शफ़ी और अफ़ासियाब के हाथ मिला लेने के कारण यह इच्छा पूरी नहीं हो सकी। शफ़ी पुनः वज़ीर बन बैठे और जवाँ बख़्त के बुरे दिन आ गये। बाद में अफ़ासियाब ने शफ़ी को मरवा डाला और उसके बाद वह जवाँ बख़्त के साथ बहुत कड़ाई से पश आने लगा।

इसी बीच दिल्ली में खबर मिली कि हेस्टिंग्स लखनऊ आये हुए थे। उनसे सहायता पाने के लिये १४ अप्रैल १७८४ को जवाँ बख़्त भेस बदल कर लखनऊ चल दिए। जैसे ही उनके लखनऊ भागने की खबर दिल्ली में मिली, शाह आलम ने अथवा यों कहिए कि अफ़ासियाब ने उनकी ओट में हेस्टिंग्स और आसफ़उद्दौल्ला को उन्हें फ़ौरन ही वापस भेज देने को कहा। जवाँ बख़्त के नाम अपने २३ अप्रैल १७८४ के एक पत्र[2] में हेस्टिंग्स,

[1] एफ़० ए० एस० अब्दुल ग़नी, प्रिंस जवाँ बख़्त जहाँदार शाह, इंडि० हि० रे० क० १४ (१९३१)

[2] केलेंडर......६, पत्र १०५०

शाह आलम के इस रुक्के का उल्लेख करते हैं, जिसमें उन्हें जवाँ बख्त को दिल्ली भेज देने का आदेश था और अगर वे महादजी सिंधिया के पास हों तो अपने प्रभाव से वहाँ से भी उन्हें दिल्ली भिजवाने की प्रार्थना थी। पत्र में शाह आलम की आज्ञा के अनुसार गवर्नर जेनरल ने जवाँ बख्त की अभ्यर्थना करने में भी अपनी असमर्थता दिखलायी। हेस्टिंग्स ने अपने २४ अप्रैल के पत्र में[१] शाह आलम को लिखा कि उन्हें इस बात का पता लगा था कि गंगा पार करके शाहजादा लखनऊ आ रहे थे। उन्होंने जवाँ बख्त को यह लिखा दिया था कि वे लखनऊ नवाब से मिलने आये थे और बादशाह की आज्ञानुसार वे उनकी अभ्यर्थना करने में असमर्थ हैं। १ मई १७८४ के अपने एक पत्र में[२] वारेन हेस्टिंग्स ने शाह आलम को लिखा कि जवाँ बख्त के विश्वास दिलाने पर कि उनकी मनशा बादशाह के विरुद्ध जाने की कदापि नहीं थी। हेस्टिंग्स ने नवाब की सलाह से जवाँ बख्त के स्वागत का प्रबंध किया और स्वयं नवाब के साथ आगे बढ़कर उनका स्वागत किया। लखनऊ में जवाँ बख्त ने हेस्टिंग्स से फ़ौजी सहायता की बात चलायी, पर कलकत्ते को यह बात मंजूर नहीं थी। अपने २२ मई के एक पत्र में[३] हेस्टिंग्स ने शाह आलम से जवाँ बख्त की सिफ़ारिश की और कुछ शर्तों पर उनके दिल्ली जाने की बात कही। हेस्टिंग्स की कोशिशों से जवाँ बख्त के लौटने पर उन्हें रोहतक और सिधाना की जागीरें देने का वादा किया। बनारस से जवाँ बख्त फर्रुखाबाद होकर दिल्ली की ओर चले और हेस्टिंग्स ह्वीलर की मृत्यु का समाचार पाकर कलकत्ता वापस चले गये।

हेस्टिंग्स के बनारस से लिखे एक पत्र से पता चलता है[४] कि जवाँ बख्त के मामले को तय करने की कई सूरतें उनके सामने थीं जैसे (१) उन्हें शाह आलम के पास वापस भेज देना, (२) उन्हें बनारस छोड़ देना, (३) उन्हें अपने साथ कलकत्ते लेते जाना। लेकिन पहली दो बातें वे नहीं करना चाहते थे और जवाँ बख्त को बनारस में छोड़ने का अर्थ था वहाँ गड़बड़ मचवाना। अंत में उन्होंने जवाँ बख्त को दिल्ली लौट आने की सलाह दी और वे २८ अक्टूबर को बनारस से दिल्ली जाने के लिये तैयार भी हो गये।[५]

बनारस में शाहज़ादे की अवाई और वारेन हेस्टिंग्स के साथ उनकी बातचीत का सुन्दर वर्णन नाना फड़नवीस के वकील लाला सेवकराम ने अपने ११ नवंबर १७८४ के एकपत्र में किया है।[६] पत्र का मजमून इस प्रकार है :—

"बड़े साहब जिस मंसूबे से लखनऊ गये उसके अनुसार उन्हें नवाब वज़ीर से करोड़ डेढ़ करोड़ रुपये मिले। परंतु दिल्ली जाकर बादशाह से मिलने का इरादा महादजी के रोड़े अटकाने से पूरा न हो सका। हर तरह से मिर्ज़ा जवाँ बख्त और रोहिल्लों, नवाब

[१] केलेंडर······६, पत्र १०५१
[२] केलेंडर······६, पत्र १०६६
[३] केलेंडर······६, पत्र ११०७
[४] ग्लाइग, वारेन हेस्टिंग्स, पृ० २००-०१
[५] ग्लाइग, वही, पृ० २११
[६] इतिहास संग्रह, अप्रैल, १९०९, ७५, ७७

वज़ीर तथा और छोटे बड़ों ने शाहज़ादा से उनकी सुलह करा दी। चन्द्र ७, ज़िलक़ाद को बड़े साहब ने शाहज़ादे से एक बड़ी बात चीत की और नवाब के भाई सआदत अली ख़ाँ से उनकी भेंट कराई। उन्होंने शाहज़ादे को ५१ मुहरें नज़र में दीं। बड़े साहब ने पोशाक, सरपेंच, जिगा, मोती का कंठा, हाथी, घोड़ा और तलवार भेंट दी। औरों ने भी पोशाकें और घोड़े भेंट किये। उसी दिन बड़े साहब ने शाहज़ादे की सवारी निकलवायी और खवास की जगह नवाब को बैठाया, ज्ञानवापी, जहाँ आलमगीर ने विश्वेश्वर का मंदिर तोड़कर मस्जिद बनवायी थी, वहाँ ले जाकर नमाज़ पढ़वायी। दूसरे दिन विजया-दशमी का मेला दिखलाने के लिये बड़े साहब शाहज़ादा, नवाब सआदत अली ख़ाँ, इब्राहीम अली खां, अकबर अली ख़ाँ, अपने मामा और अन्य दस बारह अंग्रेज़ों के साथ बराबर हाथी पर बैठ चित्रकूट के मैदान में गये। वहाँ श्री रामचन्द्र की लीला होती थी।"

उस समय जान पड़ता है, वारेन हेस्टिंग्स को रुपये की बड़ी आवश्यकता थी। पत्र का लेखक कहता है, "किसी गप्पी ने कह दिया कि चेत सिंह के दीवान की हवेली में दो करोड़ रुपये गड़े हैं। बड़े साहब ने सात दिन तक चौकी बैठाकर हवेली खुदवायी पर कुछ हाथ न लगा। शहर के व्यापारियों में घबराहट है। सरकार को बहुत देना है। सारे मुल्क में काशी तक दो कंपों में करीब पन्द्रह बीस हजार तिलंगी फ़ौज है, उसे आठ महीने से तनख्वाह नहीं मिली है।"

हेस्टिंग्स द्वारा गड़ा धन खोदवाने की बात सेवकराम की निरी कल्पना नहीं थी, इसका पता हेस्टिंग्स के ७ अक्टूबर १७८४ के अली इब्राहीम ख़ाँ के नाम एक पत्र से लगता है।[१] इस पत्र में कहा गया है कि किसी गुलाम मुर्तज़ा ने गवर्नर जेनरल से यह कह दिया कि चेत सिंह का बहुत सा माल असबाब ढूंढी भगत के मकान में गड़ा था। इस पर हेस्टिंग्स ने अली इब्राहीम को इस बात की सचाई का पता लगाने को कहा। बाद में उन्हें अली इब्राहीम के सूरत हाल और दूसरे लोगों से पता चला कि बात झूठी थी। हेस्टिंग्स ने गुनहगार को अदालत के सुपुर्द करने की आज्ञा दी और इस बात का सबूत मिलने पर कि गुलाम मुर्तज़ा ने यह बात ढूंढी भगत से दुश्मनी निकालने के लिये फैलायी थी उसे गहरी सज़ा देने की आज्ञा दी।

इसके बाद पुनः सेवकराम बनारस का समाचार लिखते हैं, "चन्द्र २२, को अफ़ासियाब ख़ाँ का पत्र बड़े साहब के पास आया जिसमें उन्होंने शिकायत की थी कि शाहज़ादा को बुलाकर फ़साद कराने की जिम्मेदारी बड़े साहब पर थी और अगर पत्र पाते ही उन्होंने शाहज़ादे को न भेजा तो आपस में बिगाड़ होगा। बड़े साहब उसी दिन शाहज़ादे को चुनार का किला दिखाने ले गये और वहाँ छोटे बड़े कामों का एक दिन में बन्दोबस्त करके दूसरे दिन वापस आ गये, आते ही भाऊ बक्शी को बुलाकर शाहज़ादा और एण्डरसन के साथ सलाह मशविरा किया। यह निश्चय पाया कि कर्नल पॉली साहब पाँच तिलंगी पलटन और तोपखाने के साथ शाहज़ादे को नवाब वज़ीर के पास पहुँचा दें। पॉली साहब ने लखनऊ के अधिकारियों को लिखा कि शाहज़ादे के खर्च का बन्दोबस्त

१ केलेंडर......६, पत्र १३६७

करके उनको कानपुर कम्प के अधिकारी कर्नल रन के पास भेज दें। भाऊ की अनुमति से सिंधिया को लिख दिया कि शाहज़ादे को भेजा जा रहा है। अगर वे बादशाह को अकबराबाद का सूबा शाहज़ादे को देने को राज़ी कर सकें, तो पचीस लाख अंग्रेज उन्हें देंगे। चन्द्र २, माहे ज़िलहिज्ज को कलकत्ते में ह्वीलर साहब की मृत्यु का समाचार पाकर बड़े साहब बहुत घबराये। चन्द्र ६, ज़िलहिज्ज को वे शाहज़ादा और भाऊ बक्शी से मिले तथा बड़े साहब, भाऊ, शाहज़ादा और एण्डरसन ने एक पहर तक आपस में सलाह मशविरा करके शाहज़ादे को जाने को कहा। शाहज़ादे को रोज़ाना खर्च एक हज़ार मिलता था, उसके मद में उन्हें कश्मीरीमल से पचास हज़ार दिलवाया गया। भाऊ ने तीन पहर रह कर हिसाब किताब और सरकारी मामलों की सफ़ाई चाही पर कुछ हुआ नहीं। भाऊ के हाथ यह समाचार भेजकर कि अंतर्वेदी का बन्दोबस्त आपके हाथों होगा उन्होंने महादजी की दिलजमई की। भाऊ को आज्ञा देते समय पचास हज़ार रुपये दिये तथा और लोग बिदा किये गये। मुझे देखकर कहा—तुम्हारे धनी ने किस मतलब से तुम्हें मेरे पास रख छोड़ा है? चार पाँच वर्षों से कोई कागज़ पत्र नहीं आया। तुम पूना जाओ। हमारे साथ कलकत्ता मत चलो। मैंने जवाब दिया—आपने हिसाब किताब की बात नहीं की। यह सुनकर बिना पान दिये गुस्से से उठ गये और नाव वालों को बुलाकर छह दिनों में कलकत्ता पहुँचाने पर उन्हें हज़ार रुपये इनाम के मिलेंगे। रात में भाऊ को बुलाकर चार घड़ी बातचीत की और आधी रात में चार आदमियों को साथ लेकर कलकत्ता चल दिये। चन्द्र ६ को एण्डरसन डाक से गये। चन्द्र १०, को शाहज़ादा ने ईद की नमाज़ पढ़कर अपने मामा अकबर अली खाँ को आगे रुखसत किया और खुद चन्द्र १४ को कूच कर सात कोस की मंजिल तय किया। काशी के राजा महीपनारायण, दीवान अजायब सिंह, अली इब्राहीम खाँ और स्कॉट साहब ने दो मंजिलों तक शाहज़ादे का साथ दिया। भाऊ बक्शी बनारस रह गये। उनके हिसाब किताब का राज़ कुछ साहूकारों और दरबारियों से पूछने पर खुला। एक करोड़ बड़े साहब ने अंतर्वेद और रुहेलखण्ड के मामले तय करने के लिये वादा किया। उसमें ४० लाख रुपये तो दिये और बाकी रुपयों के लिये भाऊ को काशी बुलाया। वहाँ रुपयों का बन्दोबस्त न हो सका और इसलिये भाऊ से चार सौ रुपये रोज़ ठहरा कर उन्हें बनारस रोक रक्खा और खुद कलकत्ता जाकर रुपये भेजने का वादा किया। करोड़ रुपये में ६० लाख श्रीमान् की सरकार का, ३० लाख महादजी का और १० लाख दरबार का होता है। कोई कहता है कि डेढ़ करोड़ पर मामला तय हुआ। महादजी आपको सविस्तर लिखेंगे।"

लेकिन जहाँदार शाह का मामला यहीं से तय नहीं होता। १९ नवंबर १७८४ के अपने एक पत्र में[१] उन्होंने हेस्टिंग्स को लिखा कि उन्हें इस बात की खबर मिली कि अफ़्रासियाब खाँ का खून हो गया इसलिए बादशाह की मदद के लिये अंग्रेजी फ़ौज की उन्होंने मदद चाही। उन्होंने यह भी लिखा कि महादजी सिंधिया शाह आलम के पास थे। अपने १९ नवंबर के पत्र में[२] वारेन हेस्टिंग्स ने जवाँ बख्त को फर्रुखाबाद जाकर

[१] कैलेंडर……६, पत्र १४७३

[२] कैलेंडर……६, पत्र १४७६

तब तक ठहरने की सलाह दी जब तक उनके दोस्तों को यह इतमीनान न हो जाय कि उनका दिल्ली जाना निरापद है। लेकिन जहाँदार शाह के २० नवंबर[१] के पत्र से पता चलता है कि जवाँ बख़्त ने फर्रुखाबाद न जाकर लखनऊ ठहरने का तब तक निश्चय कर लिया था जब तक दिल्ली का मामला साफ़ न हो जाय। लखनऊ में काफ़ी दिनों तक ठहरने के कारण जवाँ बख़्त और आसफ़उद्दौला में मनमुटाव हो गया। २७ सितंबर १७८६ को जहाँदार शाह ने मि० ग्रांट को लिखा कि उन्होंने बनारस आने का पक्का इरादा कर लिया था और इसके वास्ते माधोदास के बाग़ की मरम्मत करके तैयार कर दिया जाय।[२] १७ अक्टूबर १७८६[३] को जहाँदार शाह ने कार्नवालिस को लिखा कि कलकत्ता न आने के बारे में उन्हें कॉर्नवालिस का पत्र मिला। वे केवल अपना और मुग़ल साम्राज्य का हाल सुनाने के लिए कलकत्ते आने वाले थे। अब गवर्नर जेनरल की आज्ञानुसार वे बनारस में ही उनसे भेंट करेंगे। जहाँदार शाह के १ अक्टूबर, १७८६ के एक दूसरे पत्र से पता चलता है कि उनके बनारस आने पर जेम्स ग्रांट उनके स्वागत के लिये आये और उन्हें नज़र पेश की। इस पत्र में उन्होंने इस बात की भी प्रार्थना की कि बहुत ज़रूरी कामों के होते हुए भी कॉर्नवालिस उनसे मुलाक़ात करेंगे।[४]

करीब एक साल के बाद ४ सितंबर १७८७ को जहाँदार शाह ने पुनः कॉर्नवालिस को एक पत्र लिखा[५] जिसमें पुनः उन्होंने अपना दुखड़ा रोया है। वे लिखते हैं कि अमीरुद्दौला हैदर बेग खाँ के बुरे बरताव से उन्हें लखनऊ छोड़ना पड़ा। पहले तो महीपनारायण सिंह ने उनकी खातिर की लेकिन बाद में तो उन्होंने अपने नौकरों का उनके यहाँ आना जाना भी बन्द कर दिया और कंपनी से मिलती उनकी पेंशन भी बंद करा दिया। ग्रांट के विरुद्ध राजा की शिकायतें भी झूठी थीं। यह सुनने पर कि ग्रांट ने अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया है, राजा ने कल्ब अली खाँ, मेंहदी अली खाँ, राय चंपतराय और उमराव सिंह को जहाँदार शाह के सामने से पकड़ मंगवाया और उन्हें सख़्त सजा दी।

सितंबर १७८७ में कार्नवालिस बनारस पहुँचे। नाना फडनवीस के वकील लाला सेवक राम के एक पत्र से[६] पता चलता है कि बक्सर में राजा महीप नारायण सिंह, शाहज़ादा की तरफ से नवाब अकबर अली खाँ, नवाब इब्राहीम अली खाँ और शहर के दूसरे मातबर आदमियों ने उनका स्वागत किया। काशी पहुँच कर वे सिकरौल छावनी में ठहरे। बनारस पहुँचने के दूसरे दिन कॉर्नवालिस ने कर्नल रॉस, मि० कॉकरेल, मि० चेरी, तथा मि० डंकन के साथ जहाँदार शाह से मुलाकात करके उनको नज़र दी। शाहज़ादे ने अपनी खास पोशाक,, सरपेंच, जिगा, जवाहर और मोती कंठा, तलवार, हाथी,

---

[१] केलेंडर······६, पत्र १४८०

[२] केलेंडर······७, पत्र ७०२

[३] केलेंडर······७, पत्र ७८५

[४] केलेंडर······७, पत्र ८०१

[५] केलेंडर······७, पत्र १६२७

[६] इतिहास संग्रह, नवंबर-दिसंबर, १९१५, जनवरी १९१६, पृ० २०-३३

घोड़ा और पालकी कार्नवालिस को और ७-७ नग की पोशाकें दूसरे अंग्रेजों को देकर उन्हें रुखसत किया। इस मुलाक़ात के दूसरे दिन शाहज़ादा की सवारी कॉर्नवालिस के डेरे पर गयी जहाँ उनको पाँच नग जवाहरात और २५ विलायती सौगातें पेश की गयीं। नवाब अकबर अली खाँ ने भी शाहज़ादे को भेंट दी। एक पहर तक कॉर्नवालिस और शाहज़ादे में बातचीत हुई जिसका तात्पर्य था कि शाहज़ादे को अकबराबाद का क़िला मिल जाय क्योंकि इसी शर्त पर हेस्टिंग्स ने उन्हें बुलाया था। लेकिन कॉर्नवालिस न उन्हें यह साफ़ साफ़ बता दिया कि विलायत के हुक्म के बिना वे ऐसा करने में असमर्थ थे। शाहज़ादे ने खर्च की कमी बतलायी और नवाब वज़ीर से कोरा और जहानाबाद उनके ज़िम्मे बन्दोबस्त करवा देने को कहा। कॉर्नवालिस ने नवाब वज़ीर से ऐसी सिफ़ारिश कर देने को कहा। काशी पहुँचने के चौथे रोज सारे शहर के साहूकार और मातबर लोग कॉर्नवालिस की सेवा में आये और उन्हें नज़रें दीं। पाँचवे रोज वे नाव से इलाहाबाद चले गये।

तीन सितम्बर, १७८७ के अपने एक पत्र में कॉर्नवालिस ने सुप्रीम काउंसिल के सेक्रेटरी मि० एडवर्ड हे को लिखा कि शाहज़ादा को उन्होंने भली भाँति समझा दिया कि उन्हें कम्पनी अथवा नवाब वज़ीर से रुपये अथवा सेना की सहायता की उम्मीद अपने पिता की राज्यसत्ता पुनः क़ायम करने में न करनी चाहिए। साथ ही साथ कॉर्नवालिस ने शाहज़ादे को इतना विश्वास दिला दिया कि अगर बदकिस्मती से उन्हें पुनः शरणागत होने की आवश्यकता पड़ी तो कम्पनी के राज्य में उनकी रक्षा की जायगी।[1]

इन्हीं दिनों जहाँदार शाह को पुनः अपने अधिकारों की स्थापना के लिए अवसर मिला और उस अवसर का लाभ उठाकर उन्होंने अपने पिता शाह आलम को गुलाम क़ादिर को पदच्युत करने की सलाह दी। इस सम्बन्ध में जहाँदार शाह कॉर्नवालिस से, जो उस समय लखनऊ में थे, मिले और उनसे मदद चाही, पर कॉर्नवालिस ने मदद देने से साफ़ इनकार कर दिया। इस पर जहाँदार शाह दिल्ली पहुँचे पर यहाँ भी उनकी बदकिस्मती ने उनका पीछा न छोड़ा और उन्हें झूठी शिकायतों का शिकार होकर आगरे लौट आना पड़ा। यहाँ से उन्होंने पुनः कॉर्नवालिस से आर्थिक सहायता के लिये प्रार्थना की पर उसका कोई नतीजा न निकला। इस पर निराश होकर उन्होंने सदा के लिये राजनीति से अपना सम्बन्ध तोड़ लेने का निश्चय कर लिया। वे पुनः लखनऊ लौट आये। वहाँ उनको तीन लाख की पेंशन मुकर्रर करके राजमहल में बस जाने को कहा गया। पर राजमहल के रास्ते में वे बनारस में बीमार पड़े और ३१ मई, १७८८ को उनका वहीं देहान्त हो गया।[2]

जहाँदार शाह के मामले पर बनारस के कागज़ातों से कुछ और प्रकाश पड़ता है। १२ अप्रैल १७८८ को लखनऊ के रेजिडेंट श्री ई० ओ० आइव्स ने कॉर्नवालिस को इस

---

[1] करेस्पोंडेन्स ऑफ चार्ल्स, फर्स्ट मार्क्विस कॉर्नवालिस, भाग १, पृ० २८३ लंडन १८५९

[2] हि० रे० क० प्रो० १४ (१९३७), पृ० ३८-४५

बात का समाचार दिया कि नवाब वज़ीर ने समझाने बुझाने पर भी जहाँदार शाह की पेंशिन घटा दी थी और वे जहाँदार से दोस्ती के लिए तैयार न थे। जब आइव्स ने मियाँगंज में कॉर्नवालिस की अज़ंदाश्त दी तो वे राजमहल में रहने को तैयार नहीं हुए तथा बरसात मियाँगंज में ही ठहरने का इरादा प्रकट किया पर समझाने बुझाने पर चुनारगढ़ में रहने को तैयार हो गये। अपनी पेशकश घटने से भी वे नाराज़ थे। आइव्स ने उन्हें १५,००० रु० ख़र्च के लिए दिये। जहाँदार लखनऊ लौट गये जहाँ नवाब वज़ीर ने उन्हें नज़र पेश की।[1] पर कॉर्नवालिस जहाँदार से प्रसन्न नहीं थे। अपने १३ अप्रैल, १७८८ के पत्र में उन्होंने आइव्स को लिखा कि वे जहाँदार को समझा दें कि जो पेशकश मिले उसी में अपना गुज़ारा करें अपनी पुरानी शान शौकत भूल जायें। कॉर्नवालिस उन्हें बनारस में ठहराने के लिये तैयार नहीं थे। इधर बनारस के रेज़िडेंट के पास जहाँदार शाह ने समाचार भेजा कि उनके बनारस ठहरने का बन्दोबस्त किया जाय। रेज़िडेंट ने उन्हें लिख भेजा कि गवर्नर जेनरल के आज्ञानुसार वे उनके ठहरने का प्रबन्ध शिवाला में करने में असमर्थ थे। अपने १४ अप्रैल के पत्र में आइव्स ने पुनः उनसे राजमहल जाने का अनुरोध किया। अप्रैल १६, १७८८ के एक पत्र में आइव्स ने कॉर्नवालिस को सूचित किया कि जहाँदार के लखनऊ जाने से नवाब वज़ीर बहुत नाराज़ थे। स्वयं जहाँदार शाह भी बनारस जाने को उत्सुक थे। कॉर्नवालिस ने अपने २२ अप्रैल १७८७ के पत्र में लिखा कि वे नहीं चाहते थे जहाँदार बनारस या कलकत्ता जायें। राजमहल के रास्ते में वे सासाराम में ठहर सकते थे। जहाँदार बनारस आये पर जल्दी ही उनकी मृत्यु हो गयी।

जहाँदार शाह की मृत्यु के बाद बादशाही परिवार की वृत्ति २५,००० महीने से घटा कर १७,००० महीने कर दी गयी। इसमें से मिर्ज़ा शिगुफ़्ता बेग को ४,०००, जहाँनाबादी बेगम को २,००० और कुतलुग़ सुल्तान बेगम को ११,००० महीनवारी बाँध दी गयी। कुतलुग़ सुल्तान बेगम को मुजफ्फरबख़्त को २,००० महीना देने का आदेश हुआ पर इससे नाराज होकर वे दक्खिन भाग गये और फिर वापिस आकर फर्रुखाबाद में बस गये जहाँ उन्हें ७५० रु० मासिक मिलते रहे। इसके बाद का जहाँदार शाह के वंश का इतिहास पारिवारिक कलह का है (बनारस अफ़ेयर्स, भाग २, पृ० ५२ से) और उसके घटते प्रभाव और पेंशन का है।

हम ऊपर कह आये हैं कि जगरदेव सिंह के बनारस की नायबी से हटा देने पर अजायब सिंह बनारस के नायव बनाये गये और वे बनारस के रेज़िडेंट के कहे मुताबिक़ बनारस राज का कारबार चलाने लगे। अजायब सिंह की मृत्यु १७८७ के अप्रैल में हो गयी। कॉर्नवालिस के नाम अजायब सिंह के पुत्र शिवप्रसन्न सिंह के १८ अप्रैल १७८७[1] के एक पत्र से पता चलता है कि उनके पिता की मृत्यु के बाद राजा के आदमी उनसे नायबी की मुहर माँगने आये पर शिवप्रसन्न सिंह ने मुहर फ़ौरन न देकर १५ दिन बाद देने को कहा। पर ५ अप्रैल को स्वयं बनारस के रेज़िडेंट, ग्रांट, बनारस की टकसाल के दारोगा

---

[1] केलेंडर……७, पत्र १२९३

नवाब शेर जंग के साथ आये और अपने आदमियों को मुहर और राज के कागजातों को छीन लेने की आज्ञा दी। राजा महीप नारायण के २ मई के पत्र से पता चलता है[1] कि ग्रांट ने शंकर पंडित को बनारस का नायब १६ अप्रैल को मुकर्रर करके यह हुक्म जारी कर दिया था कि बिना शंकर पंडित की मुहर के और ग्रांट के हुक्म बिना रियासत का कोई कारबार नहीं चला सकता था। राजा ने कॉर्नवालिस से इस पत्र में शिकायत की कि राज्य का प्रबंध वे स्वयं करते थे और दो बरस पहले से तो नायब की मुहर लगाने की प्रथा तक उठ गयी थी फिर ग्रांट ने ऐसा क्यों किया। ● ●

---

[1] केलेंडर……७, पत्र १३१९

सातवाँ अध्याय

डंकन और बनारस

जोनेथन डंकन की रेज़िडेंटी के समय बनारस में अनेक सुधार हुए। अपनी कार्य कुशलता और सहानुभूति से डंकन बनारस में इतने प्रसिद्ध हो गये कि १८वीं सदी के अंत में डंकन के बड़े भाई कहावत से लोगों की यह मंशा प्रकट होती थी कि डंकन से बढ़कर कोई नहीं था। डंकन ने बनारस की रेज़िडेंटी ५ अक्टूबर १७८७ को सँभाली। डंकन ने आते ही जो पहला काम किया वह बनारस की नायबी को खतम करके राजा महीप नारायण को राजकाज सुपुर्द कर देना था।

कॉर्नवालिस ने डंकन की नियुक्ति बहुत सोच समझ कर की थी क्योंकि उन्हें इस बात का पूरा पता था कि बनारस के रेज़िडेंटों की उनकी तनख्वाह के अलावा कितनी ऊपरी आमदनी थी। हेनरी डुंडास के नाम अपने १४ अगस्त १७८७ के एक पत्र में उन्होंने अपना विचार प्रकट किया कि बिना किसी अधिकार के भी बनारस के रेज़िडेंट को अपनी मनमानी करने का पूरा अधिकार था। कहने को तो उसकी तनख्वाह एक हज़ार महीने की होती थी पर सब ले दे कर उसकी आमदनी चार लाख साल होती थी साथ ही साथ व्यापार पर उसका एकजाई अधिकार होता था और वह जिसे चाहे परवाना इत्यादि दे सकता था। इसीलिये ग्रांट को हटाकर कॉर्नवालिस ने ईमानदार और सच्चरित्र डंकन को उसकी जगह नियुक्त करने का निश्चय किया।[1] डंकन के प्रति कॉर्नवालिस का भरोसा सच साबित होने की सूचना कॉर्नवालिस के कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स के नाम १६ नवम्बर १७८७ के एक पत्र से मिलती है।[2] डंकन ने राजा की थोड़ी सी परीक्षा करके यह देख लिया कि वे बिना किसी की सहायता के स्वयं जमींदारी का काम चला सकते थे। राज्याधिकार देने पर राजा महीप नारायण ने डंकन से इस बात का वादा भी किया कि अपनी प्रजा के कल्याण के लिये उनसे जो कुछ भी हो सकेगा करेंगे। इस संबंध में राहदारी और ऐसे ही कर जिससे व्यापार में बाधा पड़ती थी, आमदनी में काफ़ी कमी होने पर भी उठा देने तथा सच्चरित्र आदमियों को तीन लाख तक की जागीरें देने और न्याय व्यवस्था की ओर भी अधिक ध्यान देने का वादा किया।

करीब नवम्बर १७८७ में बनारस में एक घटना और घटी और वह थी बनारस के महाजनों, ओहदेदारों और पंडितों द्वारा हेस्टिंग्स को जिन पर विलायत में मुकदमा चल रहा था चार मानपत्रों का दिया जाना था (परिशिष्ट तृतीय)। पहले मान पत्र में बनारस के राजा सहित २७७ रईसों तथा अधिकारियों इत्यादि के दस्तखत हैं। इसमें हेस्टिंग्स की

---

[1] केलेंडर······७, पत्र १७४२

[2] करेसपांडेंस ऑफ चार्ल्स, फर्स्ट मार्क्विस ऑफ कॉर्नवालिस, भाग १, पृ० २७०-७१

[3] करेसपांडेन्स, वही, पृ० ३०२

बुद्धिमत्ता, कार्यकुशलता और शराफ़त की चर्चा की गयी है। चौथा मानपत्र नयी पट्टी के महाजनों का महाजनी अक्षरों में और हिंदी भाषा में था और इससे पता चलता है कि बनारस में महाजनों की निगाह में हेस्टिंग्स की बड़ी इज्जत थी। दूसरा और तीसरा मानपत्र बनारस के पंडितों ने दिया। हम बनारस के इतिहास में इन मानपत्रों का इसलिये और अधिक महत्व है, क्योंकि इनसे हमें बनारस के बहुत से पंडितों और व्यापारियों के नाम मिलते हैं तथा हमें उनका समय ठीक करने में एक निश्चित आधार भी मिल जाता है। बनारस के महाजन, सौदागर, व्यापारी जो वहाँ के रहने वाले थे अथवा आकर बस गये थे, उन्होंने अपने प्रमाण पत्र में[१] लिखा कि हेस्टिंग्स साहब ने न तो किसी को गारत किया न रिश्वत ली, न किसी की इज्ज़त बिगाड़ी। ज़बर्दस्ती से उन्होंने किसी की जायदाद पर भी अधिकार नहीं जमाया, न अपने ज़ुल्मों से उन्होंने देश को बरबाद ही किया। उन्होंने सदा मेल मिलाप की कोशिश की और मीठे वचनों से लोगों को खुश रक्खा और शहर में न्याय का समुचित प्रबंध किया। दस्तखतों से पता चलता है कि नगर सेठ चतुरभुजदास, साहु रामचन्द, फतहचंद साहु, मनोहरदास साहु, कश्मीरीमल इत्यादि बनारस के प्रसिद्ध साहूकारों में थे।

दूसरा प्रमाणपत्र बनारस के राजा, ओहदेदारों और हाली मोहालियों की तरफ से था।[२] प्रमाणपत्र का सारांश यह है कि बनारस के हिंदू मुसलमानों को यह खबर मिलने पर कि विलायत वालों ने गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स पर यह आरोप लगाया है कि उन्होंने यहाँ वालों पर अत्याचार किया, लोगों को गिरफ़्तार किया और मुल्क को वीरान कर दिया बनारस वालों ने अपने धर्मों की सौगंध खाकर यह बतलाया कि वारेन हेस्टिंग्स ने प्रजा की सदा रक्षा की और उन्हें नुक़सान से बचाया तथा उनके साथ न्याय किया। उनकी झूठी शिकायत करने वाले वे ही थे जिनका स्वार्थ उनसे सिद्ध नहीं हुआ। बदमाशों और गुंडों के साथ भी वे सख्ती से पेश आये जिसकी वजह से लोगों को शांति मिली। अंत में उन लोगों ने यह भी लिखा कि प्रमाणपत्र में उनके बयान बिना किसी और दबाव के लिये गये हैं।

ऊपर के दोनों प्रमाण पत्रों में केवल वारेन हेस्टिंग्स की तारीफ़ ही तारीफ़ है, पर पंडितों के दो प्रमाण पत्रों में वारेन हेस्टिंग्स द्वारा बनारस में किये गये कुछ सुधारों का भी उल्लेख है। पहले पत्र में महाराष्ट्र, गुजरात और खास बनारस के १७८ पंडितों के हस्ताक्षर हैं तथा दूसरे पत्र में ११२ आदमियों के हस्ताक्षर हैं, जिन्हें ग़लती से बंगाली पंडित कहा गया है, क्योंकि इनमें बंगाली कायस्थ, और मैथिल पंडित भी थे। दोनों प्रमाणपत्र संस्कृत में है। पर पंडितों का प्रमाणपत्र नागरी अक्षरों में है और बंगालियों का बंगला अक्षरों में। इन दोनों प्रमाणपत्रों में हस्ताक्षर करने वालों ने अपने को राजनीतिक प्रश्नों से बचाते हुए, वारेन हेस्टिंग्स के खास सुधारों की ओर, जिनसे यात्रियों को फ़ायदा पहुँचा

---

[१] केलेंडर ऑफ पर्शियन करेसपांडेंस, ३१ जुलाई १७८८, पृ० ४३४

[२] वही, जुलाई, १७८८, पृ० ४३२

[३] ए० एस० सेन, टू संस्कृत मेमोरेंडा ऑफ १७८७, जर्नल ऑफ दि गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टिट्यूट, नवंबर १९४३, पृ० ३२-४७

जैसे गंगापुत्रों की छीना झपटी की रोक थाम, बिना बाधा के धार्मिक कार्य करने की सुविधा, अली इब्राहीम खाँ की बनारस में चीफ़ मजिस्ट्रेट के पद पर नियुक्ति तथा विश्वेश्वर मंदिर का नौबतखाना बनाना, इत्यादि की ओर ध्यान दिलाया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या ये प्रमाणपत्र लोगों ने अपनी मर्ज़ी से लिखे अथवा उन पर ज़ोर दबाव डालकर वे लिखवाये गये। अली इब्राहीम खाँ ने ये चारों प्रमाणपत्र डंकन साहब के पास भेजकर उनसे प्रार्थना की कि वे उन्हें कंपनी के डाइरेक्टरों के पास भेज दें। लेकिन डंकन ने स्वतः कुछ करेने से इनकार कर दिया, क्योंकि प्रमाणपत्रों का संबंध कंपनी के किसी काम से नहीं था। इस पर ये पत्र हेस्टिंग्स के अटरनी मि० टॉमसन के पास भेज दिये गये। मि० टॉमसन ने लॉर्ड कॉर्नवालिस से प्रार्थना की कि अपनी मर्ज़ी से लोगों को हेस्टिंग्स के कामों के बारे में प्रमाणपत्र देने की आज्ञा दी जाय। इस पर कार्नवालिस ने हुक्म दिया कि कंपनी के अफ़सर केवल ऐसे प्रमाणपत्र जो इन्हें दिये जायँ टॉमसन के पास भेज सकते थे, पर इस मामले में और किसी तरह की दस्तंदाजी करने की मनाही की गयी। इससे यह पता चलता है कि गवर्नर जनरल की इस मामले में कोई दिलचस्पी नहीं थी और कंपनी के अफ़सर इन प्रमाणपत्रों के मामले में केवल पोस्ट ऑफिस का काम करते थे। डंकन का भी रुख इस मामले में तटस्थता का था।

लेकिन अली इब्राहीम खाँ वारेन हेस्टिंग्स के मित्र और कृपापात्र थे। इसलिये यह संभव है कि प्रमाणपत्रों को इकट्ठा करने में उनका हाथ था। डंकन के नाम उनके पत्र से भी यह पता चलता है कि इस मामले से उन्हें दिलचस्पी थी। बनारस के हाकिम होने की वजह से वे रईसों, महाजनों तथा पंडितों पर अपना प्रसाद डालकर प्रमाणपत्र लिखवा सकते थे और पत्रों की अलंकारिक भाषा और अली इब्राहीम की बढ़ा चढ़ाकर तारीफ़ शायद इस ओर इशारा भी करते हैं। लेकिन हस्ताक्षर करने वालों ने अपने प्रमाण पत्रों में राजनीतिक झगड़ों की कहीं बात नहीं आने दी है। उन्होंने तो केवल उन्हीं बातों की चर्चा की है जो उनके ज्ञान में सही थीं। इसलिये यह मान लेने की कोई संभावना नहीं है कि उन्होंने प्रमाण पत्रों पर अली इब्राहीम खाँ के दबाव से दस्तखत किये।

पहला पत्र १६ नवबंर १७८७ का है और उसमें काशी के और बाहरी दोनों पंडितों ने हस्ताक्षर किये थे, क्योंकि वे हेस्टिंग्स की कृपा और शिष्टाचार से संतुष्ट थे। पत्र में इन कृपाओं का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—(१) बड़े प्रयत्न से उन्होंने चातुर्वर्ण के प्रसिद्ध तीर्थ वाराणसी को बसाया और उसको समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया। (२) अपने अधिकार में उन्होंने पंडितों को इज्ज़त और सुख से बसाया। (३) गंगापुत्रों की गुंडई के डर से पहले थोड़े से ही यात्री काशी आते थे लेकिन हेस्टिंग्स ने उनकी गुंडई का प्रतिकार करके और दूसरी रुकावटों को दूर करके यात्रियों को आने की सुविधा कर दी, इससे सब प्रदेशों से काशी में यात्री आने लगे। (४) उन्होंने न्याय-प्रिय और कुशल अली इब्राहीम खाँ को बनारस का मजिस्ट्रेट बनाया और पंडितों और मौलवियों को हिंदू मुस्लिम क़ानूनों को समझाने के लिए उनका सहायक नियुक्त किया। अली इब्राहीम ने घूस भी रोक दी और उनके शासन में प्रजा बलवंत सिंह और चेत सिंह के शासनकाल से भी कहीं

अधिक प्रसन्न थी। (५) हेस्टिंग्स ने बनारस दूसरी बार आने पर पंडितों की सभा में अपने वचन और मानदान से लोगों को बहुत प्रसन्न किया। (६) उन्होंने विश्वेश्वर के मंदिर में नौबतखाना बनवाया। (७) शासन के अच्छे सिद्धान्तों से वे कभी नहीं डिगे और उन्होंने अपने भरसक किसी की बुराई भी नहीं चाही।

ऊपर वारेन हेस्टिंग्स द्वारा नौबतखाना बनवाने का ज़िक्र है। विश्वनाथ मंदिर के एक लेख से[१] पता चलता है कि विश्वेश्वर का यह नौबतखाना, नवाब अज़ीज़ुल मुल्क अली इब्राहीम खाँ ने संवत् १८४२ (सन् १७८५) में नवाब इमादुद्दौला गवर्नर जनरल अमीरुल मुमालिक वारेन हेस्टिंग्स जलादत जंग की आज्ञा से बनवाया।

हम पीछे कई बार यह कह आये हैं कि मराठों की काशी पर दृष्टि थी पर पानीपत की १७६१ की लड़ाई के बाद उनकी यह इच्छा कभी भी पूरी न हो सकी। कॉर्नवालिस के शासन काल में तो नाना फडनवीस ने यह अच्छी तरह समझ लिया कि बनारस अंग्रेजों के पंजे में पूरी तरह आ चुका था और मराठों का उस पर अधिकार होना असंभव था। नाना फडनवीस स्वयं काशी यात्रा के बड़े इच्छुक रहते थे पर अंत तक उनकी यह इच्छा पूरी नहीं हुई। काशी पर उनकी इतनी श्रद्धा थी कि तीर्थ का एक नक़्शा जिसमें सब मंदिर बने थे उनके पास था और वे इस नक़्शे से रोज़ काशी दर्शन करते थे।[२] नाना फडनवीस ने बनारस में एक पुल बनवाने की भी सोची और इसके लिये करमनासा नदी चुना। भास्कर पंत कुंटे ने पुल के पायें बनवाने का काम अपने हाथों में लिया लेकिन बालू और पानी के ज़ोर से वे ऐसा न कर सके गोकि इन बखेड़ों से छुट्टी पाने के लिये उन्होंने अनुष्ठान भी कराया। जब नाना फडनवीस को यह सब खबर मिली तो उन्होंने काम रुकवा दिया और कलकत्ते से बेकर नाम के एक इंजीनियर को बीस हज़ार देकर काम पूरा करवाया।[3] फिर भी पुल बहुत दिनों तक शायद खड़ा नहीं रह सका और राजा पटनीमल ने नौबतपुर के पास १९वीं शताब्दी के आरम्भ में पुनः करमनासा पर पुल बनवाया जो आज तक चालू है।

कंपनी के डाइरेक्टरों के नाम अपने २ अगस्त १७८९ के एक पत्र में कॉर्नवालिस ने लिखा कि डंकन से सुप्रबंध से बनारस की बस्ती बढ़ने लगी थी। बहुत से दक्षिणी मिर्ज़ापुर में जम गये थे और वे बनारस में घर बनाने के लिये ज़मीन चाहते थे। नाना फडनवीस ने भी कॉर्नवालिस से बनारस में एक घर बनाने की आज्ञा चाही जिससे वे काशी समय समय पर आकर रह सकें। अपने दीवान महादजी पंडित की रिपोर्ट मिलने पर उन्होंने ऐसा करना निश्चित किया था।[४]

डंकन के समय में मराठों ने इस बात की भी पूरी कोशिश की कि ज्ञानवापी मस्जिद की जगह मुसलमानों को मुआवज़ा देकर विश्वनाथ का मंदिर पुनः बना दिया

---

[१] इंडि० हि० रे० क० प्रो०, १२ (१९२९), पृ० ६७

[२] इतिहास संग्रह, मई १९०९, पृ० ७२ पाद टिप्पणी

[3] इतिहास संग्रह, फरवरी १९१०, पृ० ३७

[४] रॉस, करेसपोंडेन्स ऑफ कॉर्नवालिस, भाग १, पृ० ५४५

जावे।[१] महादजी सिंधिया ने भी इस संबंध में १७८९ में प्रयत्न किया, पर अंग्रेज मुसलमानों से शत्रुता मोल नहीं लेना चाहते थे, इसलिये कुछ न हो सका। नाना फडनवीस ने टीपू और अंग्रेजों की लड़ाई के समय अंग्रेजों की इस शर्त पर सहायता करने का वादा किया कि उसके बदले में वे विश्वनाथ का मंदिर पुनः अपने प्राचीन स्थान पर हिंदुओं द्वारा बनने दें पर इसका भी कोई नतीजा नहीं निकला।[२]

शायद विश्वनाथ के प्राचीन मंदिर को पुनः न लौटाने के कारण बनारस के मराठों और अंग्रेजों में दुर्भाव पैदा हो गया। इसका पता जोनेथन डंकन के नाम कॉर्नवालिस के १० अगस्त १७९२ के एक पत्र से लगता है (श्री गोविन्द लाल व्यास, बनारस के संग्रह में)। कॉर्नवालिस को डंकन के कई पत्रों से पता लगा कि सिंधिया के वकीलों और दूसरे बनारस के महाराष्ट्रों का डंकन के प्रति व्यवहार अच्छा नहीं था। कॉर्नवालिस ने इसे रोकने के लिये मेजर पामर द्वारा सिंधिया और भाऊ बक्शी का ध्यान आकृष्ट किया और इस बात की शिकायत की कि उनके आदमी किसी मुक़दमे में अदालत का अपमान करने पर तुले हुए थे। कॉर्नवालिस ने इस बात की भी आगाही कर दी कि बनारस में मराठे अगर भलमनसाहत से न रहे तो अफ़सरों की बेइज्जती करने पर उन्हें सख्त क़ैद की सजा मिलेगी। कॉर्नवालिस ने डंकन को भी इन लोगों के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करने का आदेश दिया।

यह कहना ग़लत न होगा कि बनारस में कम्पनी द्वारा अधिकार लेने के पहले जमाबन्दी का कोई हिसाब नहीं था। जमींदार जितनी इच्छा हो, प्रजा से मालगुजारी वसूल करते थे। बलवन्त सिंह नवाब वजीर को इसमें से एक मुश्त रकम दे देते थे। बहुत से जमींदार, प्रजा को लूट पाट कर और अपने मालिक को धोखा देकर, जितनी रक़म मिलनी संभव थी वसूल करते थे। जब १७७५ में चेत सिंह ने अपनी जमींदारी के कुछ अधिकार अंग्रेजों को दिये, तब भी मालगुजारी इकट्ठा करने का काम अपने हाथों में रक्खा। महीप नारायण सिंह के समय में भी यही क़ायदा चलता रहा। बनारस की मालगुजारी दूनी हो गयी पर साथ ही साथ लूट खसोट भी दूनी हो गयी।

१७८७ के ३१ अगस्त को बनारस के रेजिडेंट बनकर आने पर डंकन ने देखा कि मालगुजारी सम्बन्धी यह कुप्रबन्ध रोकना आवश्यक था।

१७८८ में डंकन ने बनारस की आर्थिक अवनति देखकर उसके सुधार के लिये महाराज बनारस को एक पत्र लिखा। जिसमें आर्थिक व्यवस्था के निम्नलिखित सुधार सुझाये गये। (१) आमिलों के इच्छानुसार नये नये पट्टों की समाप्ति और एक नये तरह के पट्टे का चलन। (२) पट्टे में बटाई के खेतों के नापने के गज की लम्बाई, उस पट्टे में कनकूत के लिए लिखना आवश्यक था। (३) लगान में अन्न देने की निर्ख के सम्बन्ध में किसानों में अक्सर झगड़ा होता था इसे रोकने के लिए दो फ़सलों की पैदावार की औसत

---

[१] मराठी रियासत, भाग २, पृ० २५८-५९

[२] भावे, पेशवा कालीन महाराष्ट्र, पृ० ३९४

पर रेज़िडेंट की अनुमति से राजा एक निर्ख तय कर सकते थे। (४) बटाई का अन्दाज़ा कानूनगो खेत की पट्टे में लिखे गज़ की पैमाइश करके तथा पैदावार की कनकूत करके कर सकते थे। (५) पट्टे में आमिल और रैयत के बीच में पैदावार के बटवारे का अनुपात निश्चित करना आवश्यक था। (६) पट्टे में नकद लगान देने वाले का नाम लिखना आवश्यक था। (७) १७८७ के बाद से लगे हुए सब आबोआब १७९६ में निश्चित रूप से खतम होना। १७८७ में सब करों को मिला कर एक मुश्त लगान निश्चित रूप से क़ायम होना। (८) प्रजा को अत्याचार से बचाने के लिये पट्टे के मसविदे को आमिलों ज़मींदारों और ठीकेदारों में घुमाना ज़रूरी था। इस सुधार के लिये ईमानदार अमीनों की नियुक्ति मि० नीव के मातहत में करना आवश्यक था। रैयतों को इस बात की भी आगाही दे दी जाय कि नये पट्टे चालू होने के पहले वे बकाया मालगुज़ारी अदा कर दें। (९) क़ानूनगो लोगों के लिये जो खास आबोआब होते थे उन्हें बन्द कर दिया जाय, उनकी जगह उनके लिये कोई दूसरा प्रबन्ध कर दिया जाय। (१०) बंजर ज़मीन की लगान रैयतों के ज़रूरत के अनुसार तय की जाय। खेती बढ़ाने के लिये बंजर जमीन का भी बन्दोबस्त पट्टे के साथ कर दिया जाय। पट्टे की रजिस्ट्री क़ानूनगो के हस्ताक्षर से हो। (११) अमीनों को यह अधिकार दिया जाय कि वह हर एक परगने के काज़ी और चौधरी के हुकूक़ों के बारे में रिपोर्ट भेजें। उनके लिए यह भी ज़रूरी कर दिया जाय कि वे बराबर शजरे भेजते रहें।[1]

इन सुझावों से राजा और रेज़िडेंट के बीच काफी खिंचाव पैदा हो गया। राजा इस बहाने से प्रस्तावों को मान कर पट्टा देने में आनाकानी करने लगे कि ऐसा करने से उस साल की वसूली, जिसका सब प्रबंध हो चुका था, न हो सकेगी। इस पर रेज़िडेंट राजा को आज्ञा दी कि वे अपनी वसूली का चिट्ठा भेजें। २ जून १७८८ को रेज़िडेंट ने राजा को लिखा कि नये सुधार प्रजा की भलाई के लिये थे और वे अपने परवाने पर पुनर्विचार करें। इसके पहले राजा के लिये यह आवश्यक था कि वे विरोध लिखित रूप में उनके पास भेजें।[2] २९ जून १७८८ को राजा ने रेज़िडेंट को अपने उस साल की वसूली का चिट्ठा दिखाया, पर रेज़िडेंट को इस बात की दिलजमई थी कि उसकी जो राय थी वह ठीक थी और वह अपने प्रस्तावों को स्वतन्त्र रूप से लागू करने को तैयार था। जब बात यहाँ तक पहुँची तब राजा को स्थिति का ज्ञान हुआ और वे प्रस्तावों को स्वतः लागू करने के लिए तैयार हो गये। इस पर रेज़िडेंट ने राजा को ११८७ में नकदी खेतों की मालगुज़ारी की जानकारी इकट्ठा करने तथा जमीन नापने की गजों की लम्बाई निश्चित करने को कहा। आमिलों को हिदायत की गयी कि वे नये सुधार का लोगों में प्रचार करें और अगर कोई उनकी आज्ञा न माने तो उसकी जवाबदेही को वे राजा के मार्फ़त रेज़िडेंट के पास भेज दें। रेज़िडेंट ने राजा को समझाया कि नये बन्दोबस्त का उद्देश्य यह था कि पट्टा में नकदी लगान, पैमाइश का गज़, आबोआब और ज़ाबिताना करों का ज़िक्र हो और कोई खेत बिना जुते न रहे।

---

[1] शेक्सपियर, नोट्स फ्रॉम दि डंकन रेकर्ड्स, पृ० १-५, एलाहाबाद १८७३

[2] वही, पृ० ५-९

क़ानूनगों लोगों को हुक्म दिया कि वे ११९६ हिजरी के लिये पट्टे जारी करें। चौधरियों, काज़ियों और अमीनों से यह कहा गया कि वे लगान क़ायम करने के लिये ११८६ हिजरी के कागज़ात पेश करें। लगान क़ायम करने में यह बात निश्चय कर ली गयी कि गज़ की नाप तीन दीन इलाही से अधिक हो और बीघा में बीस बिस्वा से कुछ अधिक या कम हो। इस बात पर भी राजा ने एतराज़ किया लेकिन डंकन ने अपने वकील को हुक्म दिया कि वे राजा से इस सवाल का सीधा जवाब लावें कि वे कंपनी की वसूली का काम हाथ में लेने को तैयार थे अथवा नहीं। उनके अस्वीकार करने पर रेज़िडेंट स्वयं इस काम को हाथ में लेने के लिये तैयार थे। झख़मार कर १२ जुलाई १७८८ के दिन राजा ने रेज़िडेंट के प्रस्तावों को मान कर अमीनों और आमिलों को हुक्म दिया कि वे नये क़ानून को तुरंत अमल में लावें। रेज़िडेंट ने उस साल अमीनों के खर्च का भार उठाना स्वीकार कर लिया। बंदोबस्त के शुरू होते ही रैयतों ने तरह-तरह के एतराज़ उठाए, जिनका रेज़िडेंट ने ठीक तरह से समाधान किया।

कल्ब अली ने बनारस के कई परगनों के ठीके ले रक्खे थे लेकिन उसे नयी लगान देने में बड़ी अड़चनें पड़ने लगीं। उसने तो यह लगान केवल इसलिए मान लिया था कि उसकी पटरी बनारस के महाजनों से नहीं बैठती थी। लेकिन इस डर से कि कहीं सब आमिल उनसे लगान घटाने को न कहें, राजा बनारस कल्ब अली की लगान घटाने को तैयार न थे। इसी बीच में राजा बीमार हो गये और रेज़िडेंट को पता लगा कि कल्ब अली दीवालिया बन चुका है। डंकन ने उसे छूट देनी चाही पर राजा ने इसे नहीं माना। इस पर अपनी दिलजमई के बाद रेज़िडेंट ने अली इब्राहीम ख़ाँ को कल्ब अली से यह कहने को कहा कि या तो वह अपने सब ठीके छोड़ दे, अथवा उन सब पर पचीस हज़ार मालगुज़ारी देना स्वीकार करे। कल्ब अली इस बात को मान गये लेकिन लगान देने में वे असमर्थ थे। इस पर मि० नीव सिपाहियों के साथ लगान वसूल करने भेजे गये और उन्होंने दो लाख वसूल किया। कल्ब अली के सत्रह हज़ार रुपये बनारस के महाजनों पर बाकी थे जिन्हें राजा ने मालगुज़ारी में दाखिल करने की आज्ञा चाही और रेज़िडेंट ने उसे स्वीकार भी कर लिया। इसका महाजनों को बड़ा बुरा लगा और उन्होंने इस अपमान का बदला लेने की ठान ली। राजा के ख़ज़ाने में मालगुज़ारी महाजनों के ज़रिए पहुँचती थी। फिर क्या था उन्होंने किश्त के पुरजों पर तक दस्तख़त करने से इनकार कर दिया, जब तक कि रेज़िडेंट उनमें से एक की कोठी में किश्त की रक़म जमा न कर दे। महाजनों को इसलिए नाराज़ करना कठिन था, क्योंकि उस समय लगान देने की प्रथा दाख़िलों में थी, जिनका भुगतान कुछ दिनों में होता था। महाजनों का कर्ज़ होने से से ज़मींदारों को झख़मार कर उनकी शर्तों को मानना पड़ता था। गड़बड़ी इसलिए और बढ़ गयी थी कि लोगों का राजा महीपनारायण पर विश्वास कम हो गया था पर डंकन ने इन सब कठिनाइयों का बहादुरी के साथ मुक़ाबला किया और रैयत और अफ़सर दोनों के विरोध होते हुए भी उन्होंने अपने सुधारों को आगे बढ़ाया। इस नये बंदोबस्त का प्रबन्ध पहले राजा पर ही छोड़ दिया और उसके ख़र्च के लिए अमीनों का वेतन भी

[1] शेक्सपियर, उल्लिखित, पृ० ६१

देना स्वीकार कर दिया। कम उपजाऊ परगनों में तक़ावी बाँटने की भी व्यवस्था की तथा क़ानूनगो काज़ी और चौधरियों की मर्यादा भी बढ़ायी।

अली इब्राहीम ख़ाँ के बारे में रेजिडेंट का बहुत अच्छा विचार था। अली इब्राहीम शहरी अदालत के हाकिम थे लेकिन उस अदालत में माल के मुकदमे लेने का कोई अधिकार न था। अदालत की इस कमी को पूरी करने के लिये ११९६ फसली में माल की अदालत स्थापित की गयी और उसमें दो जज नियुक्त किये गये। राजा की मुल्की अदालत भी चलने दी गयी लेकिन इसके फ़ैसलों की अपील रेजिडेंट के पास हो सकती थी।

७ अक्टूबर १७८८ को डंकन ने इस बात का फ़ैसला किया कि उस साल का बन्दोबस्त उसी के हुक्म से हो पर साथ ही साथ उसने राजा से यह भी वादा किया कि पूरी लगान का हिसाब तैयार हो जाने पर वह राजा के अधिकार लौटा देगा। राजा इससे सहमत हो गये। रेजिडेंट ने इश्तिहार जारी करके तमाम सायरों की लगान नज़राना, कचहरी, खानगी, देवारी और बकायानिग़ारी के कर लगान में शामिल कर दिये (वही पृ० ५६)। इस बन्दोबस्त से कम्पनी की आमदनी में कमी होने की सम्भावना थी इसलिये रेजिडेंट ने राजा को अपना खर्च घटाने को कहा।

डंकन के समय बनारस जिले के ब्राह्मण बड़े उद्दण्ड हो गये थे। इनकी उद्दण्डता रोकने के लिये डंकन ने फ़ौरन कार्रवाई की। ये ब्राह्मण बहुधा अपने को घायल कर लेते थे, दूसरों के नाम पर आत्म-हत्या कर लेते या बूढ़ी ब्राह्मणियों से ज़बरदस्ती आत्महत्या करवाते थे। १७ जून १७८९ को एक इश्तिहार निकाल कर डंकन ने ब्राह्मणों की ये सब बातें रोक दीं तथा इस बात की धमकी दी कि अगर वे ऐसा करेंगे तो उनकी ज़मीन जायदाद जब्द कर ली जायगी।

१७८८ में डंकन ने जब नये बंदोबस्त का काम अपने हाथ में ले लेने का निश्चय किया तब उन्होंने तरह तरह के बंदोबस्त को हटाकर ने रैयत के साथ एक तरह का पट्टा लिखवाने का निश्चय किया। हर जमाबन्दी में पैदावार का एक खास हिस्सा मालगुज़ारी का दर्ज करना आवश्यक था, तथा नकद मालगुज़ारी चेत सिंह के राज के अंतिम वर्ष की मालगुज़ारी की दर से अधिक नहीं हो सकती थी। पड़ताल के लिए एक निश्चित गज रक्खा गया। हर फ़सल पर गल्ले की दर नकद में परिणत करने के लिये सरकारी तौर से ज़ाहिर कर दी जाती थी। बँटाई के नियम के अनुसार पैदावार की बाँट रोक दी गयी और उसकी जगह फ़सल कटने के पहले कनकूत का नियम जारी कर दिया गया। १७७९ के बाद के सब तरह के कर समाप्त कर दिये गये, और उसके पहले के कर मालगुज़ारी में दाखिल कर दिए गये। यह भी निश्चय किया गया कि बक़ाया लगान फ़ौरन चुकता कर दी जाय। बंजर ज़मीन के लिये लगान कम कर दी गयी और यथा संभव थोड़ी सी बंजर ज़मीन का प्रबंध हर किसान के साथ कर देने का निश्चय किया गया। खेती बारी बढ़ाने के लिये ऐसा करना आवश्यक था। राजा महीपनारायण ने पहले तो इस बंदोबस्त पर आपत्ति की पर अंत में उन्हें इसे मानना ही पड़ा।[1] कॉर्नवालिस

[1] बनारस गजेटियर, भा० १, पृ० १३७–१३८

ने अपने २ नवम्बर १७८९ के एक पत्र में कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स को लिखा कि डंकन के ज़रीये राजा महीपनारायण ने स्थायी बंदोबस्त के सिद्धान्तों को मान कर अपने तमाम इलाक़ों में दस बरस के लिये यह बंदोबस्त करना स्वीकार कर लिया।

इस नये बन्दोबस्त का काम फ़ौरन हाथ में ले लिया गया, पर अभाग्यवश बनारस राज का पैमाना न हो सका। हर एक महाल पर अलग अलग जमाबन्दी कूती गयी। और इस तरह सब महालों की जमाबन्दी मिला कर परगने की जमाबन्दी तैयार हुई। इसमें मालगुज़ारी वसूल करने के लिये आमिलों और दूसरे कर्मचारियों का दस प्रतिशत बाद करके तथा महाजनों का लहना निकाल कर राजा का हिस्सा आधा निश्चित कर दिया गया। राजा द्वारा कंपनी को चालीस लाख मालगुज़ारी देना तय पाया।

लेकिन इस बन्दोबस्त के चलने में काफ़ी परेशानी हुई क्योंकि राजा, आमिल और यहाँ तक कि रैयतों को भी इसमें अनेक आपत्तियाँ दीख पड़ीं। इस बन्दोबस्त के चालू करने में ज़मीदार भी मिलने कठिन हो गये क्योंकि ऐसे ज़मींदार भी प्रायः समाप्त हो चुके थे जिनके साथ बन्दोबस्त करना संभव था। फिर भी इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी बन्दोबस्त कर ही दिया गया। १७९३ में इस बात का एलान किया गया कि बन्दोबस्त असामियों के जीवन भर के लिए था पर १७९५ में यह बन्दोबस्त स्थायी कर दिया गया। इस बन्दोबस्त में बहुत सी अच्छाइयाँ होते हुए भी बहुत सी खराबियाँ भी थीं। (१) इस बन्दोबस्त में न ज़मींदारियों की पैमाइश ही की गयी न इनकी हद ही बाँधी गयी। (२) मालगुज़ारी की दर स्थायी रूप से ठहरा देना भी कुछ अजीब सी बात थी। (३) सम्मिलित हिंदू परिवार के कुछ सदस्यों के नाम ही ज़मीन का बन्दोबस्त होने से बाक़ी के प्रति अन्याय हुआ। (४) मालगुज़ारी अदा न करने पर जो ज़मीनें नीलाम पर चढ़ती थीं, उन्हें सरकारी अमले ख़रीद लेते थे, गोकि क़ायदे के अनुसार उन्हें ऐसा करने की सख्त मनाही थी।

दिसम्बर १७८७ में कंपनी ने बनारस के व्यापार टकसाल और चुंगी पर बार्लो की रिपोर्ट पर निम्नलिखित प्रस्ताव किये। इन प्रस्तावों के अनुसार बनारस और कम्पनी के दूसरे राज्यों के बीच व्यापार करने वालों की रक्षा का आश्वासन का तथा रोज़गार बढ़ाने के लिए परवाना देने की भी प्रथा का उल्लेख था। राजा के अफ़सरों को कंपनी के अफ़सरों की तरह यह हिदायत दी गयी कि वे चुंगी के रजिस्टर रक्खें। बनारस के आयात और निर्यात कर की दर ढाई प्रतिशत निश्चित कर दी गयी। जमींदारी के कर और हुकमउदूली के दण्ड खतम कर दिये गये। अंतर्देशीय कर समाप्त कर दिये गये। व्यापारिक मुक़दमों की सुनवाई के लिए रेज़िडेंट के मातहत एक अदालत स्थापित कर दी गयी।[१]

बनारस की आर्थिक अवस्था की जाँच के लिए १६ मई १७८७[२] में गवर्नर जनरल ने महीपनारायण सिंह को बार्लो की नियुक्ति की बात लिखी।

---

[१] करेसपांडेन्स ऑफ कॉर्नवालिस, भा० १, पृ० ४४३

[२] करेसपांडेन्स ऑफ कॉर्नवालिस, भाग २, पृ० १ से

[३] केलेंडर······७, पत्र १३४८

बार्लो की रिपोर्ट से बनारस की आर्थिक और व्यापारिक स्थिति पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। १८वीं सदी के अन्त में जान पड़ता है बनारस के व्यापारियों को तरह-तरह की अड़चनें उठानी पड़ती थीं। बनारस में कपड़े का काफ़ी व्यापार होता था और यहाँ के व्यापारी इसके लिए बाध्य थे कि वे निश्चित समय पर काफ़ी कपड़ा कंपनी को दें। ऐसा करने से व्यापारियों ने इनकार कर दिया क्योंकि वे दूर-दूर से ठीक समय से माल लाने में असमर्थ थे। साथ ही साथ उन्हें अवध के नवाब के राज्य में काफ़ी गड़बड़ी का सामना करना पड़ता था। सबके ऊपर उन्हें उन प्रभावशाली अंग्रेज व्यापारियों का भी मुक़ाबला करना पड़ता था सरकार जिन्हें हर तरह की सहायता देती थी और वे जब चाहे तब बुनकरों से ज़बर्दस्ती काम करवा सकते थे। बार्लो ने इस बात की सलाह दी कि कंपनी द्वारा कपड़ा खुले आम बाजार भाव से खरीदा जाय। बयाना देकर भी माल की तैयारी बढ़ाने का सुझाव रक्खा।

ज़मींदारों और आमिलों द्वारा रास्ते में तरह-तरह के कर वसूल करने से व्यापारियों को अपना माल ले जाने में बड़ी अड़चन पड़ती थी। रास्तों पर माल ले जाने वालों को हुंडीवाल कहते थे जो माल पर लगने वाले क़ानूनी और गैरक़ानूनी खरचे को अपने माल ले जाने के दर में शामिल कर लेते थे। उनका क़ायदा यह था कि माल लुट जाने पर तो माल मालिक को ही नुक़सानी उठानी पड़ती थी लेकिन ऐसा होता बहुत कम था।[1] बनारस का मुख्य व्यापार ऐसे माल पर निर्भर था जो वहाँ आकर तुरन्त बाहर भेज दिया जाता था।

कंपनी का व्यापार तो अधिकतर बनारस होकर ही गुज़रता था। १८वीं सदी के अन्त में मिर्ज़ापुर भी व्यापार का एक बड़ा केन्द्र बन गया और वहाँ दक्खिन-पश्चिम और नेपाल के व्यापारी विलायती और बंगाली माल खरीदने के लिए आने लगे थे। इस व्यापार का मूल्य सालाना करीब उनचास लाख रुपया होता था।

१७८१ में नई चुंगी की दरें निश्चित कर दी गयीं लेकिन इससे बंगाल और दक्षिण के व्यापार पर बड़ा धक्का पहुँचा। चेत सिंह के समय में हर बरधी पर चाहे उस पर कितना ही माल लदा हो समान रूप से चुंगी वसूल की जाती थी। १७८१ में बंगाल के माल पर पाँच प्रतिशत चुंगी लगती थी लेकिन बनारस में माल की कीमत ज्यादा होने पर चुंगी की दर प्रति बरधी बीस या पचीस रुपये के बदले सौ रुपये पड़ जाती थी। इसके ऊपर व्यापारियों को बहुत से गैरक़ानूनी मदों में भी रुपये देने पड़ते थे। इस गहरी चुंगी के कारण कपड़े और रेशम के व्यापारियों को गहरा धक्का लगा। अधिकतर व्यापारियों ने या तो अपना व्यापार ही बन्द कर दिया अथवा अपने व्यापारिक मार्ग को दक्षिण बिहार की पहाड़ियों से फेर दिया। पर इस मार्ग में बड़ा खतरा था।[2] व्यापारियों की इन कठिनाइयों को देखकर रेशम की चुंगी घटाकर ढाई प्रतिशत कर दी गयी। १७८९ में चुंगी की यही दर रेशमी कपड़ों पर भी हो गयी।

---

[1] करेसपांडेन्स ऑफ कार्नवालिस, पृ० १०

[2] वही, पृ० १६

बंगाल और दक्षिण के बीच व्यापार करने वालों में मुख्य बनारस और मिर्जापुर के गुसाईं थे जो अपनी ईमानदारी के लिये सारे भारतवर्ष में विख्यात थे। बनारस के गुसाईं बंगाल में माल खरीद कर उसे अपनी ही जाति के व्यापारियों को सुपुर्द कर देते थे और ये व्यापारी प्रति वर्ष इस माल को दक्षिण ले जाया करते थे। १७८१ में बनारस में चुंगीघर की स्थापना होने पर तथा चुंगी की दर पाँच प्रतिशत नियुक्त होने पर इन व्यापारियों ने अपना व्यापार बन्द कर दिया। १७८४ में रवन्ना को बीजक मानकर चुंगी की दर कच्चे रेशम पर ढाई प्रतिशत कर दी गयी लेकिन इससे भी गुसाईं व्यापारियों की कठिनाई दूर नहीं हुई क्योंकि उन्हें मिर्जापुर में दुहरी चुंगी देनी पड़ती थी। उनसे एक अजीब तरह का कर भी वसूला जाता था। नागपुर के साथ उनका व्यापार अधिकतर सोना चाँदी का था जो बनारस होकर मुर्शिदाबाद माल खरीदने के लिए भेजा जाता था। सोने चाँदी पर भी चुंगी लगती थी और इस चुंगी का ठीका छह सौ रुपये महीना होता था। इस चुंगी को सोना महाल कहते थे और इसके ठीकेदार महाजन से ही गोसाईं हुण्डी ले सकते थे। इससे गोसाईं बहुत ही परेशान थे। गोसाइयों ने बार्लो से अपने व्यापार की रक्षा के लिये निम्नलिखित प्रस्ताव किये—(१) सोना महाल उठा दिया जाय। (२) रेशमी माल पर चुंगी की दर घटाकर ढाई प्रतिशत कर दी जाय। (३) मिर्जापुर में दोहरी चुंगी लेने की प्रथा का अन्त कर दिया जाय। (४) मिर्जापुर से बंगाल तक के बैल गाड़ियों पर छह रुपये चार आने प्रति बैलगाड़ी कर वसूलने की प्रथा बन्द हो। (५) मिर्जापुर से बरार जाने के रास्ते में प्रति बैल छह आने का जो कर लगता था वह बन्द हो। (६) चुंगीघर में कच्चा रेशम तौलते समय प्रति बैल पैंतीस लच्छे रेशम वसूलने की प्रथा का अन्त हो,। (७) नाव की तलाशी लेने के लिये एक रुपया चार आने का जो कर लगता था उसका अन्त हो। (८) मिर्जापुर के कोतवाल को आदेश हो कि वे डाकुओं से व्यापारियों के माल की रक्षा करें। (९) कश्मीरी शालों पर कश्मीर के बीजक के अनुसार ही चुंगी लगे।[1]

उपर्युक्त करों के सिवा बनारस में और तरह तरह के करों की प्रथा थी, जैसे यात्रियों पर कर, त्योहारों पर कर, नये और मरम्मत किये हुए दरवाजों और खिड़कियों पर कर, विधवा विवाह पर कर इत्यादि। इन सब करों के घटाने में डंकन का बहुत बड़ा हाथ था।

बनारस में सर्राफ़ों और महाजनों का इस काल में बहुत प्रभाव था। ये व्यापारियों को ही रुपया नहीं देते थे वरन् कंपनी को भी कर्ज देते थे। डंकन के समय १७९५ में बनारस के सूद की दर तीन प्रतिशत से बारह प्रतिशत थी। हुंडी या उगाही पर सूद की दर चार प्रतिशत से ऊपर होती थी। दस्तावेज़ पर सूद की दर तेरह से अट्ठारह प्रतिशत होती थी। लेकिन सर्राफ़ी सूद की दर चार आने और छह आने प्रति महीने होती थी। ये सर्राफ़ व्यापारियों और जौहरियों से आठ आने से एक रुपये प्रतिशत महीने सूद लेते थे।[2]

[1] वही, पृ० १८-१९

[2] वही, भाग १, पृ० २६६-६७

इसमें शक नहीं कि बनारस में चेत सिंह के समय चुंगी वसूल करने में बड़ी धांधली होती थी और चुंगी वसूल करने में राजा के आदमी मनमानी करते थे। वारेन हेस्टिंग्स ने अपने १२ जून १७७९ के एक पत्र में[१] राजा का इस बात पर ध्यान दिलाया कि उनके आदमी चौकियों से गुज़रने वाले माल पर मनमाने तौर से कर वसूल करते थे जिससे व्यापारियों को बड़ी तकलीफ़ उठानी पड़ती थी और व्यापार में कमी होती थी। गवर्नर जनरल ने इस बात की सलाह दी कि चुंगी का बनारस में एक सा निर्ख़ बाँध दिया जाय, अफ़सर इस नियम का तंदेही के साथ पालन करें और ऐसा न करने पर उन्हें दंड दिया जाय। पर इस आदेश का चेत सिंह के आदमियों ने ठीक तौर से पालन किया हो, इसका पता नहीं चलता क्योंकि चेत सिंह के बाद महीप नारायण सिंह जब गद्दी पर बैठे तो वारेन हेस्टिंग्स ने पुनः उनसे चुंगी के नियमों में सुधार करने की आज्ञा दी।[२] २२ अक्टूबर १७८४ के एक फ़रमान में इस आज्ञा का उल्लेख है। इसमें इस बात की शिकायत है कि २२ नवम्बर १७८१ को गवर्नर जेनरल ने महीपनारायण सिंह को गाजीपुर, बनारस और मिर्जापुर में चुंगी की चौकियाँ कायम करने की आज्ञा दी थी और दूसरी जगहों में चुंगी इकट्ठा करने की सख्त मनाही की थी, लेकिन इस हुक्म को उन्होंने नहीं माना और दूसरी जगहों पर भी चुंगी लेते रहे। नये हुक्म के अनुसार उनका यह काम ग़ैरक़ानूनी ठहराया गया। उन्हें यह भी हुक्म दिया गया कि वे ठीकेदारों की मार्फ़त चुंगी इकट्ठा न करके तीनों चौकियों पर इस काम के लिये खास आमिल और नायब नियुक्त करें। राजा या नायब का यह कर्तव्य था कि वे व्यापारियों और सौदागरों से २२ नवम्बर १७८१ को जो चुंगी की दर निर्धारित कर दी गयी थी उसे वसूल करके फ़ौरन मुहर करके दस्तक व्यापारियों को दे दें। आमिलों को यह भी अधिकार दिया गया कि वे चुंगी की चोरी रोकने के लिये थाने बनायें। उन्हें यह भी आज्ञा थी कि वे जल अथवा स्थल मार्ग से एक दूसरी जगह लोगों को बिना दस्तक के जाने न दें। इस दस्तक पर अगली चौकी के रवन्ने की मुहर होना भी ज़रूरी था। आमिलों को यह आदेश था कि वे बिना किसी रोक टोक के दस्तक लोगों को दें। इस पत्र में वारेन हेस्टिंग्स ने यह भी कहा कि १७८१ में केसर, दालचीनी, जावित्री, लौंग, जायफल, कच्चा रेशम, बनात, आयात किया हुआ लोहा, तांबा, फौलाद को छोड़कर जिन पर चुंगी की निर्ख़ ढाई प्रतिशत निश्चित की गयी, अन्य प्रकार के माल पर पाँच प्रतिशत चुंगी लगे। १७८१ में वस्तुओं के जो बाजार भाव निश्चित किये गये थे उनको क़ायम रखने की आज्ञा दी गयी लेकिन जायफल का भाव चार रुपये से तीन रुपये के बीच निर्धारित किया गया। वस्तुओं की तालिका में जिन मालों का ज़िक्र नहीं था उनमें भाव बाजार दर से लगाने को कहा गया और उन पर १७८१ वाले हुक्म के अनुसार चुंगी लेने की आज्ञा दी गयी। राजा को यह भी हुक्म दिया गया कि माल पर दुहरी चुंगी न ली जाय। बनारस की ज़मींदारी में एक साल से अधिक माल रहने पर व्यापारियों को नया दस्तक लेना जरूरी था। पर इसके लिये उन्हें नयी फ़ीस देने की ज़रूरत नहीं थी। ऐसे

---

[१] केलेंडर······५, पत्र १५०६

[२] केलेंडर······६, पत्र १४४४

व्यापारियों को केवल पुराना दस्तक लौटा देना पड़ता था और इस बात का सबूत देना पड़ता था कि माल उन्हीं का है। हेस्टिंग्स ने यह भी हुक्म दिया कि मिर्जापुर में दक्षिण और नागपुर से आने वाले माल पर जो पाँच रुपये सैकड़े चुंगी लगती थी वह बंद कर दी जाय तथा खाली नाव पर किसी प्रकार का कर न लगाया जाय। बनारस के रेजिडेंट और अमीन को यह आज्ञा दी गयी कि वे दोनों मिल कर तीनों चौकियों पर एक एक मुहर्रिर रख दें। मुहर्रिरों का कर्तव्य था कि वे खाता लिखें तथा अपनी चौकियों से निकले रवन्नों की एक तालिका रख लें तथा इन सब की नक़ल हर महीने रेजिडेंट और अमीन के पास भेज दें। उन्हें यह भी आज्ञा दी गयी कि वे चुंगी के इन नियमों को अंगरेजी, फ़ारसी, और हिन्दी में अनुवाद करके अपनी चौकियों पर लोगों की जानकारी के लिये टाँग दें। चुंगी न देने वालों को चुंगी का दोहरा दण्ड देने का आदेश हुआ तथा कर्मचारियों को ठीक तरह से काम न करने पर कठोर दण्ड की आज्ञा दी गयी।

ऐसा जान पड़ता है कि गवर्नर जनरल के इन आदेशों का कुछ विशेष असर नहीं हुआ। बनारस के अमीन चम्पतराय ने अपने २७ मार्च १७८५ के एक पत्र में[१] गवर्नर जनरल से इस बात की शिकायत की कि चुंगी घर पर उसका पूरा अधिकार एवं प्रभाव नहीं था और न उसे ठीक समय पर वेतन ही मिलता था। उसने गवर्नर जनरल से प्रार्थना की कि उसकी तनख्वाह समय पर मिले और अजायब सिंह और महीप नारायण सिंह उसे शांति के साथ काम करने में सहायता प्रदान करें। हेस्टिंग्स ने चम्पतराय की इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया।[२] लेकिन चम्पतराय के कष्ट का यहीं अन्त न हुआ। अपने १० मई १७८५ के पत्र में उसने गवर्नर जनरल को लिखा कि उसका मुअत्तल नायक मोतीलाल उसकी चारों तरफ बदनामी कर रहा था और उसने महाराज बनारस को इस बात पर राज़ी कर लिया था कि वे चुंगी घर और अमीन के दफ़्तर में अपने ही आदमी रक्खें।

इधर महीप नारायण के नायब अजायब सिंह बनारस की चुंगी को लेकर अलग ही रोना रो रहे थे। अपने १८ अप्रैल १७८५ के एक पत्र में[३] उन्होंने गवर्नर जनरल से इस बात की शिकायत की कि मिर्जापुर के चौकी से उनके पास खबर आयी थी कि एक कर्नल ने यह हुक्म दे दिया था कि कम्पनी को माल देने वालों से किसी तरह की चुंगी न वसूली जाय। इस हुक्म से लाभ उठाकर कानपुर से चुनार तक गंगा नदी पर व्यापार करने वाले भी चुंगी नहीं देते थे। उन्होंने इस बात की भी शिकायत की कि छावनी बाजार के अफ़सर ने उस बाजार के व्यापारियों से चौकियों पर चुंगी देने की मनाही कर दी थी। पत्थर, ईंधन और लकड़ी के महालदार सदाशिव मिश्र ने भी व्यापारियों के लतीफपुर से बनारस लकड़ी लाने की मनाही कर दी थी। वह उनको अपना माल चुनार के पास उसके हाथ बेचने को बाध्य करता था और ऐसा न करने पर उनसे प्रति बैल दो आने चुंगी वसूल करने की धमकी देता था। इसका नतीजा यह हुआ कि बनारस में ईंधन, लकड़ी और पत्थर की आमदनी में बहुत कमी आ गयी।

---

[१] केलेंडर……७, पत्र १३१

[२] केलेंडर……७, पत्र १२५

[३] केलेंडर……७, पत्र १६६

उपर्युक्त उद्धरणों से यह साफ़-साफ़ पता लगता है कि अठारहवीं शताब्दी की अराजकता का लाभ उठाकर राजकर्मचारी और उनके साथी व्यापारियों को लूटने में कोई कोर कसर नहीं उठा रखते थे। इसमें केवल महाराज बनारस का ही दोष नहीं था, लूट में रेज़िडेंट और अंग्रेजों का भी काफ़ी हाथ था वे अराजक प्रवृत्तियों को प्रश्रय देकर अपना उल्लू सीधा करते थे।

डब्ल्यू० ए० ब्रुक (गवर्नर जेनरल के एजेंट) के २ दिसम्बर १९१८ के एक पत्र से[1] बनारस के सराफ़ा के व्यवसाय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ब्रुक का कहना है बनारस में व्यवसाय का पलड़ा कलकत्ते या लंदन के पक्ष में न होकर नगर के पक्ष में था जिसके फलस्वरूप वहाँ बराबर सोना-चाँदी की आवश्यकता बनी रहती थी। उनसे केवल सिक्के ही नहीं ढलते थे, सोने चाँदी की सिलें बाहर भी जाती थीं। साल के खास महीने में जब ज़िले की पैदावार बाज़ार में आती थी तो नकद रुपये की आवश्यकता बनारस तथा दूसरे ज़िलों में काफ़ी बढ़ जाती थी जिसकी वजह से टकसालों का काम भी बढ़ जाता था। माल का दाम बनारसी और फर्रुखाबादी रुपयों में न देकर कलकतिये रुपयों में देने पर दाम अधिक चुकाना पड़ता था। इतना ही नहीं जिन जगहों में बनारसी अथवा फर्रुखाबादी रुपये का चलन था वहां तो लोग कलकतिया रुपये लेने से भी इनकार करते थे। बनारस में कलकतिया रुपया चला देने पर ज़िले की लगान अनुपात में कम हो जाने की सम्भावना थी। कलकत्ता माल चालान करने के लिए सोना-चाँदी की आवश्यकता थी और इसीलिए पश्चिमी प्रदेशों के विनिमय में घाटा पड़ता था। सरकार को कर्ज़ अधिकतर बनारसी अथवा फर्रुखाबादी रुपयों में मिलता था। कलकतिया रुपये चला देने पर यह संभावना थी कि बनारसी और कलकतिये रुपये की दर के अनुपात में कमी किये बिना लोग सरकार को एक रुपया भी कर्ज़ दें, यह सरकार के लिए सम्भव नहीं था। कलकतिया रुपया चला देने पर यह भी सम्भावना थी कि सरकार को कर्ज़ के लिए कलकत्ते का मुँह देखना पड़े। अगर वहाँ गिरानी से रुपये की कमी हुई तो सूद की दर दूनी कर देने पर भी सरकार को कर्ज़ मिलने में कठिनाई की संभावना थी। ब्रुक की राय में सर्राफ़ी कारबार एक स्थायी कारबार था। कागज़ी कारबार के अलावा सर्राफ़ सोना चाँदी मँगाकर व्यापारियों को माल खरीदने को देते थे और कलकत्ते में उनकी हुंडियाँ चुकता करवा कर फिर उसकी रक़म से सोना चाँदी खरीद लेते थे। एकाएक तैयारी रक़म की माँग बढ़ जाने पर भीतरी प्रदेशों में विनिमय की दर बहुत ऊँची हो जाती थी और सारा रुपया और सोना-चाँदी उस माँग को पूरा नहीं कर सकते थे। कलकतिया रुपया चलाने पर तो और गड़बड़ी होने की सम्भावना थी। बनारस की दर कलकत्ते के रुपये की दर से साढ़े चार प्रतिशत ऊँची थी जिसकी कलकतिया रुपये चलने पर और ऊँची उठने की सम्भावना थी। लोगों की यह धारणा थी कि छोटे शहरों और गाँवों में सर्राफ़ अपनी मनमानी करते थे पर ब्रुक के विचार में सर्राफ़ों की संख्या इतनी अधिक थी और उनमें इतनी प्रतियोगिता थी कि उनके लिए एका कर के मनमानी करना संभव नहीं था। वे विनिमय की दर में बट्टा अवश्य लेते थे पर वह कोई बुरी बात नहीं

---

[1] बनारस अफेयर्स, भाग २, पृ० २३३ से

थी। ब्रुक ने यह भी बतलाया कि बनारस में डालर की दर कलकत्ते से ऊँची होने का कारण यह था कि प्रदेशों में इसकी माँग थी डालर आसानी से सिक्कों के लिए गलाये जा सकते और उनके निर्यात में भी सहूलियत थी।

मिंट कमिटी के सिफ़ारिशों के विरुद्ध अपना मत प्रकट करने के बाद ब्रुक ने यह भी कहा कि फर्रुखाबादी रुपया भी सूबे का सिक्का होने लायक़ नहीं था क्योंकि इसमें अनेक राजनीतिक और व्यापारिक कठिनाइयाँ थीं। पहली कठिनाई यह थी कि कम्पनी के कर्ज़ की कीमत साढ़े तीन प्रतिशत कम हो जाने पर बंगाल, बिहार और उड़ीसा की मालगुजारी में सात प्रतिशत और बनारस की मालगुजारी में ढाई प्रतिशत बढ़ाना पड़ेगा जिससे कठिनाइयाँ बढ़ने की सम्भावना थी। ब्रुक की राय में खास बात तो यह थी कि सारे मुल्क के सिक्के चाँदी के थे जो कलकत्ते से आती थी। इसका मतलब यह हुआ कि कलकत्ते में चाँदी सस्ती थी और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ती जाती थी वैसे ही वैसे उसका दाम भी बढ़ता जाता था क्योंकि उसके आयात में खतरा था और सूद की दर अधिक होने से खर्च अधिक आता था। कलकत्ते से बनारस रुपये भेजने पर भी खर्च में कमी सम्भव न थी। इसका मतलब यह हुआ कि कलकत्ते से आगे बढ़ने पर रुपये के दाम में बढ़ती हो जाय। यह सिद्धान्त दृष्टिकोण में रखने से ब्रुक का यह मत था कि युरोप के आधार पर भारतीय सिक्कों के चलन में परिवर्तन करने से नुक़सान की अधिक गुंजायश थी। ● ●

आठवाँ अध्याय

बनारस के महाजन

इतिहास इस बात का साक्षी है कि बनारस सदा से व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र रहा है। महाजनपद युग से लेकर मुग़ल युग तक बनारस ने बहुत से राजनीतिक और सांस्कृतिक उलट फेर देखे, पर उसके व्यापार में कभी कमी नहीं आयी। व्यापार के लिए आर्थिक संगठन की आवश्यकता पड़ती है और हम देख आये हैं कि गुप्त युग में भी बनारस में महाजनों का निगम था। बहुत बाद में इस निगम ने बनारस में सर्राफ़े का रूप धारण किया जिसका अन्त बैंकों के स्थापित होने पर ही हुआ। सर्राफ़े के इन महाजनों की हुंडियाँ मुग़ल युग में, जैसा हमें तावर्निये से पता लगता है, तमाम भारतवर्ष में चलती थी। अभाग्यवश हमें यह पता नहीं है कि मुग़ल युग में सर्राफ़े का कारबार किस तरह चलता था पर इसमें सन्देह नहीं कि इसका वही रूप रहा होगा जो हमें १८वी सदी में मिलता है। सर्राफ़े के सदस्य अपनी हुंडियाँ चलाते थे और माल-बीमे का काम करते थे। बाज़ार से रुपये लेने की सूद की दर इनकी अपनी होती थी। वे लेन-देन संबंधी झगड़ों को आपस में ही निपटा लेते थे तथा सर्राफ़ा पंचायत को यह भी अधिकार था कि वह अपने सदस्यों को गड़बड़ी करने पर दंड दे सके। जैसा हम आगे चल कर देखेंगे, सर्राफ़ा के सदस्यों में काफ़ी एका होता था जिसकी वजह से राजा और सरकारी कर्मचारियों के साथ वे सामूहिक रूप से लेन-देन कर सकते थे और उन्हें कर्ज़ में रुपये देकर हमेशा उन पर रोब क़ायम किये रहते थे। इस बात का इतिहास साक्षी है कि १८वी सदी के अन्त में बनारस के महाजनों ने बनारस के राजाओं को पूरी तरह से अपनी मुट्ठी में कर रक्खा था इसलिए उनके आगे इनकी कुछ चलती न थी। आर्थिक प्रश्न के सिवा चेत सिंह और महीपनारायण सिंह इनसे राजनीतिक प्रश्नों पर भी सलाह लिया करते थे। १७६५ के बाद जब अंग्रेजों का पैर बनारस में जमा तो बनारस के महाजन जिनमें साहु गोपालदास मुख्य थे, उनके महाजन बन गये और कम्पनी की हुंडियाँ बराबर सकारते रहे। इसमें शक नहीं कि अपने राज्य विस्तार में कम्पनी को बनारस के महाजनों के रुपये का काफ़ी सहारा रहा और इस दृष्टि से वे उनकी १८वीं सदी के पंचमांगियों में गिनती की जा सकती है। पर ऐसा मानना वृथा है क्योंकि १८वीं सदी अराजकता का युग था। उसमें सभी अपने देशप्रेम को ताक पर रखकर, लूट खसोट में लगे रहते थे फिर महाजन ही क्यों दोषी ठहराये जायँ। जो भी हो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि बनारस के महाजन आत्माभिमानी थे और जब कभी भी अंग्रेजों ने उन्हें आँखें दिखलायी उन्होंने अपने ढंग से उसका बदला लिया। हम यह बतला चुके हैं कि किस तरह कल्ब अली के मामले में बनारस के महाजनों ने एका कर के रेज़िडेंट से अपनी बात मनवायी।

बनारस के महाजनों की ऐंठ इसलिए भी बढ़ी हुई थी कि वे चेत सिंह की तरफ़ से कंपनी के किश्तों का रुपया हुंडियों से कलकत्ते में अदा करते थे। राजा चेत सिंह के १६

सितम्बर १७७७[1] के० टी० ग्राहम के नाम के एक पत्र में महाजनों के रोब का पता चलता है। इस खत के साथ राजा बनारस के महाजनों की वह अर्जी भी नत्थी कर दी थी जिसमें यह कहा गया था कि उनका सोना कलकत्ते की टकसाल द्वारा रोकलिए जाने पर वे कंपनी की मालगुजारी की किश्तें चुकाने में असमर्थ थे। इन अरजी को देने वाले महाजनों में रामचन्द, गोकुलचन्द और कश्मीरीमल मुख्य थे। उनका कहना था कि चेत सिंह के हुक्म से वे बराबर कलकत्ते में अपनी कोठियों पर कंपनी के किश्त के लिये हुण्डियाँ दे देते थे और उनका फ़ौरन भुगतान हो जाता था पर वह अब ऐसा करने में इसलिये असमर्थ थे कि उनका बहुत सा सोना जो सिक्के ढालने के लिये कलकत्ते की टकसाल में भेजा गया था वह अब तक उनके पास नहीं लौटा था। बाद में उनको पता चला कि गवर्नर जनरल ने इश्तिहार जारी करके उस टकसाल में सोने के सिक्के ढालना ही बन्द कर दिया था इसके बाद महाजनों ने वहाँ चाँदी भेजी और उसके लिये उन्हें सिक्के ढलाई की फ़ीस देनी पड़ी। उनकी यह भी शिकायत थी की कलकत्ता और बनारस के सिक्कों में अदल बदल की कोई निर्ख निश्चित नहीं थी। साथ ही साथ उन्होंने यह भी हल्की धमकी दी थी कि बनारस में रुपये का बाजार बहुत तंग था और उनकी अर्जी का फ़ैसला न होने तक वे अपनी कोठियों को हुण्डियाँ भेजने में असमर्थ थे।

महाजनों की इस धमकी से चेत सिंह काफी घबराये। २९ सितम्बर १७७७ के अपने एक पत्र में[2] उन्होंने गवर्नर जनरल को लिखा कि वे अपना वादा पूरा करने में इसलिये असमर्थ थे क्योंकि बनारस के महाजन किश्त चुकाने के लिये हुण्डियाँ देने को तैयार नहीं थे। चेत सिंह के इस पत्र का उत्तर गवर्नर जनरल ने अपने पहली नवम्बर १७७७ के पत्र में दिया।[3] उत्तर में कहा गया था कि बनारस के सर्राफ़ों का हुण्डी न देना उनकी कलकत्ता टकसाल के नियमों की नासमझी के कारण था। इन नियमों के अनुसार सिक्के ढलाई का दाम देना पड़ता था और ढालने के लिये निश्चित धातु भी भेजनी पड़ती थी। अपनी ग़लतफ़हमी के कारण उन महाजनों ने बहुत सा सोना कलकत्ता टकसाल में भेज दिया था, जिसका वहाँ ढलना सम्भव नहीं था। गवर्नर जनरल की राय में अपने किसी स्वार्थ साधन के लिये महाजनों का यह एक बहाना मात्र था क्योंकि यह संभव नहीं था कि उनको कलकत्ता टकसाल के नियमों का पता न हो। गवर्नर जनरल ने फिर भी ग्रेहम को इस बात का आदेश दिया कि वे टकसाल के नियमों को उन्हें दिखा दें, जिससे उन्हें पता लग जाय कि वहाँ चाँदी सोना रखने वालों को क्या फ़ायदे थे। मुर्शिदाबाद की टकसाल में तीन वर्ष की औसत पर हर साल तीस हजार सोने की मुहरें ढलती थीं। इसलिये सर्राफ़ों का यह कहना अनुचित था कि इन तीस हजार मुहरों को रोक देने से बाजार में हलचल पड़ गयी। अन्त में गवर्नर जनरल ने राजा को लिखा कि यह उनका कर्त्तव्य था कि वे मालगुजारी बराबर कलकत्ते के खजाने में भेजते रहें। कम्पनी का यह कर्त्तव्य नहीं था कि वह उन्हें यह भी बतलावे कि रुपये का वे किस तरह प्रबन्ध करें।

[1] केलेंडर……, ५, पत्र ६४९

[2] केलेंडर……५, पत्र ६६२

[3] केलेंडर……५, पत्र ७१८

इस मामले का निबटारा कैसे हुआ यह तो पता नहीं लगता। पर संभवतः चेत सिंह से अधिक सुभीते प्राप्त कर महाजनों ने कलकत्ते के लिये हुण्डियाँ दे दी होंगी।

१८वीं सदी का मध्य गहरी अराजकता का युग था। दिल्ली का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था और उत्तर भारत की सत्ता अपने हाथ में करने के लिये अवध के नवाब वजीर, रुहेले और मराठे बराबर चेष्टा कर रहे थे। इस राजनीतिक उथल-पुथल का प्रभाव उत्तर भारत के आर्थिक स्थिति पर भी पड़ा। रुहेलों के अत्याचार से प्रयाग और बनारस के महाजनों को बहुत बड़ा धक्का लगा। गोविंद बल्लाल के १५-५-१७५१ के एक पत्र से[१] पता चलता है कि रोहिल्लों की लूटपाट से काशी और प्रयाग उजड़ गये थे और हुंडी का काम पूरा बंद हो गया था जिसकी वजह से अधिकतर महाजनों का दिवाला निकल गया था। यह प्रायः असंभव था कि उत्तर भारत से उस समय कोई हुंडी जारी की जा सके। बालकृष्ण दीक्षित के ७-१०-१७५४ के एक पत्र से पता चलता है[२] कि उस साल बनारस में कई महाजनों का दिवाला निकल गया था। हम ऊपर के एक प्रकरण में कह आये हैं कि नारायण दीक्षित कायगांवकर ने बनारस में बस कर उसके धार्मिक जीवन में कितनी मदद की। उनके पत्रों से यह पता चलता है कि वे केवल धर्माचार्य और विद्वान ही नहीं थे, साथ ही साथ एक कुशल महाजन भी थे। उनके हुंडी पुरजों के भुगतान बनारस से बराबर दक्षिण तक होते रहते थे। अपने पुत्र वासुदेव दीक्षित के नाम २३-३-१७४६ के एक पत्र में वे बनारस की हुंडी के रोजगार के बारे में कुछ समाचार देते हैं। उन्होंने एक साढ़े तेईस हजार की हुंडी वासुदेव दीक्षित के नाम की और इस हुंडी का रुपया कृष्ण भट्ट पाटणकर के नाम से जमा करने को कहा। उन्होंने यह भी आदेश दिया कि जमा किया हुआ यह रुपया शाहजहानी पञ्चमेल होना चाहिए।[३]

नारायण दीक्षित के पत्रों से बनारस के १७४० और १७५० के बीच के महाजनों का भी कुछ पता चलता है। काशी के तत्कालीन प्रसिद्ध महाजन ग्वालदास साव इनके मित्रों में थे और इनके अन्तिम समय में वे बराबर उनके पास आया जाया करते।[४] ऐसा जान पड़ता है कि इनकी कोठी का नाम ग्वालदास कृपाराम पड़ता था।[५] बालकृष्ण दीक्षित के एक पत्र से बनारस की एक और कोठी हरीदास कृपाराम का पता चलता है। संभवत इस कोठी का ग्वालदास कृपाराम की कोठी से संबंध रहा होगा। १७५५ में जब नारायण दीक्षित के पुत्र दिल्ली में बादशाह से भेंट में चन्द्रावती के पास एक गाँव पा रहे थे उस समय जैसा कि उनके एक पत्र से पता चलता है, हरिदास कृपाराम की कोठी का काम गड़बड़ा रहा था।[६] वे लिखते हैं हरिदास कृपाराम की दूकान गड़बड़ाई लेकिन बड़ों के

[१] मराठ्यांच्या इतिहासाची साधनें, भाग २, पृ० १६६-६७
[२] वही, पृ० ४०८
[३] वामन बालकृष्ण दीक्षित, नारायण दीक्षित पाटणकर यांचे चरित्र, पृ० ७०-७१
[४] वही, पृ० ७९
[५] वही, पृ० ९९
[६] वही, पृ० ९४-९५

आशीर्वाद से उनकी साख ठहर गयी और वह लोगों को रुपया दे रहे थे। इन पत्रों से पता लगता है कि ग्वालदास कृपाराम की कोठी औरंगाबाद में थी[१]। बालकृष्ण दीक्षित के एक दूसरे पत्र से[२] पता चलता है कि १७५४ में बनारस में काशीदास बेनीदास हजारिया की कोई कोठी थी। एक दूसरे पत्र में[३] वे बनारसी दास हजारिया और हरीचंद किशनचंद हजारिया की कोठियों का उल्लेख करते हैं।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, १८वीं सदी के मध्य में बनारस के इन महाजनों को काफ़ी घाटा उठाना पड़ा जिसकी वजह से बहुतों का दिवाला निकल गया। हमारे ऐसा कहने का यह भी कारण है कि १७६५ के बाद के जिन महाजनों के नाम हमें मिलते हैं उनमें इस काल की कोठियों का पता नहीं चलता। बनारस में अंग्रेजों के आने पर बनारस की आर्थिक स्थिति अवश्य सुधरी जिसके फलस्वरूप नये नये महाजनों ने अपना कारबार बनारस में चलाया। इन महाजनों के संबंध में अंग्रेजी युग के फ़ारसी खत किताबत में अनेक उल्लेख आये हैं जिनसे पता चलता है कि किस तरह साहू गोपालदास, कश्मीरीमल, फतहचंद इत्यादि महाजनों का व्यापार बढ़ रहा था। इन महाजनों का व्यापार केवल स्थानीय ही नहीं था वरन् दूर दूर तक फैला हुआ था। साहू गोपालदास तो अंग्रेजों के महाजन होने के साथ-साथ मराठों के भी महाजन थे और इनकी कोठियाँ उत्तर भारत, गुजरात और दक्षिण में फैली हुई थीं।

साहू गोपालदास के वंशजों में अनुश्रुति है कि उनके पूर्वज अमरोहे से आकर चुनार में बसे और करीब ढाई सौ बरस पहले इनके पूर्वज कल्याणदास और चिंतामणिदास ने बनारस में कोठी खोली और उनका खूब कारबार चला। जो भी हो १७५० के मराठी पत्रों में तो इस कोठी का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनसे तो यही पता लगता है कि बनारस का अधिकतर व्यापार उस समय गुजरातियों के हाथ में था। १७७० में इस खानदान में भैयाराम की कोठी काफ़ी विख्यात हो चुकी थी और कंपनी का भी ध्यान उधर आकर्षित हो चुका था।

भैयाराम के दो लड़के गोपालदास और भवानीदास ने कंपनी के साथ लेन देन का अधिकतर काम अपने हाथ कर लिया और इससे उन्हें वारेन हेस्टिंग्स की काफ़ी मदद मिलती रही। अक्सर कंपनी सरकार रुपये वसूलने में स्थानीय घूसखोर कर्मचारियों से बचने में इनकी मदद करती रही। अपने २६ अक्टूबर १७७९, के चेत सिंह के नाम के एक पत्र में वारेन हेस्टिंग्स ने[४] उन्हें इस बात की हिदायत की कि बल्लभदास के ऊपर साहू गोपालदास के पावने को उतरवाने में वे उनकी मदद करें। चेत सिंह के नाम २४ नवम्बर १७८०,[५] के पत्र में वारेन हेस्टिंग्स ने दौलतदास खत्री से, जो जेल में बंद थे, गोपाल दास के रुपये वसूल करवा देने की आज्ञा दी। गवर्नर जनरल के १७ मई

[१] वही, पृ० १०१

[२] मराठ्यांच्या इतिहासाचीं साधनें, भाग ३, पृ० ३०८

[३] वही, पृ० ४१२

[४] केलेंडर······५, पत्र १६४८

[५] केलेंडर······५, पत्र २७५५

१७८६ के सिंधिया के दरबार में अंग्रेजी एजेंट एंडरसन के नाम एक पत्र[1] से पता चलता है कि साहु गोपालदास के आदमी, जो कंपनी के लिये बंबई रुपए ले जा रहे थे, बुरहानपुर के पास लुट गये थे। एंडरसन को आदेश दिया गया कि वे महादजी सिंधिया से डाकुओं को पकड़वाने को कहें। कंपनी के अलावा गोपाल दास की कोठी के साथ राजा बनारस, अवध के नवाब वज़ीर और फर्रुखाबाद के नवाब का भी आर्थिक संबंध था। फर्रुखाबाद के नवाब के वकील ग़ुलाम पीर के २३ फरवरी १७८३ के एक पत्र[2] से पता चलता है कि नवाब मुज़फ़्फ़र जंग ने गोपालदास को अपने राज का खज़ांची और तहसीलदार नियुक्त करके वसूली का अधिकार दे दिया।

जान पड़ता है, चेतसिंह का गोपालदास के साथ अच्छा संबंध नहीं था और इसका कारण कंपनी और गोपालदास की कोठी का घनिष्ठ आर्थिक संबंध था। जो भी हो चेत सिंह की बग़ावत के बाद गोपालदास पकड़ कर बिजयगढ़ के क़िले में बंद कर दिये गये। इनको छुड़ाने के लिए साहु मनोहरदास ने वारेन हेस्टिंग्स के पास अरज़ी दी। अपने २५ सितम्बर १७८१ के पत्र में[3] गवर्नर जनरल ने उनको लिखा कि अंग्रेजी फ़ौज गोपालदास को छुड़ाने लतीफपुर भेज दी गयी थी लेकिन वहाँ फ़ौज के पहुँचने के कुछ ही दिन पहले गोपालदास बिजयगढ़ चले गये थे। जैसा कि हमें इतिहास से पता है इसके थोड़े ही दिनों बाद गोपालदास क़ैद से छूट गये। अपने १८ नवम्बर १७८१[4] के एक पत्र में गवर्नर जनरल ने गोपालदास को बेनीराम पंडित के नाम अपनी पचास हज़ार की हुंडी की बात लिखी और उन्हें रुपए देकर रसीद ले लेने को कहा।

कम्पनी के फ़ारसी पत्रों के संग्रह से पता चलता है कि गोपालदास साहु कुशल महाजन थे। उनका सर्वदा यह प्रयत्न रहता था कि उनकी रक़म किसी तरह से डूबने न पाये इसके लिये आवश्यकता पड़ने पर वह गवर्नर जनरल तक की सही लेने में पीछे नहीं हटते थे। २१ अक्टूबर १७८२ के अपने एक पत्र में[5] उन्होंने गवर्नर जनरल को यह लिखा कि अवध के नवाब आसफ़उद्दौला के पास कम्पनी का बहुत सा रुपया था जिसके लिये मिडिलटन और जॉनसन ने गोपालदास के नाम अपनी जमानत दे दी थी। लेकिन गोपालदास ने अपनी दिलजमई के लिये और ठीक समय से रुपये वसूल करने के लिये गवर्नर जनरल से उन जमानत पत्रों पर इस मज़मून के साथ दस्तख़त कर देने को कहा कि जॉनसन और मिडिलटन से रुपया पूरी तौर से न वसूल होने पर वे स्वयं उस कमी को पूरी कर देंगे।

गोपालदास अपनी रकम को अंग्रेज व्यापारियों तक से वसूल करने में पीछे नहीं हटते थे। गोपालदास का रुपया लखनऊ के दो अंग्रेज व्यापारी आइज़क और लॉयन्स

[1] केलेंडर......७, ५४७
[2] केलेंडर......६, ६७४
[3] केलेंडर......६
[4] केलेंडर......६, पत्र ३००
[5] केलेंडर......६, पत्र ११८



चित्र न १५ काशीनरेश बलवन्त सिंह
१८वीं सदी का मध्य (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ २५२



चित्र न १६. काशीराज चेतसिंह
१६०० ईस्वी में चित्रित (भारत कला भवन काशी)



चित्र न. १७. साहू ग्वाल दास
१८वी सदी का मध्य (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ ३३८



चित्र न. १८. वजीर अली
१८वीं सदी का अन्त (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ ३५६

पर बाकी था। ये दोनो व्यापारी अपना काम बन्द कर धीरे से लखनऊ से चम्पत हो गये, पर गोपालदास कब उनका पीछा छोड़ने वाले थे। गवर्नर जनरल की मदद से सिंधिया सरकार ने इन दोनों को बुरहानपुर में गिरफ़्तार कर लिया। अपने १७ मई १७८६ के एक पत्र में गवर्नर जनरल ने सिंधिया के दरबार में अपने एजेंट मि० एंडरसन को यह आदेश दिया कि सिंधिया की आज्ञा से वे उन दोनों की मालमता गोपालदास के गुमाश्ता को सुपुर्द कर दें और उन दोनों को उचित हिसाब साफ कर देने के लिये लखनऊ रवाना कर दें। मामला यहीं से समाप्त न हुआ। गवर्नर जनरल-इन-कौंसिल ने नवाब वज़ीर को यह आदेश दिया कि वे गोपालदास और लॉयन्स का मामला तय करा दें। इस बात का जिक्र नवाब वज़ीर हार्पर को लिखे अपने १९ नवम्बर १७८६ के एक पत्र में करते हैं।[1] इस पत्र में वज़ीर ने शिकायत की कि इन दोनों की नकदी और जवाहिरात गोपालदास के गुमाश्तों ने दखल कर लिया था। गोपालदास कम्पनी के क़ानून के अन्दर बनारस में रहते थे इसलिये उनके गुमाश्ते नवाब के हुक्मों की ज़रा भी परवाह न करते थे और दूसरे महाजन भी उनकी नक़ल करते थे। नवाब की राय थी कि अगर गोपालदास को इस बात का आदेश दिया जाय कि वे अदालती तस्फ़ीहे को मान लेंगे, तो मामला तय हो सकता था। इसके बाद इस झगड़े का क्या निपटारा हुआ इसका तो पता नहीं लगता पर आइज़क और लॉयन्स का बहुत सा माल गोपालदास के हाथ लगा। इनमें से कुछ पुरानी घड़ियाँ तो आज तक साहू गोपालदास के एक वंशधर के पास हैं, जिनके बारे में उनके खानदान में कहा जाता है कि ये घड़ियाँ उनके खान्दान में किसी अंग्रेज के कर्ज़ पटाने में आयी।

हम ऊपर कह आये हैं कि गोपालदास अवध के नवाबों के भी महाजन थे। ३१ मार्च १७८५ के एक पत्र से[2] पता चलता है कि बॉम्बवेल ने आसफ़उद्दौला को यह लिख दिया था कि कम्पनी की जो रक़म उनके पास बाक़ी थी, उसमें जो भी रक़म वे देना चाहें वह गोपालदास को सीधी दे दी जाय। इसमें शक नहीं कि लखनऊ में लगे रुपयों को लेकर साहु गोपालदास की कोठी को काफ़ी तरद्दुदें उठानी पड़ी क्योंकि कम्पनी से नकद रुपया तो मिला नहीं था। जब गोपालदास ने रुपये चाहे तो, जैसा मनोहरदास के ४ अप्रैल, १७८६ के एक पत्र[3] से पता चलता है, कम्पनी ने उनकी बात को न्याय-संगत मानते हुए भी यह कह कर टाल दिया कि ऐसा करने से दूसरे महाजनों का उनपर से भरोसा जाता रहेगा। कम्पनी उनकी रक़म ८ प्रतिशत सूद के सर्टिफिकटों से अथवा लखनऊ के खज़ाने से फ़ौज के खर्च के बाद बाक़ी बची रक़म से तनख्वाह के रूप में देना चाहते थे। लेकिन मनोहरदास का कहना था कि उन्हें तो नकद रुपयों की आवश्यकता थी और कम्पनी उन्हें ऐसी रक़म देना चाहती थी जिसकी वसूली होने को थी। गोपालदास ने अल्मास अली की सरखत मंजूर कर ली थी और उसमें से वसूल रक़म को कम्पनी के खाते में जमा करने के वे हक़दार थे।

---

[1] केलेंडर······७, पत्र ९१०

[2] केलेंडर······७, पत्र ११७

[3] केलेंडर······७, पत्र ४९४

रक़म की मुद्दत पूरी हुए तीन महीने हो चुके थे और लाला बच्छराज की कोठी पर की हुंडी के अंशतः भुगतान में वह रक़म दे देनी चाहिए थी। लेकिन ऐसा कहने का मनोहर दास को अधिकार नहीं था क्योंकि बच्छराज की कोठी की अवस्था अच्छी नहीं थी और रुपया पाने पर वे शायद कंपनी को वह रक़म फिर से न लौटा सकते थे। मनोहर दास ने बच्छराज की हुंडी लौटाने के साथ-साथ यह भी लिखा था कि गोपालदास कंपनी के खज़ाने के उस रुपये से जो कर्ज़दारों को बाँटने के लिये अलग रक्खा था कुछ रुपये मिल जायँ पर यह भी मंजूर नहीं किया गया। लखनऊ में रुपये मिलने की प्रार्थना से यह समझा गया कि रुपये गोपालदास को सीधा न देकर कलकत्ता या कहीं और दूसरी जगह भेज दिये जायँ। मनोहरदास को यह भी हुक्म दिया गया कि वे हुंडी लौटा दें और उसकी जगह उन्हें भविष्य में उतरने वाले रुपये में रक़म दे दी जायगी। मनोहरदास ने लिखा कि अगर ऐसा हुआ तो उनकी कोठी पर बड़ी आफ़त आ जायगी। मनोहरदास को इस बात का पता था कि बच्छराज के पास इतनी रक़म नही थी कि वे उसकी हुंडी चुका सकें। शायद नवाब हैदर बेग खाँ ने गवर्नर जनरल के हुक्म से बच्छराज को कुछ रुपये दे दिये थे और उसी से अल्मास अली खाँ ने गोपालदास की बात नवाब की आज्ञानुसार स्वीकार कर लिया। लेकिन पट्टे की शर्तों में तथा बच्छराज की चाल में धोखे की बू आती थी इसलिये गोपालदास ने इस पर अपनी सहमति नहीं दी क्योंकि ऐसा करने पर हुंडी अल्मास अली के पास चली जाती और ऐसा न होने से भविष्य में गोपालदास कंपनी की रक्षा के अधिकार से बंचित हो जाते। फिर भी मनोहर दास को यह बात स्वीकार थी कि लखनऊ के खज़ाने में पहली वसूली हुई रक़म में से उन्हें तनख्वाह मिल जाया करे। मनोहरदास गोपालदास की तरफ़ से अल्मास अली के पट्टे की शर्तों को इस शर्त पर मानने को तैयार थे कि इन शर्तों को पूरी कराने का भार बोर्ड हाथ में ले ले और गोपालदास के रुपये न मिलने पर कंपनी उसकी देनदार हो। इसी देन-लेन के सम्बन्ध में १० जून १७८६ के अपने एक पत्र में गोपालदास ने गवर्नर जनरल को लिखा[1] कि उनके आदेशानुसार अल्मास अली खाँ के दस्तावेज़ पर उन्हें वैशाख तक बराबर रुपया मिलता रहा और केवल दो किश्तें बाकी रहीं। अल्मास अली ने उनके नाम भवानी प्रसाद की मुहर से एक नया दस्तावेज़ लिख दिया था जिसकी मिती वैशाख में पूजती थी। इस रक़म से उस बट्टे की रक़म, जो कलकत्ते और लखनऊ के सिक्कों के बीच लगती थी, तीन महीने का सूद, जो हुंडी पूजने के बाद लगा और किश्तों के बीच के सूद में शामिल थी। इस सरखत की मिती पूजने के तीन महीने बाद तक भी भुगतान नहीं हुआ। लखनऊ के सरकारी तनख्वाह की भी रक़म सोलह महीने से नहीं मिली थी और इन सब वजहों से गोपालदास की कोठी का बहुत बड़ा नुक़सान हो रहा था। गोपालदास ने गवर्नर जनरल से यह प्रार्थना की कि वे बाम्बवेल को यह आदेश दें कि बनवारी के सरखत वाली दो लाख की रक़म फ़ौरन उनके गुमाश्तों को दे दी जाय। साथ ही साथ उनसे यह भी प्रार्थना की गयी कि वे उनको इस बात की आज्ञा दें कि बच्छराज की दस लाख रुपये की सरखत वसूली के लिये उनके अढ़तिये के पास भेजी जाय।

[1] केलेंडर……७, पत्र ५६६

लखनऊ वाले इस भुगतान को लेकर बनारस के रेजिडेंट ने पहली सितम्बर १७८६ को एक पत्र गोपालदास को लिखा कि वे कंपनी का ३ जून १७८३ का लखनऊ पर सत्रह लाख चालीस हजार की हुंडी पर उनके सामने गोपालदास मिली हुई रक़मों को भर कर उसे लौटा दें। इस रक़म में अल्मास अली खाँ से मिली हुई तिरपन हजार की रक़म का भी शामिल होना जरूरी था। गोपालदास से यह भी कहा गया कि वे बच्छराज और कश्मीरीमल की वे हुंडियाँ, जो उन्होंने कलकत्ते में अपने गुमाश्तों के भेजी थीं और जो काउंसिल ने गोपालदास के नाम में भर दी थीं उन्हें वे लौटा दें। उसी हुंडी के साथ अल्मास अली और भगवती प्रसाद के लिये नौ लाख पंचानबे हजार रुपये के गोपालदास के नाम लिखे दस्तावेज की नक़ल भी नत्थी थी।

गोपालदास ने अपने १ सितम्बर १७८६ के एक पत्र में[१] रेजिडेंट को लिखा कि कंपनी के १७ लाख चालीस हजार के दस्तावेज से उन्हें फ़ाउक से सात लाख बीस हजार नौ सौ इक्यानवे पन्द्रह आने मिले जिसकी रसीद उन्होंने फ़ाउक को दे दी थी। बाक़ी एक हुंडी मिली थी जिस पर गवर्नर जनरल का हुक्म इंदराज था कि रुपये बच्छराज से लेकर गोपालदास कंपनी के मद्धे दस्तावेज में जमा कर लें। इस बात का भी इक़रार हुआ था कि बच्छराज के रुपये न देने पर कंपनी स्वयं रुपये का प्रबन्ध कर लेगी। लेकिन हुण्डी की मियाद तीन महीने बीत जाने पर भी बच्छराज ने रुपये नहीं दिये। कश्मीरीमल ने गोपालदास को बतलाया कि रुपये की खींच की वजह से बच्छराज रुपये देने में असमर्थ थे। इसपर गोपालदास ने ग्यारह लाख चौरासी हजार पाँच सौ की हुंडी बच्छराज के पास भेजी और इसके बदले में उन्होंने अल्मास अली खाँ की पाँच महीने बाद पूजने वाली नौ लाख पेंतीस हजार पांच सौ की दस्तावेज भेजी। बाद में उन्होंने एक दूसरी दस्तावेज एक लाख छियानवे हजार की जो ठाकुरदास भवानी प्रसाद ने लिखी थी भेजी बाक़ी तिरपन हजार रुपये नकद मिले। अल्मास अली खाँ की दस्तावेज तो उनसठ हजार पाँच सौ सूद के साथ वसूल हो गयी लेकिन ठाकुरदास वाली दस्तावेज का भुगतान बाक़ी था। गोपालदास बच्छराज की हुण्डी लौटाने में तब तक असमर्थ थे जब तक कि उनके पूरे रुपयों का भुगतान न हो जाय।

कम्पनी सरकार गोपालदास की कोठियों से बहुधा अपने कर्मचारियों के वेतन और खर्च इत्यादि के लिये रुपये लिया करती थी। वारेन हेस्टिंग्स का समय काफ़ी खर्चे का था और इसलिये रक़म लौटाने में अक्सर दिक्कत पड़ती थी। साहु गोपालदास बराबर इस बात की शिकायत करते रहते थे। अपने १० मई १७८६ के एक पत्र में[४] उन्होंने गवर्नर जनरल को लिखा कि कम्पनी के एजेंट एण्डरसन और दूसरे कर्मचारी हर महीने अपने खर्चे के लिये उनकी कोठियों और अढ़तियों से रक़म लिया करते थे। इन रक़मों के लिये जो हुण्डियाँ काटी जातीं थीं उनका भुगतान कम्पनी का खजाना क्रमिक रूप से करता था जिसका नतीजा यह होता था कि गोपालदास को रक़म

---

[१] केलेंडर,......६, पत्र ६५७

[२] केलेंडर......७, पत्र ५३८

काफ़ी देर से मिलती थी। उन्होंने इस बात की शिकायत की कि अगर रुपये देने में इसी तरह ढील होती रही तो उनके लिये काम चलाना मुश्किल हो जायगा। उन्होंने यह भी सुझाव रक्खा कि रसीद देने के बाद अगर कम्पनी के कर्मचारियों से नक़द वसूल हो जायँ तो बहुत अच्छा हो।

१७७० के बाद कश्मीरीमल भी बनारस के महाजनों में अपना एक ख़ास स्थान रखते थे और इनकी कोठी का नाम सुखदेवराय कश्मीरीमल पड़ता था। कश्मीरीमल नवाब सफ़दरजंग के तोशकख़ाने के दारोग़ा थे। बाद में अवध के नवाबों की नौकरी छोड़ कर उन्होंने महाजनी का काम शुरू किया और इसमें काफ़ी उन्नति की। कश्मीरीमल की कोठी का वच्छराज की कोठी से घना संबंध था। एक पर आर्थिक मुसीबत आती तो दूसरे पर भी आ जाती थी। कश्मीरीमल वारेन हेस्टिंग्स के कृपापात्रों में थे और कंपनी के साथ इनके लेन-देन का व्यवहार बराबर चलता रहता था। जैसा कि कुछ पत्रों से पता चलता है[१] वे वारेन हेस्टिंग्स को सौगातें भी भेजा करते थे। वारेन हेस्टिंग्स का उन पर इतना विश्वास था कि कंपनी का कोई मेहमान यदि बनारस से गुज़रे तो उसके प्रबंध का भार वे कश्मीरीमल पर छोड़ देते थे।[२] इतना सब होते हुए भी कश्मीरीमल को रुपये की अक्सर अड़चन पड़ा करती थी। अपने २९ अगस्त १७८० के पत्र में[३] उन्होंने गवर्नर जनरल को लिखा कि मि० फ़ाउक को गवर्नर जनरल के आदेशानुसार उन्होंने पाँच लाख रुपये तो दे दिये थे लेकिन उनकी माली हालत बहुत ख़राब हो गयी थी और वे लहनेदारों का कर्ज़ चुकाने में असमर्थ थे। कश्मीरीमल की इस आर्थिक कठिनाई को टालने में गवर्नर जनरल ने क्या सहायता की इसका पता नहीं चलता। पर वारेन हेस्टिंग्स के १४ फरवरी १७८६ के एक पत्र से[४] पता चलता है कि उन्होंने कर्नल हार्पर के मार्फ़त कश्मीरीमल के पास कंपनी की एक खिल्लत भेज कर उनका मान बनाये रक्खा।

यहाँ हम उस घटना की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं जिसको लेकर १७८६ और १७८७ में बनारस में काफ़ी चहल पहल रही। यह घटना कश्मीरीमल और गोपालदास साहू के आपस में चढ़ा-ऊपरी के विषय में थी। इसमें बाजी गोपालदास के हाथ रही और कश्मीरीमल का तो कारबार ही नष्ट हो गया। तत्कालीन ख़तों के पढ़ने से तो यह पता लगता है कि प्रारंभ में गोपालदास और कश्मीरीमल की कोठियों में काफ़ी सद्भाव और लेन-देन था पर १७८६ में कोई ऐसी घटना घटी जिससे दोनों में मनोमालिन्य हो गया। बनारस में तो यह किंवदंती प्रसिद्ध है कि कश्मीरीमल ने एक बारात में साहू गोपालदास के फटे जूते की खिल्ली उड़ायी। कहा जाता कि जैसे ही कश्मीरीमल ने कहा कि साहू जी ज़रा अपने जूतों की ओर तो देखिए वैसे ही साहू गोपालदास ने कहा, लालाजी ज़रा अपनी हुंडियों की ओर तो देखिए। घटना का कारण चाहे जो रहा हो पर यह तो निश्चय है कि १७८६ में साहू गोपालदास ने कश्मीरीमल को नीचा दिखाने

---

[१] केलेंडर······५, पत्र ३७३

[२] केलेंडर······५, पत्र १४६४

[३] केलेंडर······५, पत्र १९८०

[४] केलेंडर······७, पत्र ४४८

की भरपूर कोशिश की। उस समय बनारस के रेज़िडेंट जेम्स ग्रांट थे और उन्होंने भी गोपालदास का ही पक्ष लिया। इस घटना क्रम का आरंभ साहू मनोहरदास के एक पत्र से मालूम होता है जो उन्होंने २६ मार्च १७८६ को गवर्नर जनरल को लिखा। बंबई के गवर्नर ने जो हुंडियाँ कंपनी के कलकत्ते के खज़ाने पर मनोहरदास के गुमाश्तों से लिये गये रुपये के एवज़ में की वह बनारस पहुँच गयी थीं। इन हुंडियों में से एक लाख चौबीस हज़ार की हुंडी कश्मीरीमल ने गोपालदास से इस शर्त पर ली थी कि वे इसे दो चार दिनों में लौटा देंगे। बाद में उन्होंने यह हुंडी अपने कलकत्ते के गुमाश्ते के पास भेज दी। कलकत्ते में मनोहरदास को गोपालदास से पता चला कि कश्मीरीमल ने तब तक रुपया नहीं चुकाया था और हुंडी वापस मांगने पर टालमटोल करते थे। मनोहरदास ने गवर्नर जनरल से प्रार्थना की कि वे कलकत्ता के नायब खज़ांची म्योर को आदेश दें कि वे इस हुंडी को कश्मीरीमल के खाते में जमा न करें।

गोपालदास साहु ने अपने ४ अक्टूबर १७८६ के पत्र में मनोहरदास को लिखा[1] कि जो हुंडी कश्मीरीमल ने उनसे ली थी उसे अभी तक उन्होंने नहीं लौटाया था। माँगने पर कश्मीरीमल ने बच्छराज का एक पुरज़ा उन्हें दिया जिसके द्वारा बच्छराज उन्हें हुंडी के एक लाख चौबीस हज़ार चार सौ साठ पाँच आना छह पाई को दो किश्तों में चुका देने वाले थे, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया और जब कश्मीरीमल से रुपये माँगे गये तो वे भी साफ़ नकार गये। गोपालदास ने मनोहरदास को यह आदेश दिया कि वे बनारस के रेज़िडेंट को यह हिदायत करें कि उनका रुपये वसूल हो जायें। जान पड़ता है, अपने पिता के आज्ञानुसार मनोहरदास के कारंवाई की ओर गवर्नर जनरल लॉर्ड कॉर्नवालिस ने बनारस के रेज़िडेंट ग्रांट को इस मामले को निपटा देने की हिदायत दी। ग्रांट ने जो कुछ इस संबंध में कारंवाई की इसका पता उनके २१ अक्टूबर १७८६ के एक पत्र से जो उन्होंने बनारस के जज अली इब्राहीम ख़ाँ के नाम लिखा, चलता है।[2] पत्र में कहा गया है कि ग्रांट ने लाला कश्मीरीमल को मिलने के लिये बुलाया लेकिन वे कोई न कोई बहाना निकाल कर उसे टालते रहे। कंपनी के खज़ांची होने की वजह से उनका यह व्यवहार बड़ा निंदनीय था। इससे खफा होकर ग्रांट ने कश्मीरीमल के पीछे कुछ हरकारे लगा दिये तथा अली इब्राहीम ख़ाँ को भी ऐसा ही करने का आदेश दिया जिससे कश्मीरीमल को झख मार कर ग्रांट से मिलने जाना पड़े। पर अली इब्राहीम ख़ाँ ने ऐसा करने से इनकार कर दिया क्योंकि यह बात उनके अधिकार के बाहर थी।

कश्मीरीमल को ग्रांट की यह हरकत बड़ी बुरी लगी और इसकी शिकायत उन्होंने गवर्नर जनरल से अपने २६ अक्टूबर १७८६ के एक पत्र में की।[3] उन्होंने लिखा कि १४ अक्टूबर को मि० ग्रांट ने उनके पास खबर भेजी कि दूसरे दिन वे खुद अथवा अपने वकील के मार्फ़त उनसे मिल कर गोपालदास ने जो उन पर दोष लगाये थे उनकी सफ़ाई

[1] केलेंडर……७, पत्र ७२९

[2] केलेंडर……७, पत्र ७९४

[3] केलेंडर……७, पत्र ८१४

दें। इस आज्ञा के अनुसार कश्मीरीमल ने अपना वकील उनके पास भेजा। इससे चिढ़ कर ग्रांट ने वकील को हवालात में बंद कर दिया और एक सोटेंबरदार के अधीन दस चपरासियों को उन्हें जबर्दस्ती हाजिर कराने को भेजा। महाजन होने से स्वयं ग्रांट के पास न जाकर अपने वकील को ही भेजना उन्होंने उचित समझा इसलिये ग्रांट का यह व्यवहार अपमानजनक और जुल्म से भरा था।

अपने २७ अक्टूबर १७८६ के एक पत्र में[१] कश्मीरीमल ने लॉर्ड कॉर्नवालिस से इस बात की शिकायत की कि चार दिनों से ग्रांट के चपरासी उनकी कोठी और घर घेरे पड़े थे और इस बात से बनारस में उनका काफ़ी अपमान हो रहा था। ग्रांट से भी उन्होंने प्रार्थना की पर उसका कोई नतीजा नहीं निकला। गवर्नर जनरल से उनकी प्रार्थना थी कि वे चपरासियों के हटाने की आज्ञा भेज दें।

अपने २७ अक्टूबर १७८६[२] के पत्र में कश्मीरीमल ने अपनी दुर्दशा का रोना रोकर ग्रांट को लिखा कि सेठ चतुर्भुजदास के मकान पर उनके और गोपालदास के झगड़े के निपटारे के लिये पंचायत बैठी थी और उनमें उन्होंने स्वयं अपना मामला समझा कर पंचों का आदेश मानने का वचन दिया था। इसलिये उनकी ग्रांट से प्रार्थना थी कि उनके मकान से चपरासियों का पहरा उठा लिया जाय।

ग्रांट के ३१ अक्टूबर १७८६ के एक पत्र[३] से पता चलता है कि वे कश्मीरीमल के घर से चपरासियों का पहरा उठाने को तैयार नहीं थे। उन्होंने महाजनों को भी इस बात की खबर दे दी थी। महाजन इसमें कश्मीरीमल का क़ुसूर तो मानते थे पर उनकी प्रार्थना थी कि कश्मीरीमल को माफ़ कर दिया जाय। इस पर ग्रांट ने महाजनों की इस शर्त पर बात माननी स्वीकार कर ली कि वे पंचों के फैसले के अनुसार गोपालदास का पावना चुकाकर उनकी भरपायी ले लें। पर महाजन इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे और न कोई लाला कश्मीरीमल की जमानत ही पड़ना चाहता था।

अपने ३१ अक्टूबर १७८६ के पत्र में[४] लाला कश्मीरीमल ने पुनः इस बात की शिकायत की इनके घर से चपरासियों के न हटने पर उनकी बेइज्जती की बात चारों ओर फैलने लगी थी। उनकी कोठियाँ बम्बई, सूरत, पूना, जै नगर, दिल्ली और दूसरी जगहें थी और अगर यह समाचार उन जगहों में पहुँच गया तो उनका काम सर्वदा के लिए खराब हो जायगा। वे पंचायत के निर्णय के अनुसार गोपालदास का मामला तय करने को तैयार थे। वे बनारस में महाजनी काम ३० वर्षों से करते थे और उनका व्यवहार कम्पनी और अवध के नवाब के साथ था, पर इस बीच में उन्हें ऐसी ज़िल्लत कभी नहीं उठानी पड़ी थी। उन्होंने इस बात की ओर भी ध्यान दिलाया कि महाजन लेन-देन के झगड़ों को आपस में ही तय कर लेते थे और पंच के फैसले को न मानने वाले दण्ड के भागी होते थे।

---

[१] केलेंडर······७, पत्र ८१५

[२] केलेंडर······७, पत्र ६१६

[३] केलेंडर······७, पत्र ८३३

[४] केलेंडर······७, पत्र ८३४

गोपालदास के ही झगड़े से कश्मीरीमल को छुटकारा नहीं मिला। उनको विपत्ति में पड़ा देख कर दूसरे भी उनकी शिकायत गवर्नर जनरल तक पहुँचा रहे थे। बिहार के राजा कल्याण सिंह ने अपने १५ नवम्बर १७८६ के एक पत्र में[१] गवर्नर जनरल से शिकायत की कि कश्मीरीमल ने एक जाली दस्तावेज के सहारे उनके बनारस वाले मकान पर अधिकार कर लिया था। कश्मीरीमल के पास उनका तीन लाख का जवाहरात सवा लाख में गिरवीं था लेकिन बहुत कहने पर भी वे उसे बेचते नहीं थे। बहुत से कामों के लिए कश्मीरीमल ने उनसे जागीर पर हैंडनोट लिखा लिये थे पर न तो उन्होंने वे काम ही किये न हैंडनोट ही लौटाये।

जब कश्मीरीमल बुरी तरह से फँस गये थे उस समय महीप नारायण सिंह भी उनकी शिकायत करने से नहीं चूके। अपने १ दिसम्बर १७८६ के एक पत्र में उन्होंने ग्रांट को लिखा[२] कि शहीदाबाद की जो कश्मीरीमल के ठीके में था, की जमा में कमी पड़ती थी। राजा ने कश्मीरीमल को पन्दह हजार छूट भी दे दी थी, फिर भी वे भुगतान साफ़ नहीं करते थे। उनके ज़िम्मे महाल की जमा के बीस हजार रुपये निकलते थे। इसके अलावा राजा महीपनारायण सिंह ने कश्मीरीमल की गड़बड़ी के बहुत से उदाहरण लिखे।

उधर कश्मीरीमल और गोपालदास का मामला जोरों से चल रहा था। कश्मीरीमल ने गवर्नर जनरल को अपने १७ नवम्बर १७८६ के एक पत्र[३] में लिखा कि अपने गुमाश्ते से उन्हें पता लगा था कि गवर्नर जनरल ने उनसे गोपालदास के रुपये वसूलने के लिये ग्रांट को आदेश दिया था। रुपये एक मुश्त न वसूल होने पर किश्तबन्दी की भी सलाह थी और जमानत लेकर चपरासियों को हटा लेने की आज्ञा भी दी थी, लेकिन पूछने पर ग्रांट ने कोई ऐसा हुक्म मिलने से इनकार कर लिया। कश्मीरीमल को इस बात का आश्चर्य हुआ कि उनसे जमानत क्यों माँगी गयी क्योंकि वे कोई साधारण महाजन नहीं थे। ग्रांट को ही उन्हें सूरत की हुंडियों के एक लाख चौबीस हज़ार देने थे और उनके पास कंपनी की चार लाख की हुंडियाँ और कागज़ थे। इन सबको वे जमानत में देने को तैयार थे।

इस खत के बाद ही लगता है पंचों की कार्यवाही शुरू हो गयी। कश्मीरीमल ने २९ नवम्बर १७८६ के एक पत्र में[४] गवर्नर जनरल को लिखा कि पंचायत की बैठक में गोपालदास और उन्होंने भाग लिया। कश्मीरीमल ने डिग्री की शर्तों से पंचों को आगाह किया। पंचों ने फ़तहचंद से कागजात तलब किये पर उन्होंने ग्रांट के हुक्म के बिना उन्हें देना स्वीकार नहीं किया। इस पर पंचों ने दोनों पार्टियों से यह रज़ामंदी लिखवा ली कि वे उनके फैसले को मानेंगे। इसके बाद पंचायत स्थगित हो गयी। दूसरे दिन कश्मीरीमल ने ग्रांट से पंचायत की कार्यवाही का हाल कहा। गवर्नर जनरल से उनकी

---

१ केलेंडर······७, पत्र ८७५
२ केलेंडर······७, पत्र ९१८
३ केलेंडर······७, पत्र ८७९
४ केलेंडर······७, पत्र ९१४

प्रार्थना थी कि वे या तो पंचों को मुक़दमा फ़ैसला करने की आज्ञा दें अथवा उसे बनारस की अदालत में भेज दें।

इस मुक़दमे की सुनवायी में और क्या-क्या हुआ इसका तो पता नहीं चलता लेकिन जान पड़ता है कि गवर्नर-जनरल पंचों के फ़ैसले को मानने के लिए तैयार हो गये। ८ मार्च १७८७ के एक पत्र के साथ गोपालदास बनाम कश्मीरीमल के मुक़दमे के फ़ैसले की नक़ल नत्थी है।[1] फ़ैसले में कहा गया है कि मुक़दमे का कारण कुछ हुंडियाँ थीं जिन्हें कश्मीरीमल ने गोपालदास से ली थीं। इन हुंडियों की नक़लें दोनों ही कोठियों के खातों में नहीं मिलीं। यह बात चलन के विरुद्ध थी। असली हुंडी पर गोपालदास का दस्तखत जो क़ायदे के अनुसार होना चाहिए नहीं था। कश्मीरीमल ने इस बात से इनकार किया कि हुंडी के रूप में गोपालदास से उन्होंने कर्ज़ लिया था। लेकिन इस बात का सब को पता था कि कश्मीरीमल और बच्छराज की कोठियाँ एक ही थीं, और बच्छराज के एक गुमाश्ते ने मुक़दमे वाली हुंडियों की पुश्त पर दस्तखत कर दिये थे और उन्हें कंपनी के कलकत्ता के खज़ाने से भुना लिया था। बच्छराज की लखनऊ वाली कोठी के खाते से पता चलता है कि हुंडियों की रक़म गोपालदास के खाते में जमा थी। पर यह रक़म कलकत्ते से वसूली के बाद जमा की गयी। इसलिये गोपालदास की रक़म बच्छराज से वसूल की जानी चाहिये।

पंचों के इस फ़ैसले बाद गोपालदास और कश्मीरीमल का मुक़दमा समाप्त हो गया। पर इसमें सन्देह नहीं कि इस छोटी सी बात को लेकर जो तूल दिया गया उससे कश्मीरीमल की कोठी, जिसकी अवस्था कोई अच्छी नही थी, समाप्त हो गयी। गोपालदास भी अपने शत्रु का पराभव देखने को बहुत दिन जिंदा नहीं रहे।

गोपालदास साहु की मृत्यु ९ मार्च १७८७ के कुछ पहले हो चुकी थी। साहु मनोहरदास ने ९ मार्च १७८७ के एक पत्र में[2] गवर्नर जनरल को लिखा कि गोपालदास की मृत्यु हो जाने पर भी उनकी कोठी का कारबार पहले जैसा ही चलता रहेगा और उनकी गवर्नर जनरल से यह प्रार्थना थी कि वे कंपनी के अफ़सरों को इस बात की हिदायत कर दें कि वे पहले ही की तरह उनकी कोठियों के साथ लेन-देन जारी रक्खें। पत्र के साथ नत्थी किये एक दूसरे पत्र[3] से पता चलता है कि गोपालदास की मृत्यु का समाचार पाकर गवर्नर जनरल ने बनारस के रेज़िडेंट ग्रांट को आज्ञा दी कि वे गोपालदास के भाई भवानी दास के पास जाकर मातमपुर्सी करें तथा उनकी कोठी के साथ पूर्ववत् लेन-देन का व्यवहार जारी रक्खें। इसी तरह की चिट्ठियाँ उन्होंने लखनऊ के रेज़िडेंट, बम्बई के गवर्नर तथा सूरत फैक्ट्री के मुख्य अफसर के पास भिजवा दीं।

---

[1] केलेंडर……७, पत्र ११७८

[2] केलेंडर……७, पत्र ११८०

[3] केलेंडर……७, पत्र ११८१

मनोहरदास के एक पत्र से यह पता चलता है[1] कि गोपालदास साहु की कोठियाँ देश के कोने-कोने में फैली हुई थीं और उनकी हुंडियाँ कहीं भी चल सकती थीं। उनकी मुख्य-मुख्य कोठियाँ, कलकत्ता, मुर्शिदाबाद, पटना, गया, गाजीपुर, मिर्जापुर, इलाहाबाद, लखनऊ, बरेली, जयपुर, नागपुर, सूरत, बंबई, मसुलीपट्टम, मद्रास, टाँडा, फूलपुर और पूना में थीं। साथ ही साथ इनके अढ़तिये आगरा, दिल्ली, अहमदाबाद और बड़ौदा में थे।

गवर्नर जनरल ने स्वयं २२ नवम्बर १७८७[2] को गोपालदास के भाई भवानीदास को मातमपुर्सी का पत्र लिख कर अपने भतीजे मनोहरदास के प्रति दयाभाव रखने की सिफ़ारिश की और मनोहरदास को खिल्लत और जवाहरात और उनकी स्त्री को खिल्लत बख्शी।

मनोहरदास चतुर व्यापारी थे और अपने पिता के समय में ही उन्होंने उनका बहुत सा काम काज सँभाल लिया था। गोपालदास साहु की मृत्यु के बाद तो उन्होंने अपनी कोठी के काम को और भी चमकाया। अपने १८ जुलाई १७८७[3] के एक पत्र में उन्होंने गवर्नर जनरल मद्रास और सूरत की लड़ाइयों में रुपये से मदद देने की याद दिलायी और उनसे बनारस के खज़ांची बनने की बात चलायी तथा उनके बनारस आने पर खिल्लत पाने की भी प्रार्थना की। बनारस के खज़ांची कश्मीरीमल थे पर लगता है कि वे इस पद से हटा दिये गये थे।

साहु गोपालदास की मृत्यु के बाद कोठी बंट गयी और भवानीदास स्वयं अपना कारबार चलाने लगे। साहु मनोहरदास ने कलकत्ते का काम सँभाला और उनके भाई साहु रामचंद्र ने बनारस का। कहा जाता है कि मनोहरदास स्वयं कंपनी के कमसिरयट के इन्चार्ज होकर श्री रंगपट्टन की लड़ाई में गये थे और वहाँ से उनको विपुल धन की प्राप्ति हुई। वहाँ से लौटकर उन्होंने कलकत्ते में एक बड़ा कटरा बनवाया जो आज दिन भी उनके वंशधरों के कब्जे में है। क़िले के मैदान में उन्होंने २०,००० रुपये लगाकर एक पुराने तालाब की मरम्मत करायी, जो आज दिन तक मनोहरदास टैंक के नाम से मशहूर है। १९वीं सदी में मनोहरदास का खान्दान बनारस में झक्कड़ घराने के नाम से प्रसिद्ध हुआ और अपनी विचित्र आदतों के लिये मशहूर रहा। आज दिन साहु गोपालदास के परिवार वाले उनके बसाए साव के मुहल्ले में रहते हैं। सुप्रसिद्ध दार्शनिक स्वर्गीय डा० भगवानदास और महाराष्ट्र के भूतपूर्व राज्यपाल श्री प्रकाश इसी परिवार के हैं।

बनारस में कश्मीरीमल और साहु गोपालदास के सिवा भी अनेक महाजन थे जिनके नामों का पता हमें उस प्रशंसा पत्र से चलता है जो उन्होंने वारेन हेस्टिंग्स को १७८७ में दिया (देखो, परिशिष्ट तृतीय)। तालिका बहुत लंबी चौड़ी है और इसमें आये बहुत से महाजनों और व्यापारियों का तो पता भी नहीं चलता है। उनके नामों को भली भांति से अध्ययन करने पर मालूम पड़ता है कि उनमें से अधिकतर गुजराती बनिये, खत्री, और अगरवाल थे। गोसाइयों का भी उस समय बनारस में काफ़ी प्रभाव था और उनके भी बहुत से नाम आये हैं। इन व्यापारियों के संबंध में जो थोड़ा बहुत पता चलता है उसका ब्योरा नीचे दिया जाता है।

---

[1] केलेंडर……७, पत्र ११८२
[2] केलेंडर……७, पत्र १२१४
[3] केलेंडर……७, पत्र १४६८

हम ऊपर देख आये हैं कि १८वीं सदी के मध्य में ग्वालदास साहु का बड़ा जमाना था। ये दीसावाल बनिये थे और लगता है इनका परिवार गुजरात से आकर बनारस में करीब १७३० में बसा। ऐसा जान पड़ता है कि सेठ ग्वालदास बनारस के नगर सेठ थे और सर्राफ़े में इनका बड़ा मान था। गोपालदास और कश्मीरीमल के मामले की पंचायत की बैठक इन्हीं के घर पर हुई।

अमीचंद और क्लाइव की घटना तो इतिहास प्रसिद्ध है। अमीचंद कलकत्ता और मुर्शिदाबाद के प्रसिद्ध व्यापारी थे और कंपनी के साथ उनका काफ़ी व्यापार था। क्लाइव द्वारा ठगे जाने पर और कलकत्ते में अपनी संपत्ति नष्ट हो जाने पर इनके दो पुत्र रत्नचंद और फ़तहचंद बनारस में आकर बस गये। यहाँ के महाजनों में फ़तहचंद की अच्छी ख्याति थी और गोपालदास कश्मीरीमल के मामले में वे सरपंच भी रहे। कंपनी के साथ इनके व्यापार का कोई उल्लेख नहीं आता। शायद इसका यही मतलब हो कि दूध का जला मठा फूक फूककर पीता है। जो भी हो १८वीं सदी में इनके पुत्र हरषचंद बहुत बड़े व्यापारी हुए। इन्ही के पौत्र भारतेंदु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिंदी के जन्मदाता माने जाते हैं।

१८वीं सदी के अंतिम चरण के वनारस के प्रसिद्ध व्यापारी सुखलाल साहु थे। इनके नाम से सुखलाल साहु का फाटक नाम का मुहल्ला अब भी बनारस में है। इनके व्यापार के संबंध में एक पत्र फारसी खत किताबत में आता है।[१] इस खत में गवर्नर जनरल ने अब्दुलहक़ खाँ को लिखा कि सुखलाल साहु के वकील मन्नूलाल गुमाश्ता ने उनके पास इस बात की शिकायत की थी कि उनकी कपड़ों की गाँठों और २८,००० रुपये नकद से भरी नाव बनारस से कलकत्ता के लिए छूटी। रास्ते में मल्लाहों ने उनके चपरासी को मार कर माल लूट लिया। साहू के आदमियों ने पाँच हजार नकद और कुछ कपड़ों के साथ उनमें से कुछ मल्लाहों को मुर्शिदाबाद की फ़ौजी अदालत के सुपुर्द कर दिया। गवर्नर जनरल का हुक्म था कि रुपया सुखलाल साहु के गुमाश्ते सूरजदास के सुपुर्द कर दिया जाय और उनके बाकी रुपयों का सरगर्मी के साथ पता लगाया जाय।

भिखारीदास भी लगता है १८वीं सदी के अंत के एक बड़े महाजन थे। इनके नाम से भिखारीदास का मुहल्ला बनारस में है। भिखारीदास का नाम वारेन हेस्टिंग्स वाले स्मृति-पत्र पर भी है। संभवतः यही भिखारीदास वारेन हेस्टिंग्स के पास रानी भवानी के वकील थे।[३]

यह तो ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि चेत सिंह के बख्शी मुंशी सदानन्द अपने ओहदे को सँभालने के पहले महाजनी करते थे अथवा नहीं। पर वारेन हेस्टिंग्स के १८ मार्च १७७९ के चेत सिंह के नाम एक पत्र से यह पता चलता है कि बनारस के एक महाजन सदानन्द ने कई आदमियों को रुपये उधार दिये थे जिसमें वे सब रुपये

---

[१] केलेंडर······५, ११३०

[२] केलेंडर······५, पत्र १२६२

[३] केलेंडर······५, पत्र १४००

तो वसूल कर चुके थे पर उधार के चार हज़ार रुपये कुछ लोगों पर बाक़ी थे। राजा के इजलास में उन्होंने इन पर दावा कर दिया था और मामले सहूलियत के साथ तय भी पा गये थे पर अभी तक उनके रुपये वसूल नहीं हो सके थे। राजा को गुवर्नर जनरल का हुक्म था कि वे रुपये वसूल करने में महाजन की मदद करें।

रामचन्द गोपालचन्द इस कोठी का भी कम्पनी से लेनदेन होता था। अपने ३० सितम्बर १७८० के एक पत्र में[1] गवर्नर जनरल ने चेतसिंह को लिखा कि रामचन्द गोपालचन्द ने कम्पनी के बाकी रुपये के लिये दस्तावेज लिखा था और वह फ़ाडक के पास वसूल करने के लिये भेज दिया गया था।

ब्रिजचन्ददास विशनदास बनारस में इनका सर्राफ़े का कारबार चलता था। अपने १९ अक्टूबर १७८० के एक पत्र में हेस्टिंग्स ने चेतसिंह को यह लिखा[2] कि बादशाह शाह आलम का उन्हें एक रुक्का मिला था जिसके अनुसार उनके अट्ठाईस हजार रुपये ब्रिजचन्ददास विशनदास की कोठी पर निकलते थे। ये अपना दिवाला निकाल कर बनारस से भाग गये थे पर इनकी ज़मीन जायदाद बनारस में ही थी। गवर्नर जनरल ने चेत सिंह से यह प्रार्थना की थी कि वे भवानी प्रसाद को नादिहन्दों की जायदाद की सूची बनाने में मदद करें।

लालजीमल साहु जान पड़ता है इनका व्यापार दिल्ली के साथ होता था। २१ अक्टूबर १७८१[3], के दस्तक से पता चलता है कि लालजी साहु के भाई भवानी प्रसाद को जो बनारसी माल और दूसरी चीजें लाद कर इलाहाबाद, इटावा और अकबराबाद होते हुए शाहजहाँनाबाद जाने वाले थे, गवर्नर जनरल ने इसके लिये नवाब बहादुर ग़ालिब जंग के नाम एक पत्र दिया था।

हम देख चुके हैं कि बेनीराम पण्डित ने वारेन हेस्टिंग्स की गाढ़े समय में किस तरह मदद की। बेनीराम नागपुर फिर वापस न जाकर बनारस में ही बस गये। जब तक वारेन हेस्टिंग्स भारत में रहे बेनीराम पण्डित के साथ उनका बहुत अच्छा सलूक रहा। अपने १० जून १७८४[4] के एक पत्र में हेस्टिंग्स ने उनको पुत्रोत्सव पर बधायी दी और लिखा कि उन्होंने बेनीराम के भाई बिसम्भर पण्डित को यह लिख दिया था बच्चे का नाम हेस्टिंग्स रक्खा जाय। भला इस सुअवसर से बेनीराम कब चूकने वाले थे उन्होंने बच्चे का नाम हास्तिन रख दिया।

अर्जुनजी नाथाजी त्रिवेदी सूरत के एक प्रसिद्ध महाजन थे।[5] इनका नाम अनेक बार कलकत्ते के फोर्ट विलियम गवर्नमेंट के १७७८ से १७९८ तक कागजातों में आता है।

[1] केलेंडर……५, पत्र २०१४

[2] केलेंडर……५, पत्र २०४२

[3] केलेंडर……६, पत्र २५८

[4] केलेंडर……६, पत्र १७८४

[5] बी० ए० सालेटोर, इंडियन हिस्टोरिकल रेकर्डस् कमीशन, प्रोसीडिंग्स, भाग ३०, खंड २, पृ०, १५५ से

जान पड़ता है इनकी एक कोठी मुर्शिदाबाद में थी और इनका कम्पनी से हुण्डी पुर्जे का व्यापार चलता था। सूरत की अंग्रेजी फैक्टरी वालों से भी अर्जुनजी का अच्छा सम्बन्ध था और वे समय समय पर उनसे कलकत्ते पर की हुण्डियाँ लेते रहते थे। इनके गुमाश्तों अथवा कोठीदारों में रामनाथ रामदत्त, ब्रिजवल्लभ दास तथा तालदास लोलदास के नाम खातों में आये हैं।

त्रिवेदी से उधार लिये रुपये पर व्याज जोड़ने में सूरत के फेक्टर काफ़ी होशियारी दिखलाते थे। इसका पता हमें मिलिटरी पे मास्टर जनरल स्कॉट अलेक्जेंडर के सुप्रीम काउंसिल के सेक्रेटरी विलियम ब्रुएर के नाम २५ मई १७८० के पत्र से लगता है। सूरत फेक्टरों ने त्रिवेदी और अपने हिसाब में ३२२ रुपये २ आने १ पाई का फ़र्क बतलाते हुए यह लिखा कि यह फ़र्क मुहलत के दिनों के न गिनने से पड़ा था। अलेक्जेंडर ने यह भी लिखा कि यह फ़र्क गोपालदास और हरिकृष्णदास के हिसाबों में पाया जाता था और इसका कारण यह था कि देशी महाजन अपना हिसाब किताब चन्द्र मास में रखते थे जिससे चार या पाँच दिन का फ़रक पड़ जाता है। त्रिवेदी के हिसाब खाते की नक़ल से पता चलता है हुण्डियों के भुगतान की मोहलत १० से १६ दिन थी तथा सूद की दर ९ प्रतिशत थी।

पर सूद जोड़ने में सूरत फेक्टरी के लोग जितने चुस्त थे उतने चुस्त वे उधार की रक़म चुकता करने में नही थे। रक़म लौटाने में वे काफ़ी देर करते थे। इस सम्बन्ध में अर्जुनजी नाथाजी त्रिवेदी के एक गुमाश्ते मूलचन्द दुबे ने १७८० में वारेन हेस्टिंग्स को हिन्दी में एक अरज़ी दी जिसमें कहा गया था कि उनकी कोठी तो सूरत और बम्बई में बराबर रुपये दे देती थी पर इसके बरक्स फोर्ट विलियम की सरकार रुपये लौटाने में काफ़ी देर करती थी जिससे त्रिवेदी को घाटा होता था। मूलचन्द ने कम्पनी द्वारा इस घाटे की रक़म की पूर्ति की प्रार्थना की थी। अर्जुनजी नाथाजी ने स्वयं इस प्रश्न को अपने हाथ में लिया। अपने एक तिथि रहित पत्र में जो २१ मई १७८८ के पब्लिक कंसल्टेशन्स में दर्ज है उन्होंने समय से अपने रुपये पाने की दरख्वास्त दी। जान पड़ता है यह पत्र बनारस से लिखा गया था क्योंकि इसमें डंकन की न्यायप्रियता तथा प्रजा सेवा की सराहना की है। पत्र से यह भी पता चलता है कि त्रिवेदी की कोठी कम्पनी की महाजन थी तथा उसका किसी दूसरी कोठी से सम्बन्ध नहीं था। उसमें यह भी कहा गया है कि दूसरे महाजन कम्पनी के साथ वादा खिलाफ़ी कर भी देते थे पर त्रिवेदी की कोठी अपने वादे से कभी नही चूकी। कम्पनी द्वारा रुपये देर से देने पर तो उनकी कोठी का काम चलाना असम्भव था।

त्रिवेदी के बयान की सचाई कि उनकी कोठी बराबर कंपनी की मदद पर तैयार थी १७९० की घटनाओं से सिद्ध हो जाती है। १५ दिसंबर सपरिषद् बंबई के गवर्नर ने बनारस के रेज़िडेंट डंकन को लिखा कि बनारस के भवानीदास द्वारकादास के गुमाश्ते नगीनदास ने वादा खिलाफ़ी करके नवम्बर १७९० तक प्रति मास ढाई लाख देना अस्वीकार कर दिया था। उसका बहाना यह था कि उसकी कोठी चालीस लाख कंपनी

को दे चुकी थी। डंकन से कहा गया था कि वे भवानीदास द्वारकादास की कोठी की उसकी वादाखिलाफ़ी बतलावें। डंकन ने २३ अक्टूबर १७९० को भवानीदास द्वारकादास को लिखा कि उनकी कोठी को वादे के अनुसार सितम्बर से नवम्बर तक प्रतिमास ढाई लाख कंपनी को देने चाहियें। लेकिन भवानीदास द्वारकादास इस बहाने से ऐसा करना क़बूल नहीं किया कि बंबई सरकार दूसरी कोठियों की तरफ़दारी कर रही थी तथा उनकी कोठी की हुंडियाँ स्वीकार करने से इनकार कर रही थी। बंबई को इस बात की खबर देते हुए डंकन ने लिखा कि भवानीदास की कोठी पर भरोसा रखना व्यर्थ था। इस काम के लिये उन्होंने बाबू मनोहरदास और अर्जुन नाथाजी त्रिवेदी की कोठियों की सिफ़ारिश की। डंकन ने यह भी सूचित किया कि मनोहरदास ने अपने गुमाश्ते शुजा शंकर को बंबई भेज दिया था तथा उन्होंने दोनों कोठियों को बंबई में फौरन ढाई लाख दे देने का वादा करा लिया था। इस पत्र के बीजक में कुछ जानने योग्य बातें हैं। मनोहरदास के एजेंट चन्द्रेश्वर जानी को क्रमशः ९१ और ८१ दिनों के वायदे पर ६६,९६० और ६९,०४० (बंबई के सिक्कों के अनुसार क्रमशः ६२,००० और ६३,०००) की दो हुंडियाँ देने की बात थी तथा पीतांबरदास चतुर्भुजदास द्वारा त्रिवेदी की कोठी को बनारसी रुपयों की क्रमशः दो हुंडियाँ, एक ४१,०४० रुपये की तथा दूसरी ३९,९६० रुपये की (बंबई के सिक्कों में ३८,००० और ३७,०००) देने की बात थी। इनकी रसीदें डंकन ने महाजनों को दे दी थी।

उपर्युक्त लेन देन से कई बातों का पता चलता है। (१) अर्जुनजी नाथाजी की कोठी उस समय मनोहरदास की कोठी की बराबरी कर रही थी। (२) वह कंपनी के देने का भार उसी तरह सम्हालती थी जैसे मनोहरदास की कोठी। (३) १७९० तक अर्जुनजी की कोठी बनारस में पूरी तरह से जम गयी थी। (४) कंपनी ने दोनों कोठियों को आठ प्रतिशत सूद देना स्वीकार कर लिया था।

१७८९ तक तो अर्जुनजी नाथाजी की कोठी बंबई सरकार की काफ़ी मददगार बन गयी थी। ८ जनवरी १७९८ को बंबई सरकार की अनुमति से जॉन मारिस ने सूरत के अधिकारी डेनियल सेटल को एक लाख प्रति महीने कर्ज की बात चलायी। सेटन ने १५ जनवरी १७९८ को डंकन को खबर दी कि उन्होंने इस बात का प्रबन्ध कर लिया था कि अर्जुनजी की कोठी जनवरी, फ़रवरी और मार्च में ३१ दिन की अवधि पर मुर्शिदाबाद के रेजिडेंट को हुंडी दे देगी। त्रिवेदी ने प्रति महीने रक़म देना स्वीकार कर लिया पर इस बात की प्रार्थना की थी कि कंपनी उन्हें रुपयों के परिवर्तन की दर में अधिक सहूलियत दे। इसका इंतिजाम कर दिया गया।

हम देख आये हैं कि बनारस के महाजनों का मुख्य व्यापार हुण्डी पुरजे का काम था और उनकी हुण्डियाँ सब जगह चलती थीं। इस व्यापार में गड़बड़ी होती थी और मुक़दमें भी चलते थे, पर बनारस के महाजन काफ़ी जोरदार थे और उनसे न्याय पाने के लिये कभी कभी लोगों को गवर्नर जनरल तक जाना पड़ता था। ऐसे ही एक

[1] केलेंडर……६, पत्र १७८४

दरख्वास्त का वर्णन एक फ़ारसी पत्र में आया है। १२ जनवरी १७८० को आरतराम नाम के एक आदमी ने[1] गवर्नर जनरल के नाम दरख्वास्त दी कि यह सुनकर कि मूलचंद नाम के एक महाजन ने गवर्नर जनरल को नागपुर की एक डेढ़ लाख की हुंडी दी थी आरतराम ने नागपुर और औरंगाबाद की हुंडियाँ खरीदकर कलकत्ते भेज दीं। इस रक़म का कुछ भाग आरतराम ने बैजनाथ बेनीप्रसाद की कोठी से उधार लिया था। कुछ ही दिनों बाद इस कोठी का दिवाला निकल गया और इसीलिए नागपुर और औरंगाबाद के महाजनों ने आरतराम को बेंची ३७,००० रुपये की हुंडी का दाम चुकाना रोक दिया। इसलिये आरतराम को हुंडियों की रक़म इकट्ठा करना मुश्किल हो गया और उसकी साख जाती रही। इसी बीच में उसे पता चला कि बैजनाथ बेनीप्रसाद की कोठी के रुपये बनारस के कुछ महाजनों पर निकलते थे, पर इस रुपये पर जब उसने अपना अधिकार बताया तो महाजनों ने बहाना बनाकर उसके हक़ को स्वीकार नहीं किया। आरतराम ने इस बात की प्रार्थना की थी कि ग्रेहम साहब को आदेश दिया जाय कि इस मामले में वह उनकी मदद करें।

अवध के नवाब के भाई नवाब सआदतअली खाँ बनारस में लखनऊ से आकर रहने लगे थे। नवाब साहब काफ़ी व्यापार-कुशल थे। जब उन्हें अवसर मिलता था तब वे अपनी गोटी बनाने में बाज़ नहीं आते थे। ऐसे ही एक मामले का पता अमरनाथ और चितामल के गवर्नर जनरल के नाम २० मार्च १७८३ के पत्र से चलता है।[2] पत्र में कहा गया है कि अमरदास और चितामल के चचा मुल्तान के व्यापारी उदैमल खत्री दिल्ली से बनारस को व्यापार पर चले। दुर्भाग्यवश बनारस से चार कोस दूर सराय रतन में आकर उनकी मृत्यु हो गयी। उनके नौकर बिहारी लाल ने उनका संस्कार करके उनके सब मालमते पर जिसमें सत्तर हज़ार के जवाहरात और ८०० रुपये की एक हुंडी थी अधिकार कर लिया। हुंडी का रुपया बिहारी ने महाजनों से माँगा पर रक़म चुकाने से उन्होंने इनकार कर दिया। नवाब अब्दुल अहमद खाँ को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने रुपये वसूल करके अमरदास और चितामल के हक की छानबीन करके रुपये उन्हें वापस कर दिये। इसके बाद ये दोनों बनारस पहुँचे और वहाँ बनारस के चुंगीघर में बिहारीलाल का तीन हज़ार का माल रुकवा दिया और दीवानी अदालत में बिहारी पर नालिश कर दी। पर नवाब सआदतअली खाँ ने बिहारी का पक्ष लेकर माल कब्ज़े में कर लिया और अमरदास के आदमियों को बुरा भला कहा। बेचारों ने सआदत अली को समझाने की कोशिश की पर इसका कोई नतीजा नहीं हुआ। अब उनकी प्रार्थना थी कि गवर्नर जनरल उनकी मदद करें।

नवाब सआदत अली खाँ विकट जीव थे। लगता है उन्होंने राजा महीपनारायण सिंह को भी काफ़ी परीशान किया। अपने १४ मार्च १७८७ के एक पत्र में[3] राजा महीपनारायण ने गवर्नर जनरल को लिखा कि जब से नवाब सआदत अली दुर्गाकुंड में रहने

[1] केलेंडर......६, पत्र १७०५

[2] केलेंडर...६,

[3] केलेंडर...७, पत्र ११९४

लगे थे मारकहम ने उनके निजी खर्च के लिये चार या पाँच बरधियाँ अनाज बिना चुंगी के देना स्वीकार कर लिया था। उनकी बनवायी बाजार में बिकने वाले अन्न पर चुंगी न लगने की उनकी अर्जी फ़ाउक ने खारिज कर दी थी। १७८४ के अकाल में चुंगी उठा ली गयी थी और बाहर के व्यापारी किसी रोक टोक के बिना उस बाजार में अपना माल बेंच जाया करते थे। अकाल के बाद प्रति बरधी तीन पैसे की चुंगी पुनः लगा दी गयी लेकिन नवाब ने अपने बाजार में चुंगी की दर दो पैसे कर दी। इसका नतीजा यह हुआ कि सब बाजार खाली रहने लगे। फ़ाउक के उच्चदारी करने पर बाबू अजायब सिंह ने नवाब को बाजार बन्दकर देने का हुक्म दिया। लेकिन नवाब ने ऐसा करने में टालमटोल की। इस पर अजायब सिंह ने उस बाजार पर चार चपरासी इसलिए नियुक्त कर दिये कि वे व्यापारियों को सराय ख्वाजा जो पुरानी बाजार थी भेज दें। इस पर नवाब के कुछ आदमियों के दखल देने पर फ़ाउक ने उन्हें गिरफ़्तार करने को सात सिपाही भेजे। कुछ व्यापारी भी गिरफ़्तार करके फ़ाउक के सामने पेश किये गये और उन्होंने आज्ञा दी कि भविष्य में वे भारी माल के साथ नवाब के बाजार में न जायँ। लेकिन महीपनारायण ने सआदत अली का ख्याल करके पंसारियों को इस बाजार में जाने से नहीं रोका।

राजा बनारस के १४ मार्च १७८७ के एक पत्र से[१] यह पता लगता है कि नवाब सआदत अली खाँ ने महीपनारायण सिंह को काफ़ी परीशान कर रक्खा था। बनारस आने पर सआदत अली मनसाराम के बनवाये एक मकान में ठहरे। इस मकान को राजा चेत सिंह ने उनके परिवार के ठहरने के लिए कुछ दिनों के लिए दिया था। राजा चेत सिंह के बाद मकान खाली देखकर नवाब ने पुनः उसे दखल कर लिया। १७८४ में हेस्टिंग्स ने सआदत अली को उसे छोड़ देने को कहा था पर उन्होंने ऐसा नही किया और मकान में जमे रहे। जान पड़ता है जब उनके विरुद्ध पुनः कार्रवाई शुरू हुई तो अपने २३ मई १७८७[२] के एक पत्र में उन्होंने गवर्नर जनरल से प्रार्थना की वे मकान और बग़ीचे से न निकाले जायँ। ● ●

---

[१] केलेंडर……७, पत्र ११९५

[२] केलेंडर……७, पत्र १३७१

आठवाँ अध्याय

वज़ीर अली का मामला

अंग्रेजों के अधिकार में आ जाने के बाद बनारस बहुत कुछ सुधर गया था। डंकन के ज़माने में तो बनारस की बहुत कुछ उन्नति हुई पर बनारसी इस विदेशी हुकूमत को सहज ही में बरदाश्त करने वाले न थे। इसका यह भी कारण था कि अंग्रेजों ने आते ही चारों तरफ़ से बनारसियों के स्वच्छन्द आचरणों को कसने की चेष्टा की और उसमें उनको कुछ सफलता भी मिली। पर १७९५ में डंकन के बनारस से जाते ही पुनः विद्रोह की आग सुलग उठी और इस विद्रोह के मुख्य कारण थे, अवध के पदच्युत नवाब वज़ीर अली। इस घटना का वर्णन उस समय के बनारस के मेजिस्ट्रेट एफ. डेविस ने एक ग्रंथ में किया है।

१७९७ में आसफ़उद्दौला की मृत्यु के बाद अंग्रेज अवध के भाग्य विधाता बन गये। अवध की नवाबी के लिए दो प्रतिस्पर्धी थे उनमें एक तो थे सुप्रसिद्ध वज़ीर अली और दूसरे नवाब शुजाउद्दौला के वंशधर सआदत अली। अंग्रेजों ने वज़ीर अली को ही गद्दी का हक़दार माना पर वज़ीर अली अवध की गद्दी पर कुछ ही दिन टिक सके। उनकी ख़राब चाल चलन से भी यह सिद्ध हो गया कि वे नवाब आसफ़ुद्दौला के औरस पुत्र न होकर जैसा लोगों में मशहूर था, एक फ़र्राश के बेटे थे, जिसे नवाब ने वज़ीर अली के जन्म के पहले ख़रीद लिया था।

वज़ीर अली को शुरू से ही अंग्रेजों के प्रति घृणा थी और इसलिए वह सदा यत्नशील रहता था कि उसके ओहदे पर किसी तरह की आँच न आये। वज़ीर अली के गद्दी पर बैठने के पहले गवर्नर जनरल ने लखनऊ आने की सोची थी और उनके आने के पहले रेज़िडेंट ने उन्हें वज़ीर अली के इरादों से वाकिफ़ कर दिया था। जब वज़ीर अली को गवर्नर जनरल के आने का पता चला तो उसने एक गुस्ताख़ी से भरा पत्र लिखा और लड़ाई की तैयारी करनी शुरू कर दी, पर सोच समझ कर उसने ऐसा नहीं किया। गवर्नर जनरल की वज़ीर से मुलाक़ात हुई। लखनऊ में उन्हें इस बात से आगाह कर दिया गया कि वे वज़ीर अली से अपने को बचाये रहें। इस आगाही को ध्यान में रखकर सर जॉन शोर ने एक अलग बगीचे में डेरा डाल दिया। गवर्नर जनरल की इस चाल से घबरा कर वज़ीर अली ने भी अपना पड़ाव उसकी बगल में डाल दिया पर किसी गड़बड़ी की वजह से वे सर जान शोर से भेंट न कर सके। गवर्नर जनरल इस बीच में तहकीक़ात करते रहे। वज़ीर अली के अब तक के साथी अल्मास खाँ ने उनकी चाल चलन के विरुद्ध अभियोग लगाया।

अंत में सर जान शोर ने वज़ीर अली को तख़्त से उतार कर सआदत अली को अवध की गद्दी पर बैठाने का निश्चय किया और अंग्रेजी फ़ौज के साथ वे कानपुर से

---

[1] जे० एफ० डेविस, वज़ीर अली खाँ एंड मेसाकर ऑफ़ बनारस, लंडन १८४४

लखनऊ लाये गये। सआदत अली के साथ हाथी पर चढ़कर सर जान शोर की लखनऊ की गलियों में सवारी निकली। वज़ीर अली भावी को रोकने में असमर्थ थे और सआदत अली २१ जनवरी, १७९८ को अवध के नवाब घोषित किये गये। वज़ीर अली को बनारस में रखने का निश्चय किया गया और उन्हें जीवन यापन के लिए नवाब सआदत-अली ख़ाँ ने डेढ़ लाख सालाना पेंशन देनी स्वीकार कर ली।

बनारस में वज़ीर अली शहर के बाहर माधोदास सामिया के बाग (आधुनिक सामिया बाग, कबीर चौरा) में ठहराये गये। उनका यह नियम था कि बिना हथियार-बंद सिपाहियों को साथ लिये वे अपने घर से बाहर नहीं निकलते थे। उनके आये आगे राज्य चिह्न स्वरूप नक़्क़ारा बजता था।

बनारस में उस समय कंपनी के दो अफ़सर थे। मि० चेरी तो गवर्नर जनरल के एजेंट थे और डेविस बनारस के जज और मेजिस्ट्रेट। वज़ीर अली शहर के अंग्रेज बाशिंदों से तो कभी मिलते नहीं थे पर उन्हें सरकारी काम से कभी कभी मि० चेरी से मिलना पड़ता था।

चेरी को तो वज़ीर अली के षड्यंत्र का कुछ पता नहीं था, पर डेविस को उनके व्यवहार पर संदेह था और उन्होंने कलकत्ते की सरकार और चेरी को इस बात से आगाह कर दिया था। बचाव के लिये उन्होंने शहर और जिले से उन रईस मुसलमानों को जो वज़ीर अली की सहायता कर सकते थे हटा देने की सलाह भी दी थी।[1]

वज़ीर अली की शान और ठाटबाट से बनारस के नागरिकों को यह संदेह भी नहीं हो सकता था कि वे उस शहर में एक साधारण नागरिक की तरह रहते थे। वज़ीर अली तो अपनी अकड़ और अधिकारियों की बात न मानने से लोगों पर यही प्रभाव डालते थे कि वे स्वतन्त्र राजा थे। इसके सिवा वज़ीर अली ने कलकत्ते में ज़माँ शाह को अपना वकील नियुक्त कर रक्खा था और वहाँ अपने तरफ़दारों से बराबर खतकिताबत किया करते थे। अपनी स्वतन्त्रता के लिये वे इस ताक में थे अफ़ग़ानिस्तान के ज़माँ शाह का धावा उत्तर भारत पर हो जाय। इस अवसर के लिये उन्होंने बनारस के कुछ प्रमुख नागरिकों की सहायता भी प्राप्त कर ली थी। इन षड्यन्त्रकारियों में इज्ज़त अली और वारिस अली मुख्य थे। पर वज़ीर अली की हिम्मत खुली बग़ावत करने की इसलिए नहीं पड़ती थी कि बनारस के पश्चिम में अंग्रेजी फ़ौज सर जेम्स क्रेग की कमान में और शहर के पास मेजर जेनरल एर्स्कीन की कमान में डेरा डाले पड़ी थी!

वज़ीर अली को बनारस से हटाने के सम्बन्ध में कलकत्ते के साथ बहुत पत्र व्यवहार के बाद गवर्नर जनरल लॉर्ड मॉर्निंगटन ने चेरी साहब को आदेश दिया कि वे वज़ीर अली को कलकत्ता हटाने के लिए काउंसिल के निश्चय की सूचना दे दें। इस निश्चय का वज़ीर अली ने घोर विरोध किया पर उसका कुछ असर न होते देख उसने मरता क्या न करता वाली कहावत के अनुसार बग़ावत की ठान ली। १३ जनवरी १७९९ को बनारस

[1] डेविस, वही, पृ० २३

के कोतवाल ने डेविस को खबर दी कि वज़ीर अली कलकत्ता जाने की तैयारी के बदले हथियारबन्द सिपाही भरती कर रहे थे। यह खबर फ़ौरन चेरी को पहुँचा दी गयी और कोतवाल को बाग़ियों की गतिविधि पर आँख रखने की आज्ञा दी गयी।

वज़ीर अली ने जब देखा कि डराने धमकाने से काम नहीं चलता तो उन्होंने १५ या १६ जनवरी को कलकत्ता जाने का बहाना किया। १३ जनवरी को चेरी को खबर मिली कि वज़ीर अली दूसरे दिन जलपान के समय उनसे मिलने आने वाले थे। १४ जनवरी को वज़ीर अली २०० हथियारबन्द सिपाहियों के साथ मुलाक़ात के लिए आ पहुँचे। इन सिपाहियों की संख्या मामूली से कुछ इतनी अधिक नहीं थी कि लोगों को शक हो पर एक जमादार ने चेरी को आगाह कर दिया कि उसके घर के चारों तरफ़ पलीता जलाये बन्दूकची खड़े थे पर इस बात की चेरी ने कोई परवाह नहीं की।

परंपरा के अनुसार चेरी वज़ीर अली का दल बल के साथ स्वागत करके उसे घर में ले गये। उस दल में वज़ीर अली, वारिस अली, इज्ज़त अली और नवाब के ससुर थे। उस अवसर पर चेरी के नौजवान सेक्रेटरी मि० इवांस भी थे। चार हथियार बन्द सिपाहियों के साथ यह दल खाने के कमरे में दाखिल हुआ। वहाँ चाय लेने से इनकार करते हुए वज़ीर अली सर जॉन शोर के व्यवहार की शिकायत करने लगे जिससे उन्हें पेंशन के छह लाख न मिल सके। बातचीत में चेरी पर उन्होंने यह भी तुहमत लगाई कि सआदत अली के साथ षड्यन्त्र करके वे उन्हें कलकत्ता भेजना चाहते थे, पर ऐसा करने के लिए वे तैयार नहीं थे। जब वज़ीर अली बातें कह रहे थे तो वारिस अली अपनी जगह छोड़कर चेरी के पास आ गया। यह पहले से तय किया हुआ इशारा था। चेरी को लोगों ने पीछे से पकड़ लिया और वज़ीर अली ने उन पर तलवार से हमला कर दिया। बेचारे चेरी ने बाग़ में भागने की कोशिश की लेकिन उसका काम तमाम कर दिया गया। इसी बीच में इज्ज़त अली ने इवांस पर छुरे से हमला कर दिया। किसी तरह से अपने को छुड़ाकर वे बगल के खेत में भागे पर वहाँ उन्हें गोली मार दी गयी। चेरी के साथ रहने वाले केप्टन कॉनवे भी जो उस समय घर के अन्दर जा रहे थे मार डाले गये।

डेविस, जिनका बंगला चेरी के बंगले से चौथाई मील था, अपनी सबेरे की हाथी सवारी पूरी कर जब लौट रहे थे तो रास्ते में उन्होंने सदलबल वज़ीर अली को चेरी के बंगले की ओर जाते देखा। घर पहुँचने पर कोतवाल ने उनको खबर दी कि वज़ीर अली ने पड़ोसी जिलों में हथियार बन्द लोगों को जुटाने के लिए हरकारे भेजे थे और अशांति का काफ़ी खतरा था। यह खबर सुनते ही डेविस ने चेरी के पास एक हरकारा भेजा। जब बड़ी उत्सुकता से वे उसके लौटने की बाट जोह रहे थे तो उन्होंने दलबल के साथ वज़ीर अली को लौटते देखा। कुछ घुड़सवार डेविस के बंगले के अहाते में घुस गये और संतरी को गोली मार दी। डेविस ने अब देख लिया कि समय खोने से जान खोने का भय था। श्रीमती डेविस अपने दो बच्चों के साथ मकान के छत पर चढ़ गयीं और डेविस नीचे अपनी बन्दूकें लेने दौड़े। लेकिन यह देखकर कि एक घुड़सवार

उनके दरवाजे ही पर खड़ा था वे एक भाला लेकर छत के चोर दरवाजे पर खड़े हो गये और अपनी स्त्री और बच्चों को नीचे की गोलीबारी से बचने के लिए छत के बीच में आ जाने को कहा। कुछ ही क्षणों में उन्होंने एक हत्यारे को सीढ़ी चढ़ते देखकर उसे भाले से घायल कर दिया, पर तबतक वज़ीर अली के आदमियों से घर भर गया था। डेविस ने एक दूसरे आदमी पर भाला चलाया पर वह निशाना चूक गया और उसने भाला पकड़ लिया पर भाला छुड़ाते समय डेविस ने उस आदमी के हाथ में चोट पहुँचा दी।

नीचे गोली की झड़ी लगी थी और इसलिए डेविस को छत का चोर दरवाज़ा (खटखटा) बन्दकर देना पड़ा पर नीचे क्या हो रहा है यह देखने के लिए एक झरी छोड़ देनी पड़ी। नीचे के दल की ऊपर आने की हिम्मत नहीं पड़ी। इसी बीच में औरतों ने डेविस को बतलाया कि बलवाइयों ने चारों ओर से घर को घेर रक्खा था और शायद वे दीवाल पर चढ़ने की कोशिश कर रहे थे। डेविस के पास सिवाय जनरल एर्स्कीन के घुड़सवारों की बाट जोहने के कोई दूसरा चारा नहीं था। थोड़ी देर के बाद उसने सीढ़ी पर चढ़ने की धमक सुनी वह भाला चलाने वाला ही था कि उसने अपने पुराने नौकर को पहचान लिया। इस नौकर ने उसे बतलाया कि वज़ीर अली की फौज हट गयी थी। इसके बाद शहर कोतवाल पन्द्रह बंदूकचियों के साथ आया और इन सब की तैनाती कर दी गयी। वज़ीर अली के नगाड़े की आवाज़ शहर से सुन पड़ती थी। उसके दल ने बनारस के उपनगर मे घूमते हुए कई युरोपियनों के मकानों में आग लगा दी।

करीब ११ बजे अंग्रेजी घुड़सवारों की हरौल पहुँचकर डेविस के बंगले पर डट गयी। इसी बीच में शहर में भी बग़ावत शुरू हो गयी और कुछ लोगों ने महकमें पुलिस की कुछ इमारतों में आग लगा दी। इसपर जनरल एर्स्कीन ने अपने सिपाहियों को गुंडों को मार भगाने की आज्ञा दी। बगल के जंगल से कुछ गोलियाँ चलायी गयी पर अंग्रेजों की तोप दगते ही वज़ीर अली के आदमी माधोदास के बाग की ओर खिसक गये जहाँ लोगों का विश्वास था कि वे डट कर लड़ेंगे। जनरल एर्स्कीन ने उनका पीछा किया। इसी बीच में शहर के युरोपियनों ने डेविस के बंगले पर इकट्ठे होकर उनकी उस बहादुरी के लिए धन्यवाद दिया जिसके कारण सब बच गये पर शहर पर पुनः अधिकार स्थापित करने के लिए अंग्रेजों को कुछ नुक़सान उठाना पड़ा। जब अंग्रेजी फ़ौजें एक मुहल्ले की चौड़ी सड़क से गुजर रही थी तो लोगों ने मकान की छतों और बगल की पतली गलियों से उनपर गोली बरसाई जिससे कुछ सिपाही मरे और घायल हुए। माधोदास के बाग़ पर पहुँच कर अंग्रेजी फ़ौज तोप से उसका फाटक उड़ा कर भीतर चौक में जा दाखिल हुई। यह घटना सूरज डूबते डूबते खतम हो गयी। अगर कहीं लड़ाई रात तक चलती तो यह निश्चय था कि गुंडे बदमाश शहर को लूट लेते। ऐसा होने पर ज़िले से वज़ीर अली के आदमियों के इकट्ठे होने का भी अवसर मिल जाता और इस तरह वज़ीर अली के आत्मसमर्पण में कुछ और समय लग जाता।

जब फ़ौज ने माधोदास के बाग़ पर कब्ज़ा कर लिया तो उसे पता चला कि वज़ीर अली अपने साथियों के साथ आजमगढ़ होते हुए बेतौल की ओर भाग गये थे। दूसरे दिन (१५ जनवरी) महाराजा बनारस, जहाँदार शाह के दोनों बड़े लड़के, और शहर के खास

खास नागरिक डेविस से मिले और उन्हें भरोसा दिलाया कि उनका वज़ीर अली से कोई संबंध नहीं था।[१] तहकीक़ात करने पर भी पता चला कि महाराज बनारस का उस षड्यंत्र से कोई संबंध नहीं था। कलेक्टर के कब्जे में वज़ीर अली का एक पत्र आ गया था। जिसमें उसने बनारस से बाहर जाने वाले अंग्रेजों को रोकने के लिए और सड़कों की रक्षा करने को कहा गया था। पर राजा को इस पत्र का पता केवल डेविस की जबानी ही मालूम पड़ा।[२]

डेविस को वज़ीर अली के षड्यंत्र का हाल उसके नजूमी से लगा जिससे कहा गया था कि वह जगत सिंह से मिलकर उनसे वज़ीर अली द्वारा बनारस के चार ज़िलों को दखल कर लेने की इच्छा प्रकट कर दे जब जगत सिंह को यह समाचार मिला तो उन्होंने वज़ीर अली को इस बात का भरोसा दिया कि वे उनके लिए फ़ौज इकट्ठा करेंगे। खर्च चलाने के लिए महाजनों से कर्ज़ लेंगे और अंग्रेजों को खतम करने के बाद महाजनों को लूट कर उनके रुपयों से पूरा सूबा दखल कर लेंगे। यह सुनकर वज़ीर अली ने जगत सिंह को खिल्लत बख्शी। डेविस से यह भी कहा गया कि इसके बाद जगत सिंह वज़ीर अली से मिले और उनको हथियारबंद सिपाहियों के इकट्ठा करने का भरोसा दिया।

वज़ीर अली के कुछ साथी जिन्होंने फ़ौज का मुक़ाबला किया मार डाले गये, पर औरों के बारे में पता नहीं चल सका। शहर की गड़बड़ी शांत करने के लिए डेविस ने बग़ावत समाप्त होने की घोषणा की और लोगों को दुकान खोलने और पुनः कारबार चलाने की सलाह दी। १८ जनवरी तक शहर में पुनः शांति स्थापित हो गयी और बाद में अदालत का काम भी जारी हो गया। कंपनी सरकार ने डेविस के काम की सराहना की और वज़ीर अली को पकड़ने के लिए बीस हज़ार का इनाम घोषित किया।

वज़ीर अली भागते समय अपने परिवार और सेवकों को जिनकी संख्या सौ के लगभग थी पीछे ही छोड़ गये थे। डेविस इनके साथ इज्जत के साथ पेश आये और इनके खाने पीने का प्रबंध कर दिया।

वज़ीर अली को साथ देने का भरोसा देने वालों में बहुतों ने तो उनका साथ नहीं दिया। पर जगत सिंह, भवानी शंकर और शिवदेव सिंह का क़सूर साफ़ था। जैसे ही वज़ीर अली के भागने का पता चला उनकी गतिविधि पर नजर रक्खी जाने लगी। वज़ीर अली आजमगढ़ से बेतौल भागे पर इनका पीछा न करके जनरल एर्स्कीन को शहर में शांति बनाये रखने के लिये चार महीने रक्खा गया।

इस सबके बाद बनारस में गिरफ़्तारियाँ शुरू हुईं। जगत सिंह तो जगतगंज में रहते थे पर बाक़ी तीन बनारस से चौदह मील दूर पिंडरा में रहते थे। भवानी शंकर और शिवदेव चितईपुर के रहने वाले थे। शिवनाथ सिंह ब्रह्मनाल में एक छोटे से मकान में रहते थे और बाँकों के सरदार थे। ये बाँके सभी जाति के होते थे। इनकी पोशाक कुछ

---

[१] वही, पृ० ४२-४३

[२] वही, पृ. ४४-४५

अजीब सजीली होती थी। ये अकड़कर गलियों में चलते थे और ज़रा सी बात पर लड़ाई करने को तैयार रहते थे और खून खराबा करना तो मानों इनका धर्म ही था। डेविस के अनुसार बाँकों का नाम बाँक चलाने में सिद्धहस्तता के कारण ही पड़ा। अंग्रेजों के पहले बनारस में ये बाँके महाजनों और डरपोकों के तो काल ही थे। ये महाजनों से इज्जत उतारने की धमकी देकर रुपये वसूल कर चैन की बंसी बजाते थे।[1]

अंग्रेजों ने उपर्युक्त अपराधियों को एक साथ ही पकड़ने का तथा चितईपुर और पिंडरा के क़िलों पर एक साथ ही दखल करने का निश्चय कर लिया जिससे बाग़ी एक दूसरे से मिल न सकें। लखनऊ से बनारस की तरफ रवाना होने वाली काली पल्टन को यह हुक्म दिया गया कि वह पिंडरा में आकस्मिक ढंग से रुक जाय। १८ मार्च को मॉनस्टुअर्ट एलफ़िस्टन ने जो डेविस के सहकारी थे फ़ौज के साथ पिंडरा पहुँच कर क़िले पर अधिकार कर लिया, पर वहाँ के बाबू तो दो दिन पहले ही ग़ायब हो चुके थे। उसी कि सबेरे सीली ने जगतसिंह के मकान की ओर धावा बोल दिया। बेचारे बाबू साहब जनानखाने में भागे और वहाँ से बाहर निकलना नामंजूर कर दिया। इस पर फ़ौज ने मकान घेर कर उनके भागने के सब रास्ते बंद कर दिये।

शिवनाथ सिंह को पकड़ने के लिये भी सिपाही भेजे गये पर उनके पकड़ने में उनको छट्ठी के दूध याद आ गये। शिवनाथ सिंह ने बंदूकों सहित पांच आदमियों के साथ अपने को एक छोटे घर में बंद कर लिया। उनको पकड़ने के लि आये हुए पुलीस के सिपाहियों में एक तो मारा गया और दूसरा घायल हुआ। इसके बाद पैदल फ़ौज ने घर घेर कर खाना पीना रोक दिया। शिवनाथ सिंह चौबीस घंटों तक तो बाहर नहीं निकले पर उसके बाद एक साथ बाहर निकल कर उन्होंने पैदल फ़ौज पर गोलियाँ चला दीं। शिवनाथ सिंह और उनके साथी मारे तो गये पर "मरतेहु बार कटक संहारा" की कहावत के अनुसार उन्होंने बहुतों को मार डाला और घायल कर दिया।

वीरपूजा बनारस के लोगों में एक खास बात है चाहे वे वीर गुण्डे ही क्यों न हों। शिवनाथ सिंह के साहस से उनकी मृत्यु के बाद बनारसवासियों की दृष्टि में वे काफ़ी उठ गये और उनके प्रशंसकों ने जहाँ लड़ते लड़ते उन्होंने जान गँवायी थी एक चौरी बनवा दी जो आज दिन भी ब्रह्मनाल की तरकारी बाजार के बीच से नीलकंठ के रास्ते पर दारूमल वाही की कोठी के नीचे स्थित है। इतना ही नहीं बनारस के लोकगीत में भी इस घटना की कुछ दिनों तक चर्चा होती रही। श्री सांवलजी नागर ने ऐसे ही एक लावनी का उल्लेख किया है जो साठ साल पहले बनारस में गायी जाती थी।[2] लावनी यह है—

दो कम्पनी पाँच सौ चढ़कर चपरासी आया।
गली गली औ कूचे कूचें आकर घेंघवाया॥
मिर्जा पाँचू कसम खाय के कुरान उट्ठाया।
पैगम्बर को किया बीच और उनको समझाया॥

---

[1] डेविस, वही, पृ० ६७ [1] डेविस, वही, पृ० ७१

[2] हंस, काशी अंक, अक्टूबर-नवम्बर १९३३, पृ० ५३

चलो अदालत मिलो छोड़ दो सूबे का झगड़ा ।
सम्मुख होकर लड़े निकल कर मुख नाहीं मोड़ा ।
शिवनाथ बहादुरसिंह का मिला खूब जोड़ा ।।
सूरबीर जो, जो सम्मुख आये............,
तन में लगी गोलियाँ तीस तब घायल होय पड़े ।
हँस बोला तब सूबेदार काट ले गरदन दोनों के ।
उठ बैठे शिवनाथ बहादुर मारा सिपाही के ।।

उपर्युक्त लावनी से पता चलता है कि कैसे अंग्रेजी सेना ने कूचे कूचे की नाक़ाबन्दी कर दी थी, किस तरह मिर्ज़ा पाँचू ने उन्हें आत्मसमर्पण करने को कहा, पर शिवनाथ सिंह और बहादुर सिंह सेना से भिड़ गये और अनेकों को मार कर गोलियों से छिद कर अपने प्राण त्याग दिये ।

इधर वज़ीर अली ने तराई में पहुँच कर कई हजार आदमी इकट्ठे किये और गोरखपुर के मैदान में लड़ाई के लिए आधमके पर इसमें उन्हें हार खाकर जयपुर के राजा के शरणागत होना पड़ा और यहाँ से उन्हें कर्नल कॉलिंस के सुपुर्द कर दिया गया । इस तरह अपनी बग़ावत की पहली साल गिरह के दिन ही वज़ीर अली गिरफ़्तार होकर बनारस से गुज़रे । पहले तो वे फोर्ट विलियम्स में क़ैद रहे बाद में वेल्लौर भेज दिये गये ।

जगतसिंह और भवानीशंकर को मौत की सज़ा दी गयी । भवानीशंकर को तो फाँसी पड़ गयी पर जगतसिंह की सज़ा काले पानी में बदल दी गयी । जब वे नाव पर बाहर ले जाये जा रहे थे तो समुद्र तक पहुँचते पहुँचते उन्होंने विष खाकर आत्महत्या कर ली । ● ●

नवाँ अध्याय

१८०० से १८२५ ईस्वी तक का बनारस

१. दिल्ली के शाहजादे

वज़ीर अली की बगावत समाप्त होने के बाद कुछ दिनों तक बनारस के इतिहास में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं घटी और इस बीच में अंग्रेजी हुकूमत मज़बूत होती गयी। बनारस के इस संक्रमण काल से सामाजिक इतिहास की थोड़ी सी चर्चा हमें लार्ड वेलेंशिया के यात्रा विवरण से मिलता है। लार्ड वेलेंशिया १८०३ में बड़ी धूमधाम के साथ बनारस की सैर को आये। उनकी सवारी के लिए बनारस के जज श्री नीव ने, चार चोबदार, दो सोंटेबरदार और दस हरकारों का प्रबंध कर दिया।[१] बनारस में वेलेंशिया ने मिर्ज़ा जवाँ बख़्त के बेटे मिर्ज़ा शिगुफ्ता बेग, मिर्ज़ा ख़ुर्रम और एक और जिनका नाम नहीं दिया गया मुलाक़ात की। मिर्ज़ा जवाँ बख़्त के परिवार वालों को इतनी कम पेंशन मिलती थी कि लवाजमें के साथ उनका मिलना मुश्किल हो गया था। वेलेंशिया का कहना है कि अपनी फ़िज़ूलखर्ची से मुसलमान रईस गरीब होते चले जाते थे क्योंकि उनके पास ऐसा कोई रोज़गार तो था नहीं जिससे उनकी घटती रक़म पूरी हो सके।[२]

जान पड़ता है कि कॉर्नवालिस के समय तक तो जवाँ बख़्त के खान्दान की अंग्रेज काफ़ी इज्ज़त करते थे। कॉर्नवालिस ने तो स्वयं उनसे खिल्लत लेना तक स्वीकार कर लिया था पर वेलेज़ली ने उसे न स्वीकार किया। उसने तो उनसे वर्दी पहन कर थालियों में भेंट ली। वेलेंशिया को भी ऐसा ही करने का आदेश था। उस समय मिर्ज़ा ख़ुर्रम बेग शिवाले में चेत सिंह के घर में रहते थे और उनसे मुलाकात करने वेलेंशिया नीव के साथ गये। घर के बाहर उन्हें सलामी दी गयी।

मुलाक़ात दीवानखाने में हुई जिसमें एक तरफ परदे के पीछे बेगम बैठी थीं। सीढ़ी पर चढ़ते ही शाहज़ादा अपने तीन बेटों के साथ वेलेंशिया के गले लगे और परदे के पास उन्हें मसनद पर बैठाया। वेलेंशिया ने बेगम को उन्नीस मुहरों की नज़र भेंट की और शाहज़ादे को नौ मुहर की; मि० नीव ने बेगम को पाँच मुहरें और शाहज़ादे को तीन मुहरें भेंट कीं।

नज़र की रस्म अदा होने के बाद शाहज़ादे ने वेलेंशिया और वेलेज़ली की सेहत के बारे में और वेलेंशिया के इस देश में आने का कारण पूछा। इसके बाद उन्होंने देहली और आगरे की तारीफ़ करनी शुरू करदी। उनकी हृदयद्रावक याद को देखकर वेलेंशिया कहता है, "उनके दिमाग़ में कौन सी बात चक्कर काट रही उसे भांप कर मुझे तकलीफ़

---

[१] जार्ज वाइकाउँट वेलेंशिया, वायेज़ एंड ट्रावेल्स ऑफ लॉर्ड वेलेंशिया भाग १, पृ० ६९ लंडन १८११

[२] वेलेंशिया, वही, पृ० ७०-७२

हुई। वे सिवा इसके और कौन सी बात याद कर सकते थे कि एक समय उनके बड़े बड़े महल थे जहाँ बैठकर वे आराम के साथ राज्य करते थे, लेकिन अब, अफ़सोस, हालत कितनी बदल गयी थी। घर के मालिक एक गुनहगार द्वारा अंधे होकर मामूली-सी आमदनी में अपना गुज़र बसर कर रहे थे और वे इस बात के शुक्रगुज़ार थे कि उनकी रोटी एक ऐसी जाति के दया पर निर्भर थी कि जिनपर उनका कोई हक़ नहीं था।[1] बेगम ने वेलेंशिया से शाहज़ादे का इस देश में और बाहर ख्याल रखने को कहा। यही बात उन्होंने और ज़ोर देकर वेलेज़ली से कही थी उस समय उन्होंने परदे के बाहर अपना हाथ निकाल कर अपने पुत्र का हाथ वेलेज़ली के हाथ रख कर रक्षा की प्रार्थना की। दिल्ली की बादशाहत की इस करुण अवस्था पर किसे दया न आयेगी।

"मुलाक़ात का समय समाप्त होने पर शाहज़ादे ने खिल्लत दी जो आगे बढ़कर वेलेंशिया ने ग्रहण कर ली। वेलेंशिया कहता है घर में चारों तरफ गरीबी के चिह्न थे। परदे फटे थे और शाहज़ादे की लिबास भी बिलकुल सादी थी"।

खुर्रम बेग से मिलकर लार्ड वेलेंशिया शिगुफ़्ता बेग से मिलने गये। शिगुफ़्ता बेग का तेलियानाले का घर उसी जगह था जहाँ एक समय पुराना क़िला था। घर में एक बाग था और सामने एक नाला जो बरसात में भर जाता था। शाहज़ादा वेलेंशिया से घर के बरामदे में मिले। शिगुफ़्ता बेग आत्माभिमानी थे और जब वेलेज़ली उनसे भेंट करने गये तो वे अपनी जगह से नहीं उठे और उन्हें बुलाने के लिये एडमंस्टन भेजे गये। जब उनके एक नौकर से इसका कारण पूछा गया तो उसने जवाब दिया, "उनमें रियासत की हवा भरी है, वे यह नहीं जानते कि वे सिर के बल खड़े हैं अथवा पैर के।[2]" वेलेंशिया से उनकी आगरा और दिल्ली के बारे में बातचीत हुई। इसके बाद वेलेंशिया ने उनसे वे *ताम्रपत्र मांगे जो शिगुफ़्ता बेग को मकान बनाते समय मिले थे।* नवाब ने दो एक दिन बाद उन्हें भेजने का वादा किया।

वेलेंशिया ने एक दिन बनारस के रईसों के लिए दरबार किया। इस दरबार में पहले कुछ महाजन आये और उन्होंने तरह तरह के अच्छे से अच्छे बनारसी माल दिखलाये। थानों पर गथी नक़्क़ाशियां बनी थीं और उनका काफ़ी दाम था। तारबाने का काम बनारस में ही होता था और इसका व्यवहार लोग उत्सवों के लिए कपड़ों को बनवाने में करते थे। बनारसी माल की यूरोप में भी काफ़ी खपत थी। वेलेंशिया का ख्याल था कि बनारस की बहुत कुछ समृद्धि उसके किंखाब और पोत के व्यापार पर अवलंबित थी। वेलेंशिया ने एक राशि वाली जहाँगीर मुहर एक महाजन से खरीदी। १९ वीं सदी के आरम्भ में भी ये मुहरें अप्राप्य सी थीं।

महाजनों के बाद शाहज़ादे मिलने आये। इनमें आपस में मित्रभाव नहीं था और दोनों ही बैठने के क्रम में एक दूसरे से आगे रहना चाहते थे। वे दोनों पड़ोस में अलग अलग बगीचे में आकर न्योते का आसरा देखने लगे। मिर्ज़ा खुर्रम पहले आये और उन्हें

[1] वेलेंशिया, वही, पृ० ७३-७४

[2] वही, पृ० ७६

तोप की सलामी अथवा यों कहिये दोहरी सलामी दग गयी क्योंकि बेवकूफ़ी से गोलंदाजों ने समझा कि दोनों शाहज़ादे एक साथ आ गये थे। वेलेंशिया ने शाहज़ादे को नजर और दो दुनली पिस्तौलें भेंट की। इतने में पता लगा कि गोलंदाजों के पास शिगुफ़्ता बेग के स्वागत के लिए बारूद समाप्त हो गया था। फ़ौरन और बारूद लाने के लिए आदमी दौड़ गये और तब शाहज़ादे और उनके उस्ताद का स्वागत हुआ। उन्होंने बतलाया कि ताम्रपत्र नीव साहब को भेंट कर दिये गये थे।

शाहज़ादों के बाद वेलेंशिया मराठा रियासतों के वकीलों, महाराज बनारस के भाइयों, ग़ुलाम मुहम्मद रोहिला के पुत्र, जो अपनी माँ के साथ बनारस में रहते थे, से मिले। इस तरह पान इत्र देकर दरबार समाप्त हुआ। वेलेंशिया का कहना है पान इत्र देने में भी तीन श्रेणियाँ होती थीं, पहली श्रेणी को पान इत्र खुद दिया जाता था और उस वर्ग के लोग उसमें से खुद जितना चाहें ले सकते थे, दूसरी श्रेणी के लोगों को हाथ से पान इत्र दिया जाता था, पर तीसरी श्रेणी के लोग जो अतर के हक़दार नहीं थे उन्हें या तो स्वयं पान दिया जाता था अथवा सेवकों द्वारा दिलवा दिया जाता था।

२. आर्थिक स्थिति

१८०३ में बनारस की घटनाओं का पता बाजीराव द्वितीय के नाम भिकाजी अनंत पटवर्धन के एक पत्र से भी चलता है[1]। १८०३-०४ में बनारस में ख़रीफ़ की फ़सल खराब हो गयी जिससे सितबर में लोगों में घबराहट फैल गयी और सरकार ने रेज़िडेंट को सिंचाई के लिए तक़ावी बाँटने का आदेश दिया। पर सौभाग्य से अक्टूबर में पानी बरस गया उससे धान की थोड़ी सी फ़सल बच गयी और रबी की भी फ़सल बोयी जा सकी। लोगों की मदद के लिए बंगाल से काफ़ी अन्न मंगवाया गया और उस पर कुछ दिनों के लिए चुंगी माफ़ कर दी गयी।[2] भिकाजी अनंत इस अकाल का और बनारस में अन्न, घी, तेल इत्यादि के वर्षा के पहले और बाद की चर्चा करते हैं। पत्र में नमस्कार इत्यादि के बाद वे लिखते हैं—"इस साल पुनर्वसु चालू चरण एक रोज़, पुष्य चालू चरण दो रोज़ और गोकुलाष्टमी के बाद दो रोज़ पानी पड़ा, इससे कुछ बुवाई हुई पर खेती मारी गयी तब से आश्विन सुदी ६ तक बूंद भर भी पानी नहीं बरसा। इसी कारण से दिन प्रतिदिन महँगी अंग्रेजों के सख्त ताक़ीद रखने पर भी बढ़ने लगी। श्री की कृपा से सप्तमी से आज तक सुवर्ण वृष्टि हुई। इसके खेती कुछ स्वस्थ हो चली। सरस और निरस जिन्सों के निम्नलिखित भाव हैं :—

	छठ तक महंगी के काल के भाव		वर्षा होने के बाद के भाव	
१—चावल बारीक़	७।	७।१	८।४	७।६
२—चावल मध्यम	७।२	७।३	७।७	७।८
३—चावल मोटा	७।६	७।७	७।।	७।।२
४—रहर की दाल	७।६	७।७	७।।२	७।।४

[1] पेशवा दफ्तर, ४३, ६६.

[2] बनारस गजेटियर, पृ०, ४६.

५—गेहूँ	७।६	७।८	७।।८	७।।।
६—चना	७।।	७।।२	७।।।	७।।।२
७—जौ	७।।	७।।२	७।।।२	७।।।५
छठ तक महंगी के काल के भाव			वर्षा होने के बाद के भाव	
८—मूँग	७।।	७।।२	७।।२	७।।३
९—उड़द	७।।२	७।।३	७।।५	७।।६
१०—पक्की चीनी	७३	७४	७३	७४
११—चीनी	७५	७६	७५	७६
१२—सालसाकर	७७	७८	७८	७९
१३—खाँड़	७८	७९	०००	०००
१४—नमक	७६	७७	७५	७७
१५—मीठा तेल	७५।।	•••	७६	७५
१६—कड़वा तेल	७४।।	•••	०००	०००
१७—घी	७२।।।	७३	७२।।	७२।।।
१८—गुड़	७।४	७।६	७।४	७।६
			मखाना ७५	७६
			दूधदही ७।।।	७।।७

धान की फसल तो नष्ट हो गयी, लेकिन आगे पानी पड़ने से गेंहूँ चना इत्यादि हो जायगा" ।

इस पत्र में भिकाजी अनंत जो शायद बनारस में बाजीराव पेशवा द्वितीय के वकील थे लिखते हैं कि भोंसले शिंदे और होल्कर के कारकुनों जैसा मान बनारस में उनका नहीं था और इसका कारण शिंदे इत्यादि का बनारस में प्रभाव था। उन्होंने बाजीराव पेशवा से यह भी प्रार्थना की कि अपने कलकत्ते के वकील को ताकीद करके उनका बनारस में मान बढ़ाने के लिये प्रयत्न करें। बनारस और पूर्वीय उत्तर प्रदेश में इस वर्ष घटनाएँ घटीं उनका भी कुछ वर्णन भिकाजी के पत्र में है। भाद्रपद में यहाँ दो तारे गिरे। बाज़ार में आग लग गयी और भूकम्प आ गया जो प्रयाग, लखनऊ, फर्रुखाबाद और जबलपुर तक घंटों तक चलता रहा। काशी का एक पुराना मंदिर गिर पड़ा और दो चार मकानों में दरारें पड़ गयीं। लखनऊ के दस पाँच मकान गिर पड़े और बहुतों में दरारें पड़ गयीं। गंगा के पानी में उछाल होने से जलचरों में हड़बड़ाहट आ गयी। हाल में ही एक दूसरा तारा गिरा था। भिकाजी के इन उल्लेखों से १८०३ के बनारस का पूरा नक्शा सामने खड़ा हो जाता है।

३. मर्दुमशुमारी

बनारस अपने हँसोड़ स्वभाव के लिये प्रसिद्ध है। इसका प्रभाव कभी कभी हम बनारस के तत्कालीन अंग्रेज अफ़सरों के कारनामों में भी पाते हैं। बनारस के कलक्टर मि० डीन को बनारस की मर्दुमशुमारी की सूझी। पर यह काम कैसे होता था यह शायद

कान तो उन्हें मालूम था, न उनके मातहतों को। डीन साहब ने शहर कोतवाल जुल्फ़िक़ार अली खाँ को शहर की मर्दुमशुमारी करने की आज्ञा दे दी और इस बुद्धिमान कोतवाल ने आनन फ़ानन में बनारस की आबादी का पता लगा दिया। लेकिन यह पता उसने बड़े विचित्र तरह से लगाया। उसके अनुसार शहर में मकानों की संख्या उनतीस हज़ार नौ सौ पैंतीस थी और उसमें रहने वालों की संख्या पाँच लाख बयासी हजार छह सौ पचीस। अब देखिये इस संख्या पर जुल्फ़िक़ार अली खाँ साहब किस तरह पहुँचे।

पक्के मकान		मकान रहने वाले संख्या	
पहले दर्जे के एक मंजिले मकान	५००	१५	७,५००
दूसरे दर्जे के दुतल्ले मकान	५,५००	२०	११,००००
तीसरे दर्जे के तितल्ले मकान	३,६००	२५	९०,०००
चौथे दर्जे के चौतल्ले मकान	१,५००	४०	६०,०००
पांचवे दर्जे के पांचतल्ले मकान	७५५	१००	७५,५००
छठवें दर्जे के छतल्ले मकान	३००	१५०	४५,०००
खपरैल वार कच्चे मकान			
पहले दर्जे के एकतल्ले मकान	१०,२००	७- १० **औसत**	९६,९००
दूसरे दर्जे के दुतल्ले मकान	६,०७६	१५	९१,१४०
कच्ची मड़ैयाँ	१,३२५	४	५,३००
इमारत के साथ बगीचे	७८	१०	७८०
खपरैली इमारत वाले	१०१	५	५०५
	२९९.३५		५८२.६२५

उपर्युक्त मर्दुमशुमारी लेने का नियम बहुत सरल था। जुल्फ़िक़ार अली खाँ साहब ने यह मान लिया कि अगर एक मंजिले में पन्द्रह आदमी रहते हों तो हर बढ़ती मंजिल में तीन मंजिल तक पाँच आदमी जोड़ दिये जायँ तो क्या बुरा है। पर चौथी मंज़िल से छह मंज़िली इमारतों के बारे में तो उनकी कल्पना काबू के बाहर हो गयी। चौमंज़िले की बस्ती उन्होंने मानी ४०, पँचमंजिले की १०० और छह मंजिले को डेढ़ सौ! पर बनारस के मकानों का जाति और व्यवसायों के आधार विश्लेषण और भी विलक्षण कल्पना है। इस उड़ान की भी बानगी लीजिये—

१—मकान जिनमें सच्चरित्र हिन्दू और मुसलमान जो रईसों, विदेशी रियासतों, वकीलों, आमिलों तथा महक़मा माल, पेंशन इत्यादि में नौकर हैं, रहते हैं २५,००

२—हथियारबन्द सिपाहियों के, जिनमें राजपूत, ब्रजवासी और मुसलमान हैं, रहने के मकान २,०००

३—महाजनों और व्यापारियों की नौकरी करनेवाले हिन्दू और मुसलमान गुमाश्तों के मकान १५,००

४—स्वतंत्र वृत्ति के धार्मिक भावना से बनारस में रहने वाले हिंदुओं के मकान २,०००

५—दान दक्षिणा पर निर्वाह करने वाले ब्राह्मणों के मकान ७५,००

६—हिंदू मुसलमान चोबदारों, खिदमतगारों, फीलवानों, ऊँटवानों, गाड़ीवानों घोड़ा सिखानेवालों, सईसों, घसियारों और मशालचियों के मकान २५,००

७—हिंदू मांझियों और दाँडियों के मकान ३०७

८—हकीम और वैद्य ११०

९—कहार ५०६

१०—हिन्दू और मुसलमान नाई ३८५

११—धोबी ५१८

१२—मुसलमान ताशा बजाने वाले, मृत शरीर धोने वाले तथा मस्जिद में झाड़ू देने वाले ७०

१३—भाट, रंडी, भड़ुएँ और नर्तकियाँ २८०

१४—हिंदू विद्यार्थी, मुसलमान और हिन्दू फ़कीर २५०

व्यापारी, दूकानदार, फुटकरिये कारीगर, मजदूर

१—महाजन और सर्राफ़ ८२०

२—हिन्दू जौहरी १५०

३—हिन्दू गोसाईं व्यापारी ५००

४—मुसलमान बिसाती १७०

५—मुसलमान जुलाहे और कालीन बुनने वाले ३०३०

६—किम्खाब, पोत, किनारी और रेशमी कपड़े बुनने वाले राजपूत जुलाहे ५८०

७—हिन्दू पंसारी ३६०

८—दलाल, फुटकर कपड़े वाले, फेरी वाले १०५५

९—राजपूत गल्ला बेचने वाले १८८०

१०—हिंदू हलवाई ४००

११—तमोली ४००

१२—सोनार ५६४

१३—रंगरेज़, खरादिये, सटकसाज-हिन्दू और मुसलमान १५७

१४—तंबाकू बेचने वाले हिन्दू और मुसलमान ६००

१५—दरजी और रफ़ूगर-हिन्दू और मुसलमान ३५८

१६—कलईगर और मुलमची-हिन्दू और मुसलमान २५

१७—हिन्दू और मुस्लिम लखेरे ७३

१८—पटवे २५६

१९—ईंटा बनाने वाले और और चूना फूकने वाले, कुम्हार हिन्दू मुसलमान ८३५

२०—तमाम तरह के मजदूर खास करके राजपूत १,२००

२१—कसाई, मुर्गी बेचने वाले, बहेलिये, धीवर-हिन्दू और मुसलमान २८३

२२—नानबाई २४३

२३—भाँग और शराब बेचने वाले कलवार ८६

२४—कागज और पत्रा बेचनेवाले	३२
२५—जूतों पर कारचोबी का काम बनाने वाले	१५०
२६—डोम, चमार और मेहतर	६१६
	३८९४३

जुल्फ़िक़ार अली ने कुछ बाशिंदों की तालिकाएँ भी दी हैं पर सामाजिक दृष्टि से उनकी उपयोगिता संदेहात्मक होने से उनकी गिनती मरदुमशुमारी में नहीं की गयी है।

पहली तालिका में बनारस में समय बिताने वाले शाहज़ादों, राजाओं इत्यादि के नौकरों इत्यादि की संख्याएँ है। यथा—

१—खुर्रमबेग के आश्रित और परिवार वाले	१,०००
२—शिगुफ़्ताबेग के आश्रित और परिवार वाले	३००
३—बेगम इचौनाबारी के आश्रित और परिवार वाले	१२५
४—नवाब दिल्दिलेर खाँ के आश्रित और परिवार वाले	१००
५ राजा रायपाल के आश्रित और परिवार वाले	१,०००
६—शहर में रहने वाले राजा उदितनारायन के आश्रित	१,०००
७—गुलाम महम्मद खाँ की स्त्री के आश्रित	१५०
	३, ०७५

दूसरी तालिका तो बड़ी ही मज़ेदार है। इसमें बनारस के उन पेशेवार बदमाशों की संख्याएँ दी हुई हैं जिन्होंने शहर को बदनाम करने में अपने भरसक कोई बात नहीं छोड़ी थी। जुल्फ़िक़ार अली के मुँह से अब उनकी संख्याएँ सुनिये :—

१—वे जालिये जो केवल जाल बनाकर अपना जीवन यापन करते थे।	४०
२—झूठी गवाही देकर जीविका पैदा करने वाले	४००
३—चोरी का माल लेने वाले	५०
४—केवल चोरी पर जीविका चलाने वाले	२००
५—पक्के जुआड़ी	४०
६—अदालत से चोरी के लिये सजा पाकर छूटने के बाद पुनः शहर में बसने वाले	१००
७—गुंडे जिनकी जीविका साधन जालसाज़ी मारपीट इत्यादि था	२००
	१०,३०

हम उपर्युक्त तालिकाओं से देख सकते हैं कि मर्दुमशुमारी से तो उनका अधिक मतलब नहीं है पर उनसे १८ वीं सदी में बनारस का सामाजिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। समाज में रईसों इत्यादि की नौकरी करने वालों की अच्छी संख्या थी। महाजनों के गुमाश्तों की भरमार थी। हथियारबंद सिपाहियों में राजपूत, ब्रिजवासी, और मुसलमान होते थे। हिन्दू मुसलमान चोबदारों, खिदमतगारों, फीलवानों, ऊँटवालों, गाड़ीवानों, साईसों, घसियारों और मशालचियों की अच्छी संख्या थी। नाई, धोबी, कहार,

भी शहर की जरूरत के लिये बसते थे। काशीवास करने वालों, ब्राह्मणों और विद्यार्थियों की तो काफ़ी संख्या थी। शहर के लोगों की तफ़रीह के लिए ताशा बजाने वाले, रंडी, भाँड़-भँड़ुओं इत्यादि का भी अच्छा जमघट था। हिंदू और मुसलमान फ़कीरों का तो कहना ही क्या था। बनारस तो उनका स्वर्ग था और कुछ हद तक आज भी बना है।

बनारस के रोजगारियों में महाजन, सर्राफ़, जौहरी, गोसाँई व्यापारी तथा कपड़े के थोक और फुटकरिये व्यापारी थे। बिसाती, पंसारी, हलवाई, तमोली, सोनार, रंगरेज, सटकसाज, तंबाकूफ़रोश, दरज़ी, रफ़ूगर, मोलमची, लखेरे, गल्ला बचने वाले, पटवे, कसाई, बहेलिये, धीवर, नानबाई, कलवार, कागज़ी, मोची इत्यादि पेशेवर थे। किंखाब बुनने वाले जुलाहों की काफ़ी अच्छी संख्या थी।

बनारस के समाज में जालियों, झूठी गवाही देनेवालों, चोरों, जुआड़ियों और गुण्डों की भी काफ़ी संख्या थी।

४. १८०९ ईस्वी का हिंदू मुस्लिम दंगा

वज़ीर अली की घटना के बाद बनारस में १८०९ तक कोई राजनीतिक घटना नहीं हुई पर १८०९ में यहाँ के हिंदू मुसलमानों का भयंकर दंगा हुआ जिससे नगर का जीवन बहुत कुछ अस्तव्यस्त हो गया। दंगे का वर्णन तत्कालीन मजिस्ट्रेट मि० बर्ड ने बिशप हेबर से किया। लड़ाई की जड़ ज्ञानवापी की मस्जिद थी जिसको लेकर हिन्दू मुसलमानों में बराबर वैमनस्य चला आता था जो एकाएक १८०९ में तूफ़ान की तरह फूट निकला। एक तरफ़ तो दो भाइयों अर्थात् दोस्त मुहम्मद और फ़तह मुहम्मद के नेतृत्व में जुलाहे और नीच दर्जे के मुसलमान थे और दूसरी तरफ़ अधिकतर राजपूत। झगड़ा इस बात पर उठा कि हिन्दू ज्ञानवापी और विश्वनाथ के मंदिर के बीच पड़ने वाली ज़मीन पर जिस पर किसी फ़रीक़ का कब्ज़ा नहीं था एक इमारत उठा रहे थे। फिर क्या था जुलाहों ने हनुमान का अधबना मंदिर गिरा दिया और जोश में हिन्दुओं के पवित्र स्थानों को अपवित्र करने लगे। दूसरे दिन ज्ञानवापी पर हिंदुओं की भीड़ इकट्ठी होने लगी पर बनारस के स्थानापन्न मजिस्ट्रट डब्लू. डब्लू. बर्ड के समझाने से भीड़ छँट गयी लेकिन झगड़ा बढ़ने के अन्देशे से बर्ड ने सिपाहियों की दो कम्पनियाँ मसजिदों की रक्षा के लिये बुलवा लिया। उसके थोड़ी ही देर बाद जुलाहों ने विश्वनाथ के मन्दिर को लूटने का प्रयत्न किया। खबर बिजली तरह शहर में फैल गयी और हिन्दू तुरत बदला लेने के लिये तैयार हो गये। दोनों दलों में डट कर गायघाट पर लड़ाई हुई जिसमें मुसलमानों को अपने अस्सी आदमियों को खोकर भागना पड़ा। इसी बीच में विश्वनाथ के मन्दिर के पास दूसरा बलवा भड़क उठा! पर बर्ड ने सिपाहियों की मदद से उसे शांत कर दिया। पर मुसलमान शांत होने वाले न थे। उन्होंने लाट भैरो के मन्दिर पर हमला करके लाट तोड़ डाली और मंदिर को अपवित्र करने के लिये वहाँ एक गाय की हत्या कर डाली,

---

[1] बिशप हेबर, इंडियन जर्नल, नेरेटिव ऑफ एजर्नी थ्रू दि अपर प्राविंसेज़ ऑफ इंडिया १८२४-२५, पृ० १८४-१८५, लंडन १८६१; गजेटियर, पृ० २०७-२०९

फिर इसके बाद तितर बितर हो गये। बर्ड को जैसे ही इस बात का पता लगा वे वहाँ पहुँचे और उस जगह सिपाहियों को तैनात कर दिया पर बलवे की आग अब पूरी तरह से भड़क उठी थी। अंग्रेजों को सिपाहियों की राजभक्ति पर इसलिए विश्वास नहीं था कि वे अधिकतर हिंदू थे। हिंदू भीड़ के आगे आगे चलने वाले योगी और सन्यासी इन सिपाहियों को गाली देते थे और उन्हें अपने भाइयों से लड़ने के लिये कोसते थे। इतना सब होते हुए भी सिपाही अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं हुए और बराबर समानभाव से मंदिरों और मसजिदों की रक्षा करते रहे। इनकी बहादुरी से बनारस पूर्णतः नष्ट होने से बच गया।

बिशप हेबर ने अपने यात्राविवरण में इन लाट भैरो पर स्थित हिंदू सिपाहियों की बातचीत उद्धृत की है। उनसे यह भी पता लगता है कि लाट भैरो और औरंगजेब की बनाई मस्जिद के बीच में खड़ा एक स्तंभ था, जिसकी हिंदू इस शर्त पर पूजा करते थे कि चढ़ावे की रक़म वे आधा मुसलमानों को दे देंगे। यह स्तंभ चालीस फुट ऊँचा था और नीचे से ऊपर तक मूर्तियों से ढँका था। स्तंभ के बारे में हिंदुओं में एक अनुश्रुति थी कि वह धीरे धीरे धँस रहा था। पहले ज़माने में वह तब से दूना ऊँचा था। विश्वास यह था कि जिस दिन स्तंभ की चोटी ज़मीन के बराबर आ जायगी उसी दिन सब जातियाँ एक हो जायगी और सनातन धर्म का अंत हो जायगा। दो ब्राह्मण सिपाही मस्जिद पर पहरा दे रहे थे और उनके सामने टूटा हुआ स्तंभ पड़ा था। एक सिपाही ने कहा, "ओह, हम वह दृश्य देख रहे हैं जिसे देखने की हमने कभी आशा नही थी। शिव का दण्ड जमीन के बराबर आ गया है इसलिये थोड़े ही समय में हम एक जाति के हो जायेंगे फिर हमारे धर्म क्या होगा?" दूसरे सिपाही ने उत्तर दिया, "शायद ईसाई"। पहले ने कहा, "मैं भी यही सोचता हूँ क्योंकि जो कुछ हो चुका है इसके बाद तो हम मुसलमान होने से रहे।"

मुसलमानों के लाट तोड़ने के बाद हिंदुओं की कटुता बहुत बढ़ गयी। दूसरे दिन करीब दोपहर के हज़ारों हथियारबंद राजपूत और गोसाई लाट भैरो के पास पहुँचे और मस्जिद जला कर पड़ोस में जो कोई मुसलमान मिला उसे खतम कर दिया। पूरे शहर में आग लग रही थी और लूट और माराकाटी का बाज़ार गर्म था। कहीं इसमें सिपाही भी न शामिल हो जायें इसके लिये बर्ड ने शहर से सिपाहियों को हटा दिया। इसके बाद बर्ड ने राजपूतों को दंगा बढ़ाने से रोकना चाहा और कुछ समय तक वे इसमें सफल भी रहे लेकिन उनके जाने के बाद वे फ़ातमान की दरगाह और पिशाचमोचन के पास जवाँ बख़्त की क़ब्रगाह की ओर बढ़े। जैसे ही बर्ड ने यह समाचार सुना वे भीड़ के पीछे पीछे चले और उस पर गोली चलाने की आज्ञा दी जिससे भीड़ का अगुवा एक राजपूत ज़मीन पर गिर पड़ा और गुस्से में भीड़ बदला लेने पर तैयार हो गयी। भाग्यवश उसी समय सहायता के लिये और भी सिपाही आ गये जिन्हें देखकर बलवाई हट गये। रक्षा के लिये कुछ सिपाहियों को वहाँ छोड़कर बर्ड ने बाकी सिपाहियों को दो दस्तों से शहर की ओर बढ़ने को कहा। पूरे शहर में आग लगी हुई थी; कई बाज़ार जल रहे थे और जुलाहों के मुहल्ले पर हिंदुओं के हमले के चिह्न स्पष्ट दीख पड़ते थे। शहर में तब तक शांति नहीं स्थापित हुई जब तक पचासों मस्जिदें ढहा नहीं दी गयी और कई सौ आदमी मर नहीं गये।

दंगा समाप्त हो जाने के बाद बनारस में एक विचित्र ही दृश्य दीख पड़ा। लोगों में शोर मच गया कि गोरक्त से गंगा अपवित्र हो चुकी थी और इसलिये अब बनारस में मुक्ति मिलती असंभव थी। बनारस के सब ब्राह्मण घाटों पर अनशन कर के बैठ गये पर बिचारे दाना पानी के बिना कब तक रहते। उनके समर्थक-मजिस्ट्रेट और दूसरे सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के पास इस आशय का प्रस्ताव लेकर पहुँचे कि अगर वे ब्राह्मणों के पास जाकर बीती घटना पर दुःख प्रदर्शित करें और सहानुभूति दिखलावें तो स्यापा देने वाले शायद उनकी बात मानकर अनशन तोड़ दें। मि० बर्ड तो इस बखेड़े का अंत चाहते ही थे वे दूसरे अंग्रेज अधिकारियों के साथ बनारस के मुख्य मुख्य घाटों पर पहुँचे और उपवास करने वालों से अपनी सहानुभूति प्रकट की। लोग उनकी बात मान गये और बहुत रोने कलपने के बाद इस निश्चय पर पहुँचे कि गंगा तो गंगा ही थीं और वे बनारस के हिंदुओं की निरंतर पूजा के बाद पुनः हिन्दू धर्म के उस धब्बे को धोने में समर्थ थी, और इसीलिये बनारस के न्यायाधीशों की बात में तथ्य था।

५. १८१० में गृहकर के लिए झगड़ा

जैस हम पहले देख आये हैं बनारसियों ने अंग्रेजी हुकूमत सहज ही में नहीं स्वीकार की। उन्हें जब मौक़ा मिलता था अपना रो प्रदर्शन में कोई कोर कसर नहीं उठा रखते थे। ऐसे ही रोष प्रदर्शन का समय १८१० ईस्वी में उपस्थित हुआ जब अंग्रेज सरकार ने बनारस के रहने वालों पर गृहकर लगाने का निश्चय किया। इस सम्बन्ध में हम यह बतला देना चाहते हैं कि यह बनारस का सर्वप्रथम सत्याग्रह या धरना था। यह घटना ब्राह्मणों द्वारा उपवास करके अथवा जान देने की धमकी देकर अपनी बात मनवाने के लिये किया जाता था। ब्राह्मण अपनी पवित्रता का इसमें पूरा-पूरा लाभ उठाते थे क्योंकि हिन्दुओं का पूर्ण विश्वास था कि ब्रह्महत्या से बढ़कर कोई पाप नहीं है। डंकन के अनुसार[१] बनारस में ब्राह्मण अपनी उन बातों को मनवाने के लिये धरना देते थे जिन्हें वे किसी दूसरे प्रकार से पूरी नही कर पाते थे। धरना देने के लिये ब्राह्मण विष अथवा छुरा लेकर किसी के दरवाजे पर बैठ जाते थे और उसको इस बात की धमकी देकर कि उसके घर के बाहर निकलने पर वे आत्महत्या कर लेंगे, उसे बाहर नही निकलने देते थे। इस अवस्था में धरना देनेवाला अन्न ग्रहण नही करता था और जिसके विरुद्ध धरना दिया जाता था उसको भी जबर्दस्ती तब तक व्रत करना पड़ता था जब तक कि मामला तय न हो जाय। बनारस में १७८१ में अदालत कायम होने के बाद से यह प्रथा बहुत कुछ समाप्त हो गयी थी फिर भी यदा कदा लोग धरना दे ही बैठते थे।

१८१० में अंग्रेजी सरकार ने बनारस में गृहकर लगाने का निश्चय किया। इस नये कर का लोगों ने घोर विरोध करने का निश्चय किया। बिशप हेबर ने इस आन्दोलन का सुन्दर वर्णन किया है।[२] उनका कहना है कि बनारस वासियों ने इसलिए भी इस कर पर एतराज किया कि वे मुग़लों की तरह अंग्रेजों को भी लगान, चुगी और जकात देते थे

[१] एशियाटिक रिसर्चेज, भाग ४ पृ० ३३१ से

[२] हेबर, उल्लिखित, पृ० १८४–१८६

लेकिन उनके बाप दादों ने भी 'गृहकर' का नाम नहीं सुना था। अगर इसी तरह अंग्रेजों की मनमानी चलती रही तो वे भविष्य में बच्चों पर भी कर वसूलने लगेंगे। बनारस के नागरिकों के इन एतराज़ों का बनारस के अंग्रेज़ अफ़सरों ने भी समर्थन किया लेकिन कम्पनी सरकार पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में कोई चारा न देखकर बनारस के लोगों ने तबतक के लिये सामूहिक रूप से धरना देने का निश्चय किया जबतक कि कर हटाया न जाय। इसके लिये बनारस में बड़ी तैयारियाँ की गयी। वहाँ के पंडितों ने संस्कृत कालेज के पास के मुहल्लों और गावों में हाथ से लिखी नोटिसें बँटवाई जिनमें लोगों को अपनी संस्कृति और देश की रक्षा के लिये धरना देने के लिये ललकारा गया था और शपथ दिलाकर उनको आदेश दिया गया था कि वे इन नोटिसों को अपने पड़ोसियों को दे दें। इसके पेश्तर कि सरकार लोगों की बन्दिश से आगाह हो सके बनारस के तीन लाख आदमियों ने अपना सब काम काज बन्दकर दिया, आग न जलाने की शपथ खाई तथा फ़ौरन बिना खाये पीये मुँह लटका कर मैदानों में बैठ गये।

बनारस के लोगों की यह हरकत देखकर नगर के सरकारी कर्मचारी बड़े पशोपेश में पड़ गये, क्योंकि बिना खाये पीये धरना देने में लोगों के मरने की आशंका थी तथा खेती का काम बन्द होने से दुर्भिक्ष पड़ने की। किसी तरह की ज़ोर ज़बरदस्ती करने से स्थिति के और बिगड़ने की आशंका थी। नेताओं को समझाने और काम पड़ने पर थोड़ी फ़ौज तयार रखने के सिवा बनारस के अफ़सर कर ही क्या सकते थे। पर धीरे-धीरे सत्याग्रहियों को भूख सताने लगी और ऊपर से जाड़े और बरसात की मुसीबत आ पड़ी। कुछ लोगों ने धरना छोड़ कर गवर्नर जनरल के पास दस हज़ार आदमियों को डेपुटेशन में भेजने का प्रस्ताव रक्खा। लोगों ने इसे मान तो लिया पर अब सवाल यह उठा कि उसका खर्च कौन उठावेगा। बनारस के एक प्रसिद्ध पंडित जी ने गृहकर लगाने के समर्थन में सुझाव रक्खा पर लोग जिस कर के लिये लड़ रहे थे, उसे भला कैसे मानते। अब धीरे-धीरे भीड़ खिसकने लगी लेकिन कुछ लोग तो इस बात पर डटे रहे कि भीड़ का हर आदमी अपने खर्च से गवर्नर जनरल के पास जाय। तीन दिन बाद करीब २०-३० हजार आदमी सीधा सामान से लैस होकर कलकत्ते की ओर चल निकले पर रास्ते में सब की हिम्मत पस्त हो गयी और सब लोग बनारस वापस लौट आये। बाद में यह कर भी उठा लिया गया।

इस घटना का विवरण सरकारी काग़ज़ातों के आधार पर निम्नलिखित है—

सरकार के पर्शियन सेक्रेटरी जॉन माक्टन ने १० जनवरी १८११ के एक पत्र (बनारस अफ़ेयर्स भाग २, पृ० १४३–१४४) में राजा बनारस को सूचित किया कि बनारस के बाशिंदों ने नगर की दूकानों और घरों पर एक मामूली सा कर लगने के विरोध में झमेला खड़ा कर दिया था और सरकार की न्यायप्रियता और प्रजापरस्ती का जरा सा भी ख्याल नहीं किया। सरकार ने शासन पत्र निकाल कर बलवाइयों को सावधान कर दिया था कि उन्हें अपनी करनी पर गहरा दंड भोगना पड़ेगा। सेक्रेटरी ने राजा से प्रार्थना की थी वे अपने प्रभाव का उपयोग करके बलवाइयों को दबाने में वैसी ही मदद करें जैसी कि हिंदू-मुस्लिम दंगे के समय उन्होंने की थी। बनारस के एक्टिंग मेजिस्ट्रेट डब्लू० डब्लू० बर्ड के २० जनवरी १८११ के

एक पत्र से पता चलता है कि बलवा शांत नहीं हुआ था तथा कर के विरुद्ध इश्तिहारबाजी जोरों से चल रही थी। इसे रोकने के लिये जिनके पास इश्तिहार पाया जाय उनमें से हर एक की गिरफ़्तारी के लिए ५०० रु० का इनाम रखा गया। दंगे फ़साद की वजह से कर की दर की तख्शीश का काम भी रुक गया था। मि० बर्ड ने यह सलाह भी दी कि दंगा रोकने के लिये अधिक फौज भेजी जाय (वही, पृ० १४४–१४५)। बर्ड के २८ जनवरी १८११ के पत्र से (वही, पृ० १४५–१५०) इस दंगे पर कुछ और अधिक प्रकाश पड़ता है। बर्ड ने लिखा कि बलवाई खुले आम हुक्मउदूली कर रहे थे और अपनी बात मनवाने पर तुले हुए थे। बलवाइयों का यह भी इरादा था कि वे इकट्ठे अपनी फ़रियाद लेकर कलकत्ते जायँ और जिन नगरों में यह गृह कर लगा था वहाँ के लोगों को भी अपने साथ ले लें। जब उन्हें पता चला कि कलकत्ता जाने की धमकी कारगर नही हुई तो उन्होंने यह निश्चय किया कि हर घर के मालिक या उनके प्रतिनिधि कलकत्ता जायँ और यदि यह संभव न हो तो वहाँ जाने वालों का वे खर्च बर्दाश्त करें। धार्मिक संस्थाओं ने भी ऐसा करने के लिये उभारा पर जब जाने की बात आयी तब रास्ते की कठिनाइयों और रोकथाम से डर कर कुछ ही लोग तैयार हुए। अब उन लोगों ने प्रादेशिक न्यायाधीशों को अर्जी दी जो नामंजूर कर दी गयी। इससे बहुतों का उत्साह ठंडा पड़ गया और वे इस विचित्र परिस्थिति से बाहर निकलने की कोशिश करने लगे। लोगों को समझाने बुझाने में सैय्यद अकबर अली खाँ मौलवी अब्दुल क़ादिर और अमृत राव का विशेष हाथ था। अब सत्याग्रही इस बात के लिये तैयार हो गये कि अगर बर्ड स्वयं उनसे मिलें तो वे मामला समाप्त कर देंगें, पर बर्ड इस बात के लिये राज़ी नहीं हुये। इसी बीच मि० ब्रुक बनारस वापस आ गये तथा उन्होंने राजा बनारस को बनारस शहर में आकर बनारस के लोगों को डांटने फटकारने और समझाने बुझाने को राज़ी कर लिया। बड़ी शानशौकत से राजा की सवारी वहाँ पहुँची जहाँ लोग इकट्ठे थे। उन्होंने भीड़ को समझाया और लोग अपने अपने घर लौट गये। राजा ने बर्ड से उन्हें माफ़ी देने को कहा। शांति होते ही गृह कर लग गया पर लोग उसमे बड़े ही असंतुष्ट थे। बर्ड की राय थी कि अगर फाटकबंदी कर का मुआवज़ा देकर गृह कर वसूला जाय तो लोग संतुष्ट हो जायेंगे। गुनहगारों को माफ़ कर देने की भी बर्ड ने शिफारिश की। पत्र के साथ ही उसने बनारस के लोगों की एक दरख्वास्त भी भेज दी। दरख्वास्त में (वही, पृ० १५१ से) कहा गया था कि बनारस के नागरिक १४ जनवरी १८११ के इस हुक्म से आश्चर्य में आ गये थे कि बनारस में गृहकर रुक नही सकता था। उनकी राय थी कि अगर उनकी अर्जी पर ठीक तरह से विचार किया जाता तो ठीक होता। पहली बात तो यह थी कि १७९६ के रेगुलेशन ६ में यह बात दर्ज थी कि टेक्स तरद्दुददेह होने से उठा लिया जाय, इसलिए इस टेक्स का फिर से लगाया जाना अन्याय था। फिर यह भी ध्यान देने योग्य बात थी कि सरकारी राज्य के विस्तार होने तथा आमदनी बढ़ने पर भी बनारस में टेक्स बढ़ने से लोगों पर मुसीबत आ पड़ी थी। पहले के बादशाह भी घर पर कर नहीं लगाते थे इसलिये यह टेक्स लगाना ग़ैरक़ानूनी था। कम्पनी की छत्रछाया में बनारस में सभी धर्मों के लोग रहते थे जिससे नागरिकों का फ़ायदा होता था। टेक्स लगने पर इनके बनारस छोड देने की संभावना थी। स्टांप ड्यूटी, कोर्ट फ़ी तथा आयात निर्यात

चुंगी सबको देनी पड़ती थी जिससे लोग तंग आ गये थे। इन करों की वजह से भी पिछले दस वर्षों में वस्तुओं के दाम सोलहगुना बढ़ गये थे और लोगों का जीना दुर्लभ हो गया था। ऐसा पता चलता है कि गृहकर का प्रयोजन पुलिस खर्च के लिये था पर बिहार और बंगाल में यह खर्च स्टांप तथा दूसरे करों से चलाया जाता था तथा बनारस में मालगुजारी से, फिर गृहकर की आयोजना किस आधार पर की गयी थी। शास्त्रों के अनुसार बनारस की पंचक्रोशी पवित्र थी। रेगुलेशन १५ के अनुसार पूजा के स्थान कर से वर्जित थे। बनारस में करीब ५०,००० घर थे जिनमें मंदिर मस्जिद तथा वक्फ़ की जायदाद भी आ जाती थी। घरों पर कर लग जाने पर भी आमदनी से केवल फाटकबंदी का खर्च ही वसूल हो सकेगा और वह भी लोगों को तकलीफ़ देकर। बनारस के बहुत से घर वाले ऐसे थे जो न तो अपने घरों की मरम्मत करवा सकते थे न उनके गिरने पर उनको बनवा ही सकते थे ऐसे लोगों के लिये गृहकर देना असंभव था। तहसीलदारी उठ जाने पर लाखों की जीविका चली गयी थी, इसलिये अर्जीदारों की प्रार्थना थी कि कर न लगे।

इस दरख्वास्त की नामंजूरी तो पहले ही हो चुकी थी पर बर्ड ने इसे फिर से गवर्नर जनरल के पास सिफ़ारिश के साथ भेज दिया कि कर नया होने से लोगों को उससे भय था। बनारस के मेजिस्ट्रेट ई. वाटसन ने २२ फ़रवरी को राजा बनारस तथा बनारस के माननीय नागरिकों के सामने दरख्वास्त पर गवर्नर जनरल का फैसला सुना दिया (वही, पृ० १५९ से) जिसके अनुसार गृहकर की वसूली में कुछ सुविधाएँ दी गयी। कलेक्टर को यह हुक्म दिया गया कि वे मंदिरों मस्जिदों तथा उनकी जायदाद पर कर न लगावें तथा ऐसी जायदादों की फ़िहरिस्त तैयार हो। मामूली हैसियत पर कर न लगे। ५ जनवरी १८११ को सरकार ने एलान किया था कि बनारस के नागरिकों पर से फाटकबंदी, चौकी-दारी और फाटकों की मरम्मत का खर्च उठा लिया जाय और खर्च की जिम्मेदारी सरकारी खजाने की हो। सरकार को यह सलाह दी गयी थी कि अगर फाटकबंदी का खर्च खजाने से न किया जा कर गृहकर से काट लिया जाय तथा फाटकबंदी की रक़म लोग सीधे मुहल्ले-दारों के माफ़ंत सरकार को दे दें तो लोगों को सहूलियत पड़ेगी पर सरकार के अनुसार इसका ५ जनवरी के हुक्म से कोई संबन्ध नहीं था। इस हुक्म के बाद मामला रफ़ा दफ़ा हो गया तथा इस मामले को निपटाने में मदद करने के लिये सरकार ने राजा उदितनारायण सिंह, बाबू शिवनारायण सिंह, सैय्यद अकबर अली खाँ, अब्दुल कादिर अली खाँ तथा बाबू जमनादास को खिल्लतें बख्शीं।

६. चेत सिंह का मामला

चेत सिंह के ग्वालियर भाग जाने पर उनका सम्बन्ध बनारस से प्रायः विच्छेद सा हो गया। गवर्नर जनरल के एजेंट डब्लू० ए० बुक के ३० अप्रैल १८११ के एक पत्र से पता चलता है कि राजा चेत सिंह की मृत्यु के बाद उनकी रानी के भाई शिवप्रसन्न सिंह ने उनसे मिलकर बतलाया राजा और उनके पुत्र बलवन्त सिंह चेत सिंह की अस्थि के साथ विंध्याचल में थे और उनके साथ एक हजार आदमी होने की बात उनके दुश्मनों ने उड़ा दी थी। इस पर एजेंट ने उनसे कहा कि मुण्डन के बाद ही रानी और बलवन्त को वापिस लौट जाना चाहिये। शिवप्रसन्न सिंह को इससे बड़ी निराशा हुई। उन्होंने कहा कि

उन्हें तो मि० मर्सर द्वारा चेत सिंह को लिखे एक पत्र से आशा की कि बलवन्त सिंह को सरकार जागीर देगी और उन्हें सूबे में रहने की आज्ञा (बनारस अफेयर्स, भाग २, पृ० ३ से इलाहाबाद १९५९)। ब्रुक को यह भी पता चला कि पंडितों की सलाह थी कि चेतसिंह का श्राद्ध एक साल बाद हो पर वे इस बात के लिए उत्सुक थे कि जैसे भी हो रानी वापिस लौट जायँ। गवर्नर जनरल के पास उन्होंने रानी की अर्जी भी भेज दी। इसके बाद ब्रुक के कई पत्रों से पता चलता है उसने मिर्जापुर से मेजिस्ट्रेट को इस बात की हिदायत की कि चेत सिंह की रानी को ग्वालियर वापिस भेजने की कोशिश करे। रानी के दो विश्वासी सेवकों यथा रहीम अली और सदाशिव पण्डित से ब्रुक ने कहा कि वे रानी को लौट जाने को कहें पर नतीजा कुछ न निकला। रानी ने तो अपना बाकी जीवन तो बनारस में बिताने का संकल्प कर लिया था (वही, पृ० ९)। ब्रुक की कोशिश चलती रही पर रानी टस से मस न हुई। ब्रुक ने तो यहाँ तक धमकी दी कि यदि रानी हुक्म उदूली करेगी तो वह जबर्दस्ती मिर्जापुर से हटा दी जायगी। खत किताबत चलती ही रही। अंत में रानी ने इलाहाबाद में कुछ दिन रहना स्वीकार लिया तथा कंपनी सरकार ने उसके खर्च-वर्च का बन्दोबस्त कर दिया। बाद में वह अपने परिवार सहित आगरा चली गयी। झगड़े-झंझट से बचने के लिए रानी द्वारा मिर्जापुर में किया गया कर्ज भी चुका दिया गया। १८२१ और १८५२ के बीच चेतसिंह के पुत्र बलवन्त सिंह ने आगरा से बनारस आने के लिये कई बार दरख्वास्तें दी पर वे बराबर नामंजूर होती रही।

७. १८१४ में लॉर्ड हेस्टिंग्स का बनारस आगमन

१८०९ और १८१० की घटनाओं के बाद बनारस का जीवन किसी परिवर्तन के बिना पूर्ववत् चलता रहा। १८१४ में यहाँ मार्क्विस ऑफ हेस्टिंग्स आये और उनके स्वागत के लिये बनारसियों ने जोरदार तैयारी की जैसा कि गवर्नर जनरल की डायरी से पता लगता है।[१] हेस्टिंग्स बनारस शहर में २६ अगस्त को दाखिल हुए। वहाँ उनका अंग्रेजी कर्मचारियों ने स्वागत किया तथा उनके आगमन में २७ अगस्त को शहर में खूब रोशनी हुई। अपनी डायरी में लॉर्ड हेस्टिंग्स कहते हैं कि बनारसियों से जिन्हें अंग्रेज फूटी नज़र भी नहीं सोहाते थे उन्हें इस तरह के स्वागत की आशा नही थी। जब बनारस के रईसों को लॉर्ड हेस्टिंग्स ने मि० ब्रुक की मार्फ़त धन्यवाद भेजा तो उन्होंने हँसकर कह दिया कि उनका स्वागत करने का अपना ढंग था। ३० अगस्त को गवर्नर जनरल मिर्जा जवाँ बख़्त के पुत्र खुर्रमबेग और अली क़ादिर तथा मिर्जा शिगुफ़्ता बेग के लड़के जलालुद्दीन, सलीमुद्दीन और महमूदबख़्त से मुलाकात की।

३१ अगस्त को अमृत राव अपने पुत्र विनायक राव के साथ बड़ी सज धज से गवर्नर की मुलाकात के लिये आये। बाग के फाटक पर से वे पालकी पर चढ़कर भीतर गये। वहाँ हेस्टिंग्स ने उनका स्वागत किया।

अमृतराव पेशवा को राघोबा दादा ने १७६८ में दत्तक लिया था। माधव राव की मृत्यु के बाद १७९५ में वे शिवनेरी के क़िले से बाजीराव द्वितीय के साथ बंधनमुक्त

[१] दी प्राइवेट जर्नल ऑफ दी मार्क्विस ऑफ हेस्टिंग्स, ब्यू की मार्शियोनेस द्वारा संपादित, अलाहाबाद १९०७ ६६–७३

किये गये और पूना आगये। यहाँ इनके विरुद्ध षड्यंत्र रचा गया पर बाजी राव ने उन्हें क़ैद करना नामंजूर कर दिया।[१] वेलेज़ली ने उन्हें सात लाख सालाना पेंशन देना मंजूर किया और यह भी स्वीकार किया जहाँ भी वे अपना पड़ाव डालें उसके अंदर उनके मातहतों पर उनका पूरा अधिकार होगा। १८०३ में बनारस के पास उन्होंने अपना डेरा डाला पर उनके साथियों में धीरे धीरे लोग खिसकने लगे थे। १८१४ में तो उनके नौकरों और साथियों में कुल पाँच हजार आदमी बच गये थे। अमृत राव कट्टर ब्राह्मण थे। लॉर्ड हेस्टिंग्स ने अपनी डायरी में लिखा है कि एक साँड़ पर अपने बचाव के लिए वार करने पर उन्होंने अपने एक नौकर का हाथ कटवा डाला था। अमृतराव के घर लेडी हेस्टिंग्स उनकी स्त्री से मिलीं। उन्हें हाथी, घोड़े और जवाहरात भेंट किये गये पर हेस्टिंग्स ने केवल एक पंची स्वीकार की।

बिशप हेबर ने[२] अमृत राव के बारे में लिखा है वे बड़े भारी दानी थे। अपनी जन्मतिथि के रोज़ वे हर ब्राह्मण और भिखमंगे को एक सेर चावल और एक रुपया देते थे। इनके शहर के पास चार फाटक वाले मकान का वर्णन करते हुए हेबर लिखते हैं कि तीन फाटक तो याचकों और मुलाक़ातियों के लिए खुले रहते थे पर चौथा फाटक केवल पेशवा और उनके नौकर चाकरों के लिये आने जाने का था। दान लेने के बाद हर याचक को इसलिए दिन भर बगीचे में ठहरना पड़ता था कि कहीं वह दूसरी बार दान न वसूल कर ले। ऐसे मौक़े पर कभी कभी पचास हज़ार रुपये तक बँट जाते थे। अमृत राव साल में औसतन डेढ़ लाख दान करते थे। १८२४ में इनकी मृत्यु हो गयी और इनके पुत्र विनायक राव ने १८२९ में बनारस छोड़ दिया।

पहली सितंबर १८१४ को लॉर्ड हेस्टिंग्स ने दरबार किया जिसमें बनारस के नागरिक उपस्थित थे। महाराजा बनारस ने नज़र दी और उसके बदले में उन्हें खिल्लत दी गयी। बाबू शिवनारायण सिंह और राजा खिल्लत पहन कर सामने आये तब उन्हें ढाल तलवार और मोती के हार भेंट किये गये। उन्होंने जो कीमती उपहार दिये, वे कंपनी के खाते में जमाकर लिये गये। २ सितंबर १८१४ को बनारस के पंडितों ने लार्ड हेस्टिंग्स को औरंगज़ेब का फ़रमान दिखलाया और उन्हें विचित्र भाँति का ऐतिहासिक काव्य भेंट दिया। इसके बाद कालेज के लड़कों ने विविध विद्याओं में अपनी दक्षता का प्रदर्शन किया। पहले दो विद्यार्थियों ने व्याकरण पर शास्त्रार्थ किया। इसके बाद एक विद्यार्थी ने आयुर्वेद से पाठ किया। बाद में स्मृतियों से पाठ हुआ और अंत में धर्मशास्त्रों से। लार्ड हेस्टिंग्स को इस तरह की शिक्षा नहीं रुची, और उन्होंने कॉलेज की शिक्षा में उन्नति का आदेश दिया और नागरिकों को इस उन्नति में सहायता देने का वचन दिया।

बनारस की आबादी लार्ड हेस्टिंग्स ने नौ लाख कूती, जिसमें आने वाले व्यापारी और यात्री शामिल थे।

---

[१] इतिहास संग्रह, नवंबर-दिसंबर, १९१२ जनवरी १९१३, पृ० २९ से

[२] हेबर, उल्लिखित, पृ० १६२-१६३

८. १८५२ का बलवा

बनारस के जीवन क्रम में १८१० के बाद १८५२ में दो घटनाएँ घटीं एक था पीपा विस्फोट और दूसरी थी नागरों का बलवा। नागरों के बलवे का मुख्य कारण दाताराम नागर थे जो भंगड़ भिक्षु की शिष्य परंपरा के प्रसिद्ध तलवारिये थे। इन्हें डामल की सजा मिली थी। बनारस में यह अनुश्रुति है कि दाताराम ने भुतही मली, बुलानाला और ठठेरी बाजार में दुलदुल ले जाने का विरोध किया। इस पर लड़ाई हो गयी और दाता राम को डामल की सजा दे दी गयी। श्री सांवल जी नागर ने इस घटना के संबंध में निम्नलिखित कजली उद्धृत की है[१]—

सब के तो नैया जाले अगरे नाहीं डगरे रामा,
नागर नैया जाले काले पनिया रे हरी।
बेरियाँ की बेरियाँ तोहें बरजों नागर गुंडऊ रामा,
रामा मत बाँध छुरी और कटरिया रे हरी।

जो भी हो इस घटना का जिसे बनारस में गौरेय्या शाही कहते हैं मुख्य कारण बनारस की फाटकबन्दी तोड़ना और साड़ों को पकड़कर कानीहौद में बन्द करना था। इस विरोध के अगुआ भाऊ जानी और विश्वेश्वर जानी थे क्योंकि साड़ों के लिए गुजरात और काठियावाड़ से इनके पास खासी रक़म आती थी। बनारस के कलक्टर मि० गबिंस ने सबको नाटी इमली पर इकट्ठा करके समझाना चाहा पर समझौता न हो सका और लोगों ने पास की दूकान से गौरेय्या उठा-उठा कर गबिंस और बनारस के कोतवाल पं० गोकुलचन्द पर फेंकना शुरू किया। नागरों ने, जिनकी संख्या तीस थी, शहर की दूकानों को बन्द करा दिया और यह बन्दी तीन दिनों तक जारी रही। बलवा बढ़ने लगा और सिपाहियों के लिए फ़ौजी बाजारों में रसद आना बन्द हो गया पर देवनारायण सिंह की मदद से देहात की गाड़ियों से बलवाइयों द्वारा विरोध करने पर भी खाने पीने का सामान पहुँचने लगा। बलवाइयों ने अपने अनुयायियों की शहर के बाहर एक सभा की पर मि० गबिंस ने सभा भंग कर दी और आदमियों को बाड़ों में हाँककर खूब पिटवाने के बाद बाहर जाने दिया। मुख्य-मुख्य बलवाई जेल भेज दिये गये लेकिन बाद में दयाभाव से छोड़ दिये गये।

बनारस के काग़ज़ातों से इस घटना का निम्नलिखित विवरण मिलता है :—

बनारस में गवर्नर जनरल के एजेंट मेजर डब्लू० एम० स्टूअर्ट ने अपने ५ अगस्त के एक पत्र में भारत सरकार को लिखा (बनारस अफ़ेयर्स, भाग २, पृ० १६५ से) कि बनारस में चार दिन तक झगड़ा चलता रहा पर वह बिना किसी खास नुकसान के समाप्त हो गया। जान पड़ता है कि शहर में यह अफ़वाह फैल गयी कि जेल में हिन्दू क़ैदियों के खाने में परिवर्तन से उनकी जात जाने का भय था। पहली अगस्त को इस प्रश्न को लेकर बनारस के घाटों पर एक सभा हुई जिसे बनारस के मजिस्ट्रेट एफ० बी० गबिन्स ने पुलिस की मदद से भंगकर दिया और भीड़ के कुछ नेताओं को गिरफ्तार कर लिया।

---

[१] हंस, काशी अंक, पृ० ४३

दूसरी अगस्त को शहर के पास एक बाग में और भी बड़ी सभा हुई जिसमें गिरफ़्तारी के विरुद्ध प्रदर्शन किया गया। गबिन्स ने वहाँ स्वयं उपस्थित होकर भीड़ को समझाना चाहा पर उन पर पत्थर और ईंटे बरसाये गये और उन्हें सहायता के लिये लौटना पड़ा। भीड़ उनके पीछे-पीछे बरना के पुल तक पहुँची जहाँ उसे फ़ौजी सिपाहियों ने आगे बढ़ने से रोक दिया और तीस चालीस आदमी गिरफ़्तार कर लिये गये। उपद्रव बढ़ता देख फ़ौज बुला ली गयी। तीसरी अगस्त को पुनः सभा करके लोगों ने गिरिफ़्तार लोगों को छुड़ाने की माँग की। चार अगस्त को सभा बन्दी का इश्तिहार बाँटा गया और लोगों से दूकानें खोलकर काम काज चलाने को कहा गया। फिर भी कमच्छा के पास एक भारी भीड़ इकट्ठा हो गयी पर गबिन्स ने उसे पुलीस और फ़ौज की मदद से तितर-बितर करके तीन सौ आदमियों को गिरफ़्तार कर लिया और इस तरह दंगा समाप्त हो गया।

गबिन्स की रिपोर्ट से इस दंगे पर और भी अधिक प्रकाश पड़ता है। पहली अगस्त को उन्हें खबर मिली कि भोसलाघाट पर पाँच सौ से अधिक आदमियों की भीड़ इकट्ठी होकर लोगों में यह अफ़वाह उड़ा रही थी कि जेल के क़ैदी ईसाई बनाये जाने वाले थे तथा उन्हें जबर्दस्ती अंग्रेजी रोटी खिलाई जाने वाली थी। असल में बात यह थी कि जेल में ईंधन की कमी होने से गबिन्स ने दारोग़ा को यह सलाह दी थी कि अगर क़ैदी अपने मेस बना लें तो यह कठिनाई दूर हो सकती थी। चालीस मुसलमान क़ैदियों ने तो अपना मेस बना भी लिया था। भोसलाघाट पहुँचते ही गबिन्स ने भीड़ के नेताओं को जिनमें दो नागर और एक ब्राह्मण थे बुलाया। उन्होंने कैदियों के जात जाने वाली बात कही और अपने भाई क़ैदी मोहनराम को छुड़ाने की बात चलायी। यह सुनकर गबिन्स ने कहा कि वे बेवकूफ़ी कर रहे। थे अगर उन्हें कोई शिकायत थी तो वे उनके पास पाँच आदमियों का एक प्रतिनिधि मण्डल भेज सकते थे। बाद की तहक़ीकात से यह पता चला कि भीड़ का एक प्रतिनिधि मंडल शहर के महाजनों से यथा बाबू नरायनदास, हरीदास, गुरुदास मित्तर, बेनीलाल मुंसिफ और गोपालचंद से मिला था और उनका संदेसा लाया था कि अगर धरम की बात थी तो वे पीछे हटने वाले नहीं थे। भोसला घाट छोड़ने के पहले गबिन्स ने मन्दिर के पुजारी और नौकरों को इस अभियोग पर कि उन्होंने मन्दिर का दरवाजा बंद क्यों नहीं कर दिया था गिरफ़्तार कर लिया।

दूसरी अगस्त को गबिन्स को पता चला कि बहुत से लोग सुन्दरदास के बाग़ में एक बैठक करना चाहते थे पर काल भैरव के थानेदार ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया था। दोपहर के करीब उन्हें पता चला कि भीड़ नाटी इमली में इकट्ठी हो रही थी। यह तय पाया कि बाबू देवनरायन सिंह और फतहनरायन सिंह शहर कोतवाल और काल भैरव के थानेदार के साथ भीड़ से मिलें और उसे हट जाने के लिए राय दें। पर भीड़ ने उनकी काफ़ी फ़जीहत की। यह जानकर गबिन्स स्वयं भीड़ से मिलने नाटी इमली पहुँचे और भीड़ से बात-चीत करना चाहते थे कि एक गोरेय्या उनकी छाती में लगी और भी ठीकरे चलने लगे। गबिन्स ने अपनी बग्घी का हुड चढ़ा दिया पर ठीकरे चलते ही रहे और गबिन्स भागकर पुलिस सुपरिन्टेंडेंट रीड के घर पहुँचे तथा वहाँ जाकर उन्होंने फ़ौज को

बरना के पुल की नाकेबंदी का हुक्म दिया। बहुत से तो भाग निकले पर ३१ आदमी बरनापुल और १८ आदमी नाटी इमली में गिरफ़्तार किये गये।

तीन अगस्त को कमच्छा पर दो तीन हज़ार आदमी राजा बनारस से सलाह लेने पहुँचे। गबिन्स की राय थी कि इस दंगे में राजा का कोई हाथ नहीं था पर रामदत्त पंडा ने जो राजा का विश्वासपात्र था इस गड़बड़ी में काफ़ी हाथ था तथा भीड़ भी राजा बनारस की जय का राग गाती थी।

चार तारीख को बैजनत्था पर भीड़ इकट्ठा हुई पर फ़ौज की मदद से तितर-बितर कर दी गयी और २७८ आदमी गिरफ़्तार कर लिये गये।

पाँच तारीख को गबिन्स ने शहर की गश्त लगाकर दूकानें खुलवायीं और इस तरह बलवा शांत हो गया। गबिन्स को शक था कि इस दंगे में बाबू नरायन दास की शह थी; जब दंगा करने वालों का प्रतिनिधि मंडल उनसे मिला था तो उसकी खबर उन्हें देनी चाहिये थी। बाद में कुछ के सिवा छोड़कर बाक़ी सबको माफ़ी दे दी गयी।

९. पीपा विस्फोट

सम्वत् १९०७ अधिक, वैशाख कृष्ण, ५ बुधवार १८५० को डेढ़ घड़ी रात बीते राजघाट पर नाव पर लदे बारूद के पीपे अचानक फट पड़े। गहरा धड़ाका हुआ और काशी के हजारों मकान हिल गये। इस घटना का विशद वर्णन पं० लोकनाथ चतुर्वेदी ने पीपा बावनी में किया है।[1] पंडित लोकनाथ का कहना है कि मि० स्मिथ, स्माल और हूई की कोठियाँ उड़ गयीं और स्माल की मेम तो डर कर मर गयी। मि० चार्ल्स नामक सौदागर का नया बंगला उड़ गया। राजा विजयानगर और जंगलाल के करारे पर के बंगले बच गये। गॉरडेन का वह बंगला जिसमें क्वींस कालेज के प्रिंसिपल वाल्टन रहते थे बच गया।

१०. १८५७ का विद्रोह

६०–७० वर्ष की अंग्रेजी हुकूमत ने बनारसियों का जोश बहुत ठंडाकर दिया था इसीलिये १८७५ के विद्रोह में बनारस का हिस्सा बहुत कम रहा। १८५७ के आरम्भ में बनारस छावनी में अंग्रेज गोलन्दाजों की एक कम्पनी, लुधियाने की सिख रेजिमेंट की एक कम्पनी और ३७ नंबर की देसी सिपाहियों का कोर था। चुनार के पास सुल्तानपुर की छावनी में १३ नंबर की मुसलमानी पलटन थी। बनारस की फ़ौज की कमान ब्रिगेडियर पॉनसोनबाई के हाथ में थी और यहाँ के सिविल अफ़सरों ने कमिश्नर एच० सी० टकर, एफ० गबिन्स जज, एफ० एम० लिंड मैजिस्ट्रेट तथा आर० पोलक और इ० जी० जेंकिन्सन असिस्टेंट मैजिस्ट्रेट थे। शहर की हालत काफ़ी नाजुक थी क्योंकि बनारस के लड़ाके ऊँचे दामों से परशान थे और शिवाले में शाहजादों का रहना भी खतरे से भरा था। मार्च के महीने से ही २७ नंबर की देशी पल्टन में असन्तोष के लक्षण दिखलाई दे रहे थे। मई के प्रारम्भ में जब दिल्ली और मेरठ से सिपाही विद्रोह का समाचार आया

[1] हँस, काशी अंक, पृ ४०–४१

तो बनारस के सिपाहियों ने खुले आम ईश्वर से प्रार्थना की कि वह उन्हें विदेशियों की गुलामी से मुक्त कर दें। इन सिपाहियों को दबाने के लिये सुलतानपुर से मुसलमानी पल्टन बुला ली गयी तथा अफ़सरों ने शहर में घूमकर दाम घटाने के लिये बनियों को आदेश दिया। अफ़सरों की एक युद्ध परिषद् में कुछ अफसरों ने आपत्ति काल में चुनाव के क़िले में चले जाने का सुझाव रक्खा पर मैजिस्ट्रेट और दूसरों के विरोध करने पर यह सुझाव नहीं माना गया। यह निश्चय किया गया कि बग़ावत होने पर अंग्रेजों के परिवार मिंट हाउस में चले जायँ।

२४ मई को ८४ नंबर की क्वींस रेजिमेंट का एक दस्ता कलकत्ते से बनारस पहुँचा और वह तुरन्त कानपुर भेज दिया गया। १ जून को ६७ नंबर की देशी फ़ौज द्वारा खाली की गयी बैरकों में आग लगा दी गयी और ४ जून को संकट की घड़ी आ उपस्थित हुई। दूसरे दिन फ़ौज से हथियार ले लेने का निश्चय किया गया पर पॉनसोनबाई ने उसी दिन तीसरे पहर परेड बुलाने का हुक्म दिया सिपाहियों के हथियार ले लिये गये थे पर जब उन्होंने अंग्रेज सिपाहियों को बन्दूकें लेकर अपनी ओर बढ़ते देखा तो उन्होंने अपने अफ़सरों पर गोलियाँ चलानी प्रारम्भ कर दीं। अंग्रेजों ने फ़ौरन प्रत्याक्रमण कर सिपाहियों को लाइन के बाहर निकाल दिया। इसी बीच में १३ नं० की पल्टन में भी बलवा फैल गया और उन्होंने भी अपने सेना नायक पर आक्रमण कर दिया। सिख पल्टन पहले तो कुछ घबड़ाई पर बाद में उसने भी प्रत्याक्रमण कर दिया। कड़ाबीन की मार शुरू होते ही देशी सिपाही भागे। इसी मौके पर कर्नल नाइल ने कमान सम्हाल ली और उनकी वजह से विद्रोह कुछ ही समय में समाप्त हो गया।

छावनी में गोलियाँ और तोप चलने की आवाज़ सुनकर बनारस शहर में भी गड़-बड़ी फैल गयी। वहाँ से पादरी भी रामनगर के रास्ते चुनार को भाग गये और शहर के अंग्रेज मिंट हाउस में इकट्ठे हो गये। कुछ अफ़सर कचहरी की छत पर चले गये जहाँ उन पर गुस्से से भरे, खज़ाने के सिक्ख सिपाहियों द्वारा हमला होने ही वाला था कि उन्हें सरदार सुरजीत सिंह जो बनारस में रहने वाले एक राजनीतिक शरणार्थी थे और जजी के नाज़िर पंडित गोकुलचन्द ने बचा लिया। खज़ाना हथियारखाने में हटा दिया गया और अफ़सर मिंट हाउस पहुँचा दिये गये। रात में एक और गड़बड़ी मची जिसका लाभ उठाकर मुसलमानों ने विश्वेश्वर के मन्दिर पर हरा झण्डा लगाना चाहा पर मि० लिंड ने उन्हें ऐसा करने से रोका और शहर की रक्षा करने के लिये राजपूतों की सहायता प्राप्त कर ली। शहर में पूरी शान्ति रही और सरकारी दफ़्तर का एक काग़ज़ भी नहीं छुआ गया। इस शान्ति का बहुत कुछ श्रेय देवनारायण सिंह और महाराज बनारस को था पर मिंट हाउस में अंग्रेज शरणार्थियों में काफी गड़बड़ी थी क्योंकि वे जानते थे कि धावा होने पर वे अपने को किसी तरह नहीं बचा सकते थे।

बनारस के जज गबिन्स ने शहर में शान्ति स्थापित करने में बहुत बड़ा काम किया। ९ जून को शहर में फ़ौजी कानून घोषित कर दिया गया क्योंकि बनारस जिले में लूट और हत्या का बाजार गर्म हो चला था। मि० जेंकिंसन और लेफ्टिनेन्ट पेलिसर फ़ौज

और स्वयंसेवकों के साथ इसे रोकने के लिये भेजे गये। लोगों में भय उत्पन्न करने के लिये सरे-आम फाँसी की टिकठियाँ लगा दी गयी। छोटे अपराधों के लिये तो बेंत की सज़ा दे दी जाती थी पर गहरे अपराधों के लिये सीधी फाँसी का हुक्म था। शहर की और अधिक सुरक्षा के लिये जुलाई में राजघाट तक क़िलेबन्दी कर दी गयी। जौनपुर के बाग़ियों को बनारस की तरफ़ बढ़ने से रोकने के लिए घुड़सवार पुलिस का प्रबन्ध किया गया। जुलाई के आरम्भ में ही जौनपुर के राजपूत बनारस पर चढ़ते हुए शहर से ९ मील की दूरी पर पहुँच गये पर अंग्रेजी फ़ौज ने उन्हें हरा कर उनके नेताओं को पकड़ लिया। शहर में यह भी अफ़वाह फैली कि सिगौली के राजपूत भी धावा बोलने की तैयारी में थे लेकिन इस खबर में कोई तथ्य नहीं था। इससे भी अधिक बनारस के लिये भयंकर खबर यह थी कि दानापूर से भारतीय बाग़ी सिपाही बनारस की ओर बढ़ रहे थे, पर अंग्रेजों के भाग्य से आरा के पास ये सिपाही रोक दिये गये। बनारस से कुछ फ़ौज कर्मनाशा नदी पर नौबतपुर भेजी गयी। सिपाही बिना लड़े ही दक्षिण की ओर मिर्ज़ापुर चले गये जहाँ से अंग्रेजी फ़ौज ने उन्हें इलाहाबाद जिले में ढकेल दिया।

१८५७ के विद्रोह के समय बनारस अंग्रेजों का एक प्रसिद्ध फ़ौजी अड्डा बन गया। यहाँ से ग्रैंड ट्रंक रोड की रक्षा की जाती थी और उत्तर और पश्चिम में फ़ौजें और रसद भी भेजी जाती थी। बाबू कुँअर सिंह की बग़ावत का थोड़ा बहुत असर बनारस पर भी पड़ा पर यह कहना ठीक होगा कि अन्त में बनारस सिपाही विद्रोह से बहुत कुछ अछूता बच गया। ● ●

दसवाँ अध्याय

बनारस शहर के लोग, घाट, मंदिर, यात्रा, उत्सव इत्यादि
(१७८०-१८५७)

१. नगर

इस बात में संदेह नहीं कि अठारहवीं सदी के मध्य में बनारस शहर की उन्नति का बहुत कुछ श्रेय मराठों को था। १७३५ के बाद पेशवों की सहायता से बनारस में बहुत से पक्के घाट और ब्रह्मपुरियाँ बनीं फिर भी बनारस अब जितना घना बसा हुआ है और गंगा पर जितने घाट हैं उसकी कल्पना हम अठारहवीं सदी में नहीं कर सकते। उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में बहुत जाँच पड़ताल करने के बाद जेम्स प्रिंसेप इस तथ्य पर पहुँचे कि अठारहवीं सदी में मणिकर्णिका घाट के आस पास जंगल रहा होगा। गंगापुत्रों ने उन्हें बतलाया कि मणिकर्णिका घाट के पास मकानों में जो बड़े बड़े वृक्ष दिखलायी देते थे वे उसी जंगल के बचे बचाये वृक्ष थे। मणिकर्णिका घाट के आस पास बहुत से घरों के क़बालों में इस बात का ज़िक्र है कि वे मकान बनकटी के समय बने। बनारस में यह भी मशहूर है कि गोपालमंदिर के पास जहाँ तुलसीदास रहते थे उसके आगे बन शुरू हो जाता था।[1] प्रिंसेप की इस बात की पुष्टि चौखंभा, ठठेरीबाजार और साव के महल्ले के मकानों के क़बालों से भी होती है जिनके अनुसार ये महल्ले बनकटी के बाद बसे। वारेन हेस्टिंग्स को बनारस के महाजनों ने जो मानपत्र भेंट दिया था, उसमें भी नयी पट्टी के महाजनों का ज़िक्र है। इसका यह अर्थ हुआ कि चौखंभा, ठठेरी बाजार आदि १७६५ के बाद बसे होंगे।

बनारस के घरों की अच्छी तरह से जाँच पड़ताल करके प्रिंसेप इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बनारस में मानसिंह के पहले की कोई इमारत नहीं थी। इस श्रेणी में मानमंदिर घाट और बूंदी के महल तथा कुमारस्वामी के मठ आते हैं। इन इमारतों के बनवाने में लगता है राजपूत स्थपतियों की मदद ली गयी थी क्योंकि इनमें राजस्थान के स्थापत्य का बहुत प्रभाव दीख पड़ता है।

प्रिंसेप के समय बनारस इतना घना नहीं बसा था। शहर की लंबाई तीन मील और चौड़ाई एक मील से अधिक नहीं थी। प्रिंसेप के समय में शहर की जो भौगोलिक स्थिति थी उसमें अब बहुत कुछ हेर फेर आ गया है। उन्नीसवीं सदी में बनारस के बहुत से नाले और तालाब पाट दिये गये। प्रिंसेप के समय में मैदागिन के तालाब का विस्तार बहुत बड़ा था। यह झील उन झीलों में से एक थी जो गंगा के समानांतर शहर में फैली हुई थी और जो शायद किसी काल में गंगा के बाढ़ का फैला हुआ पानी ग्रहण कर लेती थी। १८२५ के करीब त्रिलोचन के पास एक पक्की

[1] जेम्स प्रिन्सेप बनारस इलस्ट्रेटेड इन ए सीरीज ऑफ, पृ० ११, कलकत्ता १८३१

नाली बनाकर इन झीलों का पानी गंगा में गिरा दिया गया और उनमें से एक झील के ऊपर विशेशरगंज गल्ले के बाजार के लिये बनवा दिया गया। जब मैदागिन के झील का पानी गिराया जा रहा था, तब बनारस के धार्मिक हिंदुओं ने कछुवों को उठाकर गंगा जी में डालने के लिये प्रति कछुआ दो आने लोगों को दिये। प्रिंसेप का अंदाज है कि ये कछुवे संख्या में पन्द्रह सौ के ऊपर होंगे। यह भी संभव है कि समानांतर में फैली ये झीलें प्राचीन मत्स्योदरी की द्योतक हैं।

जैसा हम देख आये हैं, १८०१ में बनारस की पहली जन गणना हुई पर उसमें कल्पना की अधिक उड़ान लेने के कारण सत्य का अंश बहुत कम था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर प्रिंसेप ने १८२८-२९ में बनारस की जनगणना करने का निश्चय किया। उनकी गणना के अनुसार शहर में एक लाख इक्यासी हज़ार चार सौ बयासी, सिकरौल के देसी घरों में ग्यारह हजार आठ सौ छिहत्तर और सात हज़ार बानबे यूरोपियनों के घरों में आदमी रहते थे। शहर में घरों की संख्या तीस हजार दो सौ पाँच थी और सिकरौल में दो हज़ार सात सौ चौवन हिंदुस्तानियों के घर और एक सौ चौदह यूरोपियनों के घर थे। शहर में कुल महल्ले तीन सौ उनहत्तर, और सिकरौल में इक्कीस थे। शहर में पक्के घरों की संख्या ग्यारह हज़ार तीन सौ पचीस और सिकरौल में तिहत्तर थी। ये घर एक से लेकर कई मंजिलों के थे। शहर में कच्चे पक्के घरों की संख्या दो हज़ार तीन सौ अट्ठाइस थी और सिकरौल में अट्ठासी। शहर में कच्चे घरों की संख्या सोलह हज़ार पाँच सौ बावन थी और सिकरौल में दो हजार छ सौ उनतीस। शहर में खाली जगहों और खँड़हरों की संख्या एक हज़ार चार सौ अट्ठानवे और सिकरौल में बहत्तर थी। शहर में बगीचे एक सौ चौहत्तर और सिकरौल में एक सौ चौदह थे। शहर में शिवालों की संख्या एक हज़ार और सिकरौल में सात थी। शहर में मस्जिदों की संख्या तीन सौ तैंतीस और सिकरौल में पाँच थी।

शहर में रहने वाली भिन्न भिन्न जातियों की संख्या का विश्लेषण करते हुये प्रिंसेप निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचे :

नाम	ब्राह्मणअल्ल	संख्या
१—महाराष्ट्र	११	११,३११
२—नागर	७	१,२३१
३—मोढ़	११	५६७
४—औदीच्य	८	१,१४६
५—मेवाड़ी	७	४३०
६—खेड़ावाल	२०	२,०६८
७—कान्यकुब्ज	४	६,६०२
८—गौड़	१०	१,०००
९—बंगाली	१	३,०००
१०—गंगापुत्र	१	१,०००

११—सत्ताइस छोटी उपजातियों के ब्राह्मण	१	३,२२६
		३२,३८१

क्षत्रिय

नाम	अल्ल	संख्या
१—राजपूत	२	६,००२
२—भूमिहार	१	५,०००
३—खत्री	६	३,०९२

वैश्य

नाम	अल्ल	संख्या
१—वैश्य	२२	८,३००

शूद्र

१—शूद्र	६९	६०,३०२

फ़क़ीर-सन्यासी

रामानंदी, सन्यासी, दंडी इत्यादि		७,१७१
	कुल :	१२२,३६५

मुसलमान

१—कुलीन मुसलमान		१०,०००
२—४४ प्रकार के व्यवसायों में लगे मुसलमान		२०,०४८
३—फ़क़ीर और सांई		१,२००
	कुल :	३१,२४८

उपर्युक्त संख्या में बच्चों और छूटे हुए लोगों की संख्या २६३८७।

इस तरह बनारस की कुल आबादी १,८०,०००।

बनारस के हिंदुओं में से बीस हज़ार ब्राह्मण दान दक्षिणा अथवा क्षेत्रों और मठों पर अपना गुज़ारा करते थे। शहर में बनिये महाजनों की गिनती उस समय के भारतवर्ष के बड़े से बड़े पूंजीपतियों में की जा सकती थी। व्यापार अधिकतर शक्कर, सोरा, नील, अफ़ीम और बनारसी कपड़ों का होता था। यों कहना चाहिये कि मिर्जापुर को मिलाकर बनारस उस समय दक्षिण और भीतरी हिंदुस्तान के व्यापार का मुख्य केन्द्र था। यही नहीं जैसा बिशप हेबर ने लिखा है[1] बनारस में हिन्दू यात्रियों और व्यापारियों के अलावा वहां काफ़ी संख्या में ईरानी, तुर्क, तातार और यूरोपियन रहते थे। वहां एक यूनानी संस्कृत पढ़ता था और उसका नगर के हिंदुओं से बड़ा मेल जोल था। यूनानी के साथ एक रूसी भी रहता था।

[1] बिशप हेबर, उल्लिखित, पृ० १८६–८७

बिशप हेबर के शब्दों में बनारस के ब्राह्मण दूसरी जगह के ब्राह्मणों की अपेक्षा कम कट्टर थे और उनमें दूसरे धर्मों की बात जानने की भी जिज्ञासा थी। शहर के लोग कंपनी के प्रति वफ़ादार थे। यहां के लोग भारत में दूसरे लोगों की अपेक्षा अधिक शिक्षित और रईस होने से जनोपयोगी कामों में अधिक रस लेते थे।

आरंभिक उन्नीसवीं सदी के बनारस शहर का सुन्दर वर्णन हेबर ने किया है। इस वर्णन में बनारस की गलियाँ, मन्दिर, घाट, रईस-गरीब सभी आ गये हैं। हेबर कहते हैं—"बनारस देखने लायक शहर है और आज तक मैंने जितने शहर देखे हैं उन सब में यही शहर पूरी तरह से पूर्वी ढंग का है तथा बंगाल के सब नगरों से भिन्न है। शहर में कोई यूरोपियन नहीं रहता। बनारस की सड़कें सकरी होने से पहियेदार सवारियों के लिए बहुत अयोग्य हैं। मि० फ्रेज़र की बग्घी करीब-करीब शहर के दरवाजे पर रुक गयी इसलिए बाकी रास्ता हमें उन गलियों से पार करना पड़ा, जिनमें इतनी भीड़ थी कि ताम-झाम मुश्किल से गुजर सकता था। शहर में मकान बहुत ऊँचे हैं और शायद ही कोई मकान दो मंजिले से कम हो, बाकी मकान तिमंजिले हैं और बहुत से तो पाँच या छह मंजिल ऊँचे हैं। सबसे पहले मैंने बनारस ही में यह दृश्य देखा। चेस्टर की तरह गलियाँ घर के चौक से नीचे पड़ती हैं और घरों के सामने छोटी-छोटी मिहराबदार दूकानें हैं जिनके ऊपर मकान के बरामदे, मुतक्के, झरोखे और छज्जे होते हैं। बनारस में मन्दिर बहुत हैं लेकिन उनमें अनेक बहुत छोटे-छोटे हैं। वे अक्सर गलियों के नुक्कड़ों पर अथवा बड़े मकानों की छाया में बने हैं। देखने में ये मन्दिर सुन्दर हैं और बहुतों पर काफ़ी पेचदार फूल-पत्तियों की नक्काशियाँ, आकृतियाँ और पंजक कटे हैं जिनकी महीन कारीगरी गोथिक अथवा यूनानी कारीगरी से किसी तरह कम नहीं है। शहर के मकान चुनारी पत्थर के बने हैं लेकिन हिंदू इन्हें गेरुवे रंग से रँगना पसंद करते हैं। मकान के बाहरी हिस्सों को वे चटकीले रंग वाले फूलदान, नर-नारी, बैल, हाथी तथा अनेक सिरों और भुजाओं वाले आयुधधारी देवी देवताओं के चित्रों से चित्रित करा देते हैं। शिव के नाम पर छोड़े हुये सांड़ मस्ती से गलियों में घूमते हुये अथवा बीच में पड़े दिखलायी पड़ते हैं। तामझाम के लिये रास्ता करने के लिये भी इन्हें कोई मार नहीं सकता। अगर मारना भी हो तो हाथ धीमा पड़ना चाहिए नहीं तो धर्मान्ध जनता के हाथों मारने वाले की ही शामत आ जाती है। राम के लिये लंका जीतने वाले परम पवित्र कपि हनुमान के प्रतीक बन्दर भी शहर के कुछ भागों में बहुतायत से हैं। ये छतों और मन्दिरों पर लटके रहते हैं और अक्सर हलवाइयों और फलवालों पर धावा बोला करते हैं। कभी-कभी तो ये बच्चों के हाथों से भी खाना छीन लेते हैं। शहर के कोने-कोने में मठ और मन्दिर हैं जिनसे निरन्तर वीणा की झंकार और बेसुरे बाजों की खड़खड़ाहट निकला करती है। सड़कों पर अनेक हिन्दू साधू संन्यासी भस्म पोते, गोबर में सने, बीमारियों से लदे, विकृतांग अनेक मुद्राओं को साधते हुए तप करते दिखलायी देते हैं। शहर में अंधे और कोढ़ियों की भी काफ़ी संख्या है। यहाँ पर मैंने यूरोप में सुने हुए उन साधनों को भी देखा, जिनसे एक ही स्थान पर हाथ पैर रखे रहने से उनका स्पन्दन नष्ट हो जाता है। मैंने ऐसे मुट्ठी

बँधे हाथ भी देखे जिनके नख हथेलियाँ छेद कर बाहर बढ़ गये थे। ये भिखमंगे मुझसे दयनीय शब्दों में आग़ा साहब, टोपी साहब, कहकर भीख मांगते थे। मैंने इन्हें कुछ पैसे दिये लेकिन इनकी संख्या इतनी बड़ी थी कि उसमें वे पैसे समुद्र में बूंद के समान लीन हो गये और उनकी चिल्लाहट आस-पास के गुलगपाड़े में डूब गयी। शिव के त्रिशूल पर बसी हुई इस पवित्र नगरी में जहां सबको यहाँ तक कि गोमांस भक्षक को भी अगर उसनें ब्राह्मणों को दान दिया है मुक्ति मिलती है। नगर में घुसते ही ऐसे दृश्य दीख पड़ते हैं और ऐसी ही आवाजें सुन पड़ती हैं। इस नगरी की पवित्रता के ही कारण यह भिखमंगों का घर बनी हुई है क्योंकि इस नगरी में भारत के हर कोने से तथा तिब्बत और बर्मा से हज़ारों धनी यात्री अपने जीवन के संध्याकाल में आते है और यह यात्री समुदाय, बिना समझे बूझे, काफ़ी पैसा दान पुण्य में खर्च करता है"।[१]

बिशप हेबर जयनारायण स्कूल के पास स्थित देवकीनन्दन की हवेली को भी देखने गये। यहां जो कुछ उन्होंने देखा उससे उन्नीसवीं सदी के एक बनारस के संभ्रान्त कुल के जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस हवेली का वर्णन करते हुए हेबर कहते हैं, "इमारत अच्छी थी और उसमें एक खास बात यह थी कि उसके सामने खुली जगह थी जैसा कि अक्सर बनारस की इमारतों में नहीं होती। इमारत की बनावट टेढ़ी-मेढ़ी है। चौक के दोनों ओर रहाइशी मकान हैं और दो तरफ दफ़्तर। मकान चौमंजिला है और दरवाज़े पर एक बुर्ज है। मकान के सामने भाग में बहुत सी नक्क़ाशीदार खिड़कियाँ हैं जिनमें कुछ घुड़ियों पर हैं। दीवाल का अधिकतर हिस्सा डाल-पात और फूलों की नक्क़ाशी से सजा है। इमारत पत्थर की है पर गेरू से रंगी हुई है·····················
·········दरवाज़े से घुसते ही एक गहरे आले में इष्टदेव की मूर्ति पड़ती है जिसके आगे दीपक जल रहे थे। चौक में गुलाब और केलों के पेड़ हैं और एक नक़्क़ाशीदार कुआँ है। बायीं ओर से पहली मंजिल तक एक सीढ़ी जाती है। सीढ़ी के पास दोनों नाबा-लिग़ों ने हमारा स्वागत किया। उनके साथ उनके मोटे ताजे पुरोहित जी और मिठबोले पर कौइयाँ मुंशी जी भी थे। ये हमें नक्काशीदार दर्शनीय कमरों में भी ले गये। सबसे अच्छा कमरा फाटक के ऊपर है। इसके चारों ओर मेहराबदार दालाने है। बीच में एक चबूतरे पर कालीन बिछा था। दालानों में सुन्दर नकाशियाँ बनी हैं जिनका पानी जाली से ढँकी हुई फर्श की पौदरियों में इकट्ठा होता है। कमरे में मामूली दरजे के बहुत से अंग्रेजी प्रिंट लगे थे। बच्चों के पिता और उनके दोस्तों तथा भारतीय पहरावे में एक गोरी स्त्री के तैलचित्र भी थे। बच्चे स्त्री के बारे में कुछ न कह सके पर उन्होंने यह बतलाया कि वह तस्वीर पटने के लाल जी मुसव्विर ने उनके पिता के लिये बनायी थी। मैंने अपना सवाल नहीं दुहराया क्योंकि मैं जानता हूँ कि पूर्वीय देश के लोग अपनी स्त्रियों के सम्बन्ध में बात नहीं करना पसंद करते। जो भी हो इन तस्वीरों में शबाहत थी और इसमें शक नहीं कि इंगलैंड के किसी भले आदमी के घर में ये तस्वीरें शोभनीय कही जा सकती थीं।"

---

[१] हेबर, वही, पृ० १६२-६३

जिस युग में बिशप हेबर ने बनारस की यात्रा की उस युग में पटना और बनारस में भारतीय चित्रकला का कम्पनी स्कूल काफ़ी उन्नत अवस्था में था। उस काल के सर्वश्रेष्ठ चित्रकार लाल जी मुसव्विर माने जाते थे और उन्हीं के चेलों ने महाराजा बनारस के आश्रय में कंपनी स्कूल को बहुत दिनों तक जीवित रक्खा। महाराज ईश्वरी नारायण सिंह के समय में तो ऐसे बहुत से चित्र बने। इस शैली पर यूरोपीय प्रभाव स्पष्ट है जिसे देखकर बिशप हेबर बहुत प्रभावित हुए। वे कहते हैं, "अपनी यात्रा में मुझे भारतीय चित्रकला की उन्नति देखकर आश्चर्य हुआ। मैं तो उसमें चटकदार रंग, कमज़ोर खत, साया का अभाव इत्यादि कमियों को सोचे बैठा था जैसा कि हमारी पुरानी किताबों और भारत से गये चित्रों में पाया जाता है। लेकिन मैंने सर सी० ड० आइली के पास लाल जी के, जिनकी मृत्यु कुछ दिनों पहले हो चुकी है, बनाये कुछ थोड़े से चित्र देखे जिनकी कारीगरी किसी यूरोपीय चित्रकार के लिये गौरवशाली हो सकती थी। इन चित्रों में रंगों की सचाई, एक तरह की मुलामियत और लोच था। लाल जी का लड़का जीवित है पर उसमें लाल जी की सी बात नहीं। लाल जी की बनायी शबीहें भी मैंने देखी, वे इतनी अच्छी नहीं थी, पर उनसे लाल जी की कला में सिद्धहस्तता प्रकट होती थी। आश्चर्य हैं कि लाल जी इटालियन चित्रकारों का काम बिना देखे हुये वे भी ऐसी सुन्दर शबीहें बना सके थे"।[१]

बनारस के अंधविश्वासों के बीच वहाँ के रोज़गार को देखकर बिशप हेबर को आश्चर्य हुआ। वे कहते हैं, "वास्तव में बनारस रोज़गारी, पवित्र और रईसों का नगर है। उत्तर के शाल, दक्षिण के हीरे और ढाका और पूर्व की मलमलें यहाँ आती हैं और यहाँ के कारखानों में कीमती रेशमी, सूती और ऊनी कपड़े भी बिने जाते हैं। अंग्रेजी लोहे के सामान, लखनऊ और मुंगेर की तलवारें, ढाल और भाले तथा यूरोप के आरायशी सामान जिनकी माँग बढ़ती जाती है यहाँ से बुन्देलखंड, गोरखपुर, नेपाल तथा गंगा और उसकी सहायक नदियों से भीतरी भागों में जाते हैं"।

बिशप हेबर से पता लगता है कि शहर की घनी आबादी होते हुए भी लोगों का स्वास्थ्य अच्छा था। "शहर में पानी के बहाव का अच्छा प्रबन्ध है और नगर नदी के कंकरीले कगार पर बसा है। यहाँ छुतही बीमारी न फैलने देने के कारण यह है कि शहर की भौगोलिक स्थिति अच्छी है, लोगों को स्नान की आदत है, तथा उनका जीवन सादा है। घनी आबादी होते हुए भी शहर की सेहत अच्छी है। शहर में केवल एक ही खुली जगह है और वह है नया चौक जिसे सरकार ने बनवाया है"।[२]

बनारस की पुलीस के सम्बन्ध में हेबर का कहना है कि शहर के चौकीदारों को बनारस के नागरिक चुनते थे और मेजिस्ट्रेट केवल इनकी ताईद कर देते थे। शहर में पाँच सौ चौकीदार थे जिन्हें साठ हल्कों में बाँट दिया गया था। रात में इन हल्कों के फाटक बन्द हो जाते थे और उन पर रखवाली के लिये एक चौकीदार तैनात कर दिया

[१] हेबर, वही, पृ० १६४

[२] हेबर, वही, पृ० १६५–६६

जाता था। इन चौकीदारों की चौकसी से बनारस में चोरी-चमारी और खून बहुत कम हो गये थे। चौकीदारों को इसलिए भी चौकन्ना रहना पड़ता था कि उनकी तनख्वाह मुहल्ले वाले देते थे।[१] भिकाजी अनन्त पटवर्धन के १८०३ के पत्र से[२] पता चलता है कि सरकार द्वारा फाटक बन्दी की बेहरी की दर प्रति घर छह आना महीना था।

२. बनारस के घाट

हम ऊपर देख आये है कि अट्ठारहवीं सदी के मध्य में मराठों ने किस तरह बनारस के घाट बनवाये। १७३० में मणिकर्णिका घाट बनकर तैयार हुआ और उसके बाद और भी बहुत से घाट जैसे ब्रह्माघाट, दुर्गाघाट, इत्यादि बने। बनारस से पेशवों का सम्बन्ध टूट जाने पर भी घाटों के बनवाने की प्रगति कुछ दिनों तक जारी रही फिर भी घाटों की आज दिन बनारस में शोभा है, वह जान पड़ता है, अट्ठारहवीं सदी के अन्त में उत्पन्न हुई, क्योंकि १७८१ के करीब जब अंग्रेजी चित्रकार हॉजेस् बनारस में आये तो घाट इतने गथे हुए नहीं थे।[३] उनके समय में शहर उत्तर की ओर घना बसा हुआ था और नदी से घाटों, मन्दिरों और घरों की अच्छी शोभा थी। नदी के किनारे बहुत से बाँध बँधे थे जो बरसात में गंगा के पानी से कगारों की रक्षा करते थे। आज जिसे हम जलसाई घाट कहते है (हॉजेज़ का गेलसी गाट) वहाँ एक बहुत बड़ा पुश्ता था जिसके ऊपर चढ़ने पर हॉजेज़ को पता चला, उसके ऊपर करारा था और उसके ऊपर एक बाग जिसके एक कोने में शाम को हवा खाने के लिए एक बुर्जी और दो मंडप थे।

१८०३ में लार्ड वेलेंशिया ने बनारस के घाटों का जो वर्णन दिया है वह आज दिन भी बनारस के घाटों के लिए लागू है।[४]

"नदी के किनारे असंख्य छोटे बड़े मंदिर हैं जिनमें बहुत से तो घाट तक चले आये हैं। ये मंदिर एक सरखा पत्थर के बने हैं और इनकी बनावट इतनी पुख्ता है कि वे बरसात में गंगा की तीखी धार को अच्छी तरह झेल सकते हैं। कुछ मन्दिरों पर तो रँगापुता या सुनहरा काम है और कुछ के पत्थर सादे ही छोड़ दिये गये हैं। इनके शिखरों पर बहुधा त्रिशूल होता है। घाट लोगों के स्नान के लिये हैं पर गंगा में घरों के पुश्ते पत्थर की गलियों के बराबर पहुँचने के लिए तीस फुट ऊँचे उठते हैं। इन पुश्तों और मन्दिरों के शिखरों का सवाल जवाब आँखों को बड़ा भाता है। पुश्तों से पेड़ बहुधा घाटों पर लटकते रहते हैं। हजारों नहाते और कपड़े साफ़ करते मनुष्य घाट की अपूर्व शोभा बढ़ाते रहते हैं। इन घाटों के जो चित्र मैंने देखे हैं वे इस अपूर्व दृश्य की आभा तक नहीं देते। जितनी ही नदी के पास जमीन हो पवित्रता की दृष्टि से उतना ही अधिक उसका दाम होता है। धर्मप्राण हिन्दू नदी पर घाट और मन्दिर बनवाना अपना परम कर्त्तव्य मानते

---

[१] हेबर, वही, पृ० १८३

[२] पेशवा दफ्तर, ४३, ६६

[३] डब्ल्यू हॉजेज़, ट्रावेल्स इन इंडिया, पृ० ६१, लंडन १७९३

[४] वेलेंशिया, उल्लिखित, पृ० ८९–९०

हैं। मुझे कई बार यह देखकर बड़ा अफ़सोस हुआ कि बहुत सी इमारतें इसलिए अधबनी रह गयी थीं क्योंकि उनके पूरा होने के पहले बनाने वालों की मृत्यु हो चुकी थी। शायद उन बनाने वालों के उत्तराधिकारियों को यह विश्वास था कि उनके द्वारा काम पूरा होने पर पूरे पुण्य में मृत व्यक्ति भागी होंगे।

"आयरलैंड के बिशप हिल नामक स्थान की तरह यहाँ भी क़ानून होना चाहिए कि इमारत आरम्भ करने पर उसे खतम करना आवश्यक था। यह बड़े अफ़सोस की बात होगी किसी कारण से इस नगर की अतुलनीय शोभा की अभिवृद्धि रुक जाय। औरंगज़ेब की मस्जिद के ऊँचे मीनारों को देखकर मुझमें एक हिन्दू की भावना जागृत हो गयी और मैंने सोचा कि आँखों में खटकने वाली पवित्र नगरी के इस बखेड़े को समाप्त करके सरकार को वह जगह उसके पहले के मालिकों को लौटा देना चाहिए।"

प्रिंसेप के समय में[१] (करीब १८२५) बनारस के घाटों और पुश्तों की तरतीब दो मील तक चली गयी थी और जैसे-जैसे जगह भरती जाती थी वैसे-वैसे लोग नदी पर मकान बनाते जाते थे जिनसे पहले के बने मकान वालों को बड़ी असुविधा होती थी और आपस में काफ़ी मुक़दमेबाजी। बनारस में घाट बनवाते समय काफ़ी गहरी नींव दी गयी थी और बाँध बाँधे गये थे लेकिन उनके बनने के सौ बरस के भीतर ही घाटों में पाल पड़नी शुरू हो गयी थी और प्रिंसेप ने सुझाव रक्खा था कि इसके रोकने का उपाय किया जाय। अभाग्यवश प्रिंसेप के बाद घाटों की किसी ने सुधि नहीं ली। सवा सौ वर्षों में तो उनकी इतनी खराब हालत हो गयी है कि अगर उनकी मरम्मत न हुई तो निकट भविष्य में घाट तो जायेंगे ही उनके साथ शहर का भी नुकसान होगा। सौभाग्य से उत्तर प्रदेश की सरकार का ध्यान इस ओर गया है और घाटों की मरम्मत में हाथ लग गया है।

सूखे मौसम में शहर के सामने गंगा का पानी पचास फुट रह जाता है लेकिन सितंबर में बानबे फुट हो जाता है। शहर के सामने गंगा खाड़ीनुमा बन जाती है और इससे उसका सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में बनारस में गंगा के इस सौन्दर्य का वर्णन प्रिंसेप ने इन शब्दों में किया है, "जनवरी के निरभ्र आकाश में एक तीसरे पहर गंगा के इस पार से एक उल्लासमय दृश्य दीख पड़ता है। मनुष्यों की आवाज़ के बीच सैंकडों मन्दिरों के घण्टों की संगीतमयी घनघनाहट सुन पड़ती है। कभी कभी छतरियों से उड़ने वाले कबूतरों के पैरों की फड़फड़ाहट सुन पड़ती है। कभी कभी वे गोल बाँध कर धरहरों के चारों ओर उडते हुए दीख पड़ते हैं और कभी कभी वे दूसरी गोलों के कबूतरों को बहका कर अपने घरों में उतारते हुए। उसी समय हमारी आँखें नरनारियों के नहाते हुए चमकते रंगों और साफ सुथरे पीतल के घड़ों पर पड़ती है। कभी कभी हमारी आँखें अपने स्वतंत्र नागरिकता का अधिकार बतलाते हुए शान से घूमते हुए साँड़ों पर पड़ती है। वे अक्सर उपहार में दी गयी मालाओं को खाते दीख पड़ते हैं। फिर जैसे जैसे रात चढ़ती जाती है दृश्य बदलता जाता है। पानी

---

[१] प्रिंसेप, उल्लिखित, पृ० १७–१८

के किनारे दीयों की चौंध, चिता की लपटें, उठता हुआ धुँआ, चाँदनी से उज्वल पत्थर के मकान, हमारे सामने ऐसे विचित्र आकार खड़े करते हैं जिन्हें एक चित्रकार भी मूर्तिमान नहीं कर सकता। वह जीवन की पृष्ठभूमिका तो दे सकता है, लेकिन दर्शक के लिये यह आवश्यक है कि वह अपनी कल्पना से बाकी चित्र खड़ा करें। हमें इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि बनारस के घाटों पर हिन्दुओं का अधिकतर सुखमय समय बीतता है। हम उन्हें वहाँ नहाते, कपड़े पहनते, प्रार्थना करते, उपदेश देते, आराम करते, गप्पें लगाते और सोते हुए भी पाते हैं। शहर की गन्दी और अँधेरी गलियों से निकल कर घाटों की खुली सीढ़ियों पर बैठकर नदी की स्वच्छ वायु सेवन करना उनके लिये एक वर्णनातीत सुख है, इसीलिये घाटों पर हम काहिलों के खेल, धार्मिकों की पूजा और व्यापारियों का व्यापार देखते हैं। संसार में कोई ऐसा नगर नही है जिसके नागरिक अपने चित्त विनोद के लिये एक ही गली अथवा एक ही स्थान में इकट्ठे होते हों और इसीलिये बनारस के नागरिकों को नदी के किनारे खुली हुई अपनी सुन्दर भूमि का अभिमान है। बनारस की एक कहावत 'राँड़ साँड़ सीढ़ी सन्यासी' नगर के आकर्षण को भलीभाँति प्रकट करती है"।[१]

१८३२ के करीब बनारस के अधिकतर घाट बनकर तैयार हो चुके थे। अगर हम भेलूपुरा से नदी के बहाव के साथ नाव पर चलें तो हमें सबसे पहले अस्सी घाट और नाला मिलता है। इसके पार कई अखाड़े हैं जिसमें बड़े गूदड़ जी का अखाड़ा जो रींवावालों की ओर से चलता था और छोटे गूदड़ जी का अखाड़ा थे। ये दोनों अखाड़े अठारहवीं सदी में कायम हुए। दिगम्बरी अखाड़ा और वैंद अखाड़ा उन्नीसवी शताब्दी के आरंभ में क़ायम हुए। पण्डित जी का अखाड़ा टीका दास ने १८४५ में क़ायम किया। विष्णुपन्थी अखाड़ा रामानुज का क़ायम किया हुआ माना जाता है। दादू पन्थी अखाड़ा क़ायम करने वाला बुद्धन नाम का कोई व्यक्ति था।

अस्सी से आगे बढ़ने पर हमें तुलसीघाट मिलता है। जहाँ तुलसीदास की १६२३ में मृत्यु हुई। इसके आगे चल कर हनुमान घाट पड़ता है जिस पर रईस साधुओं का जूना अखाड़ा है। कहावत है कि इसकी सीढ़ियाँ बनारस के एक जुआड़ी नन्द दास ने अपने एक दिन की कमाई से बनवा दी थी। इसी घाट के ऊपर एक मकान में पुष्टिमार्ग के संस्थापक श्री वल्लभाचार्य रहते थे। इसके बाद शिवालाघाट पड़ता है जिस पर निरवानियों और निरञ्जनियों के अखाड़े पड़ते हैं। इस घाट के बाद राय बलदेव सहाय और बच्छराज के घाट पड़ते हैं। राय बलदेव सहाय के घाट को अब माता आनन्दमयी घाट कहते है। बच्छराज घाट को शायद बनारस के अठारहवीं सदी के प्रसिद्ध व्यापारी लाला बच्छराज ने बनवाया था। इसके बाद खिड़की घाट पड़ता है जिसे बलवन्त सिंह के इंजीनियर बैजनाथ मिश्र ने बनवाया था और जहाँ से निकलकर चेतसिंह भागे थे। इसके बाद केदारघाट, चौकीघाट, नारदघाट, अमृतराव घाट, भुवनेश्वर-घाट, गंगामहल, खोरीघाट, चौसट्ठीघाट, पाँड़ेघाट, रानाघाट और मुंन्शीघाट पड़ते हैं।

[१] प्रिंसेप, वही, पृ० १७-१८

मुन्शीघाट को नागपुर राजा के एक मंत्री श्रीधर मुन्शी ने बनवाया था। वे १८१२ में अपने पद से अलग होकर बनारस में रहने लगे थे जहाँ इनकी मृत्यु १८२४ में हुई। इन्होंने केवलगिरि घाट के दक्षिण में मुन्शीघाट बनवाया। रानामहल उदयपूर के महाराणा ने सत्रहवीं सदी में उदयपूर से बनारस आने वाले यात्रियों के ठहरने के लिये बनवाया। इसके बाद दशाश्वमेध घाट पड़ता है। यह घाट काशी के पाँच प्रसिद्ध घाटों में से है। ऐसा भान होता है कि इस घाट को बालाजी बाजीराव ने १७४८ के करीब बनवाया। इस घाट का नाम दशाश्वमेध घाट क्यों पड़ा यह तो नहीं कहा जा सकता पर डा० जायसवाल का अनुमान है कि ईसा की दूसरी सदी में प्रसिद्ध भारशिव राजाओं ने कुषाणों को हरा कर दस अश्वमेध करने के बाद अवभृत स्नान किया तभी से इस स्थान का नाम दशाश्वमेध पड़ गया।

दशाश्वमेध के बाद मानमन्दिर घाट पड़ता है जिसे सत्रहवीं सदी के आरम्भ में अम्बर के प्रसिद्ध राजा मानसिंह ने यात्रियों के ठहरने के लिए बनवाया था। उन्हीं के वंश के सवाई जयसिंह द्वितीय ने जो अपने समय के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद थे १७३७ में यहाँ एक वेधशाला स्थापित की पर शायद इसकी नींव १७१० में ही पड़ चुकी थी। समरथ जगन्नाथ नाम के जयसिंह के एक प्रसिद्ध ज्योतिषी ने इस वेधशाला का नक्शा बनवाया था और सदाशिव के निरीक्षण में सरदार महोन ने जो जयपुर के एक शिल्पी थे यह वेधशाला तैयार करवायी।[1] इसमें दक्षिणोत्तर-भित्तियन्त्र, सम्राटयन्त्र, दिगंशयन्त्र, नाडीवलययन्त्र और चन्द्रयन्त्र थे, जिनसे लग्न इत्यादि साधने का काम लिया जाता था। १८२४ में बिशप हेबर ने इस वेधशाला को देखा। उस काल में भी यह वेधशाला काम में नही लायी जाती थी।

मानमन्दिर घाट के बाद मीरघाट पड़ता है। इस घाट को पहले जरासंध घाट कहते थे। बनारस के फ़ौजदार मीर रुस्तमअली ने १७३५ में यहाँ एक क़िला और घाट बनवाये जिसे बाद में खोदकर राजा बलवन्त सिंह ने उसी के मसाले से रामनगर का क़िला बनवाया। इसके बाद उमरावगिरि घाट और उसके बाद जलसाईं अथवा श्मशान घाट पड़ता है। बनारस में यहाँ मुर्दे जलाने की प्रथा कब से चली इसका तो पता नही चलता, पर हिन्दू नगरों के दक्षिण में श्मशान होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जब बनारस की बस्ती उत्तर में थी तब शायद श्मशान यहाँ था, पर शहर की बस्ती तो बनारस के दक्षिण में बढ़ती गयी पर श्मशान जहाँ का तहाँ रहा। फिर भी यह विवादास्पद है कि यह प्राचीन श्मशान सभी कालों में एक ही जगह पर था, अथवा वह अपना स्थान बदलता रहा है। काशी के लोगों का विश्वास है कि प्राचीन श्मशान जमघाट पर था जो संकठा घाट से सटा हुआ है। यहाँ यमधर्मेश्वर और हरिश्चन्द्रेश्वर के मन्दिर भी हैं और यम द्वितीया का स्नान भी लगता है। चौक में भट्टोमल की कोठी के नीचे श्मशान विनायक का मन्दिर है। संभव है कि जमघाट से श्मशान विनायक तक जिसकी दूरी चार फर्लांग है पहले श्मशान भूमि थी। बनारस

[1] नागरीप्रचारिणी पत्रिका ४७, अंक ३–४, पृ० २१८–१९

में तो यह कहावत है कि मणिकर्णिका घाट के निकट महाश्मशान की स्थापना कश्मीरीमल ने की। अपनी माँ का शव कश्मीरीमल हरिश्चन्द्र घाट ले गये पर वहाँ लेन देन के बारे में डोमों से कुछ कहा सुनी हो गयी। चट शव को वे मणिकर्णिका के घाट पर उठवा लाये और पण्डों और ज़मीदार से जगह खरीद कर उसी पर माँ का दाह करके वहाँ घाट बनवा दिया तथा शवदाह के लिये डोमों का निर्ख बाँध दिया।[१] पर श्मशान घाट का और डोमों का निर्ख क़ायम करने का श्रेय नारायण भट्ट कायगाँवकर के वंशधर नारायण भट्ट को देते हैं।

मणिकर्णिका घाट काशी का बहुत प्राचीन तीर्थ है और जैसा हम देख आये हैं, इसका उल्लेख सातवीं सदी में भी मिलता है। इस घाट की सीढ़ियों पर मढ़ियाँ बनी हैं जिनमें कुछ तो घाट की मज़बूती के लिये हैं, कुछ घाटियों और गंगापुत्रों के कब्जे में हैं। कुछ मठ-मढ़ियाँ यात्रियों ने ब्राह्मणों और साधु-संन्यासियों के लिये बनवा दी थीं। उनकी चौरस छत्तों पर अब घाटिये बैठते हैं। अट्ठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में मणिकर्णिका घाट के ज़मीन का दाम बहुत ऊँचा था। १८२९ में मणिकर्णिका के बगल में वीरेश्वर घाट की मरम्मत के लिए १५,००० रु० देकर महाराज सिंधिया ने गंगापुत्रों की अनुमति चाही, इस शर्त पर कि घाट बन जाने पर वे अपने चबूतरे रख सकते और पूर्ववत् अपना काम चला सकते थे, पर ऐसी अनुमति उन्होंने नहीं दी।[२]

संभवतः वीरेश्वर घाट की मरम्मत न करा सकने पर सिंधिया रानी बैजाबाई ने सिंधिया घाट बनवाया पर वह कुछ ही दिनों के बाद धँस गया। अब फिर से यहाँ पक्का घाट बन गया है। प्रिंसेप के समय में यहाँ दो मढ़ियाँ थीं जहाँ मरणासन्न रोगी लाकर रक्खे जाते थे।

संकठा जी के मन्दिर को गुहनाबाई ने बनवाया था। इस मन्दिर के बगल में बेनीराम पण्डित के भाई विसम्भर पण्डित की विधवा का जिन्हें बनारसी 'पण्डिताइन' के नाम से जानते थे, मकान था। १८२५ में 'पण्डिताइन' के भतीजों ने घर के नीचे घाट बँधवा दिया जो अब संकठा घाट के नाम से मशहूर है।[३]

भोसला घाट की रचना बड़ी सुदृढ़ है। करारे की ऊँचाई के कारण खाली दीवालें होनी आवश्यक थीं। घाट की छत गली के बराबर पहुँचती है। बुर्जीदार इमारत ढोंकों से बनी है। बाढ़ में नदी सीढ़ी तक पहुँच जाती है। नागपुर के राजा ने लक्ष्मी नारायण का मंदिर यहाँ उन्नीसवीं सदी के आरंभ में स्थापित किया।[४]

---

[१] हँस, काशी अंक, पृ० ४२

[२] प्रिंसेप, उल्लिखित प्ले १७

[३] प्रिंसेप, वही, प्ले ३

[४] प्रिंसेप, वही, प्ले० १९

भोसला घाट के बाद यज्ञेश्वरघाट, रामघाट और मंगला गौरी घाट और दलपत घाट पड़ते हैं। राय कृष्णदास के मकान के नीचे का पुश्ता राजा मानसिंह द्वारा रामशास्त्री को दिया गया था। १९४८ की बाढ़ यह पुश्ता बहा ले गयी। माधोराय की मस्जिद के धरहरे कंगन की हवेली के पीछे उठते थे। कंगनी की हवेली नाम के लिये तो जयपुर राज्य के अधिकार में है लेकिन इसमें पुजारी रहते हैं। पुराने बिंदुमाधव के एक आगे बढ़े हुए कंगूरे को खरीद कर पेशवा बाजीराव ने एक दूसरा सुन्दर घाट और मंदिर बनवा दिया जो अब बालाजी घाट नाम से मशहूर है।[1]

जैसा हम पहले देख आये हैं बिंदुमाधव के मंदिर के मलबे से औरंगज़ेब ने मस्जिद बनवायी। तावर्नियें के अनुसार यह मंदिर पंचगंगा से रामघाट तक फैला हुआ था और इसके अहाते में राम और मंगलागौरी के मंदिर और पुजारियों के रहने के बहुत से घर थे। मस्जिद में किसी तरह की कला-सौंदर्य नहीं है, पर धरहरे सुन्दर थे। इनका व्यास ८। फु० जड़ में और ७॥ फुट ऊपर था तथा ऊँचाई १४७ फुट २ इंच था। नदी से मस्जिद के फर्श की ऊँचाई गर्मी में ८० फुट रहती है। कुछ दिन हुए एक धरहरा ढह गया। अब दोनों मीनारें पुरातत्त्व विभाग ने उतरवा कर नीची करा दी हैं।

१८३० के करीब मस्जिद और मीनारों की मरम्मत हुई क्योंकि मीनार १५ इंच एक तरफ़ा झुक गये थे। जिस रोज़ पाइट उतारी गयी उसी रोज़ एक मीनार पर बिजली गिरी पर सौभाग्यवश एक पत्थर खिसकने के सिवा इसे और कोई नुक़सान नही हुआ।

१८२० और १८३० के बीच चार या पाँच बार लोगों ने दक्षिणी धरहरे पर से कूद कर अपनी जान दे दी। एक बार एक फ़क़ीर धरहरे पर से लुढ़क गया, पर न जाने कैसे बच गया। उसकी इस अद्‌भुत शक्ति से प्रभावित होकर लोग उसे दान दक्षिणा देने लगे। मज़ा तो तब आया जब फ़क़ीर खूब अच्छी होते ही अपने मेज़बान का मालमता लेकर चंपत हो गया।[2]

पंचगंगा घाट पर हिंदुओं के विश्वास के अनुसार पाँच नदियाँ यथा गंगा, धूतपापा, जीर्णनंदा, किरणा और सरस्वती आकर मिलती हैं और इसीलिये काशी का यह मुख्य तीर्थ माना जाता है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, इस घाट को श्रीपतराव नाम के एक महाराष्ट्र ने बनवाया। घाट चौड़ा और गहरा है और सीढ़ियाँ पत्थर की है घाट के ऊपर चबूतरे के चारो ओर एक गली है। यहाँ से सीढ़ी चढ़कर शहर को जाने की गली मिलती है। पंचगंगा के आगे ब्रह्माघाट और दुर्गाघाट को १७४० के करीब नारायण दीक्षित कायगाँवकर ने बनवाया था। इन घाटों के बाद राजमन्दिर, लालघाट, गायघाट, बालाबाई घाट, त्रिलोचन घाट, महू घाट, तेलियानाला, प्रह्लाद घाट

[1] प्रिंसेप, प्ले० २

[2] प्रिंसेज, वही, प्ले० ४

और राजघाट पड़ते हैं। राजमन्दिर घाट के नीचे सीढ़ियाँ, इसके मालिक भवानी गिरि और उनके पड़ोसी उमराव गिरि पुश्ता के मालिक के झगड़ों के कारण न बन सकीं।

आदिकेश्वर घाट बरना और गंगा के संगम पर है। जैसा हम पहले देख आये हैं, इसका उल्लेख गाहड़वालों के ताम्रपत्रों में मिलता है। यहाँ संगमेश्वर और ब्रह्मेश्वर के मन्दिर और घाट अट्ठारहवीं सदी के अन्त में सिन्धिया के दीवान ने बनवाया। बाग़ियों का अड्डा होने के कारण ग़दर के जमाने में ये मन्दिर बन्द कर दिये गये थे।

३. तीर्थयात्रा

इसमें ज़रा भी संदेह की जगह नहीं है कि भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास में बनारस एक प्रसिद्ध तीर्थ-स्थल हो गया। गया और प्रयाग के साथ इसकी त्रिस्थली में गिनती होने लगी और यहाँ की तीर्थयात्रा मुक्ति की सीढ़ी मानी गयी। काशी की पवित्रता से यह परिणाम निकला कि भारतवर्ष के कोने-कोने से हिन्दू यात्री, रास्ते के सब कष्टों को झेलते हुये, यहाँ आने लगे। बहुत से धर्म-प्राण हिन्दू तो मुक्ति की अभिलाषा से इस पवित्र क्षेत्र में बस गये। यहाँ के गंगाजल की इतनी महिमा बढ़ी कि काशी से कावड़ियाँ भर-भरकर गंगाजल सुदूर दक्षिण में रामेश्वर तक जाने लगा और दक्षिण भारत में तो काशी की यात्रा किये हुए लोग विशेष पुण्य के भागी माने जाने लगे। काशी की धार्मिक महत्ता का यह नतीजा हुआ कि यहाँ मन्दिरों की संख्या बढ़ने लगी। जैसा हम ऊपर कह आये हैं गाहड़वाल युग में जब मुइज़ुद्दीन ने बनारस को फ़तह किया, उस समय यहाँ उसने एक हज़ार मन्दिर गिरा दिये, पर बनारस की पवित्रता इतनी दृढ़ हो चुकी थी कि मुसलमानों के लाख रोकने पर भी और अनेक बार मन्दिरों के तोड़ने पर भी वहाँ बराबर मन्दिर बनते ही रहे। अकबर के समय में तो यहाँ विश्वेश्वर का प्रसिद्ध मन्दिर बना। बनारस में तो कहावत है कि अकेले महाराज मानसिंह ने ही एक लाख मन्दिर काशी में बनवाये। इतने मन्दिर तो भला कैसे बन सकते थे इसके लिए बहुत से ढोकों पर मन्दिर के नक्शे खिंचवा दिये गये और इस तरह काम बन गया। तभी से, जान पड़ता है, बनारस में काशी के कंकड़ शिवशंकर समान वाली कहावत निकली। शाहजहाँ के युग से बनारस में मन्दिरों पर पुनः आफ़त आने लगी और औरंगज़ेब ने तो यहाँ के मन्दिरों का सफ़ाया ही कर दिया। अंग्रेजों के बाद जब बनारस के धार्मिक जीवन में कुछ स्थिरता आयी अट्ठारहवी सदी के अन्त से बनारस में पुनः मन्दिर बनने लगे। आज दिन तो उनकी संख्या एक हजार के ऊपर ही हो गयी। इनमें से अधिकतर प्रसिद्ध मन्दिर मराठों ने बनवाये। इन मन्दिरों की धार्मिक महत्ता कितनी ही हो पर स्थापत्य तथा कला की दृष्टि से इनमें कोई विशेषता नहीं है। इनमें से कुछ मन्दिरों का हम आगे चलकर उल्लेख करेंगे।

बनारस की पवित्रता पंचक्रोशी की सीमा के अन्दर मानी जाती है। गंगा के उस पार तो मगह माना जाता है जहाँ मरने के बाद मुक्ति की संभावना नहीं रहती। करमनासा को जो शायद किसी समय काशी और मगध की सीमा पर थी एक समय धार्मिक हिन्दू पूर्वसंचित सुकर्मों को क्षय करने वाली मानते थे और वहाँ जब तक पुल नहीं बना

था, तबतक इस डर से कि कहीं करमनासा के पानी से उनके पैर न छू जायँ, वे नौबतपुर के पास मजदूरों के कन्धों पर चढ़कर नदी पार करते थे। बाद में तो नाना फडनवीस ने और राजा पट्टनीमल ने यहाँ पुल बँधवा दिये जिससे यात्रियों के सुकर्मों की रक्षा हो सके।

पञ्चक्रोशी का प्रदेश बनारस की तरह पवित्र माना जाता है और यह ध्यान देने योग्य है कि पञ्चक्रोशी के सब मन्दिर बनारस की सीमा में बने हैं। पञ्चक्रोशी की पचास मील लम्बी सड़क पर पाँच मंजिलें हैं। पञ्चक्रोशी की सड़क मणिकर्णिका घाट से आरम्भ होकर दक्षिण पश्चिम कंदवा को जाती है, वहाँ से राजा तालाब के दक्खिन भीमचण्डी के मन्दिर को, फिर वहाँ से उत्तर चौखण्डी होती हुई बरना पर स्थित रामेश्वर को, वहाँ से पुल पारकर पाँचों पंडवा तलाब होते हुए शिवपुर को, वहाँ से संगम के पास कपिलधारा और कोटवा के मन्दिर होते हुए फिर मणिकर्णिका पर सड़क समाप्त हो जाती है।

पञ्चक्रोशी यात्रा का इतिहास कितना प्राचीन है यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। पर प्राचीन साहित्य में इसका उल्लेख नही मिलता है। जो भी हो अट्ठारहवी सदी के अन्त में तो पञ्चक्रोशी की यात्रा बनारस की तीर्थ यात्रा की एक खास अंग बन गयी तथा महाराष्ट्रों और रानी भवानी ने यात्रियों के सुभीते के लिए इसके मार्ग पर अनेक धर्मशालाएँ और मन्दिर बनवाये।

जो लोग किसी कारण से पञ्चक्रोशी की यात्रा नहीं कर सकते उनके लिए पञ्चतीर्थ का विधान है अर्थात् वे संगम, पंचगंगा, मणिकर्णिका, दशाश्वमेध और अस्सी घाट पर स्नान करके अपनी तीर्थ यात्रा को सुफल मानते हैं।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, बनारस में मुक्ति की कामना से रहने वालों की आज दिन की तरह अट्ठारहवीं सदी में भी काफ़ी संख्या थी और इसलिए उस शहर में लकड़ी की कमी की वजह से मुरदे जलाने की काफ़ी समस्या बनी रहती थी। इतना ही नहीं उन्नीसवीं सदी तक मुक्ति कामना से गंगा में डूब मरने की भी बनारस में काफ़ी चाल थी। गंगा में डूब मरने वाले दो घड़े बाँध कर आगे निकल जाते थे और घड़ों में पानी भर जाने के कारण डूब कर स्वर्ग का रास्ता पकड़ते थे। अंग्रेजों ने इस प्रथा को रोकने का प्रयत्न किया पर उसका केवल इतना ही नतीजा हुआ कि जान देने वाले गंगा में कुछ आगे बढ़ कर जान देने लगे।[1] अब इस प्रथा का बनारस में पता तक नहीं है।

अट्ठारहवीं सदी और उन्नीसवीं सदियों में भी आज की ही तरह गंगा-स्नान और शिव का दर्शन ही काशी यात्रा के मुख्य अंग थे। समय मिलने पर और गाँठ में काफ़ी रक़म होने पर भैरव और गणेश के दर्शन भी जरूरी थे। गंगा पर, आज की तरह, पिंडदान होता था और बनारस से गया जाने के पहले लोग पिशाचमोचन पर पिंडा पारते

[1] हेबर, उल्लिखि, पृ० १६२।

थे। यह सब यात्राएँ आज दिन की ही तरह पण्डे कराते थे जिनका मुख्य ध्येय होता था यात्रियों से कसकर दक्षिणा वसूल करनी। अट्ठारहवीं सदी में जात्रा-वाली का काम गंगापुत्रों के हाथ में था। ये अपनी बहियों में यात्रियों से दस्तखत करा लेते थे और तब यह निश्चित समझा जाता था कि उन यात्रियों के खानदान वाले उन्हें ही अपना तीर्थ पुरोहित मानेंगे, पर नये यात्रियों को लेकर गंगापुत्रों में आपस में बराबर झगड़ा उठा करता था। इन गंगापुत्रों का मन्दिरों की दान-दक्षिणा में कोई अंश नहीं था। बनारस के अधिकतर मन्दिरों को लोगों ने बनवा कर पुजारियों के सुपुर्द कर दिये और बाद में चलकर वे उनके निजी संपत्ति बन गये। ऐसी जायदादों के सम्बन्ध में बनारस की अदालत में अनेक मुक़दमें भी चलने लगे और आम जनता से उनके प्रबन्ध के बारे में कोई मतलब नहीं रह गया। लेकिन घाट और तालाबों पर के धार्मिक कृत्यों की तो बात ही दूसरी थी और इनके हक़ों को लेकर गंगापुत्रों में आपस में काफ़ी लड़ाई होती रही। इतना ही नहीं, जैसा हम आगे चल कर देखेंगे, अट्ठारहवीं सदी में तो बनारस में गंगापुत्रों का इतना उपद्रव बढ़ गया कि यात्रियों को उनसे अपनी जान बचानी मुश्किल पड़ जाती थी। वारेन हेस्टिंग्स ने बनारस की उन्नति के लिए और जो बहुत से काम किये, उनमें बनारस के गंगापुत्रों का दमन भी एक मुख्य काम था और इस काम के लिये बनारस के रईसों, पण्डितों और महाजनों ने एक स्वर से १७८७ में अपनी तरफ से वारेन हेस्टिंग्स को मानपत्र देकर उनके इन उद्दण्डों के दमन के लिए सराहा। फिर भी उन्नीसवीं सदी में गंगापुत्र बराबर दंगा फ़साद में रत रहते थे और इनके कारण बनारस की सारे भारत में बदनामी होती रही।

अट्ठारहवीं सदी में बनारस में तीर्थ पुरोहितों में झगड़ा बढ़ने का मुख्य कारण महाराष्ट्र के तीर्थ पुरोहित भी थे। बनारस के गंगापुत्र घाटों और तालाबों पर धार्मिक कृत्य कराने और दक्षिणा वसूल करने को अपना मौरूसी हक़ मानते थे, पर जब बनारस के साथ अट्ठारहवीं सदी के प्रथम चरण में महाराष्ट्र का संबंध बढ़ा और बहुत से महाराष्ट्र ब्राह्मण बनारस में आकर बसने लगे तब उन्होंने भी इस दान दक्षिणा में हाथ बँटाना चाहा। फिर क्या था बनारसी गंगापुत्रों और पंचद्राविड़ तीर्थ पुरोहितों में ठन गयी। इस झगड़े की झलक हमें पेशवा दफ्तर के अनेक पत्रों और बनारस की अदालती कार्रवाइयों से मिलती है। पहला झगड़ा सन १७१७ में हुआ। महाराष्ट्र ब्राह्मणों ने यह माँग की कि महाराष्ट्र और दक्षिण भारत से आये यात्रियों को पुजवाने का उन्हें हक़ था। मुहम्मदाबाद बनारस के काज़ी ने मुकदमा सुनकर पंचद्राविड़ों के पक्ष में अपना फैसला दिया लेकिन दो बरस बाद दोनों में आपस में सुलह होकर यह तय पाया कि नदी के किनारे केवल गंगापुत्र ही पुजवा सकते हैं। सुलहनामे की शर्तों को भंग करने वाले को दंड देने की भी बात हुई।[1] पर इसमें शक नहीं कि यह मनोमालिन्य कभी भी पूरी तरह से दूर नहीं हुआ। अपने १७३५ के एक पत्र में सदाशिव नायक ने[2] बाजी राव को

[1] बनारस गजेटियर, पृ० ६८-७१

[2] पेशवा दफ्तर, १७-२६

लिखा कि १७३० में उनके मणिकर्णिका घाट बनवाने पर गंगापुत्रों को बड़ी डाह हुई और वे यह मानने को तैयार नहीं थे कि घाट बाजीराव ने बनवाया था। जो भी हो बनारस के गंगापुत्रों ने १७३५ में जब पेशवा की माता राधाबाई बनारस की यात्रा के लिए आयी तो एक नयी चाल चली जिससे बनारस के पंच द्राविड़ तीर्थ पुरोहितों को काफ़ी नीचा देखना पड़ा। उन्हें, जान पड़ता है, समझा-बुझाकर उमानाथ पाठक नाम के एक गंगापुत्र ने यह लिखवा लिया उनके पुत्र बाजी राव तथा चिम्णाजी आपा और उनके वंशधर उन्हीं की पूजा करेंगे।[१] काशी के महाराष्ट्र ब्राह्मण, जान पड़ता है, इस बात से बड़े नाराज़ हुए और उनकी नाराज़गी का आभास नारायण दीक्षित के उस पत्र से मिलता है,[२] जिसमें उन्होंने बालाजी बाजी राव से इस बात की शिकायत की कि राधाबाई की दान-दक्षिणा दूसरे मार ले गये, बिचारे महाराष्ट्र पंडित मुँह यों ही देखते रह गये। महीपतराव कृष्ण चाँदवाडकर के १७७६ के एक पत्र से पता चलता है[३] कि उस समय गया, प्रयाग और काशी में गंगापुत्रों की सीनेज़ोरी चरम सीमा को पहुँच गयी थी। पूना से ख़बर उड़ गयी कि राव साहब की अस्थि बनारस जा रही थी फिर क्या था गंगापुत्रों ने महीपतराव को दक्षिणा का इंतज़ाम करने को जा घेरा। कहासुनी के बाद मारपीट हो गयी और बहुतों के सिर फूटे। बिचारे चाँदवाडकर को तो अपनी जान के लाले पड़ गये।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, वारेन हेस्टिंग्स के समय में बनारस के गंगापुत्रों का काफ़ी दमन हुआ और यात्रियों के लिए बनारस की यात्रा बहुत कुछ सुखकर हो गयी, पर तीर्थ-पुरोहिती तो गंगापुत्रों की मारूसी जायदाद थी। इसके लिए वे सब कुछ करने को सर्वदा तैयार रहते थे। १८०३ में लॉर्ड वेलेंशिया ऐसी ही एक घटना का उल्लेख करते हैं।[४] उस साल नागपुर के राजा की बहन यात्रा के लिए काशी आयी थी। बनारस के सात हज़ार गंगापुत्रों ने मिलकर उनसे इतनी गहरी दक्षिणा वसूल करनी चाही जो उनकी सामर्थ्य के बाहर थी और बिना दक्षिणा वसूल किये गंगापुत्र कृत्य कराने को तैयार नहीं थे। अंत में मि० नीव के बीच में पड़कर उचित दक्षिणा तय करवायी और तब कहीं उनकी यात्रा पूरी हुई।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने पहले तो सब दान-दक्षिणा सरकारी ख़ज़ाने के हवाले कर देने की आज्ञा दी, लेकिन १८०३ में इस बात को मान लिया कि गंगातीर की दान दक्षिणा लेने के अधिकारी गंगापुत्र थे। १८१३ और १८२० की दीवानी अदालत के फ़ैसले के अनुसार गंगापुत्रों ने पंचद्राविड़ों के विरुद्ध अपने अधिकार पाये, लेकिन १८२१ में इस झगड़े के बीच घाटिये आ धमके और उन्होंने इस बात का दावा किया कि पंचगंगा घाट पर, जिसके वे मालिक थे, की सब दान दक्षिणा गंगापुत्रों को न मिलकर

[१] पेशवा दफ्तर, ९, २५

[२] पेशवा दफ्तर, ३०, १

[३] पेशवा दफ्तर, ३२, १९३

[४] वेलेंशिया, उल्लिखित, पृ० ८०

उन्हें मिलनी चाहिए। १८२९ में गंगापुत्रों ने पंचद्राविड़ों को पिशाचमोचन और दूसरे तालाबों पर दखल जमाने से रोका लेकिन घाटिये अपनी जगहों पर अदालत के फैसले के विरुद्ध भी डटे रहे।

यह तो हुई गंगातीर कृत्य कराने की बात। शहर में यात्रा कराने की तो दूसरी ही स्थिति थी। १८१३ में बनारस की दीवानी अदालत ने फैसला दिया कि पंच-द्राविड़ों को अपने देश के यात्रियों को यात्रा कराकर दक्षिणा वसूल करने का हक़ है। पर इतना सब होते हुए भी बराबर इस संबंध में फ़ौजदारियाँ होती रहीं। आपस की इस लड़ाई झगड़े को देखकर दूसरे ब्राह्मण भी गंगापुत्रों और पंचद्राविड़ों के अधिकारों में दस्तंदाज़ी करने लगे। इनमें जोशी और जात्रावाल तो बंगालियों को फाँसते थे और भंडरिये, जो पहले गंगापुत्रों के नौकर होते थे, अपना निज का कार बार चलाने लगे।

४. काशी के मन्दिर

बनारस को विविध धर्मों का एक बृहद् संग्रहालय कहा जाय, तो अनुचित न होगा। भगवान बुद्ध ने तो इसी स्थान से धर्मचक्र प्रवर्त्तन किया और बहुत दिनों तक या ऐसा कहना चाहिए कि आज दिन तक वह बौद्धों का प्रधान तीर्थ चला आता है। जैनों के प्रसिद्ध तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जन्म-भूमि का भी बनारस को गौरव प्राप्त है और इसीलिए बनारस बहुत प्राचीन काल से जैनियों का भी प्रसिद्ध तीर्थ स्थल रहा है। शैवधर्म से तो बनारस का बड़ा प्राचीन सम्बन्ध है और भागवतों ने भी गुप्तयुग में बनारस में अपना अड्डा जमाया। इतना ही नहीं बनारस बहुत प्राचीन काल से ही नाना मतावलंबी श्रमणों और ब्राह्मणों का साधन स्थल था। इन उन्नत धर्मों के रहते हुए भी बनारस में उन्नीसवीं सदी तक अथवा यों कहिए कि कुछ अंशों में आज तक उन आदिम धर्मों और विश्वासों का अड्डा बना हुआ है जिनकी प्राचीन झलक हम मातृपूजा, यक्षपूजा और नागपूजा में पाते हैं। बनारस के बरम और बीर और उनकी पूजा की पद्धति, स्त्रियों का हबुआना इत्यादि प्राचीन यक्षपूजा की ओर संकेत करते हैं। कुओं में रहने वाले नागों की पूजा हमारा उस प्राचीन नागपूजा की ओर ध्यान दिलाती है जो एक समय बनारस में इतनी प्रबल थी कि स्वतः बुद्ध को नाग एलापत्र को हराकर उसे स्वीकार करना पड़ा। इस प्रदेश में यक्ष-पूजा इतनी प्रबल थी कि स्वयं शिव को यक्षों को स्वीकार करके, अपना पार्षद बनाना पड़ा। बनारस के बहुत से भैरव हमें उन्हीं प्राचीन यक्षों की याद दिलाते हैं। माता की पूजा तो बनारस के लोक-धर्म का एक अंग है। इस तरह से बनारस में अनेक धर्मों का समन्वय हुआ और काशी वासियों ने किसी वैर-भाव के बिना सब धर्मों का आदर किया। धर्मों का संग्रहालय बनने के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न धर्मों के प्रतीक मन्दिरों का भी बनारस अद्वितीय संग्रहालय बन गया। बनारस में मुसलमानों के आने के पहले कितने बौद्ध, शैव, जैन, और भागवत मंदिर बनारस में बने इसका तो लेखा जोखा बनाना कठिन है क्योंकि इनसे अधिकतर का नाम निशान ही मिट चुका है पर कुछके अवशेष अभी तक ज़मीन के अन्दर छिपे होंगे इसमें कोई संदेह नहीं। चेदि और गाहड़वाल युग में भी बनारस में बहुत से मंदिर बने होंगे इसमें शक नहीं। इसमें सर्व प्रधान कलचूरि कर्ण का बनवाया हुआ प्रसिद्ध मंदिर कर्ण मेरु

था। इसमें संदेह नहीं कि बनारस के इस विशाल कला वैभव को ११९४ में मुसलमानों ने भूमिसात् कर दिया, पर न जाने कैसे उस युग का एक मन्दिर बनारस में कंदवा के पास बच गया जिसका सुन्दर और सादा स्थापत्य हमें बताता है कि दसवीं सदी में भी बनारस के कारीगर अपने काम में कितने दक्ष थे। मुसलमानों ने बनारस को ध्वस्त तो कर दिया पर उस पवित्र नगरी के प्रति हिंदुओं की लगन को नहीं मिटा सके। तेरहवीं सदी में बनारस में मन्दिर पुनः बने और बनने और गिराने का यह क्रम अकबर के पहले तक जारी था। इस समदर्शी सम्राट के राज्यकाल में फिर बनारस में विश्वेश्वर की स्थापना हुई और मानसिंह और टोडरमल ने पुनः नगर को नया जीवन देने का प्रयत्न किया। पर घटनाचक्र ने फिर बनारस से बदला लिया। शाहजहाँ काल में अधबने मन्दिरों का बनना रोक दिया गया और कुछ जहाँगीर काल में मन्दिर गिरा भी दिये गये, पर औरंगजेब ने बनारस का सत्यानाश ही कर डाला। बनारस के तीन प्रसिद्ध मन्दिर यथा विश्वनाथ कृत्तिवासेश्वर और बिंदुमाधव के मन्दिर तोड़कर मस्जिदों में परिणत कर दिये गये, संस्कृत पाठशालाएँ बंद कर दी गयीं और पुस्तकालय लूट लिये गये। बनारस बहुत दिनों तक इस धक्के से नहीं सँभला। बनारस के सांस्कृतिक जीवन का पुनरुत्थान हम १७३० के बाद से देखते हैं, जब मराठों की दृष्टि बनारस की ओर फिरी। उन्होंने घाट बाँधे और ब्रह्मपुरियाँ बनवायीं। अट्ठारहवीं सदी के अंत में, जब बनारस का राजनीतिक वातावरण अंग्रेजों के अधिकार में बहुत कुछ स्थिर हो चुका था, मुख्यरूप से मराठे पुनः मन्दिर बनारस में बनवाने लगे और यह क्रम उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक चलता रहा। पर अट्ठारहवीं सदी का अंत कला के ह्रास का युग था और इसकी स्पष्ट छाप हम बनारस के मन्दिरों और मूर्तियों पर पाते हैं। इस युग के मन्दिरों को हम श्रद्धा की दृष्टि से देख सकते हैं पर कला की दृष्टि से नहीं। उसके लिये तो हमें घाटों के आलों पर रक्खे प्राचीन बनारस के मन्दिरों की टूटी फूटी मूर्तियों के पास जाना होगा, अथवा जाना होगा सारनाथ अथवा भारत कलाभवन के संग्रहालयों में। उन्नीसवीं सदी के बनारस में शायद श्रद्धा थी पर भक्ति नहीं, दिल था पर दिमाग़ नहीं।

हम देख आये हैं कि किस तरह १६९६ में औरंगजेब की आज्ञा से विश्वनाथ का मंदिर तोड़ा गया। इसके बाद करीब एक सौ पच्चीस बरसों तक फिर विश्वनाथ का मंदिर नहीं बना। १७८५ के लगभग अहिल्याबाई ने विश्वनाथ का नया मंदिर बनवाया। १८२४ में बिशप हेबर ने विश्वेश्वर का यह मंदिर देखा। उनके वर्णन से यह मालूम पड़ता कि उन्नीसवीं सदी के आरंभ में भी मंदिर की वैसी ही स्थिति थी जैसी आज है। "मंदिर का छोटा प्रांगण खूब हृष्टपुष्ट सांड़ों से भरा रहता है। ये सांड़ चने और मिठाई की तलाश में लोगों के हाथों और जेबों पर अपना मुँह ले जाते हैं। उन्हें यात्री खूब मिठाई खिलाते हैं। मंदिर का मंडप और दालानें भस्म रमाये और शिव का नाम जपते उपासकों से भरा रहता है जिनके शोर गुल से एक अजनबी का सिर चकरा जाता है। मंदिर बहुत साफ़ रहता है क्योंकि पुजारी हमेशा मूर्तियों और फ़र्श पर पानी डाला करते हैं। पुजारी मुझे मंदिर दिखलाने में उत्सुक दीख पड़े और दक्षिणा की आशा अपने को मुझ जैसा ही पादरी कहते थे।"

बनारस में लोगों का विश्वास है कि प्राचीन विश्वनाथ का मंदिर उत्तर-पश्चिम आदि विश्वेश्वर के मंदिर की जगह था। लेकिन बात ऐसी नहीं है क्योंकि जब विश्वनाथ का प्राचीन मंदिर तोड़ा गया तो उसी के बगल में नया मंदिर बना। पौराणिक अनुश्रुति कहती है कि ज्ञानवापी विश्वनाथ के मंदिर के दक्षिण में थी पर आदि विश्वेश्वर के दक्षिण में ऐसा कोई कुआं नहीं है।

गाहड़वाल युग में विश्वनाथ का मंदिर कहाँ था इसका ठीक पता नहीं लगता, पर संभव यह है कि यह शहर के उत्तर भाग में ही रहा होगा। ११९४ और १६६९ के बीच में विश्वनाथ का मंदिर कई बार गिराया गया। नारायण भट्ट १५८५ में लिखे अपने त्रिस्थली केतु में कहते हैं कि शिवलिंग हटा दिये जाने पर पुनः जिस शिवलिंग की स्थापना हो उसी की पूजा करनी चाहिए। म्लेच्छों द्वारा मंदिर के नष्ट किये जाने पर लोग मंदिर की खाली जगह की ही पूजा करते थे। टोडरमल की सहायता से नारायण भट्ट ने, अपने जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, विश्वनाथ का मंदिर बनवाया। इस मंदिर का वर्णन हम अकबर कालीन बनारस वाले अध्याय में कर चुके हैं। हम यह भी बता चुके हैं कि औरंगज़ेब काल में किस तरह यह मंदिर तोड़ा गया और उस पर मस्जिद बनायी गयी। अहिल्याबाई द्वारा विश्वनाथ का आधुनिक मंदिर बनवाये जाने के बाद वारेन हेस्टिंग्स की आज्ञा से उस पर नौबतखाना बनवाया गया। महाराज रणजीतसिंह ने उसके शिखर पर सोना चढ़वा दिया। ज्ञानवापी का मंडप १८२८ में बैजाबाई सिंधिया ने बनवाया। नैपाल के राजा ने उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में नंदी की स्थापना की।

स्थापत्य कला का इस मंदिर में कोई महत्त्व नहीं है। बिशप हेबेर की १८२४ में यहाँ एक वेदपाठी पंडित से मुलाकात हुई जो आठ बजे से चार बजे तक तो वेदों पर व्याख्यान देते थे और रात में वहीं सो जाते थे। ये किसी से कुछ माँगते नहीं थे पर जिसका जी चाहता था वह उनके भिक्षा पात्र में कुछ डाल देता था।

हम एक जगह कह आये हैं कि किस तरह अंधविश्वासी आरे से कटकर बनारस में जान दे देते थे। यह स्थान अब भी आदि विश्वेश्वर के मंदिर के पूर्व में है। इस कुएँ में पानी तक पहुंचने की सीढ़ी है। शिव के नाम किसी की आत्मबलि चढ़ा देने के बाद फिर यह रास्ता बंद कर दिया गया। अब वह सप्ताह में एक दिन खुलता है।

भैरव काशी के कोतवाल माने जाते हैं और भूतों से नगर की रक्षा करते हैं। उनके हाथ में लाठी और बगल में कुत्ता रहता है। राजघाट से मिले एक मट्टी के खिलौने में एक ऐसी ही आकृति है, हो सकता है यहां भैरवनाथ से ही मतलब हो। भैरवनाथ के मंदिर को बाजीराव द्वितीय ने उन्नीसवीं सदी के आरंभ में बनवाया।

वृद्धकाल के मन्दिर की कुरसी प्राचीन मालूम होती है। इसमें पहले बारह मंडप थे पर अब उनमें सात बच गये हैं। लोगों का विश्वास है इसके कुएँ का पानी रेचक है।

लोलार्क के मन्दिर का उल्लेख गाहड़वाल ताम्रपत्रों में हुआ है। बावड़ी का मुख दोहरा है, एक में पानी इकट्ठा होकर दो कुओं में जाता है ये दोनों कुएँ पत्थर के हैं

और उन पर जगत है। दोनों जगतों के बीच प्रदक्षिणा पथ है। इसके बनवाने का श्रेय अहल्या बाई, अमृत राव और कूच बिहार के राजा को है। यहाँ के एक बंगला लेख से पता चलता है कि कूच बिहार के राजा लक्ष्मीनारायण ने इसकी सीढ़ियाँ बनवायीं और उन्हीं के वंशधर शिवेन्द्र ने बावड़ी की, जो टूटफूट रही थी, १८४३ में मरम्मत करवायी।[१] सीढ़ी पर एक ताखे पर सूर्य का प्रतीक चक्र बना है। श्रावण में यहाँ लोलारक छठ का मेला लगता है।

काशी में कूपों की पूजा, जो हमें प्राचीन कूप महत्ता की याद दिलाती है, अब भी प्रचलित है। कूपों में चन्द्रकूप, नागकूप और धर्मकूप मुख्य हैं। नागकुआँ औसानगंज के पास है इसमें चारों तरफ से चार सीढ़ियाँ जाती हैं। १७६८ में किसी राजा ने इस कुएँ की मरम्मत करायी थी। नागकूआँ में नागों का निवास माना जाता है और नागपंचमी के अवसर पर यहाँ काफ़ी बड़ा मेला लगता है।

कर्णघंटा का तालाब घंटाकर्ण नाम के यक्ष के नाम पर है। यक्ष सम्बन्धी अवशेषों से हमें पता चलता है कि बनारस में एक समय यक्ष पूजा का बड़ा जोर था। उपर्युक्त मन्दिरों के सिवा बनारस में संकटमोचन, दुर्गाजी, हनुमानजी इत्यादि सैकड़ों देवी देवताओं के मन्दिर हैं पर इनका महत्व विशेष कर धार्मिक है, ऐतिहासिक नहीं।

पार्श्वनाथ की जन्मभूमि होने के कारण बनारस जैनों का भी पवित्र तीर्थ है। हमें जैन यात्रियों के विवरणों से पता चलता है कि सत्रहवीं सदी में भी जैन यात्री बराबर बनारस आया करते थे। प्रसिद्ध कवि बनारसी दास ने सत्रहवीं सदी में बनारस स्थित पार्श्वनाथ के मन्दिर और वहाँ होने वाली यात्राओं का "अर्ध-कथानक" में उल्लेख किया है। अट्ठारहवीं सदी में बनारस में जैनों की क्या स्थिति थी, यह तो नहीं कहा जा सकता, पर उन्नसवीं सदी के आरम्भ में बनारस में जैनों की संख्या काफ़ी बड़ी थी। बिशप हेबर के अनुसार गंगा और बनारस के प्रति समभाव से श्रद्धा होने पर भी जैनों और हिन्दुओं में पटरी नहीं खाती थी। श्वेताम्बर और दिगम्बरों में भी बराबर झगड़ा हुआ करता था। बनारस में बुन्देलखंड के कट्टर जैनों की काफी संख्या थी, पर धार्मिक कट्टरता के कारण वे किसी को अपने मन्दिरों में घुसने नहीं देते थे। प्रिंसेप से बिशप हेबर की तारीफ़ सुनकर उनके गुरु ने मन्दिर के अन्दर प्रिंसेप और मेकलियड को साथ घुसने की आज्ञा दे दी। इस मन्दिर में जाने का बिशप हेबर ने बड़ा मज़ेदार वर्णन किया है :—

"घाट की सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद बहुत सी गलियाँ पार करके हम एक बड़े गन्दे मकान के दरवाजे पर पहुँचे जिस पर कलश लगा था। सीढ़ियों से हम एक छोटे खिड़की दार कमरे में पहुँचे जहाँ एक भव्य, लम्बे चौड़े गुरू जी ने हमारा स्वागत किया। उन्होंने हमें बैठने को कहा और इसलिए अफ़सोस जाहिर किया कि भाषा न जानने के कारण वे हम से सीधे बात नहीं कर सकते। दो तीन जैन व्यापारी भी वहाँ आ गये और गुरु जी हमें इनके साथ छोटे कमरों में ले गये जिनमें एक और वेदियों पर मूर्तियाँ रक्खी थीं। हर

[१] इंडियन कल्चर, २ (१९३५–३६) पृ० १४६–१४८

कमरे के बीच में एक थाल में पूजा के लिये घी और चावल था। कुछ कमरों में हाथ जोड़े भक्त-जन पूजा में रत थे। वेदियों पर प्रधान जिन (पार्श्वनाथ) के साथ चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ थीं। प्रधान जिन मूर्ति की ओर इशारा करके गुरुजी ने बताया कि वह असल देवता थे और बाक़ी उनके अवतार। इनके उपदेश ही जैन ग्रन्थ है और इस धर्म में आस्था होने से ही लोग पूजा कर सकते हैं। पहले कमरे में लौटने के बाद गुरुजी ने हमें कुछ भेंट करनी चाही। एक आदमी ने दो किश्तियों से कपड़े उठाये और हमने देखा कि एक थाल में फल, मिठाइयाँ और चीनी थी और दूसरे में कीमती दुशाले। मैंने केवल मिठाइयाँ स्वीकार कीं क्योंकि कीमती शालों का स्वीकार करना मुझे ठीक नहीं जँचा। मैंने यह कहकर टाला कि धर्म-गुरुओं को कीमती वस्त्र शोभा नहीं देते। दूसरे थाल से कुछ किशमिश लेकर बाकी सामान मैंने मि० ब्रुक के पास भेज देने को कहा। इतने सस्ते छूटने पर बनियों की बाछें खिल गयीं वे मेरी बड़ी तारीफ़ करते हुए नीचे तक आये और सर्वदा मेरी आज्ञा पालन करने की उदारता प्रकट की। गुरु जी ने बड़े स्नेह से मुझे विदाई दी।"

५. बनारस के त्यौहार

बनारस में कहावत है "सात वार नौ त्यौहार", यानी सप्ताह में दिन तो सात होते हैं पर बनारस में उनमें नौ त्यौहार पड़ते हैं। मौज-मजे के लिए बनारस सदा से प्रसिद्ध रहा है और अपनी इस प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के लिए ही बनारसियों ने अनेक त्यौहारों की कल्पनाएँ की। और लोग बहुत सी छुट्टियाँ मनाने के लिए बनारस वालों को बेकारा न कहें, इसलिए उन्होंने इनमें से अधिकतर त्यौहारों को भिन्न-भिन्न देवताओं के साथ जोड़ दिया। आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण बनारसियों के जीवन में परिवर्तन होता चला जा रहा है फिर भी जिस प्रेम से छुट्टियाँ और त्यौहार बनारस में मनाये जाते हैं वैसे भारत में और किसी दूसरी जगह नहीं। बनारसियों के त्यौहार का रंग भी कभी मनहूस नहीं होता। अपने थोड़े से वित्त में ही लोग हँस-खेल कर त्यौहार मना लेते हैं। बनारस के त्यौहारों के इतिहास पर अभी अधिक प्रकाश नहीं पड़ा है, पर इसमें संदेह नहीं कि इसमें कुछ मेले बहुत प्राचीन होगें। बनारस की दीवाली का तो उल्लेख जातकों में आया है और जातकों में वर्णित हस्तिपूजन का ही बाद में शायद विजयादशमी का रूप हो गया है। इन मेलों तमाशों का सम्बन्ध हम यक्ष पूजा, वृक्षपूजा, देवीपूजा, कूप और नदी-पूजा तथा पौराणिक देवी देवताओं की पूजा से पाते हैं। बनारस के मेलों तमाशों में भी एक विकास क्रम है जिससे यह पता चल जाता है कि कौन कौन से मेले प्राचीन हैं और कौन कौन से मेले बनारस की भिन्न भिन्न काल की धार्मिक प्रवृत्तियों के विकास के साथ साथ बढ़ते गये। अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के बनारस के मेलों और त्यौहारों की एक सूची नीचे दी जाती है, पर इससे यह न समझ लेना चाहिये कि इस सूची में बनारस के हिन्दू-मुसलमानों के सब त्यौहार और मेले आ जाते हैं।

(१) **नवरात्रि मेला**—यह मेला चैत्र कृष्ण में नौ दिनों तक दुर्गाकुण्ड में लगता है और इसमें पशुबलि भी होती है। नौ दिनों में एक एक दिन भक्त गण नौ दुर्गाओं

का भी दर्शन करने जाते हैं। इसमें शक नहीं कि माता की पूजा बनारस के प्राचीन धर्म का एक विशेष अंग था, पर यह ठीक तौर से नहीं कहा जा सकता कि नवरात्रि का मेला यहाँ कब से आरम्भ हुआ।

(२) **गनगौर**—चैत्र की तृतीया को यह मेला राजमन्दिर में लगता है तथा बनारस के मारवाड़ी गनगौर की सवारी निकालते हैं। यह स्पष्ट है कि बनारस में यह मेला यहाँ काफ़ी संख्या में मारवाड़ियों के बसने पर आरम्भ हुआ।

(३) **रामनवमी**—रामनवमी का मेला चैत्र शुक्ल ९ को रामघाट पर लगता है। लोग गंगा नहाकर राम मन्दिर का दर्शन करते हैं। बहुत सम्भव है कि यह मेला सत्रहवीं सदी में आरम्भ हुआ हो, जब तुलसीदास के संसर्ग से बनारस में रामभक्ति की ओर लोगों की आस्था बढ़ी।

(४) **नरसिंह चौदस**—यह मेला बड़े गनेश पर वैशाख में होता है। इस मेला की यह विशेषता है कि उसमें नरसिंह द्वारा हिरण्यकशिपु का वध और प्रह्लाद की रक्षा की लीला दिखलायी जाती है।

(५) **गाज़ी मियाँ का मेला**—जेठ के पहले एतवार को यह मेला बकरिया कुंड पर होता है। जैसा हम पहले कह आये हैं, यह मेला सालार मासूद की शहादत मनाने के लिए लगता है। यह मुसलमानी मेला काफ़ी प्राचीन है। इसे रोकने का प्रयत्न सिकंदर लोदी ने किया पर यह बना ही रहा। कुछ दिन पहले तक इस मेले में मुसलमान और छोटी क़ौम के हिंदू भी भाग लेते थे। इस मेले में आलम के नीचे बैठकर डफाली गाज़ी मियाँ की शहादत के गीत गाते हैं। स्त्रियाँ इस मेले में हबुआती हैं और लोगों को भूत, भविष्य और वर्तमान बतलाती है। पतंग के दंगल के साथ यह मेला समाप्त होता है।

(६) **गंगा सप्तमी**—जेठ की सप्तमी को गंगा नदी के जन्म के उपलक्ष में यह मेला लगता है। पहले इस त्योहार पर गंगा किनारे खूब नाच गाना होता था, पर अब उस दिन पंचगंगा घाट पर शहनाई का दंगल होता है।

(७) **दशहरा**—जेठ शुक्ल १० को दशहरा का मेला लगता है। उस दिन गंगा स्नान करके लोग दान देते हैं। कुछ दिन पहले मध्यम वर्ग की लड़कियाँ इस दिन नदी में अपनी गुड़ियों का विसर्जन करती थीं और फिर चार महिनों तक कोई खिलौना नहीं छूती थीं। इस क्रिया से क्या तात्पर्य है यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता पर जल देवता को प्रसन्न करने के लिये इसी तरह का आचार मालद्वीप और बर्बर देशों में होता था। शायद बनारस में जलमार्ग के व्यापारियों की मंगल कामना से इस क्रिया का सम्बन्ध हो।

(८) **निर्जला एकादशी**—यह मेला जेठ की एकादशी को लगता है। बनारस में इस मेले के बारे में कथा है कि भीम ने इस दिन व्रत किया और प्यास के मारे बेहोश हो गये और पानी में ढकेल देने के बाद कहीं उन्हें होश आया। बनारस के लोक शाम को नहाकर बदन में चन्दन लगाते हैं। लोग तैर कर गंगा आर पार भी करते हैं। पहले इस दिन नकली लड़ाई भी होती थी।

(९) **स्नानयात्रा**—अस्सी पर जेठ १५ को जगन्नाथ की प्रतिमा का स्नान होता है।

(१०) **रथयात्रा**—बेनीराम पंडित के बाग में आसाढ़ की २, ३, ४ को रथयात्रा को मेला लगता है। यहां जगन्नाथ जी का रथ अस्सी से खींच कर लाया जाता है।

(११) **पटपरीक्षा**—असाढ़ में गुरु पूर्णिमा के दिन चौकाघाट में पट परीक्षा का मेला लगता था। पहले शहर के ज्योतिषी इस दिन संध्या को घाट के किनारे इकट्ठा होकर हवा की रुख की परीक्षा करके फ़सल, बरसात इत्यादि के बारे में भविष्यवाणी किया करते थे।

(१२) **शंखूधारा**—पर्व के दिन लोग शंखू धारा के तालाब में नहाते थे। उन्नीसवीं सदी में बनारस के रईस चंपतराय अमीन के बाग में इकट्ठा होकर नाच देखते थे।

(१३) **वृद्धकाल मेला**—श्रावण के हर रविवार को होता है। इसमें लोग स्वास्थ्य लाभ के लिए वृद्धकाल के कुँए के पानी से स्नान करते हैं।

(१४) **दुर्गाजी का मेला**—श्रावण के हर मंगल को दुर्गाजी का मेला लगता है। उस दिन बनारस की वारवनितायें पहले खूब सजधज कर मेला में शामिल होने जाती थीं।

(१५) **फ़ातमान का मेला**—श्रावण के हर बृहस्पतिवार को लगता है। बनारस की वारवनिताएँ पहले उसमें बड़ी सज धज के साथ शामिल होती थी।

(१६) **नागपंचमी**—श्रावण की पंचमी को यह मेला नागकुँआ पर लगता है। नागकुआँ को करकोटक नागतीर्थ के नाम से भी पुकारा जाता है। उस दिन लोग नाग कुआँ में स्नान करते तथा जीवित नागों का दर्शन करते हैं। शहर में बहुत से जगहों पर अहीरों की कुश्ती होती है। संस्कृत पाठशाला के विद्यार्थी उस दिन बड़े गुरु और छोटे गुरु के नागों के चित्र गलियों में घूम घूम कर बेंचते हैं। यहाँ बड़े गुरु और छोटे गुरु से तात्पर्य पाणिनि और पतंजलि से है। इसमें संदेह नही कि यह मेला बनारस के बड़े प्राचीन मेलों में है और किसी समय बनारस में नाग पूजा के प्रचार की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

(१७) **कजरी तीज**—भादों की तीज को शंखू धारा और इसरगंगी पर यह मेला बड़े ठाठबाट के साथ लगता है। इस मेले की स्थापना का श्रेय कंतित के राजा को दिया जाता है। इस रोज़ स्त्रियाँ गंगा स्नान और व्रत करती हैं। बनारस की गौनहारिनों का दल उस दिन इन स्थानों पर इकट्ठा होता था और काशी के मनचले उन्हें उस दिन इनाम देते थे।

(१८) **ढेला चौथ**—भादों की चौथ को यह मेला लगता है। इस पर्व को हिंदू व्रत करके गणेशपूजन करते हैं। हिंदुओं का विश्वास है कि उस दिन चन्द्र दर्शन करने वाले को भविष्य में वृथा दोष लगने की संभावना रहती है। इसके परिहार के लिये लोग

दूसरों को अपने घरों पर ढेला फेंकने को कहते थे। इस प्रथा का नतीजा यह हुआ कि इस अवसर पर लोग गलियों में ढेले फेंकने लगे जिससे रास्ता चलने वालों को चोट लगती थी और अक्सर फ़ौजदारी भी हो जाती थी। अब ढेला फेंकने की प्रथा धीरे धीरे कम होती जाती है।

(१९) **लोलारक छठ**—अस्सी के पास लोलार्क कुंड पर यह मेला भादों की छठ को लगता है। लोग कुंड में स्नान करते हैं। पहले यहाँ गौनहारियों के दल के दल कजली गाते हुए इकट्ठे होते थे।

(२०) **वामन द्वादशी**—भादों की द्वादशी को यह मेला चित्रकूट और बरना संगम पर लगता है। कुछ पहले तक चित्रकूट में इस त्यौहार पर वामन और बलि की लीला होती थी।

(२१) **अनंत चौदस**—लोग गंगा स्नान और अनंत की पूजा करते हैं। इसी दिन रामनगर की रामलीला आरंभ होती है।

(२२) **सोरहिया मेला**—भादों शुक्ल ८ से आरंभ होकर लक्ष्मी कुंड का यह मेला कुआँर कृष्ण ८ तक चलता है। इन दिनों लक्ष्मी कुंड में हिंदू नरनारी स्नान करके लक्ष्मी की मूर्तियाँ खरीदते हैं।

(२३) **रामलीला**—कुआँर कृष्ण ८ से लेकर कुआँर सुदी १५ तक बनारस में अनेक रामलीलाएँ होती हैं जिनमें चित्रकूट की रामलीला शायद सोलहवीं सदी के अंत से शुरू हुई। कुआँर सुदी १० को चौकाघाट पर विजयादशमी का मेला लगता है। उस दिन अस्त्रशस्त्र और घोड़ों वाहनों इत्यादि की पूजा होती है तथा लोग नीलकंठोत्सर्ग को पुण्यकार्य मानते हैं।

(२४) **दुर्गामेला**—कुआँर सुदी १ से ३ तक शहर के बंगाली दुर्गा की मृण्मूर्तियों की पूजा और दसमी को दशाश्वमेध घाट के सामने उन्हें गंगा में डुबा देते हैं। उस दिन दशाश्वमेध के आगे काफ़ी मेला रहता है।

(२५) **धनतेरस**—कार्तिक की त्रयोदशी को धनतेरस का मेला चौखंभा और ठठेरीबाजार मुहल्लों में लगता है। काशी के महाजन उन दिन लक्ष्मी पूजन करते हैं, तथा नये बरतनों की अच्छी खरीद बिक्री होती है। उपर्युक्त दोनों मुहल्लों में खूब रोशनी भी होती है। मिट्टी के खिलौनों की भी अच्छी-अच्छी दूकानें लगती हैं।

(२६) **नरक चौदस**—भदैनी मुहल्ले और मीरघाट में धनतेरस के दूसरे दिन हनुमान की जन्मतिथि पर मेला लगता है। प्रातःकाल लोग शरीर में तेल की मालिश करके गरम पानी से स्नान करते हैं और गरम कपड़े पहन कर हनुमान जी के दर्शन को जाते हैं।

(२७) **दीवाली**—कार्तिक कृष्ण १५ को दीवाली का मेला होता है। उस दिन सारे शहर में खूब रोशनी होती है और लोग लावा और मिठाइयाँ बाँटते हैं। रात में पहले जुआ होता था, पर यह प्रथा अब धीर धीरे घट रही है।

(२७) **यम द्वितीया**—यम द्वितीया का मेला जमघाट पर कार्तिक शुक्ल २ को लगता है। उस रोज बहनें अपने भाइयों को टीका काढ़ती है और भाई अपने बहिनों के यहाँ भोजन करते हैं।

(२९) **कार्तिकी पूर्णिमा**—कार्तिकी स्नान का बनारस में बड़ा महत्त्व है। सबेरे चार बजे से ही स्त्रियाँ और पुरुष गाते हुए गंगा स्नान के लिए निकलते हैं। कार्तिकी पूर्णिमा के दिन पंचगंगाघाट पर काफ़ी रोशनी होती है और दुर्गाघाट पर खूब डटकर मुक्की होती थी जिसमें एक महाराष्ट्र ब्राह्मण होते थे और दूसरी ओर अहीर इत्यादि।

(३०) **बरना पर पियाले का मेला**—यह मेला अगहन के पहले मंगल अथवा सनीचर को लगता है। लोग कालका अथवा सहजा, जिन्हें मेलेवाले क्रमशः ब्राह्मणी और चमारिन मानते हैं, को शराब अथवा शर्बत चढ़ाते हैं और खूब पीकर रंगरेलियाँ करते है। इस मेले में नीची जाति के लोग ही प्रायः भाग लेते हैं।

(३१) **पंचक्रोशी मेला**—अगहन कृष्ण ७, ८ को यह मेला शिवपुर में लगता है। यहाँ शहर के लोग यात्रियों का स्वागत करने के लिए शहर से जाते हैं।

(३२) **लोटाभंटा**—यह मेला अगहन की १४ को पिशाच मोचन पर लगता है। इसमें देहाती लोग रोटी बना कर भण्टे के भरता के साथ खाते हैं। अगहन बदी और सुदी की चौदसों को पिशाच मोचन पर धार्मिक कृत्यों के लिए इकट्ठा होते हैं।

(३३) **नगर प्रदक्षिणा**—यह मेला अगहन की १५ को लगता है और इसमें दो रोज़ में लोग सारे नगर की प्रदक्षिणा करते हैं। पहले दिन यात्री चौकाघाट ठहरते हैं और पहले यहाँ कृष्ण लीला भी होती थी।

(३४) **गणेश चौथ**—माघ कृष्ण ४ को बड़े गणेश पर भारी मेला लगता है। पहले इस दिन विद्यार्थी मन्दिर में सबेरे से सन्ध्या तक इस विश्वास से खड़े रहते थे कि इस तपस्या के फलस्वरूप उन्हें विद्या की प्राप्ति होगी।

(३५) **वेदव्यास**—माघ के हर सोमवार को यह मेला रामनगर के किले में लगता है। इस मेले में नगर से बहुत से लोग आकर वेदव्यास शिव की पूजा आराधना करते हैं।

(३६) **शिवरात्रि**—माघ कृष्ण १४ को यह मेला बनारस के खास मेलों में है। इस दिन लोग गंगा स्नान करके बनारस के सैकड़ों शिवमन्दिरों की यात्रा करते हैं। पर मुख्य मेला तो विश्वनाथ पर लगता है। शिव को प्रसन्न करने के लिए उस रोज़ लोग भाँग बूटी भी छानते हैं।

(३७) होली—होली का त्यौहार फागुन शुक्ल में ११ से १५ तक लगता है। विशेष कर धुरड्डी वाले दिन तो शहर में खूब रंग पड़ता है और लोग गाली गलौज करते हुए शहर में टोलियाँ बना कर घूमा करते हैं। दिन में १२ बजे के बाद रंग पड़ना बन्द हो जाता है और लोग साफ़ कपड़े पहन कर और अबीर गुलाल की झोलियाँ लेकर अपने मित्रों से भेंट करते हैं और उन्हें अबीर लगाते हैं। बाद में बहुत से लोग चौसट्ठी देवी का दर्शन करने जाते हैं। इस दिन शहनाई पर होलियाँ गाते हुए ठठेरों के कई दल चौसट्ठी जाते हैं।

(३८) बुढ़वा मंगल—होली के दूसरे मंगल को करीब तीस साल पहले तक सजे हुए बजड़ों और पटैलों पर खूब नाचरग होता था जिसमें बनारस के महाजन, रईस और अफ़सर समान रूप से भाग लेते थे। इस मेला को आरम्भ करने का श्रेय राजा चेत सिंह को दिया जाता है। पहले यह मेला मंगलवार को शुरू होकर बुध की शाम को समाप्त हो जाता था लेकिन बाद में तो यह चार दिनों तक चलता था। पहले दिन को मंगल, तीसरे दिन को दंगल और चौथे दिन झिलँगा कहते थे। दंगल का मेला रामनगर के सामने होता था। इस मेले की समाप्ति का मुख्य कारण इसमें बहुत से गुण्डे बदमाशों का शामिल हो जाना था। इनकी वजह से अक्सर मेले में मार पीट हो जाती थी। ● ●

ग्यारहवाँ अध्याय

बनारस के पंडित, कवि और शिक्षा संस्थाएँ

१. पंडित

यह प्रायः सब को विदित है कि बहुत प्राचीन काल से ही बनारस व्यापारी शहर होने के साथ साथ ही शिक्षा का एक प्रधान केन्द्र था। जातकों में तो बनारस में शिक्षा केन्द्र होने का उल्लेख है और यह भी बतलाया गया है कि काशी में कभी कभी तक्षशिला तक से लोग विद्याध्ययन के लिए आते थे। हम यह भी देख चुके हैं कि गुप्त युग में बनारस वैदिक शिक्षा का एक विशाल केन्द्र था और बनारस के आश्रमों में गुरु के सन्निकट रह कर विद्यार्थी ज्ञान लाभ करते थे। गाहड़वाल युग में उक्तिव्यक्ति प्रकरण से हमें पता चलता है कि बनारस में शास्त्र-पठन-पाठन का बड़ा अच्छा प्रबंध था और गुरुजन छात्रों को पढ़ाते ही न थे वरन् उनके भोजन-वस्त्र का भी प्रबंध करते थे और इसके लिए उन्हें राज्य की सहायता प्राप्त थी। महमूद गज़नी के आक्रमण के बाद बनारस संस्कृत शिक्षा का इसलिए एकमात्र केन्द्र हो गया क्योंकि पश्चिम भारत, पंजाब और कश्मीर से संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान यहां आकर बसने लगे। जब मुसलमानों का काशी पर अधिकार हो गया तब यहाँ शिक्षा की क्या व्यवस्था थी इसके बारे में तो ठीक-ठीक पता नहीं है, पर चौदहवीं सदी के एक उल्लेख से पता चलता है कि मुहम्मद तुग़लक के समय में भी वाराणसी शिक्षा की प्रधान केन्द्र थी और यहां धातुवाद, रसवाद, तर्क, नाटक, ज्योतिष, साहित्य इत्यादि की शिक्षा दी जाती थी। सिकंदर लोदी के अत्याचारों से भी बनारस के पंडितों और शिक्षा-संस्थाओं को काफ़ी नुकसान पहुँचा होगा इसमें संदेह नहीं।

बनारस में मुग़लों के पहले के पंडितों के इतिहास के बारे में हमें बहुत कम जानकारी है, पर अकबर काल में शांति स्थापित होने के बाद बनारस में पुनः धीरे-धीरे पंडितों का आसन जमने लगा और मुग़ल युग के संस्कृत साहित्य के इतिहास में काशी के पंडितों का बहुत बड़ा हाथ रहा। इस युग की हजारों हस्तलिखित पुस्तकों की जांच पड़ताल के बाद यह पता चलता है कि उनमें से अधिकतर बनारस के पंडितों द्वारा लिखी गयीं, पर सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि इन पुस्तकों के लेखक अधिकतर एतद्देशीय कान्यकुब्ज और सरयूपारी ब्राह्मण न होकर दक्षिण और महाराष्ट्र के ब्राह्मण थे। इसका यही कारण हो सकता है कि एतद्देशीय ब्राह्मणों में संस्कृत के प्रति मुग़ल युग में इतनी लगन नहीं थी जितनी पंचद्राविड़ों में।

बनारस के मुग़ल कालीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि उस समय के पंडितों में मौलिकता का अभाव था; वे अपना समय मौलिक शास्त्रों की रचना में नहीं वरन् अधिकतर टीका टिप्पणियों में ही लगाते थे। व्याकरण, धर्मशास्त्र और वेदांत तो इनके प्रिय विषय थे, पर इन विषयों पर उनके ग्रंथों में मौलिक विचारों का काफ़ी

अभाव दीख पड़ता है। बात यह है कि संस्कृत साहित्य में यह नव्यन्याय का युग था जिसने बेकार के तर्क को आश्रय देकर मौलिकता को आगे बढ़ने से रोका। संस्कृत शिक्षा पर ब्राह्मणों का एक-मात्र आधिपत्य होने से भी साहित्य की गति अवरुद्ध रही और जन-जीवन से तो उसका संपर्क ही छूट गया। संस्कृत के साथ बनारस सत्रहवीं सदी में और उसके बाद ब्रजभाषा साहित्य का भी एक अच्छा केन्द्र बन गया। जैसा हम आगे चल कर देखेंगे बहुत से संस्कृत के पंडित ब्रजभाषा में भी कविता करने लगे थे क्योंकि उन्होंने लोक रुचि को देख कर यह भली भाँति जान लिया था कि ब्रजभाषा अथवा अवधी को केवल "भाखा" कह कर तिरस्कार की दृष्टि से देखने से ही काम बनने का नहीं था। अगर उन्हें उस समय के राज-रईसों से दक्षिणा वसूल करनी थी तो केवल संस्कृत के श्लोक बनाकर, जिन्हें समझने वाले काशी के बिरले ही रईस रहे होंगे, वे उन्हें नहीं रिझा सकते थे। इसके लिए तो उस भाषा में भी कविता करनी जरूरी थी जिसे लोग और विशेष कर राजे रईस समझ सकते थे और उसका आनंद लूट सकते थे।

बनारस के संस्कृत पंडितों और ब्रजभाषा के कवियों का पूरा-पूरा इतिहास लिखना तो एक स्वतंत्र विषय है जिसका हमारे पास न तो साधन है न अवकाश ही। काशी की कहानी में तो हम केवल उन्हीं पंडितों और कवियों का उल्लेख कर सकते हैं जिन्होंने अपनी कृतियों से इस नगरी का उत्तर भारत में नाम रोशन किया है।

जिस महान पंडित ने बनारस में हिन्दू धर्म और संस्कृति के उत्तर भारतीय सिद्धांतों के विरुद्ध हिन्दू संस्कृति और जीवन के दक्षिणी मत का प्रतिपादन किया उनका नाम नारायण भट्ट है। इन्हीं नारायण भट्ट ने टोडरमल की सहायता से बनारस में विश्वनाथ के मन्दिर की पुनः स्थापना की। यह एक विलक्षण बात है कि नारायण भट्ट के परिवार के लोग तीन सौ वर्षों तक बनारस में गण्यमान पंडित होते आये। गाधिवंशानुवरितम् के आधार पर महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री[1] का कहना है कि नारायण भट्ट के पिता रामेश्वर भट्ट पैठन के रहने वाले थे और वहाँ वे विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। यह भी उल्लेख है कि निजाम शाह और कृष्णराय के निमन्त्रण पर वे उनसे मिले। नारायण भट्ट का १५१४ ईस्वी में द्वारिका यात्रा के अवसर पर जन्म हुआ। उनके पिता रामेश्वर भट्ट कुछ दिन द्वारिका ठहर कर काशी चले आये और वहीं सदा के लिए बस गये। उनके तीनों पुत्रों का विवाह बनारस में ही हुआ। इनके शिष्यों में काशी के अनेक प्रसिद्ध पंडित थे।

अपने पिता की मृत्यु के बाद नारायण भट्ट ने श्रुतियों, स्मृतियों और षट्दर्शनों में अधीत होने के कारण अपने पिता का स्थान ग्रहण कर लिया। गया, काशी और प्रयाग में पूजा विधि के लिए उन्होंने त्रिशस्थली नाम का ग्रन्थ लिखा। उत्तर भारत के कई पंडितों से उनके शास्त्रार्थ हुए जिसमें विजय का सेहरा उनके माथे बँधा। एक बार तो राजा टोडरमल के घर एक श्राद्ध के अवसर पर उन्होंने शास्त्रार्थ में नवद्वीप के विद्यानन्द के अधिनायकत्व में पंडितों की एक टोली को हराया।

---

[1] इंडियन एंटिक्वेरी, १२, पृ० ७–१३

उनके प्रसिद्ध शिष्यों में ब्रह्मेन्द्र सरस्वती और नारायण सरस्वती थे। इनमें ब्रह्मेन्द्र सरस्वती का नाम तो जैसा हम आगे चलकर देखेंगे कवीन्द्र सरस्वती के अभिनन्दन पत्र में आता है। नारायण सरस्वती ने सोलहवीं सदी के अन्त में वेदान्त के कई ग्रन्थों की रचना की।

नारायण भट्ट ने धर्म-प्रवृत्ति और प्रयोगरत्न नाम के दो ग्रन्थ स्मृतियों पर लिखे। वृत्तरत्नाकर पर उन्होंने १५४५ में टीका की। वृत्तरत्नावली पिंगल पर उनका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इनके सिवाय आउफ्रेक्ट ने इनके अट्ठाइस ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, नारायण भट्ट धुरन्धर शास्त्रार्थी थे और इन्होंने अपने समय के उपेन्द्र शर्मा और मधुसूदन सरस्वती जैसे प्रकाण्ड विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। उनकी प्रतिभा से कायल होकर भारतवर्ष की पण्डित मण्डली उन्हें अपना संरक्षक मानने लगी और उन्होंने इस भावना का आदर करते हुए सदा रुपये पैसे से उनकी सहायता की। नारायण भट्ट ने संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों का भी अच्छा संग्रह किया।

नारायण भट्ट की मृत्यु वृद्धावस्था में हुई। मरने के समय इनके तीन पुत्र और कई पौत्र थे जिन्होंने सत्रहवीं सदी में काफ़ी नाम कमाया। नारायण भट्ट के सबसे बड़े पुत्र रामकृष्ण दीक्षित थे जिनकी मृत्यु बावन साल की अवस्था में हो गयी। वे अनेक ग्रन्थों के लेखक थे। दूसरे पुत्र शंकर भट्ट के प्रसिद्ध शिष्यों में मल्लारिभट्ट, भट्टोजी दीक्षित अभ्यंकर तथा विश्वनाथ दाते थे। कवीन्द्र चन्द्रोदय में इन्हें बनारस के पंडितों का मुखिया कहा गया है।

नारायण भट्ट के सबसे बड़े पुत्र रामकृष्ण के पौत्र गागा भट्ट थे जिन्होंने अपने पिता दिवाकर भट्ट के कई स्मृति संबंधी अधूरे ग्रंथों को पूरा किया तथा जैमिनीसूत्र पर शिवार्कोदय नाम की टीका की। इन्हीं की व्यवस्था से शिवाजी महाराज क्षत्रिय माने गये। वे शिवाजी के राज्याभिषेक के समय पर भी उपस्थित थे। गागा भट्ट के उत्तराधिकारी सुप्रसिद्ध नागोजी भट्ट हुए। संस्कृत भाषा की शायद ही ऐसी कोई शाखा बची हो जिस पर नागोजी भट्ट ने टीकाएँ नहीं लिखीं। पाणिनि संप्रदाय के व्याकरण पर उनकी टीका बड़ी ही प्रामाणिक है। व्याकरण के सिवा उन्होंने अलंकार, तीर्थ, तिथि, योग, मीमांसा, रामायण, सांख्य और वेदांत पर भी अनेक ग्रंथ लिखे। अपने बुढ़ापे में भी ये जीवन का सुख-पूर्वक उपभोग करते हुये समाज के प्रायः सब श्रेणी के लोगों से मिला करते थे। अंग्रेजों का बनारस पर अधिकार जम जाने पर करीब १७७५ में इनकी मृत्यु हुई।

नागोजी भट्ट के शिष्य उत्तराधिकारी वैद्यनाथ पायगुंडे, जिनका नाम अन्नम भट्ट भी था, हुए। इन्होंने व्याकरण और स्मृति पर अनेक ग्रंथ लिखे। मिताक्षरा के व्यवहार खंड पर इनकी टीका आज तक बनारस के स्मृतिकारों में बड़ी उपादेय मानी जाती है।

हम ऊपर कह आये हैं कि काशी में नारायण भट्ट का उस काल के सबसे बड़े विद्वान मधुसूदन सरस्वती से शास्त्रार्थ हुआ। मधुसूदन सरस्वती के पिता नवद्वीप के पुरंदराचार्या थे।[१] संन्यास ग्रहण करके मधुसूदन सरस्वती बनारस आये और यहाँ उन्होंने विश्वेश्वर सरस्वती से शिक्षा ग्रहण की, बाद में उन्होंने यहाँ 'अद्वैत-सिद्धि' नाम का ग्रंथ लिखा। गोस्वामी तुलसीदास उनके समकालीन थे। कहावत है कि जब उन्होंने रामचरित मानस पढ़ा तो उसकी प्रशंसा में तुलसीदास के पास निम्नलिखित श्लोक लिख भेजा—आनंदकानने ह्यस्मिन् तुलसीजंगमस्तरुः, कवितामंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता। यह भी किंवदंती है कि उन्होंने अकबर से भेंट की। अपने जीवन के अंतिम दिनों में वे हरिद्वार चले गये जहाँ उनकी एक सौ सात वर्ष की उमर में मृत्यु हुई। उनका समय सोलहवीं सदी का दूसरा भाग और सत्रहवीं सदी का आरंभ माना जा सकता है।

अद्वैत दर्शन पर उन्होंने वेदांत कल्पलतिका, सिद्धांत बिंदु, अद्वैतसिद्धि, अद्वैतरत्न-लक्षण और गूढ़ार्थ दीपिका लिखे। ऋग्वेद के पाठ पर उन्होंने आष्टविकृति विवृतिः नाम का ग्रन्थ लिखा। भक्ति पर उन्होंने भक्ति रसायन टीका, महिम्नस्तोत्रिका और हरिलीला व्याख्या नामक ग्रन्थ लिखे। कुछ लोगों का मत है कि श्रीमद्भागवत प्रथम श्लोकत्रय टीका, शांडिल्यसूत्र टीका, आनन्दमन्दाकिनी तथा कृष्णकुतूहल नाटक भी उनकी कृतियाँ हैं। कुछ लोगों का यह भी मत है कि अद्वैत दर्शन सम्बन्धी संक्षेप शारीरिक विग्रह, आत्मबोध टीका और सिद्धांतलेश टीका भी उनके ही ग्रन्थ हैं। अर्थशास्त्र पर उन्होंने राजप्रतिबोध नामक एक ग्रन्थ लिखा।

सत्रहवी सदी के बनारस में अनेक पंडित हुये उनमें बहुतों का पता एक विशिष्ट निर्णय पत्र से मिलता है।[२] यह निर्णय पत्र १६४७ में लिखा गया और इसमें सत्तर पंडितों और ब्राह्मणों के हस्ताक्षर हैं। इन पंडितों में अधिकतर संन्यासी तथा महाराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, तैलंग, द्रविड़ और दूसरे ब्राह्मण हैं जो सत्रहवीं सदी के मध्य में बनारस रहते थे। इस तालिका में से निम्नलिखित विद्वानों के बारे में कुछ-कुछ पता चलता है :—

पूर्णेन्दु सरस्वती— कवीन्द्र चन्द्रोदय (११३–११९) में पूर्णानन्द ब्रह्मचारी के नाम से पुकारा गया है। पूर्णेन्दु सरस्वती का नाम रामाश्रम के दुर्जनमुखचपेटिका नाम के ग्रन्थ में भी आता है।

नीलकंठ भट्ट—शायद ये शंकर भट्ट के पुत्र नीलकंठ भट्ट ही रहे हों, जिन्होंने भगवन्तभास्कर नाम का ग्रन्थ लिखा।[३] ग्रन्थ १६१० से १६४५ के बीच में लिखा गया।

चक्रपाणि शेष—शायद कारक विचार के लेखक थे।[४]

---

[१] भांडारकर ओ० रि० इं०, ८, पृ० १४९ से

[२] पूना ओरियंटलिस्ट, ८, ३–४, पृ० १३० से

[३] काणे, हिस्ट्री ऑफ दि धर्मशास्त्राज, १, पृ० ४४०

[४] आउफेक्ट, सी० सी० आई०, ६६२ और ९५

माधवदेव—ये न्यायसार के लेखक थे। गोदावरी नदी के किनारे धारासुरा ग्राम से बनारस आकर उन्होंने यह ग्रन्थ लिखा। इन्होंने रामभद्र सार्वभौम के गुणरहस्य पर गुणरहस्य टिप्पणी, शब्द प्रामाण्यवाक् तथा तर्कभाषासार मंजरी नामक ग्रंथ लिखे।[१]

रघुदेव भट्टाचार्य—ये बंगाली विद्वान बनारस में अपनी पाठशाला चलाते थे। प्रसिद्ध जैन विद्वान यशोविजय गणी (करीब १६०८-८८), जिन्होंने बनारस में बारह वर्ष तक छिपकर संस्कृत पढ़ा, अपने ग्रंथ में इनका उल्लेख करते हैं। इनके समकालीन बनारस के कवि चिरंजीव भट्टाचार्य ने भी अपने काव्यविलास में इनके बारे में एक श्लोक दिया है। रघुदेव भट्टाचार्य ने चिन्तामणि पर तत्त्वदीपिका, निरुक्तप्रकाश, न्याय कुसमांजलिकारिका-व्याख्या, द्रव्यसारसंग्रह, सिद्धान्ततत्त्व और भी कई छोटे ग्रंथ लिखते हैं।

नारायण भट्ट आरडे—ये लक्ष्मीश्वर भट्ट के पुत्र तथा गृह्याग्निसार, प्रयोगसार, श्राद्धसागर और लक्षहोमकारिका के लेखक थे।

ब्रह्मेन्द्र सरस्वती—रामाश्रय ने इनका दुर्जनमुखचपेटिका में उल्लेख किया है। शायद वे नृसिंहाश्रम नाम से भी पुकारे जाते थे। इसका भी उल्लेख है कि दारा शुकोह ने इनके नाम एक संस्कृत पत्र भेजा।[२]

गोविंद भट्टाचार्य—ये दिग्गज विद्वान रुद्रन्याय वाचस्पति के एक मात्र पुत्र और काशी के बंगाली पंडितों के नेता विद्यानिवास भट्टाचार्य के पौत्र थे। इन्होंने न्याय-संक्षेप अथवा न्याय रहस्य १६२८-२९ में लिखा। आसफ़ खाँ की तारीफ़ में इन्होंने पद्य-मुक्तावली लिखा।[३]

नारायण तीर्थ—इन्होंने भाट्टभाषा प्रकाशित नामक ग्रंथ बनारस में लिखा। इनकी कुसुमांजलि और दीधिति पर भी टीकाएँ मिलती हैं। उनकी एक हस्तलिखित पुस्तक से पता चलता है कि वे १७२० तक जीवित रहे।[४]

रघुनाथ जोशी—इन्होंने बनारस में १६६० में मुहूर्तमाला लिखी। इनके पिता नृसिंह बनारस के रहने वाले थे। असीरगढ़ का किला फ़तह करने के बाद अकबर ने इन्हें ज्योतिर्वित् सरस पदवी से विभूषित किया।[५]

देवभट्ट महाशब्दे—देवभट्ट बानरस के रहने वाले शांडिल्य गोत्र के ब्राह्मण थे। ये रत्नाकर भट्ट के पिता थे जिन्हें अंबर के सवाई जयसिंह ने अपना गुरु बनाया था।

---

[१] इंडि० हि० क्वा०, जून १९४५, पृ० ९१-९२

[२] अडयार लायब्रेरी बुलेटिन, अक्टोबर १९४०, पृ० ९३

[३] इं० हि० क्वा०, जून १९४५, ९४-९६

[४] वही, पृ० ९७

[५] दीक्षित, हिस्ट्री ऑफ इंडियन आस्ट्रोनोमी, पृ० ४७४, पूना १८९६

इस युग के बनारस के सर्वश्रेष्ठ पंडित कवींद्राचार्य सरस्वती थे।[१] कवींद्राचार्य सरस्वती संस्कृत और हिंदी दोनों ही के विद्वान थे एक ओर तो वे काशी के संस्कृत पंडितों के सिरमौर थे और दूसरी ओर उनका संबंध दिल्ली के मुग़ल दरबार से भी था। कवींद्र सरस्वती की जन्मभूमि गोदावरी पर स्थित पुण्यभूमि थी। उन्होंने वेद वेदांगों और दूसरे शास्त्रों का अध्ययन करके संन्यास ग्रहण कर लिया और बनारस चले आये। उनके काशी निवास का कारण यह बताया जाता है कि निज़ामशाही राज्य पर शाहजहाँ का अधिकार होना था। ये काशी में बरना नदी के किनारे जिस बाग में रहते थे उसका नाम अब भी वेदान्ती का बाग प्रसिद्ध है। यह स्थान चौकाघाट की रामलीला वाले मैदान के पीछे रेलवे लाइन के पास है।

शाहजहाँ के समय में काशी, प्रयाग और गया में हिंदुओं से यात्रीकर वसूल किया जाता था काशी के विद्वानों ने इस कर से मुक्ति पाने के लिये कवींद्राचार्य सरस्वती के नायकत्व में शाहजहाँ के पास प्रतिनिधि-मंडल भेजा। इनके प्रयत्न से यह कर उठा दिया गया और शाहजहाँ ने इन्हें सर्वविद्या निधान की पदवी से भी आभूषित किया। इतना ही नहीं शाहजहाँ ने इन्हें दो हज़ार वार्षिक वृत्ति भी बाँध दी। इनके बनारस लौटने पर बनारस के पंडितों ने इन्हें कवींद्र की पदवी से सम्मानित करके इन्हें एक मान पत्र भेंट किया। इस घटना का मुग़ल इतिहास में कोई उल्लेख नहीं; इसका यह कारण भी हो सकता है कि मुसलान इतिहासकार उन बातों का उल्लेख नहीं करना चाहते थे जिनसे मुसलमान बादशाहों का हिंदू काफ़िरों के प्रति कोई सद्भावना दीख पड़े।

दिल्ली आने के बाद कवींद्राचार्य का मुग़ल दरबार में प्रवेश हो गया और वे दारा शुकोह के पंडित-समाज के प्रधान बना दिये गये। जैसा हम कह आये हैं शाहजहाँ के बंदी होने पर उनकी वृत्ति बंद कर दी गयी। पुनः वृत्ति चलाने के लिए कवींद्राचार्य ने दानिशमंद ख़ाँ से सहायता चाही पर यह कहा नहीं जा सकता कि उनकी वृत्ति चालू हुई अथवा नहीं। सन् १६६७ में बर्नियर ने काशी में कवींद्राचार्य से मुलाक़ात की और उनके बृहत् पुस्तकालय को देखा। कवींद्राचार्य संस्कृत के एक प्रकांड विद्वान थे। इनके निम्नलिखित ग्रंथ मिलते हैं—कवींद्रकल्पद्रुम, पंचपद चंद्रिका, दशकुमार टीका, योग भास्करयोग, शतपथ-ब्राह्मण-भाष्य, इत्यादि।

कवींद्राचार्य हिंदी के भी एक कुशल कवि थे। शिवसिंह सरोज में कहा गया है कि शाहजहाँ बादशाह के हुक्म से इन्होंने कवींद्रकल्पलता नाम का ग्रंथ हिंदी भाषा में लिखा। उस ग्रंथ में दारा शुकोह और बेगम साहिबा की तारीफ़ में बहुत से कवित्त हैं। हिंदी में उनका दूसरा ग्रंथ योगवाशिष्ठिसार १६५७ में लिखा गया। इनका तीसरा ग्रंथ समरसार कहा जाता है जो शायद १६८७ में लिखा गया इस ग्रंथ का विषय युद्ध पर जाने के लिये तिथि निश्चित करना है।

---

[१] एच० डी० शर्मा; एम० ए० पाटकर, कवींद्रचंद्रोदय, पूना १९३९; बटे कृष्ण नागरी प्र० स० प०, ५२,२

सत्रहवीं सदी की काशी में संस्कृत के बहुत से विद्वान हुए जिनमें से कुछ के बारे में हम बतला ही चुके हैं। इन विद्वानों में भट्टोजी दीक्षित का विशेष स्थान था। इनके शिष्य वरदराज (१६००–१६५०)[१] ने व्याकरण के अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें गीर्वाण-पद मंजरी प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में सत्रहवीं सदी के काशी के बहुत से मन्दिरों और घाटों के नाम आये हैं। भट्टोजी दीक्षित के दूसरे प्रतिभाशाली शिष्य नीलकण्ठ शुक्ल थे जिनका समय १६१०–१६७० माना जाता है।[२] उन्होंने चिमनी चरित्र नाम का एक काव्य लिखा जिसका आधार अलावर्दी खाँ, जो शाहजहाँ के एक मंसबदार थे, के महल की घटना पर आश्रित है। इन्होंने शब्दशोभा, ओष्ठशतक तथा शृंगार-शतक आदि ग्रन्थ भी लिखे।

इसी युग में काशी के एक दूसरे विद्वान श्रीकण्ठ दीक्षित हुए। ये विश्वनाथ दीक्षित के पुत्र थे। इन्होंने मंजरी-दीक्षित नाम का एक संस्कृत ग्रन्थ लिखा।[3] बनारस के पण्डितों के उपर्युक्त विवरण से यह पता लगता है कि बनारस के सात दक्षिणी कुलों ने मानों बनारस का चार सौ वर्षों तक विद्या का ठेका ही ले लिया हो। शेष कुल के लोग तैलंग देश से बनारस आये पर बाद में वे महाराष्ट्र ब्राह्मण कहलाये। इस कुल में काशी के अनेक बड़े बड़े विद्वान् हुए। जिस समय बनारस में रामेश्वर भट्ट आये करीब करीब उसी समय में धर्माधिकारी कुल के लोग भी यहाँ आये। काशी के भारद्वाज कुल की विद्वत्ता महादेव पण्डित से शुरू होती है। महादेव पण्डित शंकर भट्ट के पुत्र नीलकण्ठ भट्ट के जामाता थे। इस कुल के अन्तिम प्रसिद्ध विद्वान महामहोपाध्याय दामोदर शास्त्री और गोविन्द शास्त्री हुए। चतुर्धर या चौधरी कुल में महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ हुये। पुणतांबेकर कुल में भी काशी के अनेक विद्वान हुए, जिनमें महादेव नाम के एक पण्डित ने भावानन्द सिद्धान्त वागीश के दीधिति पर एक टीका लिखी।

काशी के पण्डितों के अध्ययन से यह पता चलता है कि इनमें अधिकतर दाक्षिणात्य ब्राह्मण ही थे पर इसके यह माने नहीं कि काशी उस समय कान्यकुब्ज और सरयूपारी विद्वानों से शून्य थी। यह सम्भव है कि दाक्षिणात्यों की सी दौड़-धूप की ताकत उनमें नहीं थी और इसीलिए वे इतना नाम नहीं कमा सके। काशी के एक प्रसिद्ध विद्वान रामानन्द सरयूपारी थे जिन्होंने अपनी विद्वत्ता और भावुकता से काशी का मस्तक ऊपर उठाया। इनके कुल में आज तक संस्कृत के अनेक प्रकाण्ड पण्डित होते आये हैं। पण्डित रामानन्द सूरि के जीवन-वृत्त के लिए हम उसी कुल के एक विद्वान पण्डित करुणापति के अनुगृहीत हैं।[४] श्री रामानन्द के पूर्वज शायद सोलहवीं सदी के अन्त में काशी में आकर

---

[१] ए वाल्यूम ऑफ स्टडीज इन इण्डोलोजी प्रेजेंटेड टु प्रो० पी० वी० काणे, पृ० १८८ से, पूना १९४१

[२] न्यू इंडियन एंटिक्वेरी, नवम्बर १९४२, पृ० १७७ से

[३] जर्नल यू० पी० हि० सो०, मई १९२१, पृ० १०५–०७

[४] प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रान्सेक्शान्स ऑफ दि ऑल इण्डिया ओरियंटल कान्फरेन्स १९४३–४४, ४, मुगलकालीन कवि रामानन्द, पृ० ४७ से

बस गये। इनके पिता पण्डित मधुकर त्रिपाठी के सम्बन्ध में तो कुछ अधिक नहीं ज्ञात है पर उनके सम्बन्ध में श्री रामानन्द के उल्लेखों से भास होता है कि वे काशी की विद्वन्मण्डली के एक आदरणीय विद्वान थे। रामानन्द जी के जन्मकाल के बारे में तो पता नहीं चलता पर सम्भव है कि उनका जन्म सत्रहवीं सदी के प्रथम चरण में हुआ हो।

ज्ञात होता है कि रामानन्द की विद्वत्ता से आकर्षित होकर दारा शुकोह ने उन्हें विराड्-विवरणम् नाम का ग्रन्थ साकार ईश्वर की सार्थकता सिद्ध करने के लिए लिखने को कहा; इस ग्रन्थ की पुष्पिका में यह उल्लेख है कि संवत् १७१३ याने १६५६ ईस्वी में धरणिधर मुहम्मद दारा शुकोह ने इन्हें विराड् विवरण लिखने के लिए नियुक्त किया। इस ग्रन्थ के निर्माण से यह पता चलता है कि उपनिषदों के सिद्धान्तों को समझने के बाद दारा शुकोह को साकार ईश्वर संबंधी दार्शनिक सिद्धान्तों को भी जानने की इच्छा हुई और इस काम के लिए उन्हें बनारस में सबसे अच्छे पण्डित श्री रामानन्द ही नजर आये। दारा के जीवनी से यह पता नहीं चलता कि यह ग्रन्थ उसके पास पहुँचा या नहीं, कम से कम इस ग्रंथ के आधार पर उसने कोई फ़ारसी पुस्तक नही लिखी। जो भी हो दारा ने उनके पाण्डित्य से मुग्ध होकर उन्हें विविधविद्याचमत्कारपारंगत की उपाधि से विभूषित किया।

दारा शुकोह के साथ श्री रामानन्द का जैसी उनके कुल में किंवदन्ती है गुरु शिष्य का सम्बन्ध था अथवा नहीं यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता पर यह तो निश्चित है कि दारा के प्रति रामानन्द का अनुराग था। औरंगज़ेब द्वारा दारा के पराभव का समाचार सुनकर श्री रामानन्द का चित्त, जैसा कि उनके कुछ पद्यों से पता चलता है, खिन्न हो उठा। दारा के गुणों को याद करते करते वे कहते हैं—**दाराशाहविपत्सु हो, कथमहो प्राणान्न गच्छन्त्यमी** (हाय दारा शाह की विपत्ति से हमारे प्राण क्यों नहीं निकल जाते)। सत्रहवीं सदी के मध्य में बनारस के अनेक पंडित दारा के आश्रित थे पर जहाँ तक हमें पता है रामानन्द के सिवा इनमें से किसी ने भी दारा की विपत्ति पर आँसू बहाने की हिम्मत नहीं की। यही एक मुख्य कारण है जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि उनका दारा के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध था।

काशी के पण्डितों की नैतिक कमजोरी प्रसिद्ध है। उन्हें सदा राज्य का भय लगा रहता था और शायद इसीलिए अनेक अत्याचारों को सहते हुए भी उन्होंने अपना मुँह खोलने की कभी हिम्मत नहीं की। पर रामानन्द इस वृत्ति के अपवाद थे। अपनी वाणी द्वारा वह औरंगज़ेब का कुछ बिगाड़ तो नहीं सकते थे पर हिन्दुओं में वे शायद अकेले ही व्यक्ति थे जिन्होंने बनारस में हिन्दुओं की दयनीय दशा का जीता जागता चित्र अपने हास्यसागर नाम का प्रहसन में किया है—

हन्यन्ते निर्निमित्तं सकल सुरभयो निर्दयैर्म्लेच्छजाते-
र्दायन्तेऽमी सदेवाः सकलसुमनसा मालयाञ्चातिदीर्घाः।
पीड्यंते साधुलोकाः कठिनतरकरग्राहिभिः कामचारैः
प्रत्यूहैस्तैः क्रतूनां समयमिव जगत्यामराणां कुमारैः॥

इस उद्धरण से पता चलता है कि औरंगज़ेब के काल में गोवध हो रहा था, देव-

मन्दिरों की प्रतिमाएँ तोड़ी जा रही थीं और औरंगजेब के स्वच्छन्द कर्मचारियों के उत्पीड़न और अत्यधिक कर ग्रहण से लोग त्रस्त और आतंकित हो रहे थे। इस उद्धरण के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि रामानन्द ने हास्यसागर प्रहसन १६६९ के बाद ही लिखा होगा जब औरंगजेब की आज्ञा से बनारस के मन्दिर तोड़ दिये गये और लोगों पर अनेक तरह के अत्याचार किये गये।

पण्डित होने के सिवाय भी रामानन्द शिव के परम भक्त थे पर देवी की उपासना में भी उनका चित्त रमता था और शायद वे तान्त्रिक भी थे। अन्त में वे संन्यास ग्रहण करके लक्ष्मी कुंड पर स्थित कालीमठ के शिष्य होकर वहीं रहने लगे।

रामानन्द संस्कृत के प्रतिभाशाली भावुक कवि थे और उनके पूर्ण-अपूर्ण करीब पचास स्तोत्र ग्रंथ मिले हैं। हिन्दी में भी वे कविता करते थे यद्यपि उनकी हिन्दी कविता संस्कृत की तरह परिष्कृत नहीं थी। साहित्य के अतिरिक्त वे व्याकरण, न्याय, वेदान्त, ज्योतिष, कर्मकाण्ड इत्यादि विषयों में भी पारंगत थे। इनके साहित्यिक ग्रन्थों में रसिकजीवन, पद्यपीयूष, हास्यसागर, काशी-कुतूहल, रामचरित्रम् मुख्य हैं। टीका ग्रन्थों में किरात की भावार्थ दीपिका और काव्यप्रकाश के प्राकृत अंशों की व्याख्या भी है।

मुग़ल साम्राज्य की अवनति के युग में भी बनारस के पण्डितों में कोई कमी नहीं आयी, यों नागोजी भट्ट को छोड़कर, इस युग में काशी में कोई ऐसा विद्वान नहीं हुआ जिसने साहित्य अथवा व्याकरण शास्त्र को नयी देन दी हो। इन पण्डितों का उल्लेख उन दो प्रमाण पत्रों से मिलता है जो १७८७ में काशी के पण्डितों ने वारेन हेस्टिंग्स को दिया।[1] एक प्रमाण पत्र पर काशी के एक सौ अठहत्तर महाराष्ट्र और गुजराती पण्डितों के हस्ताक्षर हैं। बंगाली पण्डितों के प्रमाण पत्र के अन्तर्गत बहुत से बंगाली कायस्थ और कुछ एतद्देशीय ब्राह्मण भी आ गये हैं। गुजराती और मराठी पण्डितों में भी बहुत से तीर्थ पुरोहित, जिनका विद्या से कुछ सम्बन्ध न था, घुसे मालूम पड़ते हैं।

२. ब्रजभाषा के कवि

वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ के प्रचार से वैष्णव धर्म की जो उन्नति हुई उसके फलस्वरूप ब्रजभाषा ने, बंगाल को छोड़कर, समूचे उत्तर भारत की शिष्ट भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया। ब्रजभाषा के इस बढ़ते प्रभाव से बनारस भी अछूता नहीं बचा। भाषा को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हुए भी बनारस के बहुत से पंडितों ने उसे अपनाया। कवींद्राचार्य सरस्वती और रामानंद ऐसे संस्कृत के प्रौढ़ पंडित भी ब्रजभाषा या अवधी में रचना करने लगे। कम से कम सत्रहवीं सदी के मध्य में बनारस भाषा के इतने कवि थे कि उन्होंने अपनी ओर से कवींद्र सरस्वती को बनारस का यात्री कर छुड़वाने के उपलक्ष्य में अपनी ओर से प्रशस्तियों सहित एक मान पत्र भेंट किया। इन प्रशस्तियों का संग्रह अनूप लाइब्रेरी बीकानेर में सुरक्षित है।[2] कवींद्र चंद्रिका में कवियों के नाम ये हैं—(१)

[1] जर्नल ऑफ दि गंगानाथ रिसर्च इं०, नवम्बर १९४३, पृ० ३२ से

[2] ना० प्र० प०, ४७, अंक ३-४, पृ० २७१-७२

सुखदेव, (२) नंदलाल, (३) भीष, (४) पंडितराज, (५) रामचंद्र, (६) कविराज, (७) धर्मेश्वर, (८) हरिराम, (९) रघुनाथ, (१०) विश्वंभरनाथ मैथिल, (११) शंकरोपाध्याय, (१२) भैरव, (१३) सीतापति त्रिपाठी पुत्र मणिकंठ, (१४) अंगद, (१५) गोपाल त्रिपाठी पुत्र मणिकंठ, (१६) विश्वनाथ राम, (१७) चिंतामणि, (१८) देवराय, (१९) कुलमणि, (२०) त्वरित कविराज, (२१) गोविंद भट्ट, (२२) जयराम, (२३) वंशीधर, (२४) गोपीनाथ, (२५) राम, (२६) जादवराय, (२७) जगतराम, (२८) चंद्र। देशी भाषा के इन कवियों मे कवीन्द्र चंद्रोदय के कुछ संस्कृत कवि जैसे जयराम, विश्वंभर मैथिल, धर्मेश्वर, रघुनाथ और त्वरित-कविराज भी आ गये हैं। कवींद्र चंद्रिका के इन कवियों में पंडितराज कवि (४) का भी नाम आया है। ये पंडितराज सुप्रसिद्ध रसगंगाधर के कर्ता हैं या और कोई यह तो नहीं कहा जा सकता। पर अगर वे पंडितराज जगन्नाथ ही हैं तो इनकी हिंदी रचना उतनी है जितनी चंद्रिका में इनके नाम पर मिलती हैं।

अट्ठारहवीं सदी का युग अराजकता का था इसलिए इस युग के आरंभ में बनारस के हिंदी साहित्य की अधिक उन्नति न हो सकी। इसका यह भी कारण हो सकता है कि बनारस में कवियों के पारखी कम थे और राज्य की ओर से उन्हें बहुत कम प्रोत्साहन था। पर जब मनसाराम ने बनारस राज्य की स्थापना की उसके बाद से बनारस के राजाओं ने कवियों को बराबर प्रश्रय दिया और इसके फलस्वरूप १७४० से १८५० के बीच बनारस में हिंदी काव्य की अच्छी उन्नति हुई। पर भारतेंदु हरिश्चन्द्र के पहले बनारस के हिंदी साहित्य की शैली पुरानी थी और उसमें किसी ने नवीनता लाने का प्रयत्न नहीं किया। जॉर्ज ग्रियरसन और नागरी प्रचारिणी सभा की हिंदी ग्रंथों की खोज-रिपोर्टों के आधार पर हम नीचे बनारस के कवियों पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।[१]

रघुनाथ बन्दीजन—जान पड़ता है रघुनाथ बन्दीजन बलवन्त सिंह के समकालीन कवि थे। कम से कम ये १७४५ में वर्तमान थे। राजा बलवन्त सिंह स्वयं रसिक थे तथा 'चित्र-चन्द्रिका' उनकी कृति मानी जाती है। उनके सहपाठी मुकुन्दलाल थे। रघुनाथ बन्दीजन का घर बनारस के पास चौरागाँव में था। इनकी गणना हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवियों में की जाती है। इन्होंने काव्य-कलाधर (१७४५ ईस्वी), रसिक-मोहन, जगन्मोहन (१७५० ईस्वी), इश्क-महोत्सव नाम के मौलिक ग्रन्थ और बिहारी सतसई पर एक टीका लिखी।

मुकुन्दलाल कवि—ये रघुनाथ बन्दीजन के समकालीन थे। 'लालमुकुन्द विलास' नाम का नायिका भेद पर इनका ग्रन्थ मिलता है (रिपोर्ट, १९०३, नं० ६४)।

आनन्द—इन्होंने १७६५ ई० में आनन्द अनुभव नाम का एक ग्रन्थ लिखा (रिपोर्ट, १९०४, पृ० ३)।

---

[१] ग्रियर्सन, दि मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिंदोस्तान, पृ० ११७ से, कलकत्ता १८८९

लाल कवि—ये राजा चेतसिंह (१७७०–१७८१) के दरबारी कवि थे। इन्होंने रसमेल नामक एक ग्रन्थ, बनारस के राजाओं के बारे में फुटकर कविताएँ तथा लालचन्द्रिका नाम की बिहारी सतसई की टीका लिखी।

हरिप्रसाद—चेतसिंह की आज्ञा से इन्होंने बिहारी सतसई का संस्कृत में अनुवाद किया।

चेतसिंह—बनारस के राजा चेतसिंह (१७७०–८१) भी स्वयं कवि थे। बनारस से भागने के बाद १७८३ में उन्होंने 'लक्ष्मीनारायण विनोद' नाम का एक ग्रन्थ लिखा (रिपोर्ट, १९, १९–११ नं० ४७)।

अग्रनारायण और वैष्णवदास—१७८७ में इन दोनों ने भक्तमाल पर प्रियादास की टीका पर टीका लिखी (रिपोर्ट, १९०४, पृ० ३)।

गोकुलनाथ बन्दीजन—गोकुलनाथ रघुनाथ बन्दीजन के पुत्र थे। इनकी चेतचन्द्रिका (१७८६), जिसमें राजा चेतसिंह के कुल का इतिहास दिया है, एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके सिवाय उन्होंने गोविन्द सुखद विहार, राधाकृष्ण विलास (१८०१ ईस्वी), रामगुणार्णव रामायण, कविमुख मंडन (१८१३ ईस्वी) और अमरकोश भाषा (१८१३ ईस्वी) नाम के ग्रन्थ लिखे। इन्होंने राजा उदितनारायण (१७९५–१८३५) की आज्ञा से महाभारत का हिन्दी में अनुवाद शुरू किया। बीच में ही इनकी मृत्यु हो जाने से इस काम को इनके पुत्र गोपीनाथ तथा उनके शिष्य मणिदेव ने पूरा किया।

गोपीनाथ बन्दीजन—ये गोकुलनाथ के पुत्र थे। अपने पिता की मृत्यु के बाद अपने शिष्य मणिदेव के साथ इन्होंने महाभारत के अनुवाद का काम सम्हाला। समय-समय पर उन्होंने कुछ स्फुट कविताएँ भी लिखीं पर इनका मुख्य काम महाभारत का अनुवाद ही था।

भिखारीदास कायस्थ—उनका काव्य-काल करीब १७३४ से ९० ईस्वी तक होता है। उनके ग्रन्थों में रससार, छन्दार्णव, छन्द प्रकाश, शृंगारनिर्णय इत्यादि आते हैं।

ब्रह्मदत्त उपाध्याय—राजा उदित नारायण के भाई दीपनारायण के राजकवि थे। इनके दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं दीप प्रकाश (१८०९ ईस्वी) और विद्वद्विलास (१८०९ ईस्वी)।

बृजलाल भट्ट—ये मान कवि के पुत्र तथा राजा उदित नारायण सिंह के दरबार के एक कवि थे। इनके निम्नलिखित ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—छन्दरत्नाकर (१८२४ ईस्वी), उदितकीर्ति प्रकाश तथा हनुमत बालचरित्र (१८१९ ईस्वी)।

धनीराम—अपने संरक्षक बाबू देवकी नंदन की आज्ञा से इन्होंने रामज्ञानोदय (१८१० ईस्वी) लिखा। इन्होंने भाषा प्रकाश का हिंदी अनुवाद भी किया तथा केशव की रामचंद्रिका और जानकी प्रसाद की रामायण पर टीकाएँ लिखीं।

दीनदयाल गिरि—ये अपने समय के प्रसिद्ध कवियों में एक थे। हिंदी के कवि होने के साथ साथ वे संस्कृत के भी एक विद्वान कवि थे। निम्नलिखित ग्रंथ उनके लिखे हुए मिलते हैं—अनुराग बाग (१८२१ ईस्वी), विश्वनाथ नवरत्न, चकोरपंचक, दृष्टान्ततरंगिणी (१८२२ ईस्वी), काशी पंचक, दीपक पंचक, अन्तर्लापिका, अन्योक्तिकल्पद्रुम और बागवो बहार।

गजराज—इन्होंने (१८४६ ईस्वी) में सुवृत्तहार लिखा। इनकी लिखी एक रामायण भी मिलती है।

गणेश—ये गुलाब कवि के पुत्र और सुप्रसिद्ध लाल कवि के पौत्र थे। इनके लिखे ग्रंथों में वाल्मीकि रामायण श्लोकार्थ प्रकाश तथा ऋतुवर्णन (१८०० ईस्वी) हैं। ये राजा उदितनारायण के राजकवि थे।

जानकी प्रसाद—१८१४ ईस्वी में केशवदास की रामचन्द्रिका पर इन्होंने एक टीका रामप्रकाशिका नाम की लिखी। इनकी लिखी युक्ति रामायण पर धनीराम की टीका मिलती है।

देव कवि अथवा काष्ठजिह्व स्वामी—इन्होंने काशी में संस्कृत का अध्ययन किया था। अनुश्रुति है कि एक बार अपने गुरु से लड़ने के कारण उन्होंने अपनी जिह्वा कटवा दी। दूसरों से बात चीत के लिये वे एक पटरी व्यवहार में लाते थे। ये महाराज ईश्वरीनारायण सिंह के गुरु माने जाते थे। इन्होंने तुलसी रामायण पर रामायण परिचर्या नाम की टीका, पदावली सप्तकाण्ड (१८४० ईस्वी) इत्यादि प्रायः पचास ग्रन्थ लिखे। इनके पद बड़े ही मधुर होते थे और आज तक बनारस में गाये जाते हैं। इनके संस्कृत के भी अनेक ग्रन्थ मिलते है।

मनियार सिंह—बलवन्त सिंह के भतीजे मनियार सिंह कृष्ण कवि के शिष्य थे। १७८६ ईस्वी में इन्होंने भावार्थ-चन्द्रिका नाम का एक ग्रन्थ लिखा।

रामसहाय—रामसहाय कायस्थ उदितनारायण सिंह के दरबार के कवि थे। इन्होंने रामसहाय शतिका, वाणीभूषण तथा वृत्ततरंगिणी (१८१६ ईस्वी) नाम के ग्रन्थ लिखे।

सरदार कवि—ये महाराजा ईश्वरी नारायण सिंह के राजकवि तथा हरिजन नाम के कवि के पुत्र थे। ये अपने समय के कवियों में बड़े ही प्रसिद्ध थे। इनके निम्नलिखित ग्रन्थ मिलते हैं—कविप्रिया पर काशिराज प्रकाशिका नाम की टीका, रसिकप्रिया पर सुखविलासिका नाम की टीका, रामरसरत्नाकर, रामरणवज्र यन्त्र, साहित्यसुधाकर (१८४५ ईस्वी), साहित्यसरसी, हनुमन्त भूषण, शृंगार संग्रह, सतसई पर टीका इत्यादि।

सुन्दरदास—इनके निम्नलिखित तीन ग्रन्थ मिलते हैं—सुन्दरश्यामविलास (१८१० ईस्वी), विनयसार और सुन्दर षट् शृंगार (१८१२ ईस्वी)।

गोपालचन्द्र उर्फ गिरधरदास—बनारस के प्रसिद्ध महाजन हर्षचन्द्र के ये पुत्र थे। इनका जन्म १८३२ ईस्वी और मृत्यु १८५९ ईस्वी में हुई। इनके गुरु काशी के वल्लभ कुल के आचार्य श्री गिरधर जी थे। अपने गुरु के नाम पर ही इन्होंने अपना उपनाम गिरधर-दास रख लिया था। इनके छोटे बड़े ग्रन्थ सब मिलाकर चालीस हैं, जिनमें दशावतार, भारतीभूषण और जरासंधवध मुख्य हैं। इन्हीं गोपालचन्द्र के पुत्र सुप्रसिद्ध भारतेन्दु हुए जिन्होंने आधुनिक हिन्दी भाषा की नीव डाली।

३. बनारस की शिक्षा संस्थाएँ

अट्ठारहवीं सदी में काशी में संस्कृत शिक्षा का वही प्रबन्ध था जो मुगल काल में या उसके भी पहले से चला आ रहा था। विद्यार्थियों को काशी के गुरु निःशुल्क पढ़ाते थे साथ ही उनके भोजन और रहने का प्रबन्ध भी करते थे। इसमें जो कुछ उनका व्यय होता था उसको पूरा करने के लिए महाजनों तथा राजाओं की सहायता अपेक्षित होती थी। जान पड़ता है, यह सहायता पर्याप्त रूप में मिलती थी। जब से पेशवों का बनारस से सम्बन्ध हुआ तब से तो दक्षिणी पण्डितों के सहायतार्थ महाराष्ट्र तथा मराठों की दूसरी अमलदारियों से भी अन्नसत्र और पाठशालाएँ चलाने के लिये काफ़ी रुपए आते रहे। अट्ठारहवीं सदी के अन्त में अंग्रेज़ों ने बनारस संस्कृत कॉलेज खोलने की सोची।[1] कॉलिज चलाने की बात पहले पहल किसके दिमाग़ में आयी यह कहना तो कठिन है। संस्कृत कालेज के प्रथम आचार्य काशीनाथ लॉर्ड मॉर्निगटन के नाम अपने १७९९ ईस्वी वाले पत्र में लिखते हैं कि बनारस संस्कृत कॉलेज चलने की बात पहले उन्होंने ही चलायी। उनके इस कथन में कितना तथ्य है यह तो नही जाना जा सकता पर उनका यह दावा एक दम से टाला भी नहीं जा सकता। यह भी हो सकता है कि चार्ल्स विलकिंस ने, जिन्हें संस्कृत पढ़ने के लिये एक पण्डित ढूढ़ने में बड़ी कठिनाई पड़ी, यह सुझाव वारेन हेस्टिंग्स के सामने रक्खा हो। काशीनाथ पण्डित का अपने पत्र में यह कहना है कि अपनी कलकत्ता यात्रा कॉलेज के सम्बन्ध में प्रस्ताव रखने के लिये उन्हें स्थगित करनी पड़ी और इसके बाद उन्होंने यह प्रस्ताव जोनेथन डंकन के पास रक्खा। पर यह बात किसी दूसरे कागज़ पत्र में नहीं मिलती। जो भी हो पहली जनवरी १७९२ में एक पत्र द्वारा डंकन ने बनारस में संस्कृत शिक्षा के लिये एक कॉलेज खोलने का प्रस्ताव रक्खा। डंकन के कॉलेज स्थापना करने में पहला उद्देश्य तो यह था कि पण्डितों और विद्यार्थियों की सहायता से अनेक विषयों पर संस्कृत की हस्तलिखित पुस्तकें इकट्ठी की जायँ और दूसरा यह कि इससे अंग्रेजों की हिन्दुओं में ख्याति बढ़ेगी और कालेज से ऐसे पण्डित निकल सकेंगे जो हिन्दू क़ानून को समझने में अंग्रेज जजों की सहायता कर सकेंगे। कालेज चलाने में केवल चौदह हज़ार साल का खर्च था। गवर्नर जनरल ने तुरन्त उनकी बात मान ली और कॉलेज के खर्च के लिये बीस हजार की मंजूरी दे दी। समयानन्तर में संस्कृत पाठशाला की स्थापना हो गयी इसमें पढ़ाने के लिये आठ पण्डित रक्खे गये और काशीनाथ प्रधान आचार्य नियुक्त हुए। इनका वेतन दो सौ रुपया मासिक नियत किया गया।

इस पाठशाला की देखरेख का भार बनारस के रेज़िडेंट और उसके डिप्टी पर छोड़ दिया गया। डंकन ने इस बात का पूरा यत्न किया कि ब्राह्मण पण्डित, जिन पर इस पाठशाला की सफलता निर्भर थी, किसी तरह से अप्रसन्न न हो जायँ। इसके लिये पाठशाला में ब्राह्मण पण्डित ही नियुक्त किये गये और यह भी निश्चय किया गया कि स्मृति और धर्म-शास्त्र के परीक्षक भी ब्राह्मण ही हों।

[1] एस० एन० सेन, संस्कृत कालेज एट बनारस, जर्नल गंगानाथ रिसर्च इं०, मई १९४४, पृ० ३१५ से

इस पाठशाला के पहले सात साल के कागज़ पत्र नहीं मिलते। डंकन १७९५ में बनारस से बम्बई चले गये। १७९८ में पाठशाला के प्रबन्ध का भार एक कमिटी पर आ पड़ा, जिसमें बनारस के कमिश्नर सेमुअल डेविस और कैप्टन विलफोर्ड थे। चेरी फ़ारसी के विद्वान थे, डेविस भारतीय ज्योतिष में दखल रखते थे और विलफ़र्ड में संस्कृत पढ़ने में बड़ी रुचि थी। विलफ़र्ड इस कमिटी के सेक्रेटरी नियुक्त किये गये। कैप्टन विलफ़र्ड पहले पहल अंग्रेजी ज़िलों और अवध राज की बीच की पैमाइश के लिये नियुक्त किये गये थे। पर जब इस काम में नवाब के आदमी रोड़े अटकाने लगे तब डंकन ने सर जॉन शोर को लिखा कि वे विलफ़र्ड को बनारस में रह कर अपना अध्ययन समाप्त करने की आज्ञा दे दें। सर जॉन शोर ने डंकन की यह बात मान ली और विलफर्ड को उनकी तनख्वाह के अलावा पढ़ने के लिये सामग्री इत्यादि इकट्ठा करने के लिये छह महीने का वज़ीफ़ा भी स्वीकार कर लिया।

१८०१ में कॉलेज की कमिटी ने, जिसमें चेरी और डेविस की जगह नीव और डीन आ गये थे, रिपोर्ट भेजी कि काशीनाथ द्वारा बतायी गयी विद्यार्थियों की दो सौ दो संख्या में पचास तो बराबर पाठशाला में आते थे लेकिन पचास से सत्तर तक महीने में केवल एक या दो बार आते थे और, बाक़ी तो केवल नाम ही के विद्यार्थी थे। पाठशाला में काशीनाथ ने बारह की जगह ग्यारह ही पंडित रख छोड़े थे और बारहवें पंडित का फ़र्ज़ी नाम देकर उसका वेतन खुद हड़प जाते थे। कमिटी के आदेशानुसार काशीनाथ ठीक तौर से वेतन का चिट्ठा भी नही बनाते थे। इन्हीं सब कारणों से कमिटी ने उनको निकाल बाहर किया और उनकी जगह जटाशंकर पंडित को पाठशाला का प्रधानाध्यापक नियुक्त दिया। इस तरह बाहर निकाल दिये जाने पर काशीनाथ ने लॉर्ड मार्निंगटन के पास एक अर्ज़ी भेजी, जिसमें अपना दुखड़ा रोया।

इसमें शक नहीं कि पाठशाला के काम काज में काशीनाथ बड़ी गड़बड़ी करते थे। पर इस गड़बड़ी का बहुत कुछ श्रेय उनके नालायक साथियों पर भी था। १७९८ में ही काशीनाथ ने गवर्नर जनरल से ही शिकायत की थी कि पाठशाला के पंडितों में से पाँच पंडित अमलों और रईसों के यहाँ बराबर आया जाया करते थे जिससे पाठशाला के काम में बड़ा विघ्न पड़ता था। इस बात की शिकायत उन्होंने बनारस के अमलों से भी की थी पर इसमें उन्होंने दखल देने से साफ़ इनकार किया। ऐसा मालूम पड़ता है कि पाठशाला के पंडित काशी की प्रथा के अनुसार विद्यार्थियों को अपने घर पर ही पढ़ाया करते थे जिससे पाठशाला के नियमों का उल्लंघन होता था। डंकन के जाने के बाद तो कालेज के नियम और ढीले पड़ गये। पाठशाला के आरम्भिक अध्यापकों में रामप्रसाद तर्कालंकार अपनी नियुक्ति के समय अस्सी वर्ष के थे। वीरेश्वर सुब्बा शास्त्री और जटाशंकर यह चाहते थे कि उनके छात्रों की वृत्तियाँ उन्हीं को मिलें पर ऐसा करने से कमिटी ने साफ़ इनकार कर दिया। मि० ब्रुकरी जो १८०४ में कमिटी के सभापति थे उनका विचार था कि जटाशंकर में इतनी योग्यता नहीं थी कि वे पाठशाला के आचार्य हो सकें। १८१३ में वीरेश्वर पंडित, शिवनाथ पंडित और जयराम भट्ट के विरुद्ध शिकायतें की गयीं। इन बातों से साफ़ पता लग जाता है कि काशीनाथ की सफलता का कारण केवल उनकी

अयोग्यता ही नहीं वरन् उनके साथियों में भी गड़बड़ी थी फिर भी रुपये पैसे के मामले में गड़बड़ी करने के लिये वे अवश्य दोषी थे।

काशीनाथ के आचार्य पद से हटा दिये जाने पर भी पाठशाला के प्रबंध में किसी तरह की उन्नति नहीं हुई। उनके उत्तराधिकारी जटाशंकर एक साधारण श्रेणी के आदमी थे। कमिटी के सभासद भी कालेज के कामों में दिलचस्पी नहीं लेते थे। इन सब बातों से यही पता चलता है कि जिस ध्येय को लेकर डंकन ने इस कालेज की स्थापना की थी उसका कोई परिणाम नहीं निकला।

१८१२ में कॉलेज की पुनर्योजना हुई, जिससे १८१५ तक उसकी दशा में बहुत कुछ सुधार हो गया। १८२० में केप्टन फ़ेल कॉलिज कमेटी के सेक्रेटरी चुने गये। वृत्ति पाने वाले विद्यार्थियों की संख्या साठ निर्धारित कर दी गयी, पर बिना वृत्ति के दूसरे विद्यार्थी भी कॉलेज में शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। १८२३ में विद्यार्थियों की संख्या बढ़कर दो सौ हो गयी। १८२४ में केप्टन फ़ेल की मृत्यु हो गयी। १८२५ में इस पाठशाला का आँखों देखा वर्णन बिशप हेबर ने किया है। यह वर्णन इतना मजेदार है कि हम उसे नीचे उद्धृत करते हैं।

"विद्यालय दो चौक की ऊँची इमारत में है। यह सर्वदा शिक्षकों और विद्यार्थियों से भरा रहता है। विद्यालय में बहुत सी कक्षाएँ हैं जिनमें विद्यार्थी पढ़ना लिखना, भारतीय-गणित, फ़ारसी, हिंदू क़ानून, वेद, संस्कृत, और ज्योतिष सीखते हैं। विद्यालय में दो सौ विद्यार्थी हैं, और उनमें बहुत से मुझे पाठ सुनाने आये। अभाग्यवश थोड़ी ज्योतिष और फ़ारसी के सिवा मैं कुछ न समझ सका। ज्योतिष के पंडितों ने हिंदू ज्योतिष के सिद्धांतानुसार बने गोले दिखलाये, इनमें उत्तरी ध्रुव पर मेरु पर्वत और दक्षिणी ध्रुव पर एक कछुआ जिस पर पृथ्वी आश्रित है, थे। पंडित जी ने बताया कि दक्षिण गोलार्ध बसने योग्य नहीं ह। उन्होंने यह भी बतलाया कि प्रतिदिन सूर्य पृथ्वी के कितने सौ चक्कर मारता है और उसी गति से वह कैसे नक्षत्रों के भी चारो ओर फिर आता है······इस पाठशाला में अंग्रेजी और यूरोपीय ज्योतिष पढ़ाने की कई बार कोशिश की गयी पर इस विद्यालय के विगत प्रधान शिक्षक इसके इसलि विरोधी थे कि ऐसा करने से संस्कृत शिक्षा पर व्याघात पहुंचने तथा पंडितों के धार्मिक भावनाओं पर धक्का लगने का डर था।

"दूसरे दिन मैं बनारस की सैर करने घोड़े पर निकला। विद्यालय का एक छोटा विद्यार्थी मेरे पीछे दौड़ा और हाथ जोड़ कर अपना पाठ सुनाने की अनुमति चाही जिसे मैं कल नहीं सुन सका था। मैंने अपना घोड़ा रोक दिया और लड़का संस्कृत के श्लोक सुनाने लगा। जब मैंने उसको कुछ पैसे दिये तो उसने कुछ फूल दिये और बातचीत करता हुआ मेरे साथ तब तक आगे बढ़ता रहा जब तक भीड़ ने हम दोनों को अलग नहीं कर दिया। जब वह अपना पाठ पढ़ पढ़ गा रहा था तब आस पास के लोग उसको शाबाशी दे रहे थे। जिस तरह से श्लोक सुन कर वे मेरी तरफ शारा कर रहे थे उससे यह पता लगता था कि श्लोक मेरे संबंध में थे। शायद यह अभिनंदन पत्र था जो जल्दी में तो कल मुझे न मिल सका पर आज दे ही दिया गया।"

१८२४ में केप्टन फ़ेल की मृत्यु के बाद केप्टन थोसबाई उनकी जगह संस्कृत पाठशाला के सेक्रेटरी नियुक्त किये गये। इन्होंने छात्रवृत्तियों की संख्या सौ कर दी। १८२९ में उन्होंने एक अंग्रेजी स्कूल खोलने पर ज़ोर दिया और बनारस में एंग्लो इंडियन सेमीनरी स्कूल के नाम से एक अंग्रेजी स्कूल १८३० में खुल ही गया। १८३६ में इस स्कूल का नाम गवर्नमेंट स्कूल रखकर एक अंग्रेजी शिक्षक की नियुक्ति कर दी गयी। १८३५ में कुछ काल के लिये इस स्कूल के प्रधानाध्यापक मि० निकोल्स बनाये गये। उनके समय में विद्यार्थियो की संख्या २९६ थी पर १८३८ में फ़ारसी की कक्षाएँ बन्दकर देने से तथा छात्रवृत्तियों में कमी कर देने से छात्रों की संख्या घट गयी। १८४४ में इस स्कूल का प्रबन्ध स्थानिक सरकार के जिम्मे कर दिया गया और इसके प्रिंसिपल मि० म्योर बना दिये गये। १८४६ में मि० बैलंटाइन स्कूल के प्रिंसिपल हुए। इन्ही के काल में १८५२ में स्कूल की इमारत बनकर तैयार हुई। इस स्कूल का नक्शा मेजर किटो ने १८४६ में बनाया था। इसके बनाने में तेरह हजार पाउन्ड की लागत बैठी।

काशी में अंग्रेजी शिक्षा का बहुत कुछ श्रेय राजा जयनारायण घोषाल को है। राजा जयनारायण घोषाल उन कुछ इने गिने आदमियों में थे जिनका यह विश्वास था कि बौद्धिक उन्नति के लिये भारतीयों को अंग्रेजी पढ़नी आवश्यक थी। सितम्बर १८१४ में जब लार्ड हेस्टिंग्स बनारस में आये तो जयनारायण स्कूल की नींव पड़ गयी थी। हेस्टिंग्स अपने जर्नल में कहते हैं[1] कि राजा जयनारायण घोषाल ने अपने ज़मीन के टुकड़े कर स्कूल की इमारत बनवाना आरम्भ कर दिया था। उनकी यह इच्छा थी कि गवर्नमेंट द्वारा नियुक्त ट्रस्टियों को यह इमारत एक अंग्रेजी स्कूल चलने के लिये दे दी जाय। इस काम के लिये उन्होंने चौबीस सौ रुपये सालाना आमदनी के ज़मीन और सरकारी कागज़ भी इस लिये दे दिये थे कि इस आमदनी से एक अंग्रेजी अध्यापक और उसके सहायकों को वेतन दिया जा सके। इस दान में उनकी केवल एक ही शर्त थी उसकी आमदनी का रुपया किसी दूसरे काम में न लगाया जाय। इस शर्त को हेस्टिंग्स ने भी स्वीकार कर लिया।

बिशप हेबर ने १८२५ में इस स्कूल को देखा और उसका मुआयना किया। उनका कहना है कि राजा जयनारायण घोषाल को बनारस के पादरी मि० कोरी ने करीब करीब ईसाई बना लिया था। बनारस में भी यह अनुश्रुति है कि राजा जयनारायण घोषाल ईसाई हो गये थे पर बात ऐसी नही है। उनके ईसाई होने की गप्प केवल इसलिये चल पड़ी कि वे और उनके पुत्र काली शंकर समाज सुधारक थे और अठारहवीं सदी की दुनियाँ में कोई भी समाज सुधारक हिन्दुओं की दृष्टि में ईसाई अथवा म्लेच्छ था। हेबर के अनुसार जयनारायण स्कूल में उस समय एक सौ चालीस विद्यार्थी, एक अंग्रेजी के मास्टर और एक फ़ारसी पढ़ाने के लिये मुन्शी थे। पाठशाला का प्रबन्ध एडलिंगटन नाम के एक पादरी देखते थे। विद्यार्थी अंग्रेजी बाइबिल, अंग्रेजी इतिहास, उर्दू, फ़ारसी और

---

[1] हेस्टिंग्स, डायरी पृ० ७०–७१

अंग्रेजी पढ़ते थे। उन्हें गणित और भूगोल का भी ज्ञान कराया जाता था। पाठशाला के विद्यार्थियों में अधिकतर मध्यम वर्ग के ब्राह्मण छात्र थे।[१]

उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में बनारस में कई मिशन खुले जिन्होंने शहर में ईसाई धर्म और अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार किया। पर इन्हें अपने ध्येय में बनारस की कट्टरता के कारण अधिक सफलता न मिल सकी।

४. उन्नीसवीं सदी में बनारस में शिक्षा

७ जून १८४५ में नार्थ वेस्टर्न प्राविंस सरकार के सेक्रेटरी जे० थॉर्नटन ने बनारस के मजिस्ट्रेट को वहाँ की देशी शिक्षा के संबन्ध में एक पत्र लिखा जिसमें उनका इस ओर ध्यान दिलाया गया कि बनारस में शिक्षा का प्रायः अभाव था। जमीन के नये बंदोबस्त होने की वजह से यह आवश्यक था कि रिआया ऐसी शिक्षा प्राप्त करे जिससे उसे पटवारी के कागज पत्र समझने में सुविधा हो। इसके लिए पढ़ना लिखना, गणित और पैमाइशी की शिक्षा आवश्यक थी। इस शिक्षा के बाद साहित्य की शिक्षा आती थी। प्राथमिक शिक्षा के लिए देशी पाठशालाओं की मदद की जा सकती थी और उनका पाठ्यक्रम सुधारा जा सकता था। इसके लिये जनता में उत्साह बढ़ाने की आवश्यकता थी। सरकारी प्रोत्साहन से गाँवों में ऐसी पाठशालाएँ चलाई जा सकती थीं जिनमें जनता द्वारा शिक्षक नियुक्त हों। ऐसी संभावना थी कि कुछ ही दिनों में ऐसे शिक्षक जनता के सेवक बन जाएँ और उनका वेतन गाँवों की मालगुजारी से वसूला जा सके। ऐसे शिक्षकों के प्रोत्साहन के लिए खास इनमें तथा पुस्तकें देना आवश्यक था। पाठशालाओं के लिए प्राथमिक पुस्तकें तैयार हो रही थीं। कलेक्टर को यह भी रियायत दी गयी थी कि वह तत्कालीन शिक्षा के बारे में विवरण प्राप्त करे इसके लिए वह तहसीलदारों की सहायता ले सकता था। प्रत्येक ग्राम की पाठशालाओं की संख्या इकट्ठा करना आवश्यक था। (बनारस अफेयर्स, भाग २, पृ० १८७ से)।

उपर्युक्त आदेश के अनुसार बनारस जिले की पाठशालाओं का विवरण इकट्ठा किया गया। इस विवरण से संतुष्ट न होते हुए भी बनारस के कलेक्टर ए० शेक्सपीयर ने २३ अक्टूबर १८४७ को इसे लेफ्टिनेंट गवर्नर के पास रवाना कर दिया। विवरण से पता चलता है कि बनारस की ग्रामीण पाठशालाएँ प्रायः दूसरों के घरों में लगती थीं तथा शिक्षकों का वेतन इतना कम था कि उससे उनका निर्वाह मुश्किल था। पाठशालाओं की कुल संख्या १७३ थी जिसमें १२१ कायस्थ थे। शिक्षा में फ़ारसी का मुख्य स्थान था तथा देशी भाषाओं की शिक्षा भले घर के लड़के अपने घर पाते थे। हिसाब किताब की शिक्षा का कोई विवरण उपलब्ध नहीं था। नगर में कुछ पाठशालाएँ थीं जिनमें हिन्दी, महाजनी और बही खाता पढ़ाया जाता था। खत के साथ शेक्सपीयर ने लेफ्टिनेंट गवर्नर को शिक्षा संबंधी नोटिफ़िकेशन का एक मसविदा भेजा जिसमें वे ही बातें कही गयी थीं जिनका उल्लेख थॉर्नटन के पत्र में हो चुका है। इस परिपत्र की कुछ कापियाँ बनारस

[१] हेबर, उल्लिखित, पृ० १९१–९२

कॉलेज के प्रिंसिपल डाक्टर बेलंटाइन के पास भी भेजी और उन्हें लोगों की राय के लिये वितरित करने को कहा। बनारस कालेज के हेडमास्टर जी० निकल्स ने राय दी कि अपनी भाषा में शिक्षा देने की योजना सराहनीय थी पर बिना अच्छी देखभाल के ऐसी योजना का सफल होना संभव नहीं था। उन्होंने यह भी मत दिया कि देशी इंस्पेक्टरों से यह काम संभव नहीं था। उनकी राय थी कि एक देशी इंस्पेक्टर ८० रुपये महीने पर नियुक्त कर दिया जाय तथा उन पाठशालाओं की निगरानी बनारस कॉलेज के अफसरों के आधीन कर दी जाय (वही, पृ० २००-०१)।

ग्रामीण विद्यालयों के अध्यक्ष डी० ट्रेशम ने २९ अप्रैल १८४८ के अपने एक पत्र में बनारस के कलेक्टर को लिखा कि शिक्षा के उपाध्यक्षों के तीन कर्तव्य थे—यथा विद्यालयों में छपी किताबों का प्रवेश, शिक्षा में समानता लानी, तथा शिक्षा की सफलता अथवा असफलता के बारे में मासिक रिपोर्ट। पाठ्यक्रम में रामसरन दास द्वारा लिखी चार प्राथमिक पुस्तकें रखने का सुझाव रखा गया। वे पुस्तकें चार श्रेणियों के विद्यार्थियों के लिए रखी गयीं तथा सबक़ कैसे पढ़ाएँ जायँ इसका भार उपाध्यक्षों पर डाला गया। उन्हें डायरी रखने का भी आदेश था (वही, पृ० २०२-०४)। पर बनारस के कलेक्टर देशी पाठशालाओं की रिपोर्ट से इसलिए सन्तुष्ट नहीं हुये क्योंकि उसमें केवल बनारस के हिन्दी और फ़ारसी स्कूलों के ही उल्लेख तथा संस्कृत की पाठशालाएँ और मिशनरी स्कूल जैसे जैनारायन और चर्च मिशन छोड़ दिये गये थे तथा घर में ही शिक्षा पाने वालों का उसमें उल्लेख तक नहीं था (वही, पृ० २०५–०६)। डी० ट्रेशम के एक पत्र (वही, पृ० २०६ से) से पता चलता है शिक्षा विभाग के सबइंस्पेक्टरों को क़ाफी मुसीबत उठानी पड़ती थी, लोगों की शिक्षा के प्रति बड़ी खामखयाली थी और अपने बच्चों को उर्दू और हिन्दी में प्राथमिक शिक्षा देने तक को तैयार नहीं थे। शिक्षाध्यक्ष और उनके सहायकों का अधिकतर समय उनकी खामखयाली दूर करने में ही बीतता था। पाठशालाएँ खोलने के सम्बन्ध में उनका खयाल था कि अगर सरकार उन्हें खोले तो वे अपने बच्चों को पढ़ाने को तैयार थे। पर इस सम्बन्ध में शिक्षित अध्यापकों की कमी और उनका अल्प-वेतन बड़ी भारी बाधा थी। इस सम्बन्ध में सहायक शिक्षाध्यक्षों के नाम बनारस के कलेक्टर श्री मेकलियड ने कुछ हिदायतें जारी कीं (वही, पृ० २१० से)। उनसे कहा गया कि, "जनता तथा ज़मींदारों को पाठशालाएँ खोलने के लिए प्रोत्साहित करें। निरीक्षकों का कर्तव्य होना चाहिए कि वे देखें कि गाँव वालों ने शिक्षा का महत्त्व कहाँ तक समझा। शिक्षा मुफ्त होनी चाहिये, जो विद्यार्थी फ़ीस दे सकें उनसे फ़ीस वसूल करनी चाहिये तथा मुस्तैद शिक्षकों को इनाम देना चाहिए। शिक्षा के तरीक़े में उन्नति के लिए प्रोत्साहन उन्हीं को देना चाहिए जो उसके लायक हैं, और ज़बर्दस्ती से काम नहीं चलने का था। उन्हें लोगों को समझाना चाहिए कि शिक्षा का उद्देश्य कामकी बातों को सिखाना था जिनकी दैनिक जीवन में आवश्यकता पड़ती है जैसे पढ़ना लिखना, हिसाब किताब इत्यादि। निरीक्षकों को चाहिए कि सलाह माँगने पर वे शिक्षकों को रामसरनदास की चार पुस्तकें पढ़ाने तथा सवाल-जवाब की पद्धति चलाने को कहें तथा डायरी रखने का सुझाव रखें। यह भी आवश्यक था उपाध्यक्ष शिक्षकों को ठीक ठीक शिक्षा पद्धति का

ज्ञान करावें। उपाध्यक्षों को ग्रामीण शिक्षकों की उनके विद्यार्थियों के सामने इज्जत करने को कहा गया।''

जमींदारों ने शिक्षा प्रसार में कहाँ तक सहायता की इसका तो विशेष पता नहीं चलता पर राजा ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह ने १,२०० रु० सालाना शिक्षा प्रसार के लिए १८५६ में बाँध दिया। गवर्नर जनरल के एजेंट एच० सी० टकर ने इस बात की सरकार को सूचना दे दी और इस बात की प्रार्थना की कि एक शुक्का निकाल कर जमींदारों से ग्रामीण पाठशालाओं के लिए धन की अपील की जाय (वही, पृ० २१५)। ● ●

परिशिष्ट १

प्राचीन काशी में वैशिक जीवन

काशी नगरी हमेशा से अपनी मस्ती के लिए प्रसिद्ध रही है और काशीवासियों के जीवन क्रम में भांग बूटी, सैल सपाटा और नाच मुजरा मुख्य रहा है। प्राचीन भारत में वाराणसी केवल अपनी पंडिताई के लिए ही प्रसिद्ध नहीं थी उत्तर भारत के व्यापार की वह मुख्य केन्द्र थी। व्यापार की वजह से वहाँ के व्यापारियों के पास काफ़ी जमा थी और वे धार्मिक कृत्यों के सिवाय रागरंग के जीवन में भी काफ़ी व्यय करते थे। व्यापारियों तथा सरकारी कर्मचारियों की ऐशोआराम की जिन्दगी के साथ ही बनारस में वैशिक संस्कृति को प्रोत्साहन मिला। प्राचीन बौद्ध साहित्य में वाराणसी की अड्ढकासी नामक एक वेश्या का उल्लेख है जो राजगृह जाकर बस गयी थी। बाद में वह बुद्ध के उपदेश से भिक्षुणी संघ में प्रविष्ट हो गयी। उसके नाम के सम्बन्ध में दो किंवदंतियों का बौद्ध साहित्य में उल्लेख है। एक के अनुसार कासी का अर्थ एक हज़ार कार्षापण है इसलिए अड्ढकाशी के अर्थ हुए वह वेश्या जिसकी फीस हज़ार का आधा यानी पाँच सौ हो। दूसरे मत के अनुसार काशिराज की आय नगर से प्रतिदिन एक हज़ार कार्षापण थी और प्रति रात्रि की इतनी ही फ़ीस अड्ढकासी की थी; पर जिन कामुकों के पास इतनी रक़म नहीं थी वे दिन में ५०० देकर ही उसका उपभोग कर सकते थे।[१] ईसा पूर्व तीसरी सदी से लेकर ईसा की पाँचवीं सदी तक काशी के वैशिक जीवन का चित्र अस्पष्ट है गोकि राजघाट से मिली प्राचीन मृण्मूर्तियों और फलकों में चित्रित वेश्या जीवन और गोष्ठी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूर्ववत् बनारस वैशिक वृत्त का अड्डा बना रहा। श्यामिलक कृत पाँचवीं सदी के प्रसिद्ध भाण पादताडितकम्[२] में काशी की एक वेश्या का उज्जैन की मकरबीथि में बसने का उल्लेख है। उज्जैन के वेश में घूमते हुए विट कहता है—"अरे, यह कौन अपने घर की खिड़की पर विमान में अप्सरा की तरह सज रही है? यह काशी की मुख्य वेश्या पराक्रमिका पिञ्छोले से खेलती हुई रूपलावण्य की अठखेलियों से आँखों को तर कर रही है। आश्चर्य है—सोने के वैकक्ष्यक से कुचों को कसकर, अर्धोरुक पहन कर नितंबों को साफ उघाड़ती हुई, कामियों के चित्त को मथती हुई वेश-वल्ली के चञ्चल किसलय की तरह वह झूमती हुई चल रही है।

"एक ओर की कनपटी पर लटकते हुए जड़ाऊ कुण्डल की मणि की आभा से उसका मुँह चिलक रहा है। वह लम्बे अभ्यास के कारण तालु के नीचे से ई-ई फूँक निकाल कर अधर पर रक्खा पिञ्छोला मधुर स्वर से बजा रही है। उस ध्वनि से मेंढक के टर्राने का शक करके घर का मोर अपनी गर्दन घुमाता हुआ चक्कर मार रहा है।

---

[१] डिक्शनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स, पृ० ५०

[२] वासुदेवशरण, मोतीचन्द्र, शृंगारहाट, पृ० १८७ से, बम्बई १९६०

"इसके घर से इन्द्रस्वामी का रहस्य-सचिव हिरण्यगर्भक हड़बड़ा कर निकलता हुआ इधर ही आ रहा है। इसमें आश्चर्य क्या? इन्द्रस्वामी और हिरण्यगर्भक वेश में मिलें, यह तो गरम से गरम का जोड़ है। यह मुझे हाथ जोड़कर प्रणाम कर रहा है। अरे हिरण्यगर्भक, तू क्यों इसे वेशरूपी देवालय को अपरान्त के पिशाचों से ध्वंस कराना चाहता है? क्या कहता है—मेरे स्वामी को परदेसी माल का मजा लेने की चाट है। इसीलिए मुझे यह काम सौंपा है। वह पहले पाँच सौ मुहरें गिना लेती थी। अब तो एक हजार पर भी खुशामद से उसे घाट उतारना सम्भव नहीं। अब तू उसके तय कराने में मेरी मदद कर"।

उज्जैन के वेश में काशी की वेश्या पराक्रमिका का प्रेमी अपरांत के राजा इन्द्रदत्त होने से और उसकी लंबी फ़ीस से ऐसा पता चलता है कि काशी नगरी वेश संस्कृति के लिए प्रख्यात थी और वहाँ की वेश्याएँ भारत के प्रसिद्ध नगरों में घूम घूम कर नाम और दाम दोनों कमाती थीं।

गुप्तयुग के बाद भी काशी की वैशिक संस्कृति ज्यों की त्यों चलती रही। पंथा के अभिलेख से पता चलता है कि काशी की गलियाँ 'वार रामाभिरामा' थीं। पर काशी के वैशिक जीवन का सबसे स्वाभाविक चित्र कश्मीर के राजा जयापीड (७७९–८१३) के मंत्री दामोदर गुप्त ने अपने ग्रंथ कुट्टनीमतम् में किया है।[1] इस ग्रंथ का बहुत सा भाग काम संबन्धी शास्त्रीय लक्षणों के विवेचन से भरा है पर सारी कहानी की आधार भूमि वाराणसी है और उसमें नगरी के वैशिक जीवन, वेश्याओं के छल छंद, वेश में आने जाने वालों के वर्णन इत्यादि प्रकरण आये हैं।

मालती के आख्यान में अधिकतर वेश्या के कामशास्त्रोक्त गुण दोषों की चरचा की गयी है जो बनारस की वेश्याओं पर उतनी ही लागू होती है जितनी और दूसरे शहरों की वेश्याओं पर। निस्सन्देह कुट्टनीमत के मंजर्याख्यान में वैशिकवृत्त संबन्धी कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो बनारस की खासियत रखते हैं। बनारस आज दिन भी तमाशबीनों का रंगस्थल है। काशी के आसपास के मनचले आज दिन भी गंगा स्नान तथा विश्वनाथ के दर्शन के बाद बाईजी का मुजरा सुनना चाहते हैं। मंजर्याख्यान में सिंहभट के पुत्र समर भट की भी कुछ वही हालत थी। एक समय वह खूब सजधज कर साथियों सहित वृषभध्वज के दर्शनार्थ काशी आया। उसके ललाट का तिहाई भाग रेशमी चीर से ढका था, बाल संयमित थे। शरीर में सुगंधित लेप पुता था, तथा गाढ़े केसरिये लेप से कान के पास के बाल रंगे थे। उसके ललाट पर पिसी सरसों का तिलक, कानों में कुंडल, गले में टिटोड़ी तथा बाहुओं पर लाख से मढ़ा जंतर बंधा था। एक कलाई में मूंगे सोने की मणिमाला थी, हाथ में बेंत और मूठदार दण्ड तथा कमर में छुरी और तलवार खुसी थी। मुलायम खेस से उसका शरीर ढका था। पान भरा मुँह और चरमराते जूते उसकी शौकीनियत की दाद दे रहे थे।[2]

---

[1] कुट्टनीमतम्, ७३५–७५५ [2] कुट्टनीमतम्, ७५८–७९१

वृषभध्वज शिव मंदिर में केवल भक्तों और दर्शनार्थियों की भीड़ ही नहीं होती थी। आज की तरह काशी के मंदिरों में गुंडे बदमाश तरह तरह की बातें करते और फबतियाँ कसते पाये जाते थे। शिव के मंदिर में वेश्याओं और विटों की बातचीत का इसी दशा की ओर संकेत है। एक वेश्या एक विट से कहती है कि क्या गंभीरेश्वर की देवदासी उसके मित्र से फँसी थी? दूसरी वेश्या अपनी सखी से कामुक की कोरी बकवादों की बात चलाती है, तीसरी किसी विट को एक वेश्या के पीछे जाते देखकर उसकी विष भरी पर मीठी बात के प्रति आगाह करती है। चौथी वेश्या सौ देकर एक सौ दस लिखाने वाले एक धूर्त को एक वेश्या के फेर में फँसा देखकर उसकी हँसी उड़ाती है। एक विट अपने मित्र को एक वेश्या का आँचल खीचने पर फटकारता है। एक गणिका किसी सन्यासी का आचार देखकर फबती कसती है—अरे गद्दी और दण्ड पकड़े गेरुए कपड़े पहने छुआछूत से लोगों को हटाने वाला, मौनी वैष्णवों का भी प्रेमी पर मोक्ष के लिए शिव के शरणागत लिंगदर्शन के बहाने स्त्रियों को घूरता है। एक गणिका जड़कामुक की चेष्टाओं की हँसी उड़ाती है। वेश्या का एक पूर्व प्रणयी ईर्ष्यावश उसका पाशुपताचार्य के साथ संबन्ध की बात चलाता है इत्यादि।[1]

शिव पूजा के बाद मंदिर में नाटक होने की भी बात आती है। जैसे ही पूजा समाप्त हुई छड़ी बरदारों ने भीड़ को संयमित किया, सेवकों ने गद्दी लगा दी और समरभट उस पर बैठ गया। उसके सामने नर्तक, वंशीवादक गायक और वेश्याएँ बैठी थीं तथा नगर के सेठ और व्यापारी उन्हें पान, फूल और इत्र भेंट कर रहे थे। ढाल तरवारों और खड्गधारियों से सभामंडल भरा था और उसके पीछे शरीर रक्षकों का एक दल था। पान खाने के बाद वैतालिक ने उसकी तारीफ के पुल बाँधे।[2]

इस खुशामद बरामद के झमेले में संगीत नाट्य न शुरू होने पर समरभट ने नृत्याचार्य से उसे आरम्भ करने को कहा। इसपर नृत्याचार्य ने जो जवाब दिया उससे तत्कालीन रंग मंच की अवनति पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। उसने कहा—

"जहां बनियें नायक हों, जहाँ कपट का घर वेश्याएँ पात्री हों उस नाटक में मजा कहाँ। कोई वेश्या किसी जबर्दस्त के कब्जे में है, कोई अपने सुन्दर प्रेमी को नहीं छोड़ती तो कोई अपने यारों के साथ केवल पानगोष्ठी में दिन बिताती ह। एक गाहक आने की आशा से कभी अपने घर का दरवाजा नहीं छोड़ती तथा घूस खाकर वेश्याध्यक्ष दूसरी को रजस्वला करार दे देता है। रंगशाला में आयी हुई भी कोई वेश्या यदि किसी परिचित के घर आने की खबर सुनती है तो वह घर के काम के बहाने से नाटक छोड़कर वापिस चल देती है। फूटती जवानी में जिसे किसी सुन्दर जवान पर नजर डालने का अभ्यास है, वह सामाजिकों के बीच में बैठकर केवल शोभा पाती है। मद्य, मांस और पुरुषों में आसक्त वेश्याओं की तबियत में ओज नहीं, ओज होने पर प्रयोग की खूबसूरती नहीं। अनंग हर्ष के स्वर्ग जाने के बाद हम सब तीर्थ स्थान के ख्याल से इस देवस्थान में ठहर गये। यहाँ

---

[1] कुट्टनीमतम्, ७९३–८१०

[2] कुट्टनीमतम्, संपादक और अनुवादक त्रिदिवनाथ राय, १३६० बंगला सन्, कलकत्ता।

निरुत्साह होने पर भी कहीं थोड़ी बहुत वृत्ति बंद न हो जाय इस डर से किसी तरह हाथ पैर फेंककर नाटक करते हैं"।[१]

नाटक की प्रधान पात्री मंजरी को रत्नावली की भूमिका में देखकर, समरभट का चित्त उसकी ओर आकर्षित हुआ। मंत्री ने एक वेश्या की ओर झुका देखकर उसे सावधान किया इस पर कुटनी ने मंजरी का पक्ष ग्रहण किया। इसके बाद रत्नावली के एक अंक का प्रदर्शन हुआ। बाद में समरभट को फांस कर मंजरी ने छूछा कर दिया।

कुट्टनीमतम् के आरंभ में वाराणसी नगरी का सजीव वर्णन आया है। नगरी में ब्रह्मज्ञानी और विद्वान रहते थे। वहाँ के कामुक आनंद का उपभोग करते हुए भी शिव सायुज्य पाते थे। नगर में ऊँचे मंदिरों से लम्बी पताकाएँ फहराती थीं और मकानों में अनेक झरोखे होते थे। यहाँ अनेक पाठशालाएँ थीं। वेश्याएँ और गायक नागरिक जीवन के विशेष अंग थे। वहाँ के पाठ्यक्रम में व्याकरण, छंदशास्त्र और काव्यशास्त्र इत्यादि का स्थान था। नगरी के एक भाग आनंदवन का भी उल्लेख है।[२]

काशी की एक वेश्या मालती के वर्णन में नगर की मुख्य वेश्या का वर्णन समाहित है। वह वेश्या कुल की अलंकार स्वरूप थी। उसे देखकर वेश्याएँ ईर्ष्याकुल हो उठती थीं। धनी उसके गाहक थे। वह वेश्याओं की शीर्ष स्थानीया थी। सुन्दर उक्तियों लीलाओं और वक्रोक्तियों में वह कुशल थी।

कुटनी विकराला के शब्द चित्र में वास्तविकता का पूरा पुट है। उसके बड़े दाँत, नीची हुड्डी, बड़ी और चिपटी नाक, सूखे लटके स्तन, सिकुड़ा चमड़ा, लाल नेत्र, खिचड़ी बाल, उभरी नसें उसका पूरा नक्शा खड़ा कर देते हैं। उसने धुले कपड़े का जोड़ा, जड़ी बूटियों से भरी एक कंठी और सोने की अँगूठी पहन रखी थी। गणिकाएँ उसे घेरे रहती थीं[3] और वह उन्हें तरह तरह की शिक्षाएँ देती रहती थी।

मालती द्वारा उपयुक्त कामुक की पहिचान पूछने पर कुटनी ने राजसेवक भट्ट पुत्र चिन्तामणि का नाम बतलाया। चिन्तामणि की वेषभूषा के वर्णन में तत्कालीन शौकीन बनारसी रईस का चित्र सामने खड़ा हो जाता है। उसकी मोटी चोटी बँधी थी, उसका केश विन्यास पाँच अंगुल का था, उसके कानों में कंकतिका, अँगुलियों में अँगूठियाँ, तथा गले में सोने की सिकरी थी। उसके कपड़े बदन में केसर के लेप से पीले पड़ गये थे, गले में मोटे गजरे और सोने के गहने थे। उसके जूते नालदार थे। रंगबिरंगे गोट के जाल से उसका केशपाश बँधा था। उसका परिधान कलाबत्तू के काम से सजा था। उसके एक कान में दलवीटक और दूसरे कान में सीसपत्रक, तथा गले में काचवर्तक माला थी। रक्त पुनर्नवा के रस से उसके नख रंगित थे। उसके पीछे तांबूल-करंक वाहक चलता था।[४] सेठों, व्यापारियों, विटों और जुआरियों की भीड़ से भरी महफ़िल के बीच

---

[१] कुट्टनीमतम्, १-१७

[२] कुट्टनीमतम्, १८-२२

[३] कुट्टनीमतम्, २७-३०

[४] वही, ६१-६७

वेश्याध्यक्ष द्वारा लगायी गयी कुछ चौकियों पर वह बैठता था तथा बगल में तलवार बाँधे ऐंड़ी बेंड़ी बातें करने वाले पाँच छह आरक्षक उसे घेरे रहते थे। कुशल सेवक द्वारा दी गयी तकिये के सहारे ओठंगकर पान चबाते हुए वह अंट संट गाथाएँ पढ़ता था तथा अपने पिता और राजा के संबंध की अनर्गल बातें चलाकर लोगों का सिर खाता था।[१] खुशामदी उसकी नाट्यशास्त्र, संगीत, शस्त्र विद्या, कामशास्त्र, इत्यादि में प्रवीणता की तारीफ़ करते थे तथा उसकी वीरता और मृगया पटुता की वाहवाही करते थे। नृत्योपदेशक से वह नाचने वालियों के नाम और नृत्यकला से बँधी पारिभाषिक शब्दों के अर्थ जानकर अपना पांडित्य दिखलाने के लिए मौक़े बेमौक़े नर्तकी की तारीफ़ों का पुल बाँधकर उसे अपने गले से माला उतारकर पहरा देता था।[२]

नये नवेले रईस को फँसाने के लिए कुटनी उसके पास दूती भेजती थी जो उसके विरह में तड़पती वेश्या का संदेश ले जाती थी तथा अपनी मालकिन की गुणों और कलाओं में पारंगतता बयान करते हुए नहीं अघाती थी। दूती की बातों के फेर में फँसकर जब प्रेमी वेश्या के यहाँ पहुँचता था तो वह उसकी बड़ी आवभगत करती थी तथा कुटनी उसकी खुशामद करती थी। परिचय बढ़ने पर वह कुलवधू से बढ़कर वेश्या के प्रेम की चरचा करके प्रेमी को और अधिक फँसाने की चेष्टा करती थी। आगे चलकर वह उसके दूसरों के प्रति आकर्षण का बहाना दिखला कर उससे हुज्जत करती थी। इसके बाद वह कुटनी के साथ नकली लड़ाई लड़ती थी। कुटनी के अनुसार राज सेवक, शौल्किकाध्यक्ष, धनी पिता का एकलौता स्वतंत्र बेटा, चित्रकार, काम शास्त्र का ज्ञाता, पाशुपताचार्य, हट्टपति, इत्यादि फँसने वाले शिकार होते थे।[३] तरह तरह के बहाने बताकर वेश्या अपने प्रेमी को लूटती थी और जब वह खुक्ख हो जाता था तो उसे किसी न किसी बहाने से निकाल बाहर करती थी। कहीं भाग्यवश उसने फिर से रक़म पैदा करली तो वह उसे अपना पूर्व प्रेम जनाकर और कुटनी को गाली देकर उसे फिर से फँसाने की कोशिश करती थी। ● ●

---

[१] वही, ६८-७४

[२] वही, ७५-८७

[३] वही, ५२९-५४५

परिशिष्ट २

हेस्टिंग्स द्वारा बनारस की शासन व्यवस्था

चेतसिंह के मामले में हेस्टिंग्स ने अन्याय किया इसमें सन्देह की कम गुंजाइश है पर इसमें सन्देह नहीं कि १७८१ में शहर पर कम्पनी की हुकूमत कायम करने के बाद उसने शहर को दीवानी और फौजदारी की अदालतें दीं तथा उसकी सुरक्षा का भी प्रबन्ध किया, जो प्रायः अठारहवीं सदी की अराजकता में नष्ट सी हो गयी थी और गुंडे बदमाश चैन की बंसी बजाने लगे थे। १७८१ में बनारस शहर ले लेने के बाद हेस्टिंग्स ने शहर के तमाम आमिलों, बाशिंदों, तीर्थवासियों और यात्रियों के नाम निम्नलिखित हुक्मनामा जारी किया—

"तमाम बड़े-बड़े शहरों का यह रिवाज है कि नगर के बाशिंदों की जान और माल की हिफ़ाजत की योजना बनाई जाय, पर अभी तक बनारस के बाशिंदों के लिये ऐसी योजना नहीं बनी है गोकि यहाँ उत्तर और दक्षिण भारत से लोग आते हैं और इस नगर को सारा हिंदू समाज श्रद्धाभक्ति से देखता है। इसलिए यह आवश्यक है कि बनारस की सुरक्षा का प्रबंध सोचा जाय। सपरिषद् गवर्नर जनरल अपने तथा कम्पनी के अधिकार से यह आज्ञा देते हैं।

"बनारस के नागरिकों की रक्षा तथा न्याय व्यवस्था के लिए एक ऐसे आदमी की नियुक्ति होनी चाहिए जिसका बनारस के निवासियों तथा तीर्थवासियों पर पूरा अधिकार हो और उसे शहर का हाकिम कहा जाय। उसकी हुक्मरानी के लिए निम्नलिखित तीन विभाग खोले जाते हैं—

१—एक कोतवाल जिसका यह कर्तव्य होगा कि खून खराबी, डाका, चोरी तथा नागरिकों के विरुद्ध दूसरे अपराध जिनसे उनकी रक्षा में खलल पड़े, करने वालों को गिरफ़्तार करके फ़ौजदारी अदालत के सामने पेश कर दे। उसे यह भी अधिकार होगा कि वह गुंडों का दंगाफ़साद रोके तथा बलवाइयों और गुंडों को बीस कोड़े तक लगवा सके। उसकी सहायता के लिए बिल्लेदार, माहवारी तनख्वाह पर चपरासी होने चाहिएँ जिनकी संख्या शहर में रात को पहरा देने की आवश्यकता तथा कोतवाल की जरूरियात देखकर हाकिम को निर्धारित करने का हक होगा। कोतवाल अथवा उसके सहायकों की नियुक्ति अथवा बरखास्तगी हाकिम के अधीन होगी तथा वह हमेशा उसका ताबेदार माना जायगा।

२—फ़ौजदारी अदालत के अधीन एक दारोगा और तीन विद्वान मौलवी होंगे जिन्हें क़ानून तथा बनारस में किये गये अपराधों की तहकीक़ात के बारे में पूरा ज्ञान होगा। वे हर मुक़दमे का सूरत ए हाल और फ़तवा हाकिम को भेजेंगे जो उन पर दस्तखत करके पुनः दारोगा और मौलवियों के पास लौटा देंगे और उनका तब कर्तव्य होगा कि ऐसे

हुक्म की वे तामील करें। दारोगा और मौलवी भी हाकिम द्वारा नियुक्त होंगे। हाकिम को उन्हें बरखास्त करने का तथा उनकी कारवाइयों को बदल देने का अधिकार होगा। उनका यह कर्तव्य होगा कि जो नियम वह निश्चित करे उनकी तामील करें।

३—दीवानी अदालत में एक दारोगा और तीन मुनसिफ़ जो बनारस के बाशिंदे और अपनी वफ़ादारी और क़ाबलियत के लिये मशहूर होंगे, कर्ज, रेहन, बही खाते, जायदाद की खरीद बेच, चौहद्दी, विवाह, उत्तराधिकार, ज़मीन, रुपये पैसे इत्यादि के मुक़दमे सुनेंगे। किसी मुक़दमें में जहाँ क़ानून न लगता हो मुंसिफ़ राय से फ़ैसला करेंगें। पर जहाँ क़ानून लगता हो वहाँ मुंसिफ़ों का यह कर्तव्य होगा कि वे बयान सुन इस बात का फ़ैसला करें कि मुसलमानों का मुक़दमा क़ानून इस्लाम से चले और हिंदुओं का शास्त्र के अनुसार। मुंसिफ़ों को अपना कर्तव्य अधिक सुचारुरूप से पालन करने के लिये उनके साथ इस्लामी क़ानून से परिचित मौलवी तथा हिंदूशास्त्र से परिचित दो पंडित होंगे जिससे मौलवी इस्लामी क़ानून के अनुसार फ़तवा दे सकें और हिंदू अपने शास्त्र के अनुसार। यह भी हुक्म दिया जाता है अगर मुंसिफ़ आपस में असहमत हों तो वे अपनी राय अलग अलग लिख दें जिससे यह पता चल सके कि बहुमत किस ओर था और उसी के अनुसार हुक्म दिया जा सके। पर मत समान होने पर दारोगा की राय से ही फ़ैसला होना चाहिये। एक हज़ार रुपये तक की डिग्री का आखरी फ़ैसला अदालत कर सकती थी पर ऐसे मुक़दमों में जहाँ वादी अदालत के फैसला से सहमत न हो उसे अधिकार था कि वह हाकिम के पास अपील करे। हाकिम को यह अधिकार दिया जाता है कि वह मुकदमे का फैसला या तो अदालत में दिये गये सूरते हाल पर करे अथवा वह नये सिरे से कार्यवाही शुरू कर दे।

"अगर वादी नये गवाह लावे तो हाकिम का यह कर्तव्य होगा कि वह उनके बयानात सुने पर शर्त यह थी कि इस बात का काफ़ी सुबूत दे सके कि वह उन्हें पहले क्यों नहीं ला सका था। हाकिम को यह भी अधिकार होगा कि वह अदालत की डिग्री पर अपना फ़ैसला करे और उसका फ़ैसला आखिरी होगा। यह हुक्म दिया जाता है कि हाकिम दारोगा और मुंसिफ़ अदालत की रोज की कार्रवाई लिखें जो दफ़्तर में रख दी जाय। दारोग़ा और मुंसिफ़ हाकिम द्वारा नियुक्त होंगे और उन्हें हटाने का उसे पूरा अधिकार होगा। उसे यह भी अधिकार होगा कि उनकी अदालत की कार्यवाही में वह रद्दोबदल कर सके और उनका यह कर्तव्य होगा कि उनके द्वारा चलाये गये तरीक़ों को वे अपनायें। यह भी हुक्म दिया जाता है कि हाकिम हर महीने सपरिषद् गवर्नर जनरल को कलकत्ते में तमाम कागज़ातों की नकलें तथा नियुक्त और बरखास्त आदमियों के बयानात भेजे। इन कागज़ातों पर नये हुक्म जो समय समय से निकले जाते थे तथा दीवानी और फ़ौजदारी अदालत में जो नये नये तरीक़े अपनाये जाते थे तथा और भी दूसरे कागज़ात जिन्हें वह बनारस और अपने दफ़्तरों के मामले के लिये ज़रूरी समझता था भेजने होंगे। सपरिषद् गवर्नर जनरल की आज्ञा मानना उन्हें ज़रूरी था। हाकिम का अधिकार बनारस शहर तक ही सीमित था फिर भी अपराधियों के दूसरी जगह भागने पर यह हुक्म दिया जाता है कि हाकिम और उसके आदमियों को अधिकार दिया जावे कि वे सीलमुहरदार परवाना उस अपराधी के लिये भेजें जो शहर बनारस में अपराध करके निकल भागा हो। इस परवाने में उस अपराधी को पकड़ कर

बनारस की अदालत में हाज़िर करने के लिये यह हुक्म दिया जाता है कि बनारस जिले के तमाम ज़मींदार आमिल और बाशिंदे हाकिम को उन अपराधियों को पकड़ने में सहायता देंगे जो उनके अमल में भाग गये हों। दोनों अदालतों के अफ़सरों को यह अधिकार होगा कि वे उनके हुक्म के बाहर रहने वाले गवाहों को भी बुला सकें अगर उन्हें इस बात का विश्वास हो जाय कि उनके बयान ज़रूरी थे। यह भी हुक्म दिया जाता है कि इस दिन से (१४ अक्टूबर १७८१) अली इब्राहीम खाँ बनारस शहर के हाकिम बनाये गये"।[१]

"अपनी नियुक्ति के बाद अली इब्राहीम खाँ ने बनारस की दीवानी अदालत के तौर तरीक़े पर अपना हुक्म दिया, जिसके अनुसार "अदालत के दारोग़ा, मौलवी, मुन्सिफ़, पंडित, पेशकार, मुंशी, मुहर्रिर तथा दूसरे अफ़सरों को यह हुक्म दिया गया कि अदालत में हाज़िर रह कर मुक़दमों की सुनवायी करें। बारह बरस से अधिक पुराने मुक़दमे की तब तक सुनवाई नही हो सकती थी जब तक कि वादी इस बात का सबूत न दे सके कि वह नाबालिग़ था अथवा कोई लम्बी यात्रा पर था। जब वादी अदालत में हाज़िर हो तो उसे एक-एक सरनामे पर दस्तख़त करना पड़ेगा कि अगर वह अदालत में बिना कारण के हाज़िर न हो तो उसका मुक़दमा ख़ारिज हो जायगा। अगर प्रतिवादी सम्मन से अदालत में आवे तो उससे ज़मानत ले लेनी चाहिये। अगर वादी और प्रतिवादी अपने-अपने वकील ले आवें तो उनके वकालत नामों पर दोनों फ़रीकों के दस्तख़त होने चाहियें और क़ाज़ी की मुहर। अगर वादी प्रतिवादी के वकील मुक़दमें में समझौता करना चाहें तो एक सरनामे पर दोनों फ़रीकों के पंचों के नाम दर्ज होने चाहिएँ। उनका जो कुछ भी फ़ैसला हो उन पर उनके दस्तख़त होकर दफ़्तर में दाखिल हो जाना चाहिये जिससे उनके फ़ैसले पर अमल किया जा सके। उन मुक़दमों में जहाँ गवाहों के बयान जरूरी हैं मुसलमानों को क़ुरान लेकर तथा हिंदुओं को गंगाजल लेकर शपथ खानी चाहिये। अगर फ़ैसले के बाद भी प्रतिवादी डिगरी की रक़म जमा न करे तो उसे ऐसा करने के लिये बाध्य करना चाहिये, जेल भेज देना चाहिये अथवा उसकी जायदाद बेच कर रक़म वसूल कर लेनी चाहिये। यह भी जरूरी है कि कोई दारोग़ा, मौलवी, मुंसिफ़ या पंडित अथवा अदालत का कोई कर्मचारी अपने घर में कोई मुकदमा न सुनेगा"।

"मुकदमों के हालात मौलवी, मुंसिफ़ और पण्डितों के राय सहित होने चाहियें और उन पर मेरे दस्तख़त और मुहर होनी चाहिएँ इसके बाद उन्हें सरिश्तेदार के पास भी भेज देना चाहिये। मुक़दमों के सब फ़ैसले एक ही में दर्ज करके हर महीने सपरिषद् गवर्नर जनरल के पास कलकत्ता भेज देना चाहिये। यह भी सख़्त हुक्म दिया जाता है कि अदालत का कोई भी अफ़सर किसी तरह की रसूम, घूस, इनाम और तलबाना न ले अगर वह ऐसा करे तो लोगों को अदालत के दारोग़ा को फौरन ख़बर देनी चाहिये कि जिससे वह कुसूरमंद को सजा दे सके। यह भी हुक्म दिया जाता है कि फौजदारी के मुक़दमें जैसे ख़ून, हाथ काटना, मारपीट, बदचलनी, गालीगुप्ता जो फ़ौजदारी अदालत का काम है

---

[१] बनारस अफ़ेयर्स (१७८८-१८१०), भाग १, इलाहाबाद १९५५

उसमें दीवानी अदालत दस्तंदाजी न करे। झूठी शिकायत व झूठी गवाही देनेवाले को फ़ौजदारी अदालत में सुपुर्द कर देना चाहिये"।[१]

एक दूसरे हुक्म (१ दिसम्बर १७८१) से अली इब्राहीम खाँ ने १,००० रु० तक के दावे सुनने के लिए रहमतुल्ला खाँ को नियुक्त किया और उन्हें आदेश दिया कि मौलवियों और पंडितों की सलाह से वे मुक़दमों का फ़ैसला करके डिगरी की नक़ल दोनों फ़रीक़ों को दे दें। एक हजार के ऊपर के मुक़दमों के फ़ैसले की निगरानी स्वयं इब्राहीम करते थे। राजीनामा लिखकर दोनों फ़रीक़ हिंदू होने पर भी इस्लामी क़ानून से फ़ैसला करा सकते थे। दोनों फ़रीक़ों में एक हिंदू और दूसरा मुसलमान होने पर मुक़दमे का फ़ैसला स्लामी क़ानून से होता था, इत्यादि।[२]

फ़ौजदारी अदालत की कार्यवाही भी दीवानी अदालत जैसी ही थी और उसे अपराधियों को २० से ३० कोड़े लगाने तथा एक महीने की जेल तक का अधिकार था। इससे ऊपर की सजा बिना हाकिम की आज्ञा के नहीं दी जा सकती थी।[3]

शहर की रक्षा के लिए शहर कोतवाल मिर्जा बाँके बेग खाँ को अली इब्राहीम खाँ ने एक हिदायतनामा भेजा जिसके अनुसार कोतवाली के कर्मचारियों को शहर की सुरक्षा के लिये सतत प्रयत्नशील रहने को कहा गया था तथा चोरों, बदमाशों, डाकुओं तथा खूनियों को गिरफ़्तार कर फ़ौजदारी अदालत के सुपुर्द करने का आदेश दिया गया। उन्हें दंगा फ़सादियों को बेंत लगाने की आज्ञा दी गयी तथा उनके मार्फ़त हर मुहल्ले के चौकीदारों को यह आज्ञा दी गयी कि वे अपने हल्के के पहरियों पर निगाह रखें और वहाँ की घटनाओं की खबर तुरत शहर कोतवाल को दें। कोतवाल का यह कर्तव्य था कि मुहल्ले में होने वाली घटनाओं की खबर रखें और एतिहाती की कार्यवाही करें तथा चोरों को पकड़ कर फ़ौजदारी अदालत में पेश करें। चोरी तथा डाकेजनी में पकड़े गये अपराधियों की अगर अदालत चल रही हो तो उन्हें तुरत वहाँ पेश करने की आज्ञा थी। अगर अदालत बन्द हो तो उन्हें एक दिन हवालात में बंद करके दूसरे दिन कचहरी में पेश करने का हुक्म था। अगर उनके विरुद्ध जुर्म साबित न हो सके तो उन्हें छोड़ देने की हिदायत थी। घास अथवा बैल चुराने अथवा खेत चराने के लिए साधारण दण्ड देने की आज्ञा थी। कोतवाली के लोगों को घूस, तलबाना, इनाम, नजर, तोहफ़े इत्यादि लेने को मुमानियत की गयी। चोरी अथवा डकैती का माल बरामद होने पर उसकी तालिका बनाकर फ़ौजदारी अदालत को भेजना आवश्यक था। हाकिम को अधिकार था कि वह चोरी का माल छोड़ दे अथवा जब्त कर ले। चोर डाकुओं के भागने पर हाकिम को इत्तिला देनी जरूरी थी। दीवानी अदालत के कामों में दस्तंदाजी करने की मनाही थी। क़ानून के विरुद्ध काम करने वाले कर्मचारियों को बरखास्तगी का हुक्म था। उन्हें जमानत मुचलके तथा खर्चबर्च का हिसाब

---

[१] वही, पृ० ११९,२०

[२] वही, पृ० १२०,२१

[3] वही, पृ० १२१,१२३

रखना भी आवश्यक था। उन्हें मालगुजारी, मालपर कर, आबकार इत्यादि में दखल देने का अधिकार नहीं था। ये काम अमीन के सुपुर्द थे।[1]

लगता है दीवानी अदालत कायम होते ही वहाँ काम की इतनी भीड़ हो गयी कि वादी अपना काम जल्दी से कराने के लिये शोरगुल मचाने लगे। दीवानी अदालत ने इसकी खबर अली इब्राहीम खाँ को दी। इस पर उन्होंने आज्ञा दी कि दीवानी अदालत की कुछ अर्जियाँ फौजदारी अदालत के सुपुर्द कर दी जायें। तथा काम समाप्त होने पर पुनः दोनों अदालतें अपने अपने काम संभाल लें।[2]

१७८१ में बनारस शहर में रात को पहरी कैसे काम करते थे इस संबन्ध में सरजान शोर को १७९५ में डंकन द्वारा भेजी गई एक रिपोर्ट का अंग्रेजी अनुवाद उल्लेखनीय है।[3]

१—शहर में पाँच कोतवाली चबूतरे थे जिसमें हर एक के मातहत एक जाँनशीन कुछ चपरासी तथा एक भोंपे वाला होते थे, जो अपने हल्के की गश्त लगाते थे। हर रात चबूतरों के कर्मचारियों की हाजिरी के बाद दलों में बँट कर गश्त लगाते थे।

२—इसके सिवा सुइरों के जमातदार अपने भाईबन्दों के साथ सदर मुन्तसद्दी के पास जमा होते थे और हाजिरी देने के बाद वे दलों में बट कर गलियों और सड़कों की गश्त लगाते थे। इसमें से कुछ अपना वेष बदले होते थे। उन्हें जाँनशीनों की मदद से चोरी का माल भी बरामद करना पड़ता था।

३—रात में कोतवाल और उनके नायब भी गश्त पर निकलते थे। वे हर चबूतरे की निगहबानी करते थे। अगर वे किसी चपरासी को सोते अथवा अपने काम में गफ़लत करते देखते थे तो उसे सजा दी जाती थी। कोतवाल शहर के एक ओर गश्त लगाते थे और नायब दूसरी ओर। शहर के बहुत बड़े होने से यह आवश्यक था।

४—हर सुबह चबूतरों के जाँनशीन चपरासी कोतवाल को रिपोर्ट दिया करते थे।

५—चबूतरों से सम्बद्ध हरकारे हर सुबह शहर की खबरें लाते थे और उनमें जो जरूरी होती थीं उन्हें अदालत में पहुँचाते थे।

६—बनारस में ऐसी भी बहुत सी गलियाँ थीं जिनकी फाटकबन्दी होती थी। रात में ये फाटक बन्द कर दिये जाते थे तथा इसके भीतर रक्षा का प्रबन्ध खुल्दसरा, पासवानों और निगहवानों पर होता था। जिनका खर्च फाटक बन्द मुहल्ले वाले उठाते थे। हर सुबह ये सदर कोतवाली में सदर चबूतरे के मुन्तसद्दी की फाटक के अन्दर गुजरी घटनाओं की सूचना देते थे।

७—सरायों में गुजरी घटनाओं की सूचना भटियारे देते थे। इन सूचनाओं के आधार पर रोज एक बयान तैयार किया जाता था।

---

[1] वही, पृ० १२२,१२४

[2] वही, पृ० १२४,१२५

[3] वही, पृ० १२५ से

८—दिन में कोतवाली के चपरासी दलों में बटकर जुआड़ियों, चोरों, गिरहकटों तथा दूसरे बदमाशों की खोज में घूमा करते थे। वे सड़कों के नाकों और भीड़-भाड़ के पास खड़े रहते थे।

९—रात अथवा दिन जब भी झगड़े फ़साद होने की संभावना की खबर मिलती थी कोतवाली के अफ़सर वहाँ इकट्ठे होकर झगड़ा फ़साद रोकते थे। सर्राफ़खानों, तथा शराब की दूकानों पर झगड़ों की ये खबर लेते थे तथा घाटों की भी सँभाल रखते थे।

१०—किसी घटना वश किसी की मृत्यु हो जाने पर जब शव जलाने के लिये घाट पर लाया जाता था तो उसकी सूचना डोमों को कोतवाली में देनी होती थी और कोतवाली के अफ़सर तहकीक़ात के बाद शव को जलाने की आज्ञा देते थे।

११—उन अवस्थाओं में भी जब यात्री आग में जलकर, पानी में डूबकर अथवा जमीन में जीवित समाधि देकर अपनी जान देने की इच्छा प्रकट करते थे तो कोतवाली के अफ़सर वहाँ पहुँचकर उन्हें अपना इरादा छोड़ने के लिये कोशिश करते थे। उनके न मानने पर इसकी सूचना वे अदालत को दे देते थे।

१२—हरकारे लोगों की मृत्यु का समाचार देते थे जो बैतुलमाल के मुन्तसद्दी के पास भेज दिये जाते थे।

१३—कोतवाली के अफ़सरों को शहर के संगे बजनियों की निगरानी का भी अधिकार था।

१४—अवध से बनारस अथवा बनारस से अवध को जाने वाली फ़ौजों के लिय घाटों की व्यवस्था तथा उनके शहर के पास होने पर उनके खाने पीने की व्यवस्था का भार भी कोतवाली पर था।

१५—कोतवाली के अफ़सर गरमी के दिनों में मकानों में आग लगने पर तथा बरसात में कच्चे घर गिरने पर लोगों की मदद करते थे।

१६—कोतवाली के मार्फ़त अंग्रेज कारीगर, मजदूर इत्यादि हासिल करते थे। ये मजदूर भिन्न-भिन्न व्यापारों के चौधरी उपलब्ध करते थे।

१७८१ में बनारस की कोतवाली के मातहत ३४ जाँनशीन और उनके कर्मचारी तथा २४३ चपरासी इत्यादि थे।

सदर चबूतरा—११ जाँनशीन और ६३ चपरासी। ये निम्नलिखित मुहल्लों की रखवारी करते थे—सौदागरटोला, बिसेसर मठ, नेपाली खपरा, ब्रह्मनाल, कचौड़ीगली, चौक, मिटगेट, बुलानाला, नंदन साव का मुहल्ला, रेशम बाजार, दालमंडई, चबूतरा (लक्खी), राजमंदिर।

काजीमंडई चबूतरा—जाँनशीन ३, चपरासी २१, पेट्रोलगार्ड १५। ये मंडई आम, बहलिया, छेतमपुर, नयापुरा, हनुमान फाटक, और तिरमोहानी खुर्द में गश्त लगाते थे।

कबीर चबूतरा—जाँनशीन ४, चपरासी १९—ये गायघाट, बतनबर, दारानगर तथा राजमन्दिर की रखवारी करते थे।

तेलिया नाला चबूतरा—जाँनशीन ३, चपरासी १८। ये पटनी टोला, तिरमोहानी, टेढ़ीनीम, फाटक सराय तथा भदाऊँ में गश्त करते थे।

दसासुमेर चबूतरा—३ जाँनशीन, ३० चपरासी। ये सोनारपुरा, दारासिंह का घर, मानसरवर, गंगामहल, अहल्याबाई फाटक, रानीभवानी फाटक, सीतलाघाट, दसासुमेर, जगजीवपुरा, जंगमबाड़ी, अगस्तकुंडा, फाटक चौसट्ठी और एहियावीर में गश्त करते थे।

मुहरियों का काम निम्नलिखित मुहल्लों का गश्त लगाना था—लक्सा, रानीभवानी का कुआँ, वे (स) दानंद का बाजार, डोंडियावीर, सोनारपुरा, मसान घाट, फाटक शेख सलेम, राजमंदिल, औरंगाबाद, काशीपुरा, बाजार बाबू पासवानसिंह, हरतीरथ, पानदरीबा, फाटक रंगीलदास, सुखटोला।

फाटकबंद महल्ले—इनमें कुछ में पहरी नहीं होते थे और रहने वाले खुद दरवाजे बंद कर लेते थे, फाटकों के नाम निम्नलिखित हैं—

जंगमबाड़ी (३ फाटक), पत्नीटोला (४ फाटक), रामघाट (३ फाटक), सूतटोला (४ फाटक), गोला दीनानाथ (५ फाटक), मछरहट्टा (८ फाटक), नंदनसाहु (२ फाटक), गली सकरकंद (२ फाटक), बंगाली टोला (४ फाटक), ग्वालदास (३ फाटक), इत्यादि।

औरंगाबाद, शाइस्ताखाँ, मीर रुस्तम अली और शिताबराय की सरायों में मुसाफ़िर टिक सकते थे। ● ●

परिशिष्ट ३

बनारस के महाराज, रानी तथा दूसरे अफ़सरों, सरदारों, कुल स्त्रियों तथा बनारस के बाशिंदों का हेस्टिंग्स के नेकचलनी के बारे में परिपत्र

बनारस के सब हिन्दू और मुसलमान तथा दूसरे धर्मों को मानने वाले तथा बाहरी व्यक्तियों को यह सुनकर कि शहर के हाकिम वारेन हेस्टिंग्स ने प्रजा को सताया, उनसे जालसाजी की तथा देश को बरबाद कर दिया बहुत दुःख है। हम लोगों के लिए यह आवश्यक है कि सही-सही बात कह दें।

जलवतजंग वारेन हेस्टिंग्स साहब बहादुर बहुत ही सभ्य और गुणवान पुरुष हैं। अपने अनेकांगी गुणों से, सत् चरित से तथा जन रक्षक होने से वे भारत तथा विलायत के बादशाहों के प्रियपात्र बने। वे बेईमानी तथा दूसरों के नुक़सान पहुँचाने के दुर्गुणों से दूर थे। उनके दिल का आइना लालच की धूल से मुक्त था। अपने राज्य काल में वे प्रजा के पालन और न्यायदान में रत रहते थे। उन्होंने कभी भी प्रजा के दिल को कमज़ोर नहीं किया। सदा अपनी बुद्धि की सूझ और चतुराई से प्रजा की रक्षा करके उसे कठिनाइयों और चिन्ताओं से मुक्त करते रहे। उनका हमेशा हम पर दया और प्रेम भाव रहा। उनकी मधुर बातें, और अच्छा स्वभाव ज़ख्मी दिलों की मरहम-पट्टी करते थे। उनके न्याय और विशाल हृदयता ने हमें बदमाश और क्रूर व्यक्तियों से बचाया उन्होंने हमारे लिये सुख और स्वास्थ्य का दरवाज़ा खोला और हमारे प्रति न्याय किया। गवर्नर के राज्य में मुल्क के लोग खुश और खुर्रम थे। उन्हें देश के क़ानून का पूरा ज्ञान था और इसीलिए हमारे मज़हब और विश्वास ज्यों के त्यों बने रहे और हम पर कोई आफ़त नही आयी। बाहरी और भीतरी शत्रुओं से हमारी रक्षा हुई और हमारा मान बढ़ा।

जो कुछ भी हमने देखा और जो कुछ हुआ हमने किसी बनावट के बिना और ढोंग के बिना ठीक-ठीक लिख दिया है—

१. काज़ीअलकज्ज़ाह मौलवी वासिलअली खाँ, २. काज़ी तक़ीअली खाँ काज़ी शहर बनारस, ३. काज़ी रहमत अली खाँ काज़ी चुनारगढ़ मुतालिक बनारस, ४. काज़ी सैय्यद मुहम्मद अमान, ५. मीर क़ामिल अली नायब काज़ी तक़ी अली खाँ, ६. विलायत अली खाँ भाई काज़ी तक़ी खाँ, ७. बनारस के मुफ़्ती करमुल्ला खाँ, मुफ़्ती अकबर खाँ, ८. मुफ़्ती मुहम्मद अकबर अली खाँ मुफ़्ती जौनपुर बनारस के मुताल्लिक़, ९. मौलवी मुहम्मद नासिह मुफ़्ती हुजूर हज़रत शाह आलम बादशाह, १०. मुफ़्ती अमीरुल्ला मुफ़्ती चुनारगढ़, ११. शेख इनायत अली भाई मुफ़्ती करमुल्ला, १२. शेख गुलाम हुसैन भाई मुफ़्ती तौफ़ीक अली मुतवफ़्फ़ी, १३. मुफ़्ती इरशाद।

उल्मा व फ़ज़ला

१४. मौलवी वहीउद्दीन अहमद, १५. मौ० सिराजुल हक़, १६. मौ० फ़ायक़ अली, १७. मौ० गुलाम हुसैन, १८. मौ० अब्दुल हादी, १९. मौ० सलामत अली, २०. मौ० फ़ख़रुद्दीन

मुहम्मद, २१. मौ० अफ़र अली, २२. मौ० नजीबुल्ला, २३. मौ० वासिल अली, २४. मौ० महमदुल्ला, मौ० हुजूर हजरत शाह आलम बादशाह, २५. मौ० मुहम्मद असलम।

अहदगान, रुत्नानीन और मन्सबदारान

२६. अमीरूद्दौला नवाब मुहम्मद अकबर खाँ बहादुर बिरादर हक़ीक़ी मजदुद्दौला नवाब अजीजुल्ला खान बहादुर, २७. नवाब सैय्यद मुहम्मद बाकर खाँ पिसर नवाब आलीजाह, २८. नवाब सैय्यद मुहम्मद अरीज़ खाँ पिसर नवाब आलीजाह, २९. नवाब सैय्यद अब्दुल अली खाँ पिसर नवाब आलीजाह, ३०. नवाब सैय्यद ग़ुलाम हुसैन खाँ पिसर नवाब आलीजाह, ३१. मीर मुहम्मद नासिर खाँ दामाद नवाब आलीजाह, ३२. नवाब सैयद फजल अली खाँ बेटे नवाब सैय्यद रुस्तम अली खाँ जो शहर बनारस के हाकिम थे, ३३. सैय्यद अफ़ज़ल अली खाँ पोते नवाब रुस्तम अली खाँ मरहूम, ३४. अमीनुद्दौला व अजीज उलमुल्क नवाब अली इब्राहीम खाँ बहादुर नसीरजंग, ३५. ख्वाजा फ़जल अली सानी, ३६. मिरजा मुहम्मद शुजा, ३७. मीर बिस्मिल्ला, ३८. शेख नूर मुहम्मद, ३९. सैय्यद रज्जब, ४०. मुहम्मद अदादान खाँ, ४१. शेख शाहिद अली, ४२. शेख शिब्रगतुल्ला, ४३. सैय्यद क़बर अली, ४४. शेख अमानुल्ला, ४५. मिरजा मुहम्मद काजिम, ४६. मिरजा मुहिब अली मुतवल्ली पंजाशरीफ़, ४७. शेख ग़ुलाम हुसैन मुतवल्ली इमामबाड़ा, ४८. नियामतुल्ला बेग सौदागर, ४९. मिरजा जाफर अली मुंशी, ५०. सैय्यद फ़जल अली, ५१. शेख तालिब अली, ५२. हकीम मिरजा हुसैना, ५३. फजल अली हुसैनी, ५४. सुलैमान बेग, ५५. मुहम्मद काजिम, ५६. तालिब अली, ५७. शेख फ़ैजुल्ला, ५८. मिरजा करीम बेग, ५९. मिरजा अजीम बेग, ६०. अली अजीम जौनपूरी, ६१. हाजी जमशेद बेग, ६२. मुहम्मद वजीह, ६३. करम अली, ६४. मिरजा हसन अली, ६५. सैय्यद सादुल्ला, ६६. मिरजा मुहम्मद रहमतुल्ला बेग।

शहर बनारस के रहने वाले और मरने वाले जो सराफ़ा का काम करते थे

६७. बेनीराम पंडित वकील राजा भोंसला, ६८. लाला चंपत सदर अमीन शहर बनारस, ६९. राय ब्रिजलाल, ७०. राय शिव सिंघ, ७१. लाला सुन्दरदास बिरादर लाला चंपत सदर अमीन, ७२. मजलिस राय दाखिल भगत ? दीवान लाला चंपत सिंघ, ७३. राय साधोराम पिसर राय माधोराम दीवान सूबा अलाहाबाद ?, ७४. लाला मोती राम नायब लाला चंपत सिंघ, ७५. लाला निहालचन्द बिरादर राय साधोराम मजकूर, ७६. लाला किशन परशाद, ७७. लाला पंचलाल, ७८. लाला हरनामहीरा, ७९. लाला बस्ती लाल, ८०. लाला रामधन, ८१. लाला रामबख्श, ८२. लाला संबल सिंघ, ८३. लाला साँवल सिंघ, ८४. लाला हीरालाल, ८५. लाला रामदयाल, ८६. लाला शिवजीत, ८७. लाला शिवनरायन, ८८. लाला रामपरशाद, ८९. मुंशी नानकचन्द, ९०. लाला शिताब राय, ९१. लाला जहाँगीर मल, ९२. राव बहादुर सिंघ मुत्सद्दी बादशाही, ९३ कान्हदास इलाक़ादार दारउलज़रब, ९४ लाला मोती लाल, ९५. शै सिंघ, ९६. लाला मंगलसेन वकील राजा चेतसिंघ, ९७. दलपत राय।

रोजीदार तथा पेंशनयाफ्ता और जागीरदार

९८. मीर सफ़दर अली जागीरदार मोतल्लिक जौनपुर, ९९. मीर बाक़र अली जागीरदार मोतल्लिक जौनपुर, १००. शेख फ़जल अली बिरादरजादा मुनक्की

करमुल्ला, १०१. मीर मुहम्मद इब्राहीम, १०२. मिरज़ा कामिल अली बेग, १०३. सैय्यद नजाकत अली, १०४. सैय्यद मुबारक अली, १०५. भवानी शंकर, १०६. सीताराम शंकर, १०७. पातीराम मिस्र, १०८. शाह अहमद अब्दुल्ला, १०९. शाह महमद हुसैन बिरादर शाह अहमद अब्दुल्ला, ११०. शाह अमीरुद्दीन अक़बार अहमद अब्दुल्ला, १११. शेख गुलाम ग़ौस, ११२. शाह मासूम आलम, इज्ज़त अली कुरैशी, ११३. क़ूबत अली, ११४. नूर अली, ११५. शेख गुलाम मीर, ११६. शेख रहमत अली, ११७. शेख सुजान अली, ११८. दरवेश अली हुसेनी, ११९. इनायत अली, १२०. रोशन अली, १२१. गुलाम हसन, १२२. फज़ल अली, १२३. गुलाम हुसेन अली, १२४. दोस्त अली, १२५. सैयद क़मर अली, १२६. फ़ैज अली, १२७. अली हसनी, १२८. सैय्यद गुलाम अली, १२९. सैय्यद मुहम्मद ग़ौस, १३०. हीरा गिरि, १३१. गोसाईं अमर गिरि, १३२. चरन गिरि, १३३. साधोराम, १३४. दौलतराम नानक शाही, १३५. मुशर्रफ़ अली हसनी, १३६. मुहम्मद अली अहमदिया, १३७. सैय्यद अज़मत अली, १३८. परसराम गिरि, १३९. मनी राम, १४०. रामग़रीब, १४१. गंगादत्त बिरादर सिरीकिशन, १४२. गोपानन्द, १४३. अभैराम, १४४. दुरगादत्त, १४५. गनपत जुआरदार, १४६. ख्वाजा मुहम्मद माह, १४७. वाहिद अली, १४८. दिलवर अली, १४९. मुराद अशरफ़, १५०. शेख फज़ल अली, १५१. शाह मुहम्मद अली, १५२. शेख मुहम्मद नवाज़ सिद्दीक़ी, १५३. शाह मुहम्मद ग़ौस, १५४. सैय्यद जब्बार अली. १५५. गुलाम शरफ़ुद्दीन, १५६. मुहम्मद आफ़ाक़, १५७. शेख इनायत मक़दूम, १५८. रियायत अली, १५९. अहमद अली, १६०. हैदर अली, १६१. मुहम्मद खलील, १६२. मिहर अली, १६३. गुलाम हुसैन, १६४. इमाम अली, १६५. उम्मीद अली, १६६. मुहयुद्दीन अकबर, १६७. अकबर अली, १६८. वाहिद अली, १६९. फज़लुद्दीन, १७०. मुहम्मद अज़ीमुद्दीन, १७१. गुलाम रसूल, १७२. रुकनुद्दीन, १७३. गुलाम मीर, १७४. अशरफ़ अली बेग, १७५. मिरज़ा बबर अली बेग, १७६. आशूर अली बेग, १७७. मुहम्मद अशरफ़, १७८. मीर रुस्तम अली, १७९. मीर हैदर अली, १८०. निसार अली, १८१. भीखम मिसिर, १८२. सीताराम, १८३. दामोदर चरन, १८४. मुहम्मद माह ।

गुजराती में नई पट्टी के महाजनों द्वारा अपने हाथों से लिखे हिंदी लेख का अनुवाद

हम महाजन और व्यापारी बनारस शहर के निवासी हैं। हम बिलकुल ठीक-ठीक बयान करते हैं कि गवर्नर हेस्टिंग्स ने किसी का मालमता नहीं लूटा, न उन्होंने किसी जोर जबर्दस्ती से किसी देश और दौलत पर अधिकार किया। वे सर्वदा बड़ों और छोटों को अपनी सदिच्छा, दया और मधुर वाणी से खुश करने का प्रयत्न करते रहे। वे ईमानदार और अच्छे स्वभाव वाले मालिक, न्याय बरतने वाले और नगर के रक्षक थे। वे हिन्दू और मुसलमानों की मदद करते थे और हम सबसे स्नेह करते थे।

हिन्दोस्तान के रस्मरवाजों से परिचित होने के कारण वे हर फ़िरके के ख्याल रखते, रिआया को खुश रखते थे और हम सब का न्याय करते थे। हमारे प्रति उनका बाहरी और भीतरी व्यवहार समान रूप से था।

हम सब उनके प्रति बहुत ही संतुष्ट, प्रसन्न और आभारी हैं।

दस्तखत महाजनान नई पट्टी व सौदागरान वगैरह

१. नगर सेठ चतुर्भुज दास, २. रामचन्द्र साहू, ३. फ़तहचन्द साहू, ४. मनोहरदास साहू, ५. कुंमन दास, ६. राजा बच्छराज, ७. अरजुनजी नाथाजी, ८. सुखदेव राय कश्मीरी मल, ९. बाबू खुशहाल चन्द, १०. खेतसी तिलोकसी, ११. रामचन्द गोकुलचन्द, १२. भवानी दास, भाई गोपाल दास, १३. कान्ह दास, १४. बाबू कान्ह चन्द, १५. गोविन्द चंद, १६. मन्नालाल साहु, १७. खुशाल दास कान्ह दास सराफ़, १८. जद्दू राम हरीशंकर, १९. काशीनाथ नन्द राम, २०. मोहनदास गोकुल दास, २१. रामलखमी नाथ, २२. चेतनाथ बैजनाथ, २३. कौलापत जौहरी, २४. उदै करनदास, २५. गिरधर दास गोकुल दास, २६. मोहन लाल मोतीराम, २७. मकुंद लाल, २८. भजनलाल जमुना दास, २९. कान्हदास चतुर्भुज दास, ३०. रसिकदास गोपाल दास, ३१. भूधरराय साहु, ३२. देवीदास मोहनलाल, ३३. छावीलाल तैंबरार शीव, ३४. लछमीनारायन, ३५. बैजनाथ, ३६. जैराम दास, ३७. मनसाराम लालचन्द, ३८. लालजी बुलाकी लाल, ३९. दमोदर दास तिरभुवन दास, ४०. गंगाराम शिवबख्श, ४१. ठाकुर दास कान्ह दास, ४२. गंगा विशन महादेव, ४३. हरपरशाद राय, ४४. सेवादास जौहरी, ४५. बिंदराबन मथुरामल, ४६. भवानी दास परांग लाल, ४७. किशन जी, ४८. महादेव बालकिशुन, ४९. माधोदास नरोतम दास, ५०. रूपचन्द ५१. रामकिशुन खज़ानची, ५२. रमन लाल, ५३. बैजनाथ सीतल बख्श, ५४. कटी दास, ५५. सिरामन दास, ५६. जमना दास, ५७. गोपाल दास चौधरी, ५८. महंथ जीवन राम नागर, ५९. चौधरी सुखराज, ६०. जमना दास गोबरधन दास, ६१. दयाल दास प्रतिनिधि लाला कश्मीरी मल, ६२. बीरबलदास जौहरी, ६३. संभू नाथ, ६४. बैजनाथ जी, ६५. जैकरन दास, ६६. मोबराज बस्थामल, ६७. ब्रिजलोचन दास, ६८. चतुरदास बजाज, ६९. कुबेर दास, ७०. ब्रिजरमन दास, ७१. मनमोहन दास, ७२. रसिकलाल, ७३. स्यामदास, ७४. साकरचन्द परसोतम दास, ७५. ब्रिजपति दास, ७६. कुंमनदास परमानंद दास, ७७. गोपाल दास, ७८. बालम दास, ७९. बेनी दास, ८०. जगजीवन दास, ८१. रामदास मोढ़, ८२. लालचंद, ८३. जीवन राम पितम्बर दास, ८४. चपल दास ब्रिजभवन दास, ८५. गोकुल दास, ८६. ब्रिजबल्लभ दास, ८७. गोपाल दास, ८८. हरजीवन दास, ८९. कान्ह दास रवन दास, ९०. मानिक दास जगजीवन दास, ९१. रघुनाथ जमना दास, ९२. दामोदर दास ब्रिजमुख दास, ९३. जग्गू साहु, ९४. गोपाल दास, ९५. लछमन दास, ९६. बेनीधर ९७. चतुर दास, ९८. ठाकुर दास, ९९. सुरदमन दास, १००. रामजीवन दास, १०१. माधुरी दास, १०२. बालम दास, १०३. जीवन दास, १०४. ब्रिजरतन दास, १०५. रतनदास ब्रिजलाल दास, १०६. ब्रिजपत दास, १०७. अनुपन दास, १०८. जेठमल चौधरी बजाज, १०९. जग्गू साहु, ११०. जैराम दास, १११. देवी सिंघ, ११२. कुमन दास, ११३. रामदास, ११४. नरपत मिसर, ११५. कान्ह दास मथुरा दास, ११६. रतनचन्द, ११७. जैशंकर पंचशंकर, ११८. राम दास, ११९. ब्रिजबल्लभ दास, १२०. सीताराम बजाज, १२१. माधुरी दास परमानन्द दास, १२२. जमीरा दास, १२३. घनश्याम दास कल्याण दास, १२४. जीवन दास, १२५. गोबरधन दास रामदास बजाज, १२६. मोहन दास साहु, १२७. प्रभू दास गोकुल दास, १२८. नरोतम दास, १२९. गोपाल दास, १३०. बिरजानन्द दास, १३१. भगवान दास सामदास, १३२. राजाराम

१३३. कुंडामल, १३४. बेनीराम बजाज, १३५. बरजीवन दास जैराम दास, १३६. मीठालाल अर्जीवाला, १३७. जग्गू साहु बजाज, १३८. घनशाम दास बजाज, १३९. चतुरदास बजाज, १४०. उदे राम, १४१. शिवसंकर, १४२. दयाल दास, १४३. सेवक राम, १४४. बिसनाथ, १४५. माधोजी, १४६. ठाकुर दास, १४७. राधेकिशन कन्हैया लाल, १४८. किशोर दास राधे किशन, १४९. दया नरायन, १५०. फतेह चन्द भवानी परसाद, १५१. लालचन्द १५२. लाल दास पलती दास, १५३. जीवन लाल, १५४. घमंडी मल, १५५. हरगोविन्द मिश्र, १५६. महताब राय मिश्र, १५७. मनसुरा दास, १५८. नौनिध, १५९. जीतमल, १६०. गोविंदपत बजाज, १६१. प्रीतम दास बजाज, १६२. कँवलनैन, १६३. गोबरधन दास, १६४. घनसाम दास, १६५. अनंतजी दूबे, १६६. मनोहर दास बजाज, १६७. बिजै राम १६८. भेज राम, १६९. चुन्नीलाल मुन्नीलाल बजाज, १७०. बदल सिंह बजाज, १७१. छबील दास, १७२. चित्तू लाल, १७३. गंगा परसाद, १७४. खदेरू मल, १७५. रामचन्द्र नायक, १७६. बाबूलाल कल्यान दास, १७७. नरपत राय खत्री, १७८. भवानी दयाल, १७९. बालगोविंद, १८०. नरायनजी, १८१. काशीनाथ, १८२. किशन दास लछमन दास, १८३. रामजस दलीप राय, १८४. मसजरराम सलामत राय, १८५. मन्नू लाल, १८६. किरपा राम, १८७. रोहामल, १८८. बदली राम, १८९. परभू दास, १९०. लालजी, १९१. बिजै राम, १९२. सदानन्द, १९३. बाबूलाल, १९४. कनैय्यूं भगत, १९५. जीतन मल, १९६. गनपत, १९७. केसोराम, १९८. मंगल सेन, १९९. पंजाब दास, २००. हरिसुख, २०१. संगम लाल, २०२. पंडीमल, २०३. नंदराम गोपीनाथ, २०४. मेहरबान बजाज, २०५. नरायन बजाज, २०६. बाबू जगतनरायन, २०७. बल्लभ दास ठाकुर दास, २०८. मोहन लाल, २०९. भैरों नाथ, २१०. छोटेलाल, २११. मनोरथ बजाज, २१२. सीताराम रस्तोगी, २१३. नरोतम दास, २१४. बंशी सिंह, २१५. केवल किशन, २१६. तोताराम मोहन लाल, २१७. राधाकिशन, २१८. भवानी चंद, २१९. संधी राम, २२०. केसोदयाल दस्तूरिया, २२१. गुलजारीमल, २२२. पीतम दास, २२३. ब्रिजबन दास, २२४. पंडीमल, २२५. परभूदास पोतम दास, २२६. मीठालाल, २२७. भिखारी दास, २२८. सीताराम, २२९. जगजीवन दास, २३०. काकामल, २३१. महताब सिंह, २३२. योहूमल, २३३. सुखदेव चंद, २३४. फेरू मिसिर, २३५. सिपाहीमल, २३६. जतन मल, २३७. पन्नूधर, २३८. फक्कूमल, २३९. शिवनाथ, २४०. बूरामल, २४१. चंदरभान, २४२. गंगा बिशन, २४३. गरबरीमल, २४४. खुत्यामल, २४५. देवीदास, २४६. मौजी, २४७. बालगोविंद, २४८. लाला रामनाथ राजा काशीनाथ के बेटे, २४९. सीताराम हाडा, २५०. गंगा परसाद, २५१. गजपत राय।

उन महंतो और गोसाइयों के दस्तखत जो महाजनी और सौदागरी का पेशा करते थे

२५२. महंत फकीर गिरि, २५३. महंत लोला गिरि, २५४. महंत टीका गिरि, २५५. महंत मोती गिरि, २५६. महंत पर्वतपुरि, २५७. महंत इच्छा गिरि, २५८. महंत शिव गिरि, २५९. महंत लखपत गिरि, २६०. महंत नबखत भारती, २६१. गोसाई नरोत्तम भारती, २६२. महंत फूल गिरि, २६३. महंत रसाल गिरि, २६४. गोसाई भूपत गिरि, २६५. महंत सुदेसर गिरि,

२६६. महंत निरमल गिरि, २६७. महंत सूरत गिरि, २६८. गोसाईं भोज गिरि, २६९. महंत सुजान गिरि, २७०. महंत रामेसर गिरि, २७१. गोसाईं दौलत गिरि, २७२. गोसाई अंजन गिरि, २७३. महंत गुलाब गिरि, २७४. गोसाई मान गिरि, २७५. गोसाईं परताब गिरि, २७६. महंत जोध गिरि, २७७. गोसाईं राज गिरि, २७८. महंत भीकी गिरि, २७९. महंत बख्त गिरि, २८०. महंत बिशन भारती, २८१. महंत नरोतम भारती, २८२. गोसाईं दीना भारती, २८३. गोसाईं सहज भारती, २८४. महंत ग्यान गिरि, २८५. महंत पेम गिरि, २८६. महंत कृपाल गिरि, २८७. महंत चेतन गिरि, २८८. महंत देवी गिरि, २८९. महंत राम गिरि, २९०. महंत हंस गिरि, २९१. महंत चेत गिरि।

बनारस के कारीगर वगैरह

२९२. लाला भोटा राम, २९३. रावबहादुर सिंह, मुत्सद्दी बादशाही, २९४. लाला मोहर सिंह, मुत्सद्दी बादशाही, २९५. गंगापरशाद, २९६. ब्रिजबासीलाल सुखवासीलाल खत्री, २९७. जगतकिशोर, २९८. सूबाराय, २९९. परानवाथ, ३००. सुखवासी राय, ३०१. जैगोपाल, ३०२. कुवरभाई खत्री, ३०३. लछमनदत्त भट, ३०४. कुवरबख्श राय, ३०५. किरपाराम, ३०६. भागचन्द, ३०७. गुरुजी, ३०८. आत्माराम मिश्र, ३०९. भोला महतो, ३१०. जाफ़र, ३११. बाबल्ला, ३१२. लाल मुहम्मद, ३१३. दूल्हा, ३१४. जैन महतो, ३१५. कीका महतो, ३१६. बंधू मियाँ, ३१७. वारिस महतो, ३१८. खदेरू महतो, ३१९. भीखे महतो, ३२०. हसन महतो, ३२१. भीकी महतो, ३२२. फेरू महतो, ३२३. अहमद महतो, ३२४. गुलाम महतो, ३२५. थनू महतो, ३२६. दूल्हा महतो, ३२७. खीरन महतो, ३२८. दोकड़ महतो, ३२९. हुसैन महतो, ३३०. गुलाब सरदार, ३३१. सुलतान, ३३२. दूल्हा, ३३३. वाहिद महतो ३३४. मखा महतो, ३३५. हेतू महतो, ३३६. गराबुल्ला महतो, ३३७. रहमू महतो, ३३८. साहू महतो, ३३९. हीदन महतो, ३४०. जैन अल-आबेदीन, ३४१. भीखू महतो, ३४२. मुहम्मद महतो, ३४३. हेकना महतो ३४४. जानमुहम्मद, ३४५. दीनमुहम्मद, ३४६. खान मुहम्मद, ३४७. लालचन्द्र ब्राह्मण, ३४८. रामदयाल, ३४९. मजलिसराय ब्राह्मण, ३५०. बीचा मिश्र, ३५१. बस्तीराम, ३५२. चन्दनराय, ३५३. सोभाराम, ३५४. नियामतुल्ला सौदागर, ३५५. गंगापरशाद, ३५६. तीरथराम, ३५७. महताबराय, ३५८. रंजन मिश्र, ३५९. भीखन मिश्र, ३६०. बस्तीराम, ३६१. लज्जाराम, ३६२. टीकाराम, ३६३. दुरगापरसाद, ३६४. बगता, ३६५. बिशनाथ पंडित, ३६६. नानकचन्द, ३६७. केशो चौधरी, ३६८. बसंता मिश्र, ३६९. रतन मिश्र, ३७०. लज्जासिंघ, ३७१. हैंकूलाल, ३७२. दिलेरदास, ३७३. देसू महतो, ३७४. घीसू, ३७५. नूर महतो, ३७६. रंगुस महतो, ३७७. क़ुतुब महतो, ३७८. महमद महतो, ३७९. हींगन महतो, ३८०. ताज महतो, ३८१. दरगाही महतो, ३८२. सुल्तान, ३८३. गुलाम अहमदुल्ला हुसैन, ३८४. ताजन, ३८५. पीर मुहम्मद, ३८६. भीखन महतो, ३८७. मानुल्ला, ३८८. दौलत मुहम्मद, ३८९. मानुल्ला, ३९०. ईदन महतो, ३९१. झूला महतो, ३९२. तौलन महतो, ३९३. रफ़ी उद्दीन, ३९४. दोस्त मुहम्मद, ३९५. शेखलेखा मोमिन ३९६. चूहड़े-मोमिन, ३९७. ईसन महतो, ३९८. पीर मुहम्मद, ३९९. ताज मुहम्मद, ४००. नफ़ीसराय, ४०१. शेरू महतो, ४०२. रहीम, ४०३. पीर मुहम्मद, ४०४. मक्खू महतो, ४०५. फ़तह मुहम्मद, ४०६. फाजिल, ४०७. लाल मुहम्मद। ● ●

विशेष नाम सूची

आ

ख

ग

घ

प

भ

म
